महामांगलिक 'पितृस्वरूप' संस्मरण

स्तुत्यात्मक, तथा स्वरूपवर्णनात्मक

——:——



निगमानुगता महामङ्गलप्रदा पितृस्तुतिः स्वरूपवर्णनात्मिका

(१)—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

(२)—इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥

(३)—आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥

(४)—बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥

(५)—उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

(६)—आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

(७)—आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥

(८)—ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

(९)—ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥

(१०)—ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥

(११)—अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥

(१२)—त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥

(१३)—ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥

(१४)—ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥

—ऋग्वेदसंहिता, १० मण्डल, १५ वाँ सूक्त.

खण्डचतुष्टयात्मिका श्राद्धविज्ञानोपनिषत् (एतन्नामक ग्रन्थ) के द्वारा हम 'श्राद्ध' कर्म के सम्बन्ध में तर्क-युक्ति-विज्ञानमाध्यम से जो कुछ प्रतिपादन करना चाहते हैं, उन ग्रन्थगतान् विषयों का मूल (मौलिक रहस्य) पूर्वोपात्त पितृस्वरूपसंस्मरणात्मक ऋग्वेदीय दशममण्डलान्तर्गत पञ्चदशसूक्त की चतुर्दशमन्त्रसमष्टि से सर्वात्मना गतार्थ है। महर्षि 'यम' के पुत्र, अतएव 'यामायन' नाम से प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा भगवान् शङ्खमहर्षि द्वारा दृष्ट, 'पितरदेवता'त्मक, विराट्त्रिष्टुप्-त्रिष्टुप्-पादनिचृत्त्रिष्टुप्-आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्-निचृज्जगती-छन्दों से छन्दित, धैवत, एवं निषाद स्वरद्वयी से सन्तुलित उद्धृत. प्रस्तुत ऋग्वेदीयसूक्त में स्तुतिमाध्यम से 'पितृदेवता' के जिस मौलिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है, उसके आनुपूर्वी से निरूपण के लिए तो एक स्वतन्त्र महानिबन्ध ही अपेक्षित है। स्तुति का एकमात्र आस्थापरिपूर्णा सात्त्विकी अनन्यश्रद्धा से सम्बन्ध है। फिर उस पितृस्तुति के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है, जिसका एकमात्र मूलाधार-सर्वाधार-सर्वस्व-सान्द्री 'श्रद्धा' ही बना हुआ है। इस पूततम श्रद्धाक्षेत्र से सम्बन्धित पितृस्तुतिरूप वेदसूक्त की युक्ति-तर्क-विज्ञानसम्मता नैष्ठिकी व्याख्या की जिज्ञासा यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं रखती पितृकर्म्मभक्त, अनन्यश्रद्धालु आस्तिक भारतीय द्विजातिमानव की दृष्टि में। अतएव सहजश्रद्धातन्तुओं को आरम्भ में विकम्पित कर देने वाली वैज्ञानिक व्याख्या का उत्तरदायित्व 'स्वतन्त्रग्रन्थ' पर छोड़ते हुए प्रकृत में केवल सूक्तमन्त्रों का भावार्थ उद्धृत कर दिया जाता है।

(१)—उदीरतामवर०

"अवरे, उत-परासः, उत-मध्यमाः, पितरः, सोम्यासः, उदीरताम्। ये अवृकाः, ऋतज्ञाः, असुं, ये ईयुः, ते, पितरः, नः, हवेषु, अवन्तु" इत्यन्वयः।

"अवरस्थानीयाः पार्थिवाः, उत द्युलोकस्थानीयाः परासः, उत आन्तरिक्ष्या मध्यमाः पितरः सोमात्मकाः (पितृकर्म्मानुष्ठानपरायणाय यजमानाय) यशस्विनो भवन्तु। ये पितरः सुशान्ताः सन्तो ऋतभावापन्नाः पारमेष्ठ्यभावापन्नाः यजमानस्याध्यात्मिकं प्राणमनुगताः-आगताः, पितरः-अत्र-पितृकर्म्मणि-अस्मदीयेषु आह्वानेषु रक्षन्त्वस्मान्" इति-अक्षरार्थः।

पार्थिव प्रथमश्रेणि के पार्थिव पितर, और उत्तमश्रेणि के दिव्य पितर, एवं मध्यमश्रेणि के आन्त-पितर जो कि स्वरूपतः सोमप्राणप्रधान बनते हुए सोम्य हैं, हमारे लिए यश प्रदाता बनें। जैसे जो हैं, वे अपने सुशान्त सोम्यभाव से, अपने सोमलोकात्मक पारमेष्ठ्य ऋतरूप में पितृकर्म्मानु यजमान की अध्यात्मसंस्था के अभिमुख बनते हुए हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी रक्षा करें" इति भावसमन्वय।

सूर्य, और पृथिवी, दोनों का मध्यस्थान अन्तरिक्ष है, इसे 'प्रथम द्युलोक' माना गया है। सूर्य 'सूर्यो द्युस्थानः' के अनुसार 'द्वितीय द्युलोक' है, एवं सूर्य से भी परम-ऊर्ध्व-में अवस्थित, अतएव **'परमे स्थाने तिष्ठति'** निर्वचनानुसार 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध प्रधान *भृग्वङ्गिरोमय लोक 'तृतीय द्युलोक' है। **'तृतीयस्यां-वै इतो दिवि सोम आसीत्'** ब्राह्मणश्रुति के अनुसार इस तृतीय द्युलोक में ही 'अम्भ' नामक पवित्र ऋत-'ब्रह्मणस्पति' साम्राज्य है, जो पितरों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। पारमेष्ठ्य सोम्य पितर ही सौर त्रैलोक्य र प्रतिष्ठा परायण है। तृतीय द्युस्थानीय पारमेष्ठ्य पितर सौर त्रैलोक्य में आकर क्रमशः व्य पितर, चान्द्र आन्तरिक्ष्य पितर, पार्थिव पितर, इन तीन श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं। क्रमशः 'परासः'-'मध्यमाः'-'अवरे' कहलाए हैं। तीनों में मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा सोमात्मक सत्यसोमपिण्ड है, जिसके **'रेतः-श्रद्धा-यशः'**-ये तीन मनोता मानें गए हैं। ों का क्रमशः पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य, इन तीन सौर लोकों के साथ प्राकृतिक समन्वय हो। पृथिवी रेतोमयी है, स्वयं चन्द्रमा श्रद्धाप्रधान है, एवं द्वादशादित्यप्राणसमष्टिरूप सूर्य न है। यह यशोभाव ही त्रिविध पितरों का प्रधान विशिष्ट गुण है। 'उदीरताम्' से इसी गुण की ओर सङ्केत हुआ है। शरीरप्रतिष्ठारूप अङ्गिरोभावापन्न आग्नेय प्राण का संरक्षण विध सोम्य तत्प्राण से हो रहा है। एवं यही मन्त्र की संक्षिप्त विज्ञानदिशा है।

इदं पितृभ्यो नमः०

ये पूर्वास, ये उपरास ईयु, ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ता, ये वा नूनं सुवृजनासु ग निषक्ता -(तेभ्य -सर्वेभ्य) पितृभ्य -इदं नम 'अस्तु' इत्यन्वय।

प्राकृतिक पूर्णायुर्भोगानन्तर जो आध्यात्मिक महत्पितर चन्द्रलोक में अवस्थित हैं, वे 'पूर्वास' अकालमृत्यु से जो चन्द्रलोक में स्वल्पावस्था में ही चले गए हैं-वे 'उपराम' हैं।

---

*ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं भूमिरियं श्रिता।
ऋते समुद्र आहित ऋतं नात्येति किञ्चन ॥ (गोपथब्राह्मण)
पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥ (ऋक्संहिता)

जिन महत्पितरों की औपपातिक भावानुबन्ध से अभी चन्द्रलोकगति नहीं हुई है, वे पार्थिव रजोलोक में इतस्तत चक्रममाण पितर हैं। आध्यात्मिक पितर पे ये तीन ही श्रेणिविभाग होते हैं। तीनों श्रेणियों के प्रतपितर सम्पत्तिशाली श्रद्धाशील अपनी पुत्रादि प्रजा (सुवृजनासु विक्षु) में अंशरूप से अनुगत रहते हैं, जिन्हें नमस्कार पूर्वक-हव्यप्रदानद्वारा श्रद्धालु प्रजा तृप्त किया करती है।

(३)—आहं पितॄन्०

पितृकर्म्मकर्त्ता श्रद्धालु यजमान ने अनुग्रह करने वाले पितरों को अपने अनुकूल बना लिया है, पारमेष्ठ्य साम्य विष्णु का भी इस सौम्य पितर-अनुग्रह से अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। 'बर्हिषद' नाम से अन्नपितर-पार्थिव पितर इस पुराडाशाहुतिरूप द्रव्य का, तथा सोम का यजमान के इस पितृयज्ञकर्म्म में उपभोग कर रहे हैं।

(४)—बर्हिषदः पितरः०

हे 'बर्हिषद' नामक पितृदेवताओ! आप हमारी अर्वाचीन-आगे की-परम्परा-का अवश्य ही संरक्षण करेंगे। हम आपके लिए यह हविर्द्रव्य सम्पन्न कर रहे हैं। आप इन से तुष्ट-तृप्त बनिए। एवं हमारे लिए, तथा हमारे परिवार के लिए शान्ति-स्वस्ति प्रदान करने का अनुग्रह कीजिए।

(५)—उपहूताः पितरः०

वे हमारे पितृदेवता हमारे इस श्रद्धात्मक पितृकर्म्म में हमारी प्रार्थना से यहाँ पधारें, यहाँ पधार कर वे हमारी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करें। प्रार्थना सुन कर हमें आशी प्रदान करने का अनुग्रह करें।

(६)—'आच्या जानु दक्षिणतः०'

'दक्षिणं जान्वाच्य पितरः उपासीदन्' (शत०) इत्यादि श्रुति के अनुसार प्राचीनावीती बनकर दक्षिण जानु को नत बनाकर समुपस्थित पितर बड़े ही अनुग्रह से हमारे इस कर्म्म से सन्तुष्ट-तृप्त हो रहे हैं। हे पितृदेवता! इस पितृकर्म्म में यदि आपके आतिथ्य में हमसे कुछ अपराध बन पड़ा हो, तो हमें विश्वास है, आप अवश्य हमें क्षमा कर देंगे।

(७)—आसीनासो अरुणीनाम्०

तेजोमय आग्नेय देवताओं के सान्निध्य में समुपस्थित हे पितृदेवताओ! आप इस पितृकर्म्म में हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिए सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करेंगे। यजमानप्रजा को सम्पत्तिशालिनी, तथा 'ऊर्क्' नामक सहोबलशालिनी बनाने का अनुग्रह करेंगे।

(८)—ये नः पूर्वे पितरः०

जो हमारे वृद्धातिवृद्धप्रपितामहादि पूर्व पितर यथासमय देव-पितृ-कर्म्मों के द्वारा तुष्ट-तृप्त होते रहे हैं, उन पितरों के साथ समन्वित दक्षिणपथाधिष्ठाता यमदेवता (रुद्रदेवता) भी तुष्ट तृप्त बनते हुए हमारे लिए अनुग्रहप्रदाता प्रमाणित हो रहे हैं।

(९)—ये तातपुर्देवत्रा०

प्राकृतिक स्थिति क्रमानुसार कालान्तर में अपने पितृभाव से देवभाव में परिणत होते हुए 'नान्दीमुख' बन जाने वाले पितर स्तुतिकर्त्ता-हवि प्रदाता-श्रद्धाशील-यजमानों के लिए अनुग्रह-भाजन बन जाते हैं। हे अग्निदेवता! देवभावापन्न वे दिव्य नान्दीमुख पितर आप के साथ हमारे इस देवकर्म्म में यथासमय पधारने का अनुग्रह करते रहें।

(१०)—ये सत्यासः०

अपने ऋतसोमधर्म्म से स्वरूपतः 'अनाग्न' (सौम्य) भी पितर देवप्राणानुगमसम्बन्ध से 'सत्यास' (आग्नेय) बनते हुए देववर्ग-संयुक्त इन्द्रदेवता के साथ संयुक्त होते हुए देवकर्म्म में पधारते रहते हैं।

(११)—अग्निष्वात्ताः पितरः०

अग्निद्वारा आस्वादित, अतएव 'अग्निष्वात्ता' नामसे प्रसिद्ध अन्नपितर (ग्रह-भौम-पार्थिव पितर) इस पितृकर्म्म में पधारें। पधार कर अपने अनुरूप स्थानों में प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह करें। स्वस्थता पूर्वक विराजमान होकर हविर्भक्षण का अनुग्रह करें। इस से तुष्ट तृप्त बनते हुए वे पुत्रपौत्रादि युक्त सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करें।

(१२)—त्वमग्न ईलितः०

हे अग्ने! आपने अनुग्रह कर हमारी प्रार्थना पर अनुग्रहदृष्टि करते हुए हमारी यज्ञसामग्री को आपने अपने विशकलनधर्म्म से देवपितृभोग्य बना दिया है। आपने सब प्राणदेवपितरों में आहुतिद्रव्य विभक्त कर दिया है। हे पितृदेवताओ! अग्नि-के अनुग्रह से यथाभागविभक्त स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि का आप ग्रहण करें। हे अग्निदेव! आप भी हविर्ग्रहण से तृप्त होने का अनुग्रह करें।

(१३)—ये चेह पितरः०

जो पितर यहाँ समुपस्थित हैं, जो उपस्थित नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं, एवं जिन्हें हम नहीं जानते, वे सब उपस्थित-अनुपस्थित-ज्ञात-अज्ञात-हमारे वंशपितर अग्निदेवद्वारा अवश्य ही उपस्थित, एवं विज्ञात हैं। अतएव हम जातवेदा सर्वज्ञ उन अग्निदेव से ही यह प्रार्थना करेंगे कि, आप ही अनुग्रह कर उन सब को प्रदत्त हवि से तृप्त करने का अनुग्रह करें।

(१४)—ये अग्निदग्धाः०

जो महानपितर अग्निसंस्कारद्वारा चन्द्रलोक में पहुँचे हैं, जो पितर (गार्हपत्यीय प्रवाहविच्छेदादिद्वारा) अनग्निरूप से तत्र प्राप्त हुए हैं, द्युलोक (सौरलोक) के मध्यस्थानरूप आन्तरिक्ष्य चन्द्रलोक में अवस्थित वे सर्वविध प्रेतपितर स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि से तृप्त हो रहे हैं। हे अग्निदेव! अपने हवि प्रदानरूप कर्म्म से विराड्रूप (दशावयव) बने हुए आप उन पितरों के साथ संयुक्त होते हुए इस प्रदत्त हविर्द्रव्य से उन हमारे प्रेतपितरों की शरीरस्वरूपनिष्पत्ति का अनुग्रह करें।

इति नैगमिकमङ्गलस्तुतिः पितॄणाम्

आगमानुगता महामङ्गलप्रदा पितृस्तुतिः—स्वरूपवर्णनात्मिका—

नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धे ये वसन्त्यधिदैवताः ॥
देवैरपि हि तर्प्यन्ते ये च श्राद्धे स्वधोत्तरैः ॥ १ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे ये तर्प्यन्ते महर्षिभिः ॥
श्राद्धैर्मनोमयैर्भक्त्या भुक्ति–मुक्तिमभीप्सुभिः ॥ २ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे सिद्धाः सन्तर्पयन्ति यान् ॥
श्राद्धेषु दिव्यैः सकलैरुपहारैरनुत्तमैः ॥ ३ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् भक्त्या येऽर्च्यन्ते गुह्यकैरपि ॥
तन्मयत्वेन वाञ्छन्ति ऋद्धिमात्यन्तिकीं पराम् ॥ ४ ॥
नमस्येऽहं पितॄन्मर्त्यैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ॥
श्राद्धेषु श्रद्धयाभीष्टलोकप्राप्तिप्रदायिनः ॥ ५ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ॥
वाञ्छिताभीष्टलाभाय प्राजापत्यप्रदायिनः ॥ ६ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् ये वै तर्प्यन्तेऽरण्यवासिभिः ॥
वन्यैः श्राद्धैर्यताहारैस्तपोनिर्धूतकिल्बिषैः ॥ ७ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैर्नैष्ठिकव्रतचारिभिः ॥
ये संयतात्मभिर्नित्यं सन्तर्प्यन्ते समाधिभिः ॥ ८ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः राजन्यास्तर्पयन्ति यान् ॥
कव्यैरशेषैर्विधिवल्लोकद्वयफलप्रदान् ॥ ९ ॥
नमस्येऽहं पितॄन् वैश्यैरर्च्यन्ते भुवि ये सदा ॥
स्वकर्मभिरतैर्नित्यं पुष्पधूपान्नवारिभिः ॥१०॥
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैर्ये शूद्रैरपि भक्तितः ॥
सन्तर्प्यन्ते जगत्यत्र नाम्नाः ख्याताः सुकालिनः ॥११॥
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः पाताले ये महासुरैः ॥
सन्तर्प्यन्ते स्वधाहारास्त्यक्तदम्भमदैः सदा ॥ १२ ॥

नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैरर्च्यन्ते ये रसातले ॥
भोगैरशेषैर्विधिवन्नागैः कामानभीप्सुभिः ॥१३॥
नमस्येऽहं पितॄन् श्राद्धैः सर्पैः सन्तर्पितान् सदा ॥
तत्रैव विधिवन्मन्त्रभोगसम्पत्समन्वितैः ॥१४॥

पितॄन्नमस्ये निवसन्ति साक्षात्—ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ॥
महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रतीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥ १ ॥
पितॄन्नमस्ये परमार्थभूता ये वै विमाने निवसन्त्यमूर्त्ताः ॥
यजन्ति यानस्तमलैर्मनोभिर्योगीश्वराः क्लेशविमुक्तिहेतून् ॥ २ ॥
पितॄन्नमस्ये दिवि ये च मूर्त्ताः स्वधाभुजः काम्यफलाभिसन्धौ ॥
प्रदानशक्ताः सकलेप्सितानां विमुक्तिदा येऽनभिसंहितेषु ॥ ३ ॥
तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरः समस्ता इच्छावतां ये प्रदिशन्ति कामान् ॥
सुरत्वमिन्द्रत्वमतोऽधिकं वा सुतान् पशून् स्वानि बलं गृहाणि ॥ ४ ॥
सोमस्य ये रश्मिषु येऽर्कबिम्बे शुक्ले विमाने च सदा वसन्ति * ॥
तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्नतोयैर्गन्धादिना पुष्टिमितो व्रजन्तु ॥ ५ ॥
येषां हुतेऽग्नौ हविषा च तृप्तिर्ये भुञ्जते विप्रशरीरसंस्थाः ॥
ये पिण्डदानेन मुदं प्रयान्ति तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्नतोयैः ॥ ६ ॥
ये खड्गिमांसेन सुरैरभीष्टैः कृष्णैस्तिलैर्दिव्यमनोहरैश्च ।
कालेन शाकेन महर्षिवर्यैः सम्प्रीणितास्ते मुदमत्र यान्तु ॥ ७ ॥
कव्यान्यशेषाणि च यान्यभीष्टान्यतीव येषाममरार्चितानाम् ॥
तेषान्तु सान्निध्यमिहास्तु पुष्पगन्धान्नभोज्येषु मया कृतेषु ॥ ८ ॥
दिने दिने ये प्रतिगृह्णतेऽर्चां मासान्तपूज्या भुवि येऽष्टकासु ॥
ये वत्सरान्तेऽभ्युदये च पूज्याः प्रयान्तु ते मे पितरोऽत्र तुष्टिम् ॥ ९ ॥
पूज्या द्विजानां कुमुदेन्दुभासो ये क्षत्रियाणाञ्च ज्वलनार्कवर्णाः ॥
तथा विशां ये कनकावदाता नीलीनिभाः शूद्रजनस्य ये च ॥ १० ॥

---

* विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम् ।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरञ्च केतुम् ॥ (यजु म० १७।५९)।

तेऽस्मिन् समस्ता मम पुष्पगन्धधूपान्नतोयादिनिवेदनेन ॥
तथाग्निहोमेन च यान्तु तृप्तिं सदा पितृभ्यः प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ ११ ॥
ये देवपूर्वाण्यभितृप्तिहेतोरश्नन्ति कव्यानि शुभाहुतानि ॥
तृप्ताश्च ये भूतिसृजो भवन्ति तृप्यन्तु ते ऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ १२ ॥
रक्षांसि भूतान्यसुरांस्तथोग्रान् निर्णाशयन्तस्त्वशिवं प्रजानाम् ॥
आद्याः सुराणाममरेशपूज्यास्तृप्यन्तु ते ऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ १३ ॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सोमपास्तथा ॥
व्रजन्तु तृप्तिं श्राद्धेऽस्मिन् पितरस्तर्पिता मया ॥ १४ ॥
अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम् ॥
तथा बर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरः स्मृताः ॥ १५ ॥
प्रतीचीमाज्यपास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः ॥
रक्षोभूतपिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः ॥ १६ ॥
सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे ॥
विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्म्मो धन्यः शुभाननः ॥ १७ ॥
भूतिदो भूतिकृद्भूतिः पितॄणां ये गणा नव ॥ (६)
कल्याणः कल्पतां कर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः ॥ १८ ॥
कल्यताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः ॥ (६)
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा ॥ १६ ॥
विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः ॥ (७)
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः ॥ २० ॥
गणाः पञ्च तथैवैते पितॄणां पापनाशनाः ॥ (५)
सुखदो धनदश्चान्यो धर्म्मदोऽन्यश्च भूतिदः ॥ २१ ॥
पितॄणां कथ्यते चैतत्तथा गणचतुष्टयम् ॥ (४)
एकत्रिंशत्पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत ॥ २२ ॥
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥ २३ ॥

—मार्कण्डेयपुराण ६६ । ६८ ।
गरुड़पुराण पितृस्तोत्राध्याय ८६ ।

इत्यागमिकमङ्गलस्तुतिः पितॄणाम्—प्रीयताधनया पितृदेवता

श्री

'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड की

रेखाचित्र, एवं परिलेखसूची

तथा

संक्षिप्त-विषयसूची



श्री.

सम्पादन. तथा विषयसूची के सम्बन्ध में विशेष निवेदन-

अनेक वर्षों की उपेक्षा के फलस्वरूप विगत दो वर्षों से विशेषरूप से आतिथ्य स्वीकार कर लेने वाली निरतिशया अस्वस्थता ने ऐसा आभास करा दिया था कि, अब निकटभविष्य में ही 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' अन्वर्थ प्रमाणित होने वाला है। किन्तु 'आयुर्म्मर्म्माणि रक्षति' इस राद्धान्त ने पुन. कुछ समय के लिए आंशिक स्वस्थता प्रदान कर दी, जिसके बल पर गत वैशाख से यह प्रकाशनकार्य्य प्रक्रान्त बना। यद्यपि श्रम-परिश्रम में कोई व्याज नहीं हुआ, तथापि पूर्णस्वस्थता के साथ, साथ ही पूर्णसाधन सुविधापूर्वक प्रकाशन जैसा होना चाहिए था, न हो सका। अशुद्धियों का प्राचुर्य्य, छपाई की अस्वच्छता, बाह्यावरणों की निःसीम असुन्दरता, आदि आदि ये सभी दोष इस प्रकाशन में पाठकों को समुपलब्ध होंगे, जो दोषपरम्परा बाह्यसौन्दर्य्यप्रधान-मनोभावानुगत आज के युग के लिए एक अक्षम्य अपराध माना गया है। यही प्रस्तुत प्रकाशन के 'सम्पादन' सम्बन्ध में अपनी अपराधस्वीकृति की संक्षिप्तदिशा है, जिसके साथ साथ संशोधन-दिशा के सम्बन्ध में भी हमें इस रूप से अपने आपको अपराधी प्रमाणित कर ही लेना है कि—

एकमात्र हमारी अनवधानता से संशोधन करते समय कतिपय विषयों का समावेश शीर्षकरूप से प्रस्तुत खण्ड में नहीं हो सका है, जिसके लिए पाठकों से क्षमायाचना के अतिरिक्त नान्यः पन्था विद्यते। विषयसूची के आधार पर उन्हें उन विस्मृत अप्रकाशित विषयपरिच्छेदों का यथापृष्ठ-यथास्थान समन्वय कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत तृतीय खण्ड में जिन रेखाचित्रों का समावेश हुआ है, वे वस्तुतः तिरङ्गे चित्र थे, जिन के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों का विस्पष्ट समन्वय हो रहा था। किन्तु हमें दुःख है कि, अपनी आर्थिक—विषम-समस्या के कारण हम इन्हें तद्रूप से प्रकाशित न कर सके। केवल 'रेखा' रूप से 'लेथोप्रेस' द्वारा ही इन का प्रकाशन सम्भव बन सका। विशेष प्रतीक्षा अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण इस लिए असामयिक मान ली गई कि, इसी ग्रन्थ के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में समाविष्ट ३० तीस तिरङ्गे चित्रों की आर्थिक व्यवस्था में हमें लगभग ८-१० वर्ष पर्य्यन्त यह प्रकाशन अवरुद्ध रखना पड़ा था। 'कालाय तस्मै नमः' के अतिरिक्त इस वर्त्तमान अर्थप्रधानात्मक अनर्थयुग से सम्बन्ध रखने वाली इस अनिवार्य्यविवशता के सम्बन्ध में इस से अधिक और क्या स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

श्री

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषन्नामक तृतीय खण्ड में समाविष्ट

परिलेखों, तथा रेखाचित्रों की सूची



'साविण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड के

रेखाचित्रों (१८), तथा परिलेखों (१३९)

(सम्भूय १५७–परिलेखों तथा चित्रों) की

सूची समाप्त



श्री

श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत—'मापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड की

संक्षिप्तविषयसूची



※–'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम परिच्छेद (१)–

पृ० १ से ८४ पर्य्यन्त

समाप्ता चात्र प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत् प्रथमा

मापिपड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गता

१

*–ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत् नामक द्वितीय परिच्छेद
पृष्ठ ८४ से ४०२ पर्यन्त

❁ श्रौतआख्यानद्वारा श्राद्धविज्ञान का स्पष्टीकरण—१३९ से १६४ पर्य्यन्त

उपरता चेयं–पारनस्मृति–प्रासङ्गिकी

—+—

*-प्रासङ्गिकी तटस्थ आलोचना, और तत् समाधान * (पृ० २९४ से ३९४ पर्य्यन्त)

'समाप्ता चात्र ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्' द्वितीया सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गता

—+—

❀ 'आशौचविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय परिच्छेद
पृ० सं० ४०३ से ४३२ पर्य्यन्त

समाप्ता चात्र 'आशौचविज्ञानोपनिषत्' (तृतीयपरिच्छेदात्मिका)

समाप्ता चेयं तृतीयखण्डस्य सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्रूपस्य

संक्षिप्तविषयसूची-रेखाचित्रयुक्तपरिलेखसूची

तृप्तिमनुभूयन्तामनया सूच्या सूची-मात्रबोधव्यग्रास्तत्परा भावुकाः

—×—



अथ श्राद्धविज्ञानग्रन्थे

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् तृतीया

(तृतीय खण्ड)

तत्र प्रथमा प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ॥
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥ १ ॥
अधर्म्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः । २ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता १।४०,४१,४२, ।

—०—

विषयोपक्रम—

श्राद्धकर्म्म के मूलप्रतिष्ठारूप अनेकात्मवाद का, एवं पितरप्राण का विशद विवेचन क्रमशः पूर्व की आत्मविज्ञानोपनिषत्, एवं पितरविज्ञानोपनिषत् में किया जाचुका है। इन दोनों प्रकरणों के सम्यक् आलोडन विलोडन से पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि, हमारे शरीर में महानात्मा नाम का एक आत्मा अवश्य ही ऐसा है, जो कर्म्मात्मा के उत्क्रान्त हो जाने पर चन्द्रलोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है। एवं साथ ही में महानात्मा में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण की ही 'पितर' संज्ञा है। लोकान्तर में सञ्चरण करने वाले इस पितर की लोकभेद से क्रमशः अश्रुमुख-पार्वण-नान्दीमुख ये संज्ञाएँ हो जाती हैं। लोकान्तर में जाते हुए इस प्रेतात्मा को जिस पिण्डदानादि कर्म्म से तृप्त किया जाता है, वही कर्म्म "श्राद्ध" नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, लोकान्तर (चन्द्रलोक)

में गमन करने वाले प्रेतात्मा (महानात्मा) के साथ तद्वंशधरों का क्या कोई वास्तविक सम्बन्ध रह जाता है ? । वह ऐसा कौनसा मार्ग है, जिसके द्वारा पुत्रादि से दत्त पिण्ड परलोकगत प्रेतात्मा की तृप्ति का कारण बनता है ? । चर्म्मचक्षु इन सब प्रश्नों के समाधान में कुण्ठित हैं । इसके लिए तो हमें विज्ञानचक्षु का ही आश्रय लेना पड़ेगा । सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् में इन्हीं प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई है । विद्वन्मण्डल्या प्रस्तुत तृतीय खण्ड में प्रेतात्मा का तद्वंशधरों के साथ क्या सम्बन्ध है ?, सात पीढ़ी पर्य्यन्त सापिण्ड्य सम्बन्ध क्यों माना गया है ?, पितृऋण का क्या स्वरूप है ?, ८४ संख्या में विभक्त शुक्रस्थित पितरप्राण का वितान कैसे होता है ?, इत्यादि प्रश्नों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है । हमारा यह दृढ विश्वास है कि, वैदिक विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से, साथ ही अनभिज्ञ भारतीय विद्वानों के द्वारा युक्तियुक्त समाधान प्राप्त न होने से जिन महानुभावों ने इस श्रौत सिद्ध पिण्डदान लक्षण श्राद्धकर्म्म का परित्याग कर दिया है, वे इस प्रकरण से सत्यनिर्णय पर पहुँचते हुए अवश्य ही अपने विचारों में परिवर्त्तन कर सकेंगे, एवं देवकार्य्य से भी कहीं अधिक महत्त्व रखने वाले इस पितृकार्य्य में श्रद्धा से प्रवृत्त हो सकेंगे ।

इति विषयोपक्रमः

—— x ——

महानात्मानुगत पितृतत्त्व—

आत्मविज्ञानोपनिषदन्तर्गत महदात्मविज्ञानोपनिषत् का प्रतिपादन करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि पुरुषात्मा–ऽव्यक्तात्मा–यज्ञात्मा–प्रज्ञानात्मा–विज्ञानात्मा–कर्म्मात्मा–हंसात्मा, इन सब खण्डात्माओं में से श्राद्धकर्म्म का सम्बन्ध एकमात्र चान्द्र महानात्मा के साथ ही है। (देखिए आ० वि० प्र० ख० २४८ पृष्ठ) । महानात्मा का आरम्भक (उपादान) चन्द्रमा है। इधर अध्यात्म संस्था में शुक्र नाम का प्रसिद्ध सातवाँ धातु चान्द्र है । इस सजातीयता के कारण ही चान्द्र महानात्मा चान्द्र शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है । यह चान्द्र महत्सौम्यप्राण ही "पितर" नाम से सम्बोधित हुआ है । "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" यह आप्त सिद्धान्त है । सौम्य पितर प्रेत–पार्वण–नान्दीमुख नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि पूर्व की पितरविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है ।

शुक्रगत महानात्मा पितरप्राणमूर्त्ति है । यह पितरप्राण पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–भेद से तीन भागों में विभक्त है । पार्थिव पितर अग्निप्रधान है । "अग्निर्भूस्थानः" (या० नि० दै० का० ७।१।) यह सर्वविदित सिद्धान्त है । आन्तरिक्ष्य पितर यमात्मक वायुप्रधान है । "वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः" (यास्कनिरुक्त) यह प्रसिद्ध है । दिव्यपितर आदित्यप्रधान है । "सूर्य्यो द्युस्थानः" (यास्कनिरुक्त) यह भी प्रसिद्ध ही है । अग्नि-यम आदित्य, तीनों अग्नि ही है । इन तीनों के साथ

हमने क्रमशः दिव्यसोम, चान्द्रसोममय गन्धर्वसोम, किंवा गन्धर्वसोममय चान्द्रसोम, ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध प्राणात्मक पवित्रसोम का सम्बन्ध बतलाया है। (देखिए श्रा०प्र०स०२४८ पृ०)। अग्नि-सोम, यम—सोम, आदित्य—सोम, त्रैलोक्य के इन तीनों ही विवर्तों में यद्यपि अग्नि-सोम दोनों की सत्ता है, तथापि स्वस्थान की प्रधानता से दिव्यलोकस्थ पवित्रसोम आदित्याग्नि का अधिष्ठाता बन जाता है, सोम की प्रधानता रह जाती है। अतएव अग्निसोम दोनों के रहने पर भी ये नान्दीमुख नाम से दिव्यपितर "सौम्य" ही कहलाते हैं। इसी प्रकार वायुप्रधान अन्तरिक्ष में यम वायु की प्रधानता, एवं गन्धर्वसोम की गौणता भी स्वतः सिद्ध है। अतएव इन पार्वण नाम के आन्तरिक्ष्य पितरों को "याम्य" कहना न्यायसङ्गत होता है। एवमेव पृथिवी में अग्नि की प्रधानता है। फलतः पार्थिव अश्रुमुख पितरों को "आग्नेय" कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

पूर्वोक्त महानात्मा में सौम्य-याम्य-आग्नेय, तीनों पितर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन तीन पितरों के कारण ही महानात्मा में सत्त्व-रज-तम, ये तीन गुण, एवं अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति, ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं। दिव्यसोम शुद्ध सत्त्वमूर्त्ति है। तत्सम्बन्धी सत्त्वप्रधान नान्दीमुख पितरप्राण महान् में सत्त्वगुण का विकास करते हैं। आन्तरिक्ष्य सोम वायुमय होने से क्रियामूर्त्ति बनता हुआ रजोमूर्त्ति है। तत्सम्बन्धी रज प्रधान पार्वण पितर महान में रजोगुण का उत्तेजक बनता है। पार्थिवसोम अग्निमय होने से अर्थमूर्त्ति (आवरणमूर्त्ति) बनता हुआ तमोमूर्त्ति है। तत्सम्बन्धी तम प्रधान अश्रुमुख पितर महान में तमोगुण का सञ्चार करता है।

पार्थिवाग्नि त्वष्टाप्राण के सम्बन्ध से अपेन्द्रसोमाहुति के द्वारा इन्द्रतत्त्व को खण्ड खण्ड में परिणत कर आकाररूप का अधिष्ठाता बनता है—(देखिए शत० ब्रा० १२।७।१।४ सौत्रामणीयज्ञ)। इस पार्थिवाग्नि के सम्बन्ध से ही महदवच्छिन्न शुक्रस्थित पार्थिव अर्थमूर्त्ति अग्निप्रधान पितरप्राण तत्तत् प्राणियों के आकारों का अधिष्ठाता बनता है। आन्तरिक्ष्य यमवायु चान्द्रसोम के सम्बन्ध से (जोकि चान्द्रसोम इन्द्रियप्रवर्त्तक प्रज्ञामय प्राणेन्द्रमूर्त्ति है) प्रकृतिभाव (इन्द्रियस्वभाव इन्द्रियसामर्थ्य) का प्रेरक बनता है। इस आन्तरिक्ष्य रजोमूर्त्ति चान्द्रसोममय यम के सम्बन्ध से, दूसरे शब्दों में चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही शुक्रस्थ महदवच्छिन्न आन्तरिक्ष्य क्रियामूर्त्ति वायुप्रधान पितरप्राण तत्तत् प्रकृतियों का अधिष्ठाता बनता है। दिव्यलोकस्थ आदित्य विशुद्ध, अत एव वीर्य चिन्मय (आत्ममय) पवित्रसोम के सम्बन्ध से अहं भाव का प्रवर्त्तक बनता है, जैसा कि "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह अहं भाव जब तक स्वस्वरूप से प्रबुद्ध रहता है तभी तक तत्तत् प्राणियों की जीवन सत्ता रहती है। घोरतम सुषुप्तिकाल में भी अहं भाव विकसित रहता है। सदा जाग्रत महत्स्वरूप के इसी अहं भाव के अनुग्रह से सुषुप्तिकाल के समाप्त होने पर हमारे मुख से—"सुखमहमस्वाप्सी" यह अक्षर निकल पड़ते हैं।

इस प्रकार अग्नि-यम-आदित्य, इन तीन पितृकलाओं से क्रमशः महान में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति भावों का उदय होता है, एवं दिक्सोम-चान्द्रसोम पवित्रसोम इन तीन पितृकलाओं से क्रमशः तम-रज-सत्त्व इन तीन गुणों का उदय होता है। महानात्मा ही अध्यात्मसंस्था का मूलाधार है, यह पद भावापन्न है। इसी आधार पर—"पाटकौशिकमिदं सर्वम्" यह सक्ति प्रचलित है।

३—पवित्रसोम —दिव्याग्निरादित्य —— नान्दीमुखा सौम्या पितर
२—चान्द्रसोम —आन्तरिक्ष्याग्निर्वायु —पार्वणा याम्या पितर
१—दिक्सोम —पार्थिवाग्निरग्नि —— अश्रुमुखा आग्नेया पितर

३— { १ पवित्रसोम — सत्त्वगुणप्रवर्त्तक; २—दिव्याग्नि —अहङ्कृतिभावप्रवर्त्तक } —नान्दीमुखा

२— { १—चान्द्रसोम —रजोगुणप्रवर्त्तक; २—आन्तरिक्ष्याग्नि —प्रकृतिभावप्रवर्त्तक } —पार्वणा

१— { १—दिक्सोम —तमोगुणप्रवर्त्तक; २—पार्थिवाग्नि —आकृतिभावप्रवर्त्तक } —अश्रुमुखा

—) (—

महानात्मा-सौम्यः, शुक्रश्च पितरप्राणाधिष्ठाता—

१—अहङ्कृतिमहान्—आत्मग्रामाधिष्ठाता—दिव्यपितरप्राणमूर्त्ति —सत्त्वगुणोपेत
२—प्रकृतिमहान्— —प्राणग्रामाधिष्ठाता—आन्तरिक्ष्यपितरमूर्त्ति —रजोगुणोपेत
३—आकृतिमहान्—भूतग्रामाधिष्ठाता—पार्थिवपितरमूर्त्ति —तमोगुणोपेत

—○—

प्रजातन्तुप्रतिष्ठालक्षणमहानात्मा

पाटकौशिक महानात्मा वास्तव में महान्–आत्मा है। विज्ञान-प्रज्ञान-भूतात्मा आदि इतर खण्डात्माओं, सम्पूर्ण खण्डात्माओं की आधारभूमि स्वयं चिदात्मा (अव्ययप्रधान षोडशी पुरुष) भी इस पारमेष्ठ्य, किंवा चान्द्र महान् के गर्भ में प्रविष्ट है "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (गी० ७।१४)। सत्त्वविशाल ऊर्ध्वसर्ग, रजोविशाल तिर्यक्सर्ग, तमोविशाल मूलसर्ग, पदार्थमात्र की आकृतियाँ, प्रकृतियाँ, अहङ्कृतियाँ, सब की आधारभूमि यही महानात्मा है। अग्नीषोमात्मिका याज्ञिकी सृष्टि, योषावृषात्मिका मैथुनीसृष्टि का मूलाधार भृगुमूर्त्ति यही महान् है।

जगत् के उपादानभूत पूर्वोक्त त्रिविध पितर भी इसी सौम्य महान के गर्भ में प्रतिष्ठ हैं। वसु–रुद्र–आदित्यादि ३३ आङ्गिरस देवता, ९९ आप्य असुर, ८७–वायव्य गन्धर्व, सम्पूर्ण सौम्य देवता, सम्पूर्ण पशुप्राण, भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति इसी महान के आधार पर जीवित है। आपोमयी लोकसृष्टि इसी आप्य महान् पर प्रतिष्ठित है। इस की इसी महत्ता को लक्ष्य में रखकर इसे इतर खण्डात्माओं की अपेक्षा यदि महान कहा जाय तो, क्या आपत्ति है। महद्गर्भनिरुद्ध पितर प्राण ही सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त वितत होने वाले प्रजातन्तु की प्रतिष्ठा है।

भूतसंपृक्त महानात्मा—

> तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान क्षेत्रज्ञ एव च।
> उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः (मनु १२।१४)

उक्त मानव सिद्धान्त के अनुसार महानात्मा, तथा विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञात्मा, दोनों पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतमात्राओं (सुसूक्ष्म भूतमात्राओं) से संश्लिष्ट होकर 'अणोरणीयान्–महतो महीयान' भेदभिन्न उच्चावच भूतों (प्राणियों) में अविभक्त रूप से प्रतिष्ठित उस चिदात्मा को चारों ओर से व्याप्त कर आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित रहते हैं। तात्पर्य मनु का यही है कि, महानात्मा सोमतत्त्व है, शुक्रसम्बन्ध से पञ्चभूतों से सम्पृक्त है। यही चिदात्मा की योनि है। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' लक्षण चिदात्मा महान के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ क्षेत्रज्ञ (बुद्धि–विज्ञानात्मा) का भी अनुग्राहक बन रहा है। तस्मात् इसी अभिप्राय से 'महान् क्षेत्रज्ञ एव च' कह दिया गया है। मुख्य लक्ष्य महानात्मा ही है, जिस की उत्पत्ति का प्रधानतः 'शुक्र' से सम्बन्ध माना गया है।

हमारी आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित महानात्मा कर्म्मात्मा नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा के स्थूलशरीरनिबन्धन ऐहलौकिक कर्म्मभोगानन्तर स्वप्रभवस्थानात्मक चन्द्रलोक में चला जाता है। जिस प्रकार महानात्मा प्रेतावस्था में सूक्ष्म भूतों से सम्परिष्वक्त रहता है, एवमेव कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा भी इस प्रारब्धनिबन्धन स्थूलशरीर के परित्यागानन्तर सर्वत्र (खगोल) व्याप्त सूक्ष्मभूतों से सम्परिष्वक्त रह कर ही यामीयातनाएँ भोगने के लिए तत्तल्लोक–विशेषों की ओर गमन करता है। 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, सम्परिष्वक्तः–प्रश्ननिरूपणाभ्याम्'' (ब्रह्मसूत्र ३।१।१) इस सूत्र सिद्धान्त के अनुसार पृथिव्यादि भूतसूक्ष्मों से सम्पन्न सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर धारण करके ही उसी प्रकार लोकान्तरोपलक्षित स्थानान्तर में यह कर्म्मात्मा गमन करता है, जैसे कि, 'तृणजलौका' नामक वर्षाजन्तु का जन्तु उत्तर प्रदेश को पकड़ कर पूर्वप्रदेश को छोड़ता हुआ ही स्थानान्तरित होता है। कर्म्मात्मा की इसी जलौकागति को लक्ष्य में रखकर भक्तिग्रन्थ ने कहा है—

> व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
> यथा तृणजलौकैवं देही कर्म्मगतिं गतः॥ (श्रीमद्भागवत)।

महानात्मा का आविर्भाव—

सुसूक्ष्म भूतों का यह आतिवाहिक शरीर परिमाण में अङ्गुष्ठमात्र माना गया है। अपने इस पृथिव्यादिभूतसूक्ष्मात्मक अङ्गुष्ठपरिमाणात्मक सूक्ष्मशरीर से कर्मात्मा वासना-भावना वासित-भावित कर्म ज्ञानजनित शुभाशुभ संस्कारों के अनुरूप शुभाशुभ लोकान्तरों में शुभाशुभ फल भोगता हुआ विचरता रहता है। सूक्ष्मशरीरानुबन्धी यह पारलौकिक फलभोगकाल जब समाप्त हो जाता है, तो—'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छां.उ.) के अनुसार पुनः यह इसी पृथिवीलोक में स्थूलभूतात्मक स्थूल शरीर धारण करता हुआ अवतीर्ण होता है। वैश्वानरमूर्त्ति अग्नि, तैजसमूर्त्ति वायु, प्राज्ञमूर्त्ति इन्द्र, त्रिदेवसमष्टिरूप, अतएव देवसत्यात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा, जिसे कि गर्भविज्ञानवेत्ता महर्षियों ने 'औपपातिक आत्मा' नाम से भी व्यवहृत किया है, आमुष्मिक कर्मभोगानन्तर दिव्यपितृप्राणयुक्त आन्तरिक्ष्य चान्द्रपितृप्राणरूप में परिणत होकर ही अन्न में प्रविष्ट होता है। दिव्य नान्दीमुख पितृप्राण, आन्तरिक्ष्यचान्द्र ऋतुपितृप्राण, पार्थिव अन्नगत अश्रुमुख पितृप्राण, इन तीनों पितृ प्राणों से संयुक्त औपपातिक आत्मा अन्नद्वारा पुरुषाग्निसंस्था में सर्वप्रथम प्रविष्ट होता है। पुरुषाग्नि में आहुत होने वाला अन्न कालान्तर में शुक्ररूप में परिणत हो जाता है। यही शुक्र ऋतुकाल में योषिद्गर्भ में, तत्रस्थ आर्त्तवाग्नि (शोणिताग्नि) में आहुत होकर महानात्मा का आविर्भावक बनता है।

औपपातिक कर्मात्मा—

शुक्र पिता का अंश है, शोणित माता का भाग है। दोनों के दाम्पत्यभाव से ही चिद्गर्भाहिणी महद्योनि का आविर्भाव होता है। इसी महद्योनि में प्रविष्ट औपपातिक कर्मात्मा स्थूलशरीर से जन्म लेने में समर्थ होता है। अनेक जन्म के अनन्तर यह स्थूल जन्मसंसिद्धि का अधिकारी बनता है। यह औपपातिक आत्मा सब से पहिले पुरुषगत शुक्रावच्छिन्न सौम्यगुणक महानात्मा में प्रतिष्ठित होता है, एवं यही इसका प्रथम जन्म है। शुक्र अन्न रेत है, शुक्र है। पुरुषाग्नि शोणित है। दोनों के दाम्पत्यभाव से ही पुरुष के शुक्रधातु में आत्मा सर्वप्रथम गर्भधारण करता है। शुक्र शुक्र है, मातृगत गर्भाशयस्थ शोणित शोणित है। इस द्वितीय दाम्पत्यभाव से शुक्र द्वारा यह मातृगर्भ में, जन्म लेता है, एवं यही औपपातिक आत्मा का द्वितीय जन्म है। एक चान्द्रसम्वत्सर के अनन्तर एवयामरुत् नामक गर्भवायु के प्रत्याघात से स्वस्थान से च्युत होता हुआ यह मातापृथिवी के गर्भ में आता है, एवं यही इसका तृतीय जन्म है। दोषमार्जक-हीनाङ्गपूरक-अतिशयाधायक भेद से त्रिधर्म्मावच्छिन्न षोडश (१६) स्मार्त संस्कारों से, तथा द्वात्रिंशत् (३२) श्रौतसंस्कारों से, इस प्रकार अष्टाचत्वारिंशत् (४८) श्रौत-स्मार्त-संस्कारों से सुसंस्कृत-शुद्ध-पूत-अतिशययुक्त-पूर्णलक्षण देही ब्रह्मभाव में परिणत हो जाता है, एवं यही इसका *चतुर्थजन्म है यही जीव का परमपुरुषार्थ है यही इसका जन्मसाफल्य है।

---

* इन शुभसंस्कारात्मक शुभ कर्मों के प्रभाव से स्थूलशरीर त्यागानन्तर यह औपपातिक आत्मा 'प्रेत' भाव में परिणत होकर परलोक में दिव्ययोनि में जन्म लेता है, अशुभकर्मोदर्क से हीन-पिशाचादि योनि में जन्म लेता है, एवं यही इस पाङ्क्त यज्ञात्मा का पाँचवाँ जन्म है।

'पितृभ्यो देवदानवाः' (मनु: ३।२०१) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार परमेष्ठी पिता-प्रजापति के रेत से देवसृष्टि होती है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (मनु: ३।७६) के अनुसार प्रजापति के रेत से उत्पन्न प्राणदेवताओं के द्वारा पर्जन्याग्नि में 'श्रद्धा' नाम के चान्द्रसोम की आहुति होती है। इस आहुति से 'वर्षा' का जन्म होता है। वर्षात्मक रेत की पार्थिव अग्नि में आहुति होने से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधिरूप रेत की पुरुषाग्नि में आहुति होने से रेत (शुक्र) उत्पन्न होता है। रेतोलक्षण रेत की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह पारमेष्ठ्य दिव्य पितृतत्त्व ही क्रमशः देव, वर्षा, अन्न, रेतो भावों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा प्रजारूप में परिणत हो जाता है। प्रजा का रेत (मूलप्रतिष्ठा) हृदय है, हृदय का रेत 'मन' है, मन का रेत 'वाक्' है, क्योंकि वाक् ही मन के मानसभावों को प्रकट करने का अन्यतम द्वार है। बिना वागाश्रय के मानसजगत् सर्वथा शिथिल है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

> "वागेवऽर्चश्च सामानि च, मन एव यजूंषि।
> सा यत्रैवं वागासीत्, सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत।
> अथ यत्र मन आसीत्, नैव तत्र किञ्चनाक्रियत, न प्राज्ञायत।
> नो हि मनसा ध्यायतः कश्चनाजानाति"।

रेतोमय-कर्म्मात्मा—

वाक् का रेत कर्म्म है। मानसरेतोभूता वाक् कर्म्म भाग से ही वीर्य्यवती बनती है। केवल वाक्-प्रयोग तब तक सर्वथा व्यर्थ है, जब तक कि तदनुरूप कर्म्मविभूति का आश्रय न ले लिया जाए। यही कर्म्मविभूति इसकी जीवनमुक्ति का कारण बनती है, जैसा कि निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

> कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे। (ईशोपनिषत्)

रेतोमूला इस पितृसृष्टि का भगवान् ऐतरेय (महीदास) ने निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण किया है—

> "अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षं, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः। प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः" (ऐ० आ० २।१।३)

'इरा' रसमय कर्म्मात्मा—

विज्ञानात्मतत्त्व का विकास (उत्पत्ति) सौर हिरण्मय तेज से हुआ है। प्रथमभूत हिरण्मयरेत के सम्बन्ध से ही यह विज्ञान 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है। आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का रेत 'आप' है, जिसके "आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्" इस गोपथवचन के अनुसार भृगु-अङ्गिरा नामक दो विवर्त्त माने गए हैं। भृगु स्नेह तत्त्व है, अङ्गिरा तेज है। तेजोभूत अङ्गिरा योनि है, स्नेहभूत भृगु रेत है। इसकी आहुति से हिरण्यगर्भ सूर्य्य का प्रादुर्भाव हुआ है, जो कि सूर्य्य 'चित्रं देवानामुदगात्' (यजु मं०) मन्त्रवर्णन से देवप्राणघन है। 'कस्विद्गर्भं दध्र आपः'- 'अपां गर्भमलमीड' इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियाँ भी भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी प्रजापति के रेत से हो इस घन हिरण्यगर्भ का विकास बतला रही हैं, जिसे अपनी भाषा में हम आदित्यपुरुष भी कह सकते हैं।

प्रजापति (परमेष्ठी) के भृग्वङ्गिरोमय अव्यक्त रेत से उत्पन्न आदित्यनामक हिरण्मय देवता ही स्व आग्नेय रेत से वर्षा-ओषधि-अन्न-रेतो-रूप से परिणत होता हुआ पुरुष स्वरूप में आविर्भूत होता है। अतएव "देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः" कहना अन्वर्थ बन रहा है। आदित्यपुरुष, तथा मानवपुरुष, दोनों इस रेत सृष्टिविज्ञान की अपेक्षा से अभिन्न हैं, अतएव 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' कहना भी न्यायसङ्गत बन रहा है।

पार्थिव ओषधिरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है। ओषधियों में इसी रस का प्राधान्य है। इस पार्थिव इरारस के प्राधान्य से तदागत हिरण्मयदेवता भी इरामय बन जाते हैं। इस प्रकार यही द्युलोकस्थ हिरण्मय पुरुष पृथिवी में आकर इरारस से समन्वित होकर 'इरामय' बन रहा है। यही इरामय पार्थिव पुरुष सुप्रसिद्ध कर्म्मात्मा है, जिसे हम द्युलोकस्थ दिव्य हिरण्मयपुरुष का द्वितीयावतार कह सकते हैं। पार्थिव स्तोमत्रिलोकी के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरस भी इरामय पुरुष में समन्वित हैं। अतएव यह तद्रूप (वै० तै० प्रा० मय) प्राज्ञमूर्त्ति पुरुष 'कर्म्मात्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसे कि पूर्व में 'देवसत्य' नाम से भी व्यवहृत किया गया है।

जिस प्रकार द्युलोकरसप्रधान विज्ञानात्मा अपने वास्तविक हिरण्यरेत के सम्बन्ध से 'हिरण्मयपुरुष' कहलाता है, एवमेव पार्थिवरसप्रधान कर्म्मात्मा भी परोक्षभाषा सम्बन्ध से 'हिरण्मय' नाम से ही व्यवहृत हुआ है। दोनों ही हिरण्मय हैं। अन्तर यही है कि, विज्ञानात्मा हिरण्मय होने से हिरण्मय है, कर्म्मात्मा इरामय होने से हिरण्मय है। इरामय कर्म्मात्मा को हिरण्मय कहने का अभिप्राय एकमात्र यही है कि, कर्म्मात्मा वास्तव में है उसी दिव्य हिरण्मय का प्रत्यंश। केवल भूतभागासक्ति से भूतप्रधान इरारस के प्राधान्य से यह उससे पृथक् सा होगया है। श्रेष्ठतम यज्ञादि सौर कर्म्मानुष्ठान से जिस दिन यह कर्म्मात्मा अपने पार्थिव इरारस की ग्रन्थियाँ शिथिल कर देता है, उस समय यह

पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होकर अपने प्रातिस्विक विशुद्ध हिरण्मयरूप में परिणत हो जाता है। इसी उभयविध पुरुषविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऐतरेय कहते हैं—

"स इरामयः। यद्धि–इरामयः, तस्माद्धिरण्मयः।
हिरण्मयो वा अमुष्मिंल्लोके सम्भवति, य एवं वेद।"

ऐ० आ० २।१।३।

प्रपदप्रतिष्ठ कर्म्मात्मा—

उक्त लक्षण पार्थिव इरामय कर्म्मात्मा दो प्रकार से हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है। प्रातिस्विक रूप से प्रविष्ट होने वाला भूतात्मा (कर्म्मात्मा) शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, एवं यह प्रति प्राणी में भिन्न भिन्न है। यही प्राधानिकों का प्रतिशरीरभिन्न जीवात्मवाद है। यह पार्थिव भूतात्मा औपपातिकरूप से शुक्रशोणित के दाम्पत्यभाव में आकर कालान्तर में स्थूलशरीर धारण करता हुआ। भूमिष्ठ बन जाता है, तो इसमें सजातीयाकर्षण से पुनः इरामय पार्थिव रस प्रविष्ट होता है। यह आगन्तुक इरारस प्राणिमात्र में समान है। पार्थिव इरामय औपपातिक आत्मा अन्तर्य्याम सम्बन्ध से शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रभवस्थान अन्न है, योनिस्थान पुरुष है, प्रतिष्ठास्थान शुक्र है, आशय सर्वाङ्गशरीर है।

भूमिष्ठ होने के अनन्तर यह पार्थिवप्राणदेवता अग्नि-प्रधानता के कारण नवजात शिशु के दक्षिण प्रपद (पावा) से प्रविष्ट होता है। पार्थिव चैतन्य सर्वप्रथम बालक के प्रपदस्थान में ही प्रवेश करता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, नवजात शिशु सर्वप्रथम पादप्रभागों को ही सक्रिय बनाता है। प्रपद स्थान से ऊपर की ओर चढता हुआ उरस्थान में आता है। अतएव पादानन्तर उरुद्वय में गति का उद्रेक होता है। उससे हृदय में आता हुआ जाठराग्नि-समतुलित उदर में आता है। यहीं से बुभुक्षा तीव्र होने लगती है। यही बुभुक्षावृद्धि आयतनवृद्धि का कारण बनती है। उक्थ-अर्क-अशीति लक्षण अग्नीषोमप्राणानुग्रहात्मक यज्ञ ही आयतनवृद्धि का कारण है, एवं इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा 'अशनाया (बुभुक्षा) बल ही माना गया है। उदरस्थान के अनन्तर यही पार्थिवरसात्मक चित्-प्राण कण्ठदेशस्थ तेजोनाडी (जिसे कि उपनिषत् ने 'उदान' नाम से भी व्यवहृत किया है) के द्वारा ऊर्ध्व स्थानों में (वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्रादि में) व्याप्त हो जाता है। इरामय हिरण्मयात्मा (पार्थिवकर्म्मात्मा) शरीर के साथ उत्पन्न होता हुआ जहाँ 'सहसृष्ट' है, वहाँ यही इरारूप पार्थिव प्रतिष्ठात्मक शरीरोत्पत्त्यनन्तर उत्पन्न होता हुआ 'उत्पन्नसृष्ट' है। वह अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, यह बहिर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, जिसे 'विभूति' सम्बन्ध भी कहा जासकता है। इसका प्रभवस्थान पार्थिव गायत्र प्राण है, योनि दक्षिण प्रपद है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। इस प्रकार पार्थिवपुरुष का कर्म्मात्मा, प्रतिष्ठात्मा, रूप से हमारी आध्यात्मिक संस्था में दो प्रकार से उपभोग हो रहा है।

करारविन्देन पदारविन्दम्—

पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से घनाभिप्रधान प्रतिष्ठामूलक इरामय यह पार्थिव प्राण सर्वाङ्गशरीर में प्रतिष्ठित होता हुआ शिशु को स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित कर देता है। जब तक (एक वर्ष पर्य्यन्त) यह प्रतिष्ठात्मक पार्थिव प्राण शिशु-शरीर में सर्वात्मना प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तब तक शिशुशरीर परावलम्ब की अपेक्षा रखता है। एक वर्ष के अनन्तर ही यह स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ खड़े होने में समर्थ बनता है। सर्वव्यापक ईश्वर की चिच्छक्ति का उद्गमस्थान प्राणमय स्वयम्भू है, उपसंहारस्थान अन्नादमयी पृथिवी है। भूपृष्ठ पर उत्पन्न होने वाली अस्मदादि पार्थिव प्रजा को इसी पार्थिव चिच्छक्ति को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यही कारण है कि, मस्तक की अपेक्षा चरण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। 'पद्भ्यां भूमिः प्रतिष्ठितः' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वव्यापक विराट् पुरुष के पादप्रतिष्ठालक्षण भूप्रदेश का ही पार्थिवप्रजा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पृथिवी उस विराट् पुरुष के पाद हैं, सूर्य्य हृदय है, स्वयम्भू मस्तक है। जो चिच्छक्ति शिर:स्थानीय स्वयम्भू में है, वही हृदयस्थानीय सूर्य्य में, तथा पादस्थानीया पृथिवी में है। शिरोभाग (स्वयम्भू) से आरम्भ कर पादभाग (पृथिवी) पर्य्यन्त एक ही चैतन्यधारा प्रवाहित है। दोनों परस्पर 'प्रहिता संयोग, प्रतुत्ता-संयोग' लक्षण गायत्री के 'एति-प्रेति' सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। इसका यहां गमन 'प्रेति' भाव है, उसका यहां आगमन 'एति' भाव है। पृथिवी की प्रतिष्ठा अग्निसम्बन्ध से दक्षिणदिक् मानी गई है। इसी प्राकृतिक चिच्छक्तिरहस्य को लक्ष्य में रख कर निदानविद्या के आचार्यों ने पुरुषोत्तमेश्वर के के दक्षिणपादाङ्गुष्ठ को उनके मुखविवर में प्रविष्ट माना है। अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक महाश्वत्थवृक्ष की वल्शा के एक पत्र (भाग) पर प्रतिष्ठित इसी परम भागवत तत्त्व की प्रारम्भिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भागवताचार्यों ने कहा है—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयन्तं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

पादस्थान ही हमें उपलब्ध होता है, अतएव उपासना काण्ड में भगवच्चरणारविन्दों-का ही महत्त्व विशेष रूप से ग्राह्य है। पिता, ज्येष्ठभ्राता, माता, आचार्यादि की पाद सेवा भी इसी लिए सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। इरामय पार्थिव ब्रह्म प्रपदस्थान से ही तो प्रविष्ट होता है। वास्तव में यह स्थान पवित्रतम है, जिस का रहस्य लौकिक मनुष्य नहीं जान सकते। कहना यही है कि, सर्वव्यापक ईश्वरतत्त्व पाप्माओं से एकान्तत विरहित, अतएव विशुद्ध-नित्यशुद्ध-मुक्त है। उत्पन्न शिशु भी तत्सम है, परमहंसकक्षा में प्रतिष्ठित है। इस के अन्तःकरण में भी चैतन्य समानधारा से प्रवाहित है। अपनी-इसी प्रवाहवृत्ति से नवजात शिशु दक्षिणपादाङ्गुष्ठ को चूसा करता है। जिस बालक में ऐसी वृत्ति रहती है, शकुनशास्त्रवेत्ता उसे भाग्यशाली बतलाते हैं। तमोगुणप्रधान शिशुओं में प्राय

यह भाव उपलब्ध नहीं होता। इस प्रासङ्गिक विनोद के अन्त में हमें यही कहना है कि, पार्थिवात्मा अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम भेद से दो प्रकार से पुरुष में प्रतिष्ठित रहता है। एक जीवनसत्ता का, उत्पत्ति का कारण है, दूसरा शरीरप्रतिष्ठा का आलम्बन है। पशुसंस्थामें भी दोनों आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित रहते हैं। परन्तु इन में 'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो वः'के अनुसार वायव्यप्राण की प्रधानता रहती है। अतएव पशु को स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होने के लिए एक वर्ष नहीं लगता। अपितु यह उत्पन्न होते ही उछलने कूदने लगता है। 'अथातो रेतसः सृष्टिः' इत्यादि पूर्वोक्त ऐतरेय श्रुति ने जीवनसत्तोपयिक कर्मात्मा का स्वरूप बतलाया था, अब निम्नलिखित ऐतरेय श्रुति प्रपद सम्बन्धी प्रतिष्ठात्मा का विश्लेषण कर रही है—

"तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्। यत् प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं, तस्मात् प्रपदे। तस्मात् प्रपदे-इत्याचक्षते शफाः, खुराः, इत्यन्येषां पशूनाम्। तदूर्ध्वमुदसर्पत्। ता ऊरू अभवताम्। उरू गृणीहीत्यब्रवीत्, तदुदरमभवत्। उर्वेव मे कुरु, इत्यब्रवीत्। तदुदरोऽभवत। उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते, हृदयं ब्रह्मेति आरुणेयः। ब्रह्म हैव ता ३ इ, इति। ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्। तच्छिरोऽश्रयत। यच्छिरोऽश्रयत, तच्छिरोऽभवत्।" (ऐ० आ० २।१।४।)

पशु — श्री — पार्थिवात्मा

कर्म्मात्मा:
१—अन्नम्—प्रभवः
२—पुरुषाग्निः—योनिः
३—शुक्रम्—प्रतिष्ठा
४—शरीरम्—आशयः
— अन्तर्य्यामसम्बन्धेन शुक्रे प्रविष्टः, इरामयत्वाद्धिरण्मयः, लोकान्तरसञ्चारी, जीवसंज्ञः, कर्म्मभोक्ता-"कर्म्मात्मा"।

प्रतिष्ठात्मा:
१—भूमिः—प्रभवः
२—प्रपदे—योनिः
३—हृदयम्—प्रतिष्ठा
४—शरीरम्—आशयः
— बहिर्य्यामसम्बन्धेन हृदये प्रविष्टः, इरामयत्वाद्धिरण्मयः, पृथिव्यामेवान्ततः प्रतिष्ठितः, अभिमानी संज्ञः-'प्रतिष्ठात्मा'।

कर्मात्मा के तीन जन्म—

बतलाया गया है कि, अन्तर्याम सम्बन्ध से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होने वाले कर्मात्मा के पांच जन्म होते हैं। भगवान् ऐतरेय ने तीन जन्मभावों को ही प्रधान माना है। अन्न द्वारा पुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित होकर शुक्रद्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित होना प्रथम जन्म है, नवमासानन्तर भूमिष्ठ होना द्वितीय जन्म है। स्थूलशरीरविनष्टि के अनन्तर आतिवाहिक शरीर से लोकान्तर में जन्म लेना तृतीय जन्म है। इस व्यवस्था के अनुसार अन्नद्वारा पुरुषशुक्र में प्रतिष्ठित होने वाले पूर्वोक्त प्रथम जन्म का साधन-रूपतया शोणितजन्म में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जोकि ऐतरेय के अनुसार प्रथम जन्म है। एवमेव पूर्वप्रतिपादित संस्काररूप चतुर्थ जन्म का साधनरूपतया पाचवें जन्म में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जोकि ऐतरेयसम्मत तृतीय जन्म है। इसी जन्मविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—"पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथैतज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म"।

२—"तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति, सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति, सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि भावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि भावयति, आत्मानमेव तद् भावयति—एषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म।"

३—"सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते, तदस्य तृतीयं जन्म"।
तदुक्तं ऋषिणा—"गर्भेऽनु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्"।
—ऐ० आ० २।५।१।

१—पुरुषे ह अयमादितो गर्भो भवति—तदस्य प्रथमं जन्म २—तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति—तदस्य द्वितीयं जन्म	—तदस्य प्रथमं जन्म।
३—स यत् कुमारं जन्मनः—तदस्य तृतीयं जन्म	—तदस्य द्वितीयं जन्म।

४—प्रत्येभ्यः कर्म्मभ्यः——————— तदस्य चतुर्थं जन्म } —तदस्य तृतीयं जन्म।
५—वयोगतः प्रैति——————————तदस्य पञ्चमं जन्म

१—	१—अन्नद्वारा शुक्रे प्रतिष्ठा कर्म्मात्मनः————प्रथमं जन्म २—शुक्रद्वारा शोणिते प्रतिष्ठा कर्म्मात्मनः————द्वितीयं जन्म	—प्रथमं जन्म
२—	३—गर्भाशयद्वारा भूमौ प्रतिष्ठा कर्म्मात्मनः————तृतीयं जन्म	—द्वितीयं जन्म
३—	४—संस्कारद्वारा दिव्यभावे प्रतिष्ठा कर्म्मात्मनः—चतुर्थं जन्म ५—अग्निद्वारा परलोके प्रतिष्ठा कर्म्मात्मनः———पञ्चम जन्म	—तृतीयं जन्म

रेत–योनि–रेतोधा—

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में 'रेत–योनि–रेतोधा' नामक तीन साधन अपेक्षित माने गए हैं। जो द्रव्य वस्तुस्वरूप का उपादानकारण बनता है, स्वरूपसमर्पक बनता है उसे 'रेत' कहा जाता है। जिस स्थान में प्रतिष्ठित होकर यह रेतोद्रव्य वस्तुस्वरूप में परिणत होता है, वह स्थान 'योनि' कहलाता है। एवं योनि में रेत को प्रतिष्ठित करनेवाला निमित्तकारणविशेष ही 'रेतोधा' नाम से प्रसिद्ध है। *प्रजापति के द्वारा विहित उपर्युक्त रेतःसृष्टि–प्रक्रिया में ये तीनों उपकरण विद्यमान हैं।*

(१)– सावित्राग्नि 'योनि' है, भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्यरस 'रेत' है, 'मातरिश्वा' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य भार्गव वायु 'रेतोधा' है। तीनों के समन्वय से पहिली '**देवसृष्टि**' का विकास हुआ है।

(२)—पर्जन्याग्नि 'योनि' है, सौरमण्डलस्थ देवप्राणगर्भित 'श्रद्धा' नामक चान्द्रसोम 'रेत' है, आन्तरिक्ष्य 'पावक' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से '**वृष्टिसृष्टि**' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

(३)—पार्थिव उग्याग्नि (गायत्राग्नि) 'योनि' है, आपोमय वृष्टिसोम 'रेत' है, पार्थिव 'पवमान' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से '**ओषधिसृष्टि**' हुई है।

(४)—आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः, व्याप्त पुरुषशरीरावच्छिन्न वैश्वानराग्नि 'योनि' है, भुक्त अन्नसोम 'रेत' है, अशनायामृत्यात्मक प्राणवायु 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से '**शुक्रसृष्टि**' हुई है।

(५)—स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आङ्गिरसप्राणघन शोणिताग्नि 'योनि' है, पुरुषशरीर में प्रतिष्ठित सौम्यशुक्र 'रेत' है, नाभानेदिष्ठ–वालखिल्या–वृषाकपि, नामक गर्भस्वरूप–सम्पादक प्राणविशेषों की आधारभूमि 'एवयामरुत्' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से प्रजासृष्टि का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

१—
- १—रेत——भृग्वङ्गिरोमय्य पारमेष्ठ्याप (सोम)
- २—योनि—द्युलोकस्थ सावित्राग्नि (अग्नि)
- ३—रेतोधा—भार्गवो मातरिश्वा वायु (वायु)

—देवसृष्टि— "प्रजापतेरेतो देवा"

२—
- १—रेत——चान्द्रसोम श्रद्धात्मक (सोम)
- २—योनि—पर्जन्याग्निरान्तरीक्ष्य (अग्नि)
- ३—रेतोधा—पावको वायुरान्तरीक्ष्य (वायु)

—अपसृष्टि— "देवानां रेतो वर्षम्"

३—
- १—रेत——दिक्सोममय्य आप (सोम)
- २—योनि—पार्थिवऽग्न्याग्निर्गायत्र (अग्नि)
- ३—रेतोधा—पवमानो वायु पार्थिव (वायु)

—ओषधिसृष्टि "वर्षस्यरेत ओषधय"

४—
- १—रेत——भुक्तान्नम् (सोम)
- २—योनि—पुरुषाग्निर्वैश्वानर (अग्नि)
- ३—रेतोधा—प्राणो वायु शारीर (वायु)

—शुक्रसृष्टि— "ओषधीनां रेतोऽन्नम्"

५—
- १—रेत——सौम्य शुक्रम् (सोम)
- २—योनि—गर्भाशुगत शोणिताग्नि (अग्नि)
- ३—रेतोधा—एवयामरुत्-शारीर (वायु)

—प्रजासृष्टि— "अन्नस्य रेतो रेत:" "रेतसो रेत: प्रजा:"

कौषीतकि का 'विचक्षण' तत्त्व—

'आपः पुरुषवचसो भवन्ति०' इस छान्दोग्य-सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि पुरुषसृष्टि का मूलारम्भक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही माना गया है, तथापि इस सम्बन्ध में पार्थिव प्रजा के लक्ष्य से यह नहीं भुला देना चाहिये कि, अस्मदादि पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति का प्रधानतः चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। केवल पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व का ही नहीं, अपितु स्वायम्भुव सत्य, सौर ज्योति, विविध भावापन्न नाक्षत्रिक प्राण, आप्य असुरप्राण, वायव्य गन्धर्वप्राण, द्यावापृथिव्य पशुप्राण, सभी का पार्थिव भूतात्मा के साथ सम्बन्ध है। परन्तु इन सब आधिदैविक पदार्थों के आगमन का एकमात्र द्वार चन्द्रमा ही माना गया है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा ही ऋतुरूप सम्वत्सर के द्वारा पार्थिव प्रजा की प्रतिष्ठा बन रहा है। सर्वप्रतिष्ठा होने से ही चन्द्रमा ब्राह्मणग्रन्थों में 'सर्व' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसाकि—"चन्द्रमा वै सर्वम्" (गो० ब्रा० पू० २।८) इत्यादि निगम से प्रमाणित है। भगवान् कौषीतकि ने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्ट ही चन्द्रमा को ऋतु द्वारा सर्वप्रभव माना है—

*विचक्षणादृतवो रेत आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतस्तन्मा पुंसि कर्त्रयेरध्वम्। पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्त स जायमान-उपजायमानो द्वादशत्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्राऽऽसंतद्विदे प्रतितद्विदेऽहं तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभरध्वम्" (कौ० उप० १।२।२।)

सम्वत्सरस्य प्रतिष्ठा—

पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'ऋतुपितरनिरूपण' प्रकरण में षड्ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर-प्रजापति को हमने सर्व प्रपञ्च की प्रतिष्ठा बतलाया है। यह ऋतुभाव चान्द्रतत्त्व पर ही प्रतिष्ठित है। चान्द्र-सोम प्रवर्ग्यसम्बन्ध से ऋतसोमरूप में परिणत होता है। यही ऋतचान्द्रसोम ऋताग्नि में उच्चावचभाव से आहुत होकर षड्ऋतु का जनक बनता है। अतएव चन्द्रमा ही ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति की प्रतिष्ठा माना गया है, जैसा कि—"नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि सम्वत्सरस्य प्रतिष्ठा" (तै० ब्रा० ३।११।१।१३।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सर्वसृष्टि-(पार्थिवसर्वसृष्टि)-प्रवर्त्तकता के सम्बन्ध से ही चन्द्रमा के लिये "ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु, चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" (शत० १३।१।११।) इत्यादि प्रसिद्ध है। इन्हीं सब विस्पष्ट प्रमाणों के आधार पर हमने दिव्य-पितृप्राणगर्भित ऋतुपितर (चान्द्रतत्त्व) को पार्थिव प्रजा का प्रजनयिता माना है। एकमात्र इसी सृष्टि-

---

*—"विचक्षणात्—बहुविधभोगदानकुशलात् सूर्य्यसुषुम्णानाडीरूपाच्चन्द्रमसः"।
"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" (कौ० ब्रा० ४।४।७।१०।)

प्रवृत्ति की अपेक्षा से चन्द्रमा 'धाता-विधाता' नामों से प्रसिद्ध है—(देखिये गी० भा० पृ० १।१०।)।

मासि–मासि–वोऽशनम्—

उक्त कथन से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, दिव्यपितृप्राणयुक्त चान्द्रपितृप्राण (ऋतुपितृप्राण, जोकि श्रद्धासोममय है) वृष्टि के द्वारा ओषधिरूप में परिणत होता है। दिव्यपितृ प्राण क्योंकि आदित्यात्मक है, अतएव 'आदित्याज्जायते वृष्टि' कहना भी निर्विरोध सुरक्षित रहजाता है। आदित्यरश्मियाँ आदित्यप्राणात्मिका हैं, ये ही प्राण दिव्य पितर हैं। इनका सुषुम्णानाड़ी में भोग होता है। सुषुम्णा द्वारा इन दिव्यप्राणों का चान्द्रमण्डल में भोग होता है। चान्द्रसोम आदित्यरश्मिगत प्राणाग्नि के सम्बन्ध से द्रुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है। यही वृष्टिभाग ओषधिरूपमें परिणत होता है। इन ओषधियों का आप्यायन चान्द्रतत्त्व से स्वतन्त्ररूप से भी होता रहता है। यह आप्यायन कर्म्म कृष्णपक्ष में अधिक बलवान रहता है। सौररश्मिगत इन्द्र नामक प्राण विश्व सोमान्नभक्षक है। शुक्लपक्ष में इसका प्राधान्य रहता है। अतएव चान्द्रसोम इस पक्ष में ओषधि-आप्यायन कर्म्म में असमर्थ है। कृष्णपक्ष में भी आप्यायन कर्म्म अमावास्या में सर्वप्रधान है। क्योंकि इस तिथि को इन्द्र सोमग्रहण में असमर्थ है। क्योंकि अमावास्या ओषधियों का आप्यायनकाल है, अतएव इस दिन ओषधि काटना निषिद्ध माना गया है। चान्द्रसौम्यप्राण सम्बन्ध से ही अमावास्या 'पार्वणश्राद्धतिथि' मानी गई है, जिसके सम्बन्ध में—"मासि मासि वो अशनम्' (शत० ब्रा० २।४।२।२) इत्यादि प्रसिद्ध है।

दधि–घृत–मधु–लक्षण कर्म्मात्मा—

ओषधिरूप अन्न चान्द्रसोमप्रधान है, अतएव चन्द्रमा 'ओषधीनां पतिः' नाम से प्रसिद्ध है। इस चान्द्रसोमप्रधान ओषधिरूप भोग्य अन्न में दिव्य, आन्तरिक्ष्य, पार्थिव, तीनों द्रव्यों का समन्वय है। चान्द्र सोम की प्रधानता के साथ साथ दिव्यपितरप्राण की सत्ता भी पूर्व से गतार्थ है। पार्थिवमृद् भाग भी समाविष्ट है। ये तीनों ही द्रव्य अग्नीषोमात्मकरूप से उभयविध हैं। अन्तर केवल घन-तरल विरलावस्थाओं में है। पार्थिव अग्नि 'घन' है, पार्थिव सोम घन है। यही 'आप' नाम से प्रसिद्ध है। ओषधियों का दृश्य स्थूलभाग, जो कि-'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्' (शत० ७।५।१।३) के अनुसार 'दधि' नाम से व्यवहृत हुआ है, स्थूलाग्निसोममय है। स्थूल पानी, तथा चित्यलक्षण स्थूलाग्नि के समन्वय से ही मिट्टी बनी है। यही ओषधियों का स्थूल रूप है। अन्न में जो 'दाना' (घनता) देखा जाता है, जिस घनता को तोड़ने के लिए अन्न को चक्की में पीसा जाता है, वही दधिभाग है। यह पार्थिव घनाग्नि सोमप्रधान है। पार्थिव संस्था में 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' के अनुसार अग्नि की प्रधानता है, सोम गौण है। अतएव पार्थिव पञ्चमहाभूत समष्टि 'वाक' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि 'वाक' शब्द—'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० ब्रा० १०।५।१।१) के अनुसार अग्नितत्त्व का ही नामान्तर है।

दूसरा भाग इन ओषधियों में आन्तरिक्ष्य अग्नि, सोम का प्रतिष्ठित है। अन्तरिक्ष के अग्नि-सोम वायव्य बनते हुए प्राणप्रधान हैं। ओषधिरूप अन्न में जो एक बलप्रद प्राण है, जिसके आगमन से सहोबल (साहस) का प्रादुर्भाव होता है, वही आन्तरिक्ष्य अग्नीषोम है। यह आन्तरिक्ष्य युग्म तरलावस्थापन्न होने से 'घृतमन्तरिक्षस्य' के अनुसार 'घृत' नाम से प्रसिद्ध है। चक्की में पिष्ट आटे को जब गोंदा जाता है, तो उसमें एक प्रकार की मसृणता आ जाती है, जिसे लोकभाषा में 'लेस' कहा जाता है। चिकनाई प्रतीत होने लगती है। यह इसी आन्तरिक्ष्य प्राण का माहात्म्य है। 'आपोमयः प्राणः' सिद्धान्त के अनुसार पानी ही प्राणविकास की प्रतिष्ठा है। अतः अप् सम्बन्ध से ही आटे में इस घृतप्राण का विकास होता है। यह आन्तरिक्ष्य प्राण शारीर "ओज" धातु का प्रवर्तक है।

तीसरा दिव्य अग्नि-सोमयुग्म विरलावस्थापन्न है। इससे ओषधियों में मधुभाग का विकास होता है। 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छान्दोग्य-उपनिषत्, मधुविद्या) "मध्वङ्कुध्य (लोकस्य रूपम्)" (शत० ब्रा० ७।५।१।३।) के अनुसार मधुभाग का प्रवर्तक दिव्याग्निसोमयुग्म ही माना जायगा। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। अन्नगत यही मधुभाग शरीर में मधुभाव का स्वरूप समर्थक बनता है। यही दिव्य विशुद्ध अग्निपूत सोम प्रज्ञान नामक सर्वेन्द्रिय मन का आरम्भक बनता है, जिसके लिये—'अन्नमयं हि सोम्य! मनः' प्रसिद्ध है। इस प्रकार भुक्त अन्न-त्रैलोक्यरसावच्छिन्न बनता हुआ पार्थिवाग्निसोमयुग्म से वाङ्मयी सप्तधातुसमष्टि का, आन्तरिक्ष्याग्निसोमयुग्म से प्राणमय ओज का, एवं दिव्याग्निसोमयुग्म से मन का उपादान बन रहा है। अग्नीषोमयुग्मों का स्वरूपभेद ही इन तीनों आध्यात्मिक पर्वों के स्वरूपभेद का मुख्य कारण है। मनःप्राणवाङ्मय भूतात्मा क्योंकि रसत्रयावच्छिन्न अन्नरस से सम्बद्ध है, अतएव त्रिपर्वा यह कर्मात्मा 'अन्नरसमयब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। अन्न ही भूतात्मा की प्रतिष्ठा है, जैसा कि—'अन्नाधीनं जगत्सर्वम्' से स्पष्ट है। इसी आधार पर अन्न को 'ब्रह्मोपनिषत्' माना गया है—(देखिये शत० ५।३।४।५।)

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो मनोमयः"

- १— { १—रसः, २—असृक्, ३—मांसम्, ४—मेदः, ५—अस्थि, ६—मज्जा, ७ शुक्रम् } —पार्थिवधातवः सप्त पार्थिवपितृप्राणेनाग्निषोमीयेन निष्पन्नाः—'वाङ्मयाः' (भूतमयाः) "वाक्"
- २— { ओजः } —आन्तरिक्ष्यो धातुः—आन्तरिक्ष्यपितृप्राणेनाग्नीषोमीयेन निष्पन्नः "प्राणमयः" "प्राणः"
- ३— { सत्त्वम् } —दिव्यधातुः—दिव्यपितृप्राणेनाग्नीषोमीयेन निष्पन्नः। "मनोमय" "मनः"

आत्मविवर्त सम्परिष्वक्ति—

भुक्तान्न रसासृगादि द्वारा अन्तत अपने पार्थिव इरामय सारभाग से 'शुक्र' रूप में परिणत हुआ। अन्नगत सौम्यगुणक चान्द्र पितृप्राण का भी शुक्र में समावेश हुआ। इस चान्द्रप्राण में आकृति-प्रकृति अहङ्कृतिभावसमर्पक 'महानात्मा' का उदय हुआ। शुक्र में प्रतिष्ठित बीजी इसी महानात्मा की इच्छा से ही आगे की भूतसम्भूति (प्रजोत्पत्ति) लक्षण सन्तानधारा प्रवाहित होती है। बीजावस्थापन्न महान का जितना आकार है जैसी प्रकृति है, जो अहम्भाव है, शुक्रसेकद्वारा गर्भमें प्रतिष्ठित गर्भी का उतना ही आकार, वैसी ही प्रकृति, वही अहम्भाव सम्पन्न होता है, जैसाकि—'आत्मविज्ञानोपनिषत् प्रकरण' के 'महदक्षरोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें केवल महानात्मा, तैजस, कर्म्मात्मा, इन तीन आत्मविवर्त्तों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। भुक्तान्न का पार्थिव भाग (वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमय सौम्यलोकों का प्रवर्ग्यभाग) तो वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा है। भुक्तान्न का चान्द्रसोमभाग षड्गुणक 'महानात्मा' है। कर्म्मात्मा से युक्त अन्नमय प्रज्ञान पर प्रतिबिम्बित और हिरण्मयतेन विज्ञानात्मा है, यही तैजस है। तैजस बुद्धि है, प्रज्ञान मन है, कर्म्मात्मा कर्म्मभोक्ता है, महानात्मा श्राद्धपिण्डरस भोक्ता है। जीवनदशा में सब आत्मविवर्त्त परस्पर सम्परिष्वक्त रहते हैं। प्रयाणकाल में बुद्धिरूप तैजस 'तेजः परस्यां देवतायाम्' के अनुसार स्वप्रभव और हिरण्मय मण्डल में अर्पित होजाता है। प्रज्ञान मन अनुशयरूप से भोक्तात्मा का सहयोगी बना रहता है। जबतक महानात्मा स्वप्रभव चन्द्रलोक में नहीं चला जाता, तबतक तो कर्म्मात्मा महानात्मा के साथ रहता है। जब महानात्मा चन्द्रलोक में पहुँचकर स्वस्थान अन्य महानात्माओं के साथ सापिण्ड्यभाव को प्राप्त होजाता है, तो तदनन्तर 'देही कर्म्मगति गतः' सिद्धान्त के अनुसार कर्म्मात्मा शुभाशुभ कर्म्मोपभोगार्थ यात्रा का अनुगमन कर लेता है। क्योंकि श्राद्ध का लक्ष्य एकमात्र महानात्मा है, अत इसी की ओर पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है।

चन्द्रलोकानुगत-महानात्मा—

"महानात्मा सजातीयानुबन्धसम्बन्ध से सौम्य शुक्र में प्रतिष्ठित है, यह स्वयं चान्द्र सोम प्रधान है, षड्गुणक है, चिदात्मा की योनि है" इस निष्कर्ष को लक्ष्य में रखते हुए विचारविमर्श कीजिए। जो वस्तुतत्त्व जिस लोक का, जिस जाति का होता है, सजातीयाकर्षणसिद्धान्त के अनुसार उस वस्तुतत्त्व के साथ उस लोक, उस जाति का स्वाभाविक आकर्षण बना रहता है। एवं इस आकर्षणसूत्र के आधार पर उन उन सजातीय, समानस्थानीय वस्तुतत्त्वों का प्रवर्ग्यरूप से परस्पर आदान प्रदान हुआ करता है। मिट्टी के ढेले को आप कितना ही ऊंचा फैंकिए, परन्तु सजातीय समानस्था

नीय पार्थिव आकर्षण से तत्क्षण धरातल पर ही आके ठहरेगा। अग्निमयी बाला बलवदाक्रमण से भी ऊर्ध्वगमन की ओर से वञ्चित नहीं की जासकेगी। इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर हमें यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, चान्द्रसोमप्रधान-शुक्रस्थित महानात्मा चान्द्र आकर्षण से नित्य आकर्षित रहता है। क्योंकि भूतात्मा शुक्रावच्छिन्न है, अतएव तदभिन्न महानात्मा के नित्य सम्परिष्वङ्ग से इसे भी पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि, जबतक महानात्मा चन्द्रलोक में पहुँचकर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक भूतात्मा इसके साथ बद्ध रहता है। स्थूलशरीरनिधनानन्तर महानात्मा चान्द्राकर्षण से आकर्षित होकर चन्द्रलोक में जाता है, साथ ही महानात्मा से बद्ध कर्म्मात्मा को भी एक बार अवश्य ही चन्द्रलोक में जाना पडता है। घोरातिघोर पापिष्ठ, सर्वोत्कृष्ट पुण्यात्मा, कोई भी हो, देहविच्युति के अनन्तर एक बार अवश्य ही 'महानात्मा' के अनुग्रह से उसे (कर्म्मात्मा को) चन्द्रलोक में पहुँचना पडता है। वहा पहुँचे के अनन्तर महानात्मा से जब इसका ग्रन्थि-विच्छेद हो जाता है, तब यह कर्म्मानुसार पितृयाण देवयानपथों में से किसी एक का आश्रय लेता हुआ कर्मफल भोगार्थ गमन करता है। इसी सामान्य गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए कहा गया है—

"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"

—कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् १।२।

भूतात्मावच्छिन्न महदात्मपितर शरीर के परित्यागानन्तर इस पृथ्वी से उपर की ओर (चन्द्रलोक की ओर) गमन करते हैं, अतएव-'इतः (पृथिविस्थानात) प्रयन्ति' इस निर्वचन से इन्हें 'प्रेतपितर' कहा जाता है, जैसा कि 'प्रेतपितरोपनिषत्' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रेतसञ्ज्ञक महानात्मा स्वप्रभव चन्द्रलोक में जाता है, इस गमनस्थिति का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया जा सकता है।

गमनस्थितिविश्लेषण—

कल्पना कर लीजिये-आज आश्विनशुक्ला द्वितीया है। पश्चिम क्षितिज पर चन्द्रोदय हुआ है। इस समय चन्द्रमा का स्वाति-नक्षत्र के साथ योग है, शरदृतु है, सायंकाल है। इस मुहूर्त्त में एक पूर्णायुर्भोक्ता भाग्यशाली गृहस्थ का आत्मा शरीर छोडता है। मृतशरीर का यह उत्क्रान्त आत्मा (महानात्मयुक्त कर्म्मात्मा, किंवा कर्म्मात्मयुक्त महानात्मा) जिस ओर चन्द्रमा की स्थिति है, उसी ओर अपनी गति बना लेता है। उत्क्रान्त आत्मा ने तत्समय की चन्द्रस्थिति के अनुरूप जो गमन मार्ग निश्चित कर लिया है, आसापिण्ड्यभाव पर्य्यन्त यह उसी निश्चित पथ की ओर क्रमशः-अग्रेसर होता रहता है।

आश्विन द्वितीया को पश्चिम क्षितिज की बिन्दुविशेष पर उदित होने वाला चन्द्रमा क्रमशः बदलने लगता है। नक्षत्रभोगानुगत कालभेद से चान्द्र उदयास्त परिवर्त्तनशील बना रहता है। अपनी

परिवर्त्तनरूपा इसी परिक्रमा से यह २७ दिन, तथा कुछ घन्टों में एक नक्षत्रपरिक्रमा पूरी कर लेता है। स्वात्मपरिभ्रमणगतियुक्त चन्द्रमा की यह नक्षत्रगति निर्दिष्ट उस समय में पूरी हो जाती है। २७ दिन, कुछ अंशों के सङ्कलन से चान्द्र सम्वत्सर के १३ मास हो जाते हैं। इस प्रकार सौरसम्वत्सर की पूरी परिक्रमा लगाने में चन्द्रमा को पूरे तेरह मास लग जाते हैं। प्रत्येक मास की शुक्ल-द्वितीया को गमनशील प्रेतात्मा तथा चन्द्रमा का साम्मुख्य होता रहता है। इस विधि में प्रेतात्मा में चान्द्रबल समावेश के लिए उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, जो प्रक्रिया मासिक श्राद्धापरपर्य्याय 'एकोद्दिष्टश्राद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम मास में पार्थिव आकर्षण विशेषतः प्रबल रहता है, अतएव आरम्भ में पार्थिवश्राद्ध (पञ्चक्रयी) किया जाता है। अनन्तर षाण्मासिक, सर्वान्त में वार्षिकश्राद्ध किया जाता है। ज्यों ज्यों प्रेतात्मा पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होकर चान्द्रमण्डल के समीप पहुँचता जाता है, त्यों त्यों इस की स्थिति में विकास होने लगता है। इन सब स्थितियों को त्रैलोक्य के आधार पर अश्रुमुख-पार्वण-नान्दीमुख, नामों से व्यवहृत किया गया है। पार्थिव स्थिति में यही अश्रुमुख है, अन्तरिक्षस्थिति में पार्वण है, दिव्य चान्द्रस्थिति में नान्दीमुख है। चान्द्रलोक में पहुँच कर तत्रस्थ स्ववंशज नान्दीमुख पितरों से युक्त होकर स्वयमपि तद्रूप बनता हुआ यह प्रेत विशुद्ध सौम्यभाव में, पवित्रभाव में परिणत हो जाता है, जो कि पावन स्थिति आशौच निवृत्ति का बीज मानी गई है जिसके १३ मासात्मक काल का १३ दिनों में अन्तर्भाव मान लिया गया है।

तात्पर्य्य-प्रेतात्मा अपने निश्चित गतिमार्ग से बढ़ता रहता है। चन्द्रमा बदलता रहता है। त्रयोदशमासानन्तर ठीक उसी साम्मुख्यभाव के उपलब्ध होने पर यह नान्दीमुखों से युक्त होजाता है। यही इसका सापिण्ड्यभाव है। यहीं (चन्द्रलोक में) इस प्रेतपिण्ड के पिता, पितामह, प्रपितामहादि के अपत्यपिण्ड प्रतिष्ठित हैं। इन पितृपिण्डों के साथ इस प्रेतपिण्ड का युक्त हो जाना ही 'सापिण्ड्य' है, जिस प्राकृतिक स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रेतात्मा के पुत्र द्वारा 'सपिण्डकरण' नामक प्रक्रिया विशेष को माध्यम बनाना आवश्यक होता है। जिस ऋतु में कर्मात्मा शरीर का परित्याग करता है, वही ऋतुमय सूक्ष्मभूत अङ्गुष्ठमात्र शरीर से इस प्रेतात्मा का वहन करते हैं। अतएव इस पिण्ड-शरीर को 'आतिवाहिकशरीर' कहा जाता है, जैसा कि आने वाली-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

गोत्रसृष्टिमीमांसा—

सापिण्ड्य सम्बन्ध से चन्द्रलोकस्थ वंशज पितरों का प्रसङ्ग चल पड़ा। अतः दो शब्दों में इस की भी मीमांसा कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। जिस प्रेतात्मा का आज गमन हो रहा है, उसके मूलपितर (वंशज पितर) 'सपिण्ड, सोदक, सगोत्र' भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। १—स्वयं प्रेतपितर, २—प्रेतपितर का पिता, ३—पितामह, ४—प्रपितामह, ५—वृद्ध प्रपितामह,

६—अनिरुद्धप्रपितामह ७—उद्धातिउद्धप्रपितामह, ये सात पितर '१—सपिण्डपितर' कहलाते हैं। तात्पर्य यही है कि—'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषं, सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते' सिद्धान्त के अनुसार पिण्ड सम्बन्ध सात धाराओं में ही नियुक्त है। प्रेतात्मा से पहिले के ६ पिण्ड, स्वयं प्रेतात्मा ७ वां पिण्ड, यही सप्तपुरुषानुगत सापिण्ड्यभाव है। सातवें उद्धातिउद्धप्रपितामह से आगे की सात पीढ़ियों के सात क्रमिक पितर (१४ पर्य्यन्त) '२—सोदकपितर' कहलाए हैं। इस से भी आगे का पितृसन्तान (२१ पर्य्यन्त) '३—सगोत्रपितर' संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ है। इन तीन पितृसमष्टियों के अनन्तर 'सजातीय बन्धुपितर' विभाग है।

'सृष्टि-वेद-गोत्र' भेद से ऋषितत्त्व तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक माना गया है*। सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषि, गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि, वेदप्रवर्त्तक ऋषि, तीनों ही ऋषितत्त्वों का मूल आधार (प्रतिष्ठा विकासभूमि) एकमात्र आङ्गिरस-स्वायम्भुव-अग्नितत्त्व है, जिसका विकास आगे सब परमेष्ठी-मण्डल में माना गया है। ऋषितत्त्व की इसी मूल प्रतिष्ठा का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् ने कहा है—

> "विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः ।
> ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे" ।
>
> —ऋक्संहिता १०।६२।५।

"एकविंशिनोऽङ्गिरसः" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार यह ऋषिप्राणधारा मूलभूत अङ्गिरा की २१ धाराओं के सम्बन्ध से गोत्रसृष्टि में २१ पीढ़ी पर्य्यन्त प्रवाहित रहती है। इसी मौलिक-श्रौत रहस्य के आधार पर स्मार्त्ताचार्य्यों ने सगोत्र पितरों की संख्या २१वीं पीढ़ी पर्य्यन्त मानी है।

"लोकस्तु भुवने जने" (अमर ३।३।२।) के अनुसार भुवन, जन, दोनों के लिए लोक शब्द प्रयुक्त हुआ है। भूतसर्ग (भूतप्रजाजन) चौदह भागों में विभक्त है, जोकि सांख्य-परिभाषा में-'चतुर्दशविध भूतसर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। चौदह जन (प्राणसृष्टिवर्ग) की अपेक्षा से भी चौदह लोक प्रसिद्ध हैं, एवं भूरादि सप्त ऊर्ध्व भुवन, अतलादि सप्त अधोभुवन, सकलन से चौदह भुवन दृष्टि से भी चौदह लोक प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में जनात्मक चौदह लोक ही अपेक्षित हैं। 'महाव्याहृति' से सम्बन्ध रखने वाले आत्मभुवन—'भूः-भुवः-स्वः' इस त्रैलोक्य से युक्त भूः (रोदसी त्रैलोक्य), भुवः (क्रन्दसी त्रैलोक्य), स्वः (संयती त्रैलोक्य) नाम के सप्तलोकात्मक तीन लोक हैं, जिन की समष्टि के लिए 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' संज्ञा व्यवहृत हुई है। इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी के गर्भ में चतुर्दशलोक (प्रजासृष्टि) प्रतिष्ठित है।

---

*—इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड में देखना चाहिए।

भुवनात्मक (स्थानात्मक) लोक हो, अथवा जनात्मक (स्थानस्थित प्रजात्मक) लोक हो उभयविध लोकसृष्टि (लोकसृष्टि, तथा लोकीसृष्टि) का मूल अप्तत्त्व ही माना गया है । स्वयम्भू प्रजापति अपने आपोमुख से ही उभयविध लोकसृष्टि के स्रष्टा बनते हैं, जैसाकि-'अप एव ससर्जादौ' इत्यादि मानवसिद्धान्त + से भी प्रमाणित है। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति जहाँ अप्तत्त्व को प्रजासृष्टि का आरम्भक बतला रही है, वहाँ-'आपो वै सर्वाणि भूतानि' (शत० १०।५।६।१६) इत्यादि ब्राह्मण श्रुति इसी को भूतात्मिका लोकसृष्टि का भी आरम्भक मान रही है। निम्न लिखित व्याससूक्ति भी लोकसृष्टि की अप्कल्पना का समर्थन करती हुई इसे सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक मान रही है—

"अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥" (महाभारत)

चतुर्दशविध लोक (प्रजा) भेद से अप्तत्त्व भी चतुर्दशधा विभक्त है । किंवा लोकात्मक अप्तत्त्व के चतुर्दशधा विभक्त रहने से लोक (प्रजा) भी चतुर्दशधा विभक्त है। उभयथा अप्तत्त्व का १४ संख्यात्मक अस्तु रूप है। क्योंकि अप्तत्त्व १४ भागों विभक्त है, अतएव तद्रूप पितृपरम्परा भी इसी संख्या पर उपसङ्कृत है। एकमात्र इसी मूल के आधार पर चतुर्दशपर्यन्त 'सौम्य (जलाञ्जलि से सम्बन्ध रखने वाले) पितरों की सत्ता मानी गई है।

तीसरा "सपिण्डपितर" विभाग है। सोमगर्भित अग्नि ही पिण्डस्वरूप का निष्पादक माना गया है। साम्वत्सरिक अग्नितत्त्व सोमाहुति को गर्भ में आत्मसात् करता हुआ पिण्डसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। यह साम्वत्सरिक पिण्डभाव सम्पादक अङ्गमूर्त्ति ※ अग्नि सप्तसंस्थ माना गया है। सात संस्था पर्य्यन्त ही सोमगर्भित एक अग्निघन (स्थिर-ध्रुवाग्नि) का वितान होता है। इसी सप्ताग्निपिण्डसंस्था के आधार पर ज्योतिष्टोम यज्ञ की सात संस्थाओं का उदय होता है, जोकि क्रमशः-"अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम, आप्तोर्यामस्तोम" इस नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी सप्तभाव के कारण सोमगर्भित अग्निदेवता 'सप्तार्चि, सप्तजिह्व' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। सात के अनन्तर घनता उत्क्रान्त हो जाती है, अग्निरूप सङ्कोचप्रवर्त्तक सोमसम्बन्ध से वञ्चित होते हुए स्वयं सोमरूप में परिणत हो जाते हैं। इसी आधार पर ऋषियों

\+ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु १।८)

※ "अग्नेश्च वेदः,—"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः" (तै० ३।१२।६।१,२,१)

ने प्रेतपितरों का पिण्डत्व सात पर ही विश्रान्त माना है, जो कि विश्रान्ति प्राकृतिक नियमानुगता होने से सर्वथा मान्य है। यही तीसरा 'सपिण्डपितर' विभाग है।

सौरसम्वत्सरानुगत पार्थिव सम्वत्स सोमगर्भित अग्निप्रधान है। भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी समुद्र आप.प्रधान है। एवं सत्–सत्यमय स्वयम्भू विश्वरूप प्राणप्रधान है। प्राणप्रधान स्वयम्भू की व्याप्ति इतर दोनों पर है। अप्प्रधान परमेष्ठी की व्याप्ति सौरपार्थिव सम्वत्सर पर है। फलतः स्वायम्भुव प्राण की व्याप्ति भी पृथिवी पर्य्यन्त है, एवं पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व की व्याप्ति भी पृथिवी पर्य्यन्त है, यह सिद्ध होजाता है। एवं इस व्याप्ति प्रदर्शन से हमें कुछ निष्कर्ष निकालना है, जैसा कि पाठक अनुपद में ही देखेंगे। अभी वक्तव्य यही है कि—स्वायम्भुव प्राण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यह मूलरूप अङ्गिरा के सम्बन्ध से २१ विभूतिभावों में विभक्त है। यही ऋषि गोत्रसृष्टि का प्रवर्त्तक है, यही सगोत्रपितृप्राण की मूलप्रतिष्ठा है। स्वायम्भुव विभूति से युक्त सगोत्रपितर ही दिव्य-नान्दीमुख पितर हैं, जिनसे—'गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्' यह फलाशीः माँगी जाती है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व सोदक पितृप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। अप्तत्त्वानुबन्धी चतुर्दशविकास के सम्बन्ध से सोदक-पितर चतुर्दशशाखापर्य्यन्त व्याप्त रहते हैं। ये ही आन्तरिक्ष्य पार्वण पितर हैं। पार्थिव अग्नितत्त्व सपिण्ड पितरों की प्रतिष्ठा बनता है। सप्तधा विभक्त अग्नि के सम्बन्ध से सपिण्डता सात ही पीढ़ी पर्य्यन्त प्रक्रान्त रहती है। ये ही सपिण्ड पितर पार्थिव अश्रुमुख पितर हैं।

स्वयम्भू स्वः है, परमेष्ठी भुवः है, सम्वत्सर भूः है, यही महाव्याहृतिरूप महाविश्व है। जिस के तीनों पर्वों में क्रमशः सगोत्र–सोदक–सपिण्ड पितर प्रतिष्ठित हैं। ऋषिसम्बन्ध से स्वायम्भुव पितर 'आर्षेय' कहलाए हैं, अप्सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य पितर 'आप्य' कहलाए हैं, एवं सम्वत्सर-मण्डलान्तर्वर्त्ती ऋतुसोम के सम्बन्ध से पार्थिव–साम्वत्सरिक पितर 'सौम्य' कहलाए हैं। यही इन त्रिविध पितृप्राणों का मौलिक स्वरूप परिचय है।

१—स्वयम्भूः (स्वः-संयती त्रैलोक्यरूपः)–द्युलोकः –प्राणमयः

२—परमेष्ठी (भुवः-क्रन्दसी त्रैलोक्यरूप.)–अन्तरिक्षलोकः—आपोमयः

३—सम्वत्सरः (भूः-रोदसी त्रैलोक्यरूपः)–पृथिवीलोकः—सोमगर्भिताग्निमयः

१—प्राण—गोत्रप्रवर्त्तको ऋषि—गोत्रपितर—२१ विभक्ता

२—आप—लोकप्रवर्त्तक आप—उदकपितर—१४ विभक्ता

३—अग्नि—पिण्डप्रवर्त्तकोऽग्नि—पिण्डपितर—७ विभक्ता

१—सगोत्रा—नान्दीमुखा—दिव्या (अतिरिक्तानुगृहीता—अनुगृहीताश्च)

२—सोदका—परेता—आन्तरिक्ष्याः (अननुगृहीता—अनुगृहीताश्च)

३—सपिण्डा—अश्रुमुखा—पार्थिवा (अन्वनुगृहीता—अनुगृहीताश्च)

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। निगमात्मिका आर्षवैज्ञानिक परिभाषाओं के सम्पर्क में आए हुए विज्ञ पाठक सम्भवतः यह अवश्य स्वीकार कर लेंगे कि, दृश्यस्थिति की अपेक्षा से पृथिवी (भूपिण्ड) आधार शिला है। पृथिवी से ऊपर चन्द्रमा है, तदुपरि सूर्य है, तदुपरि परमेष्ठी है सर्वोपरि स्वयम्भू है। स्वायम्भुव प्राण 'ऋषि' नाम से, पारमेष्ठ्य प्राण 'पितर' नाम से, सौरप्राण 'देव' नाम से, चान्द्रप्राण 'गन्धर्व' नाम से, एवं पार्थिवप्राण 'पुरुष' (वैश्वानर) नाम से प्रसिद्ध है। प्राणमय स्वयम्भू ऋषितत्त्व का, आपोमय परमेष्ठी पितृतत्त्व का, वाङ्मय सूर्य देवतत्त्व का, अन्नमय चन्द्रमा गन्धर्वतत्त्व का प्रवर्त्तक है, एवं अन्नादमयी पृथिवी पुरुषसृष्टि की प्रवर्त्तिका है। इन पञ्चविवर्त्तों में से पारमेष्ठ्य पितृप्राण हमारा प्रधान लक्ष्य बना हुआ है।

'सर्वहुतयज्ञ' विज्ञान के आधार पर हमें मान लेना पड़ता है कि, ये पाँचों प्राकृतिक प्राण परस्पर समन्वित हैं। इसी समन्वय के आधार पर कहा जा सकता है कि, पारमेष्ठ्य पितृप्राण के साथ भी शेष ऋषि-देव-गन्धर्व-पुरुष, इन चारों प्राणों का समन्वय सम्बन्ध हो रहा है। हम तो इस सम्बन्धसूत्र पारमेष्ठ्य पितृप्राण के सम्बन्ध में यह भी कह सकते हैं कि, यही इन चारों प्राणों की विश्राम भूमि है। सृष्टिमर्यादा से अतीत, असङ्ग, ऋषितत्त्वप्रधान अव्यक्त स्वयम्भू का सर्गरूप समष्टि सर्ग में प्रवृत्त हो जाना एकमात्र इसी पारमेष्ठ्यतत्त्व के समन्वय का फल है। देवप्राणघन हिरण्यगर्भमूर्ति इसी परमेष्ठी के अङ्गिरोभाग का विकास है। गन्धर्वप्राणात्मक चन्द्रमा इसी पारमेष्ठ्य भार्गव आप्य वायु का विकास है। पुरुषप्राणात्मिका पृथिवी भी पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के रूपान्तरित 'सर' नामक मर्त्य पानी के प्रयास का ही परिणाम है। यही तो इस परमेष्ठी की महत्ता है, अतएव तो इस सलिला विभूति को 'महान' कहना अन्वर्थ बनता है, जिस की कि महत्ता का ऋषि ने निम्न लिखित शब्दों में यशोगान किया है —

"महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् ।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्" ॥

(ऋक् सं० ३।४६।२) ।

ऋषि गन्धर्व देव पुरुष, इन चारों प्राण-विशेषों के समन्वय से ही पारमेष्ठ्य पितृप्राण गोत्र, उदक, पिण्ड, भावत्रयी में परिणत हो रहा है। स्वायम्भुव ऋषिप्राणसमन्वय से ऋषिमूलक २१ अङ्गिरा विशाम सम्बन्ध से २१ भागों में वितत यही पितृप्राण 'सगोत्रपितर' बन रहा है। गन्धर्व-प्राणसमन्वय से यही स्वस्वरूप से १४ विध 'सोदक पितर' बन रहा है। एवं देव पुरुष प्राणद्वयी के समन्वय से वही सप्तमस्थ अग्निमय बनता हुआ 'सपिण्ड पितर' बन रहा है।

सपिण्ड पितृसप्तक सोदक भी है, सगोत्र भी है। क्योंकि सोदक पितृप्राण की व्याप्ति १४ पर्यन्त है, सगोत्रपितृप्राण की व्याप्ति २१ पर्यन्त है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। फलतः सप्तसङ्ख्याक सपिण्ड पितरों में चतुर्दश सङ्ख्याक सोदक पितरों का, तथा एकविंशति सङ्ख्याक सगोत्र पितरों का, दोनों का उपभोग सिद्ध हो रहा है। दूसरा विभाग 'सोदक पितर' का है। इसके १४ विभाग हैं। इन चौदह सोदक पितरों का प्रथम सप्तक तो सपिण्ड भी है, सोदक भी है, सगोत्र भी है, किन्तु दूसरा सप्तक सोदक सगोत्र ही है। तीसरा विभाग 'सगोत्रपितर' का है, इसके २१ विभाग हैं। इन इक्कीस सगोत्रपितरों का प्रथम सप्तक तो सपिण्ड सोदक, सगोत्र है, दूसरा सप्तक सोदक, सगोत्र है, एवं तीसरा अन्तिम सप्तक विशुद्ध सगोत्र है।

एक विभाग का तात्पर्य यही है कि, सोदक प्रथम सप्तक का, सगोत्र प्रथम सप्तक का सपिण्ड सप्तक में अन्तर्भाव हो रहा है। सप्तसपिण्ड पितर का अर्थ है—**'सप्तसोदक सप्तसगोत्र पितरप्राणावच्छिन्न सप्तसपिण्ड पितर'**। इस से यह भी सिद्ध हो गया कि, सोदक पितरों का क्योंकि प्रथम सप्तक सपिण्ड सप्तक में अन्तर्भूत है, अतः सोदक पितर उदकमर्यादा से सात ही रह जाते हैं, जिनके गर्भ में सगोत्र पितर का द्वितीय सप्तक अन्तर्भूत है। सप्तसोदक पितर का अर्थ होता है—**'द्वितीयसगोत्र सप्तक गर्भित द्वितीय सोदक सप्तक'**। यही स्थिति सगोत्र पितरों की समझिए। सगोत्र का प्रथम सप्तक तो सपिण्ड सप्तक में अन्तर्भूत है, मध्यम सप्तक सोदक के द्वितीय सप्तक में अन्तर्भूत है। फलतः विशुद्ध सगोत्र कहने के लिए सगोत्र का तृतीय सप्तक बच रहता है। एवं इस व्यवस्था की दृष्टि से सपिण्ड-सोदक-सगोत्र, तीनों की ७-७-७ सङ्ख्या ही अवशिष्ट रह जाती है। आगे आने वाली पिण्डस्वरूपनिरुक्ति में इन सब विषयों का विवेचन होने वाला है। अतः इस प्रासङ्गिक चर्चा को यहीं उपरत किया जाता है।

२१ समानाः

२१—७—	×	×	×	—आर्षेया	—शुद्धसगोत्रा सप्तपितर (दिव्या - नान्दीमुखा पितर) स्वायम्भुवा १
२०— —	×	×	+	— ”	
१९—५—	×	×	×	— ”	
१८ ४—	×	×	×	— ”	
१७—३—	×	×	×	— ”	
१६—२—	×	×	×	— ”	
१५—१—	×	+	×	— ”	

१४ सोदकाः

१४—७—	×	×	×	—आप्या	—सगोत्रगर्भिताः शुद्ध-सोदकाः सप्तपितरः (आन्तरीक्ष्या पार्वणा. पितरः) पारमेष्ठ्याः २
१३—६—	×	×	×	— ”	
१२—५—	×	×	×	— ”	
११—४—	×	×	×	— ”	
१०—३—	×	×	×	— ”	
९—२—	×	×	×	— ”	
८—१—	×	×	×	— ”	

७ सपिण्डाः

७—७ – वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः				×	—सौम्याः	सगोत्रसोदकगर्भिताः सप्त सपिण्डपितरः (पार्थिवा –अश्रुमुखा) साम्वत्सरिका ३
६—६—अतिवृद्धप्रपितामहः			×	×	— ”	
५—५—वृद्धप्रपितामह.			×	×	— ”	
४—४—प्रपितामहः		×	×	×	— ”	
३—३ – पितामहः		×	×	×	— ”	
२—२—पिता	×	×	×	×	— ”	
१—१—प्रेतः	×	×	×	×	— ”	

पेतृसहःस्वरूपविज्ञान—

प्रजातन्तुवितान से सम्बन्ध रखने वाले अब एक ऐसे तत्त्व की ओर श्राद्धकर्म्मप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके आधार पर ही आर्ष श्राद्धकर्म्म प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है। यही निरूपणीय प्रधान तत्त्व ऋग्वेदपरिभाषानुसार 'मह' नाम से प्रसिद्ध है। सर्वजगदालम्बन, ब्रह्म-कर्म्ममय, सदसन्मूर्त्ति अव्यय पुरुष की आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाक् नाम की पाँच कलाएं सुप्रसिद्ध हैं। पञ्चकल अव्यय पुरुष के कलात्मक विवर्त्तभाव का ही नाम 'इदं विश्वं' है। प्रयास करने पर भी पाँच कलाओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुतत्त्व सर्वथा अनुपलब्ध है। पाँच कलाओं की, दूसरे शब्दों में पञ्चकलोपेत अव्ययपुरुष की इसी सर्वाधाररूपा सर्वरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए अव्ययावतार पूर्णेश्वर (श्रीकृष्ण) कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता ७।७।)

इन पाँच अव्ययकलाओं के समन्वय से यह विश्व समष्टि, तथा व्यष्टि, दोनों प्रकार से पञ्चभावात्मक बन रहा है। उदाहरण के लिए व्यष्टि-समर्थक मानवशरीर को ही अपना लक्ष्य बना लो। क्योंकि श्राद्धप्रकरण में श्राद्धकर्म्मानुगत मानवोदाहरण ही सुसङ्गत माना जायगा। पुरुषसंस्था में आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, अन्न, ये पाँच कोश माने गए हैं। पाँचों में वाङ्मय अन्नकोश सर्वा-पेक्षया बहिःस्तर है, आनन्दमयकोश सर्वान्तरतम है। आनन्दमयकोश के आधार पर विज्ञानमय-कोश, इसके आधार पर मनोमयकोश, इसके आधार पर प्राणमयकोश, एवं इसके आधार पर अन्न-मयकोश प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पिण्ड (शरीर) ही अन्नमयकोश है। दूसरे शब्दों में रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रात्मक सप्तधातुसमष्टि ही अन्नमयकोश है। एवं विकारक्षरभावानुबन्ध से क्षण क्षण शीर्य्यमाण होने से यह कोश 'शरीर' नाम से, अथवा तो इतर आत्मविवर्त्तों की आश्रय भूमि होने से शरीर नाम से प्रसिद्ध है। क्षरपरमाणुसंघ को एक सूत्र में बद्ध रखने वाला विधर्त्ता तत्त्व ही प्राणमयकोश है, जोकि शरीरचेष्टाओं का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। प्राणोत्क्रान्ति से इसी प्रकार शारीरधातु श्लथावयव बन जाते हैं, जैसे कालातिक्रम से उत्क्रान्त प्राणानुगत भूतपिण्ड जीर्ण-शीर्ण बन जाते हैं। क्रियाप्रवर्त्तक प्राण के क्रियाधर्म्म का मूलालम्बन कामनाप्रवर्त्तक तत्त्वविशेष ही मनोमय कोश है। मानसजगत् में चिच्छक्ति का सञ्चार करने वाला, मनोमयकोश को भूतासक्ति से बचाने वाला चेतनामय तत्त्वविशेष ही विज्ञानमयकोश है। विज्ञान-मनः-प्राण-अन्न, चारों को अपने आधा-रात्मक भूमाभाग में प्रतिष्ठित रखने वाला, स्वानुग्रह से ग्रन्थिविमोक द्वारा शाश्वत शान्ति प्रदान करने वाला 'रस' नामक तत्त्व विशेष ही आनन्दमयकोष है। इन पाँचों में से मध्यस्थ मनोमयकोश का दोनों ओर सम्बन्ध है। यही मन विज्ञानानुगत बनता हुआ आनन्दसम्पत्ति के अनुग्रह से मुक्तिभावप्रवर्त्तक बन जाता है, एवं यही मनः प्राणानुगत बनता हुआ अन्नसम्पत्ति के अनुग्रह से

सृष्टिभाव-प्रवर्त्तक बन जाता है, जैसाकि—"मन एव मनुष्याणां कारणं-बन्धमोक्षयोः" इत्यादि वचन से स्पष्ट है।

उक्त पाँचो कोशों में से केवल 'अन्नमय' कोश की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। अन्नाहुति से उत्पन्न होने वाले रसादि शुक्रान्त सात धातु, ओज, मन, तीनों विवर्त्तों का अन्नमयकोश में ही अन्तर्भाव है। विभावपत्र यह अन्नमयकोश प्राणमय आत्मयकोश पर प्रतिष्ठित है। अन्तरसमय (तद्गत शुद्ध सोममय) मन दिव्य धातु है, अन्तगत प्राणात्मक ओज आन्तरिक्ष्य धातु है, एवं अन्नगत मांसादिरूप सप्त धातुसमष्टि पार्थिव धातुवर्ग है। दिव्य मन, आन्तरिक्ष्य ओज, पार्थिव सप्त धातु तीनों विवर्त्तों की प्रतिष्ठा अन्न है।

बतलाया गया है कि, अन्न की उत्पत्ति में चान्द्रसोम का प्रधान सहयोग है। दूसरे शब्द में चान्द्रसोम ही वृष्टि द्वारा अन्नरूप में परिणत होता है। रस सोमरस से वृष्टि द्वारा अन्न का उपादान बनने वाले इस सोममय चन्द्रमा के 'रेतः-श्रद्धा-यशः' नामक तीन मनोता माने गए हैं। जिस तत्त्व के आधार पर जो तत्त्व स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिस तत्त्व का इस मन स्वस्वरूपरक्षा के लिए जिस तत्त्व को आश्रय बनाता है, वह आश्रय ही 'मनांसि-ओतानि' निर्वचन से 'मनोता' कहलाया है। चन्द्रमा का स्वरूप उक्त तीन तत्त्वों के आश्रय से ही प्रतिष्ठित है। तीनों के उत्क्रान्त हो जाने पर चन्द्रमा का कोई स्वरूप नहीं बच रहता, अतएव इन्हें हम अवश्य ही 'चान्द्र मनोता' कह सकते हैं। सिद्ध विषय है कि, चान्द्ररस इन तीनों मनोता-रसों से नित्य संश्लिष्ट होकर ही अन्न का उत्पादक बनता है। फलतः उत्पन्न अन्न में भी इन तीनों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। उत्पन्न अन्न में चान्द्ररसानुगृहीता मनोतात्रयी प्रतिष्ठित है। उधर उत्पन्न अन्न में पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य, तीनों धातु प्रतिष्ठित बतलाये गए हैं, एवं इन्हें क्रमशः सप्तधातुसमष्टि, ओज, मन, नामों से व्यवहृत किया गया है। चान्द्ररस द्वारा अन्न में भुक्त रेत-यश-श्रद्धा, इन तीन मनोता रसों का क्रमशः शुक्र-ओज-मन के साथ सम्बन्ध होता है। रेतोभाव शुक्र की प्रतिष्ठा बनता है, यशोभाव ओज की प्रतिष्ठा बनता है, एवं श्रद्धातत्त्व मन का आलम्बन बनता है। श्रद्धा मन से होती है, यश ओजस्वी को मिलता है, रेत प्रजाति शुक्र पर अवलम्बित है। इस प्रकार चान्द्ररस द्वारा अन्न में भुक्त मनोतात्रय इस क्रम से विभक्त होरहे हैं—

रेत (पार्थिवशुक्रधात्वनुगत)——ततो रेतःप्रजापतिः	—चान्द्रमनोताविवर्त्ताः
यशः (आन्तरिक्ष्यओजधात्वनुगत)—ततो यशस्विता	
श्रद्धा (दिव्यमनोधात्वनुगत)——ततः श्रद्धोदयः	

-

उक्त तीनों चान्द्र मनोताओं में से प्रकृत मे शुक्रधातु से सम्बन्ध रखने वाला 'रेत.' नामक प्रथम मनोता ही हमारे 'सह' तत्त्व की प्रतिष्ठा है, जिसका निरूपण प्रक्रान्त है। चान्द्ररस का स्वाभाविक आकर्षण रेतोमय शुक्र के साथ नित्य सुरक्षित है, एवं इसका कारण एकमात्र सजातीयानुबन्ध है। चान्द्ररस वृष्टिरूप मे परिणत हुआ, वृष्टि अन्नरूप मे परिणत हुई, भुक्तान्न शुक्ररूप मे परिणत हुआ। इस प्रकार परम्परया अन्नद्वारा चान्द्रपितृतत्त्व शुक्र मे प्रतिष्ठित हो गया, जिसेकि हमने पूर्व मे भूतमपरिष्वक्त 'महानात्मा' कहा है, जोकि कर्म्म स्रोत्क्रान्ति पर 'प्रेतात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ उसी आगमन पथ से स्वप्रभव चन्द्रलोक में जाकर १२ मासानन्तर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त होजाता है।

जिस प्रकार इतररसमय पार्थिव कर्म्मात्मा परम्परया, साक्षात्-रूप से दो प्रकार से अध्यात्मसंस्था मे प्रतिष्ठित होता है, जिन दोनो रूपो का पूर्व में 'कर्म्मात्मा, (अपद्वारा प्रविष्ट) प्रतिष्ठात्मा' नामों से विस्तार से निरूपण किया जाचुका है, एवमेव चान्द्ररेतोरसमय महानात्मा भी परम्परया, साक्षात्रूप से, दो प्रकार से ही शुक्र मे प्रतिष्ठित होता है। परम्परया शुक्र मे प्रतिष्ठित होने वाले पितृप्राणमूर्त्ति महानात्मा का 'अथातो रेतसः सृष्टिः' रूपसे पूर्व में निरूपण किया जाचुका है। अन्नद्वारा परम्परया आगत यह चान्द्र महान् कर्म्मानुसारिणी योनि का प्रवर्तक बनता है। इसी परम्परासिद्ध योनिभावप्रवर्त्तक चान्द्र महानात्मा के आगमन का रहस्य बतलाते हुए महर्षि कौषीतकि ने कहा है—

> "एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं—यच्चन्द्रमाः। तं यः प्रत्याह—तमतिसृजते। अथ य एनं न प्रत्याह—तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति। स इह कीटो वा, पतङ्गो वा, शकुनिर्वा, शार्दूलो वा, सिंहो वा, मत्स्यो वा, परश्वा वा, पुरुषो वा, अन्यो वा—एतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते—यथाकर्म्म, यथाविद्यम्" — कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् १।२।

अब हमारे सम्मुख वह पितृप्राण आता है, जोकि चान्द्रनाड़ी के द्वारा साक्षात् रूप से शुक्र मे आकर वहाँ प्रतिष्ठित हुआ करता है, एव साक्षात्-रूप से आगत जिस पितृप्राण को हम 'सहः' नाम से विभूषित करने वाले हैं। जिस नक्षत्र में प्राणी का जन्म होता है, जन्मानन्तर उसी नक्षत्रप्रणाली को उपक्रम बनाकर वह चान्द्रपितृप्राण प्राणी के शुक्र में साक्षात् रूप से आने लगता है। चान्द्ररस विशुद्धरूप से न आकर नाक्षत्रिक रसों से सपरिष्वक्त होकर ही आता है। जिस तिथि में चन्द्रमा का जिस नक्षत्र के साथ योग होता है, उस तिथि मे वह चन्द्रमा उसी नक्षत्र के नाम से व्यवहृत होता है। कारण इस नक्षत्रव्यवहार का यही है कि, उस तिथि में उस तिथिका चान्द्ररस उस तिथि के नाक्षत्रिक रस से सश्लिष्ट रहता है। अश्विनी का चन्द्रमा, भरणी का चन्द्रमा, कृत्तिका का चन्द्रमा, इत्यादि लोकव्यवहारों का अर्थ है अश्विनीभागात्मक चन्द्रमा,

भरणी प्राणात्मक चन्द्रमा, कृत्तिकाप्राणात्मक चन्द्रमा। इस वास्तविक स्थिति को सामने रखते हुए ही हमें चान्द्ररसागमन की मीमांसा करनी है।

कल्पना कर लीजिये–आज भूपिण्ड पर खगोलीय अश्विनी नक्षत्र का भोग हो रहा है, एवं तत्सम्बन्ध से चन्द्रमा भी तत्प्रधान बनता हुआ 'अश्विनी का चन्द्रमा' कहला रहा है। इस प्राकृतिक स्थिति में चान्द्रनाड़ी के द्वारा समानान्तर्याम के आधार पर शुक्र में जो चान्द्ररस आवेगा, वह भी अश्विनी नक्षत्रप्राणप्रधान ही माना जायगा। अश्विनीप्राणमय चान्द्ररस आता है अवश्य, परन्तु दिन में नहीं, अपितु रात्रि में। 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' (शत०१।६।४।१४) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस उन्नाग्निमय सौरप्राणदेवताओं का अन्न है। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त जितनी भी चान्द्ररसमात्रा प्रवर्ग्यरूप से भूपिण्ड की ओर आती है, उसे सूर्यरश्मिगत प्राणदेवता अपने उदर में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। जो सौरप्राण रश्मियों के द्वारा पार्थिव द्रुत रसों तक का आदान कर लेते हैं, वे भला अन्तरिक्ष्य स्वान्नभूत चान्द्ररस को कैसे छोड़ सकते हैं। इसी रसादान से तो ये प्राणदेवता 'आदाता' बनते हुए 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। सौरसावित्राग्नि, सौरमघवेन्द्र, दोनों ही चान्द्रसोमात्र के लिये 'अन्नाद' हैं। इन प्रबल अन्नादों की सत्ता से आगन्ता अह काल ही सोमागमन का निरोधक बन रहा है। रात्रि में सूर्यास्त से सूर्योदय पहिले पहिले दोनों ही अन्नाद सुप्त हैं। अतएव पार्थिव प्रजा में रात्रि में ही चान्द्र रस आने पाता है। सोमदात्री रात्रि इसी सोमभाव के सम्बन्ध से 'सौम्या' कहलाई है।

हां, तो अब रात्रि में चान्द्ररस का आगमन आरम्भ होता है। सायंकाल से आगमन आरम्भ हुआ, सूर्योदय से पहिले पहिले आगमन प्रक्रान्त रहा, सूर्योदय पर आगमन द्वार बंद हो गया। इस अश्विनीनक्षत्रप्राणात्मक चन्द्रमा का जो रस रात भर आया, वह शुक्र में प्रतिष्ठित हो गया। दिन भर के सावित्राग्नि ने शुक्रस्थ चान्द्ररस का परिपाक किया। प्रातः सूर्योदय से जो पाकक्रिया आरम्भ हुई, उसने साथ सूर्यास्त पर्यन्त उस चान्द्ररस को घनता में परिणत कर डाला। इसी घनत्व को लक्ष्य में रख कर ऋषियों ने शुक्रस्थ इस चान्द्ररस को 'पिण्ड' नाम से व्यवहृत किया है। दूसरे दिन भरणीनक्षत्र का प्रवेश होता है, फलतः चान्द्ररस भरणीरस से संश्लिष्ट हो जाता है। रात्रि में पुनः एतन्नक्षत्ररसयुक्त चान्द्ररस का आगमन होने लगता है। रात्र्यनन्तर इसका भी अह:काल में परिपाक होता है, एवं यह भी एक स्वतन्त्र पिण्ड बन जाता है। प्रथम रात्रि में आगत चान्द्ररस क्योंकि दिन की गरमी से घन बन जाता है, अतएव द्वितीय रात्रि में आगत चान्द्ररस इस प्रथम पिण्ड से न मिल कर एक स्वतन्त्र पिण्ड रूप में ही परिणत होता है। अश्विन्यादि नक्षत्र २८ माने गए हैं। नक्षत्र भेद से २८ दिन के चान्द्रमास में २८ चान्द्ररात्रियों में २८ बार चान्द्ररस का आगमन होता है, एवं शुक्र में इन २८ चान्द्ररसों के २८ पिण्ड बन जाते हैं।

जो चान्द्र सौम्यरस शुक्र में एक रात्रि में आता है, उसे हम थोड़ी देर के लिए पिण्ड न कहकर

'तन्दुल' कहेंगे। जिस प्रकार अनेक तन्दुलों की समष्टि से एक पिण्ड बनता है, एवमेव ८८ नाक्षत्रिक चान्द्ररात्रियों के तन्दुलस्थानीय ८८ घनरसों की समष्टि से एक स्थूलपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है। चान्द्रमास के सम्बन्ध से ८८ कल यही शुक्रपिण्ड 'मासिकपिण्ड' नाम से व्यवहृत हुआ है। अष्टाविंश तिकल एक मासिक पिण्ड एक चान्द्रमास का धन है। चान्द्र सम्वत्सर में ऐसे १३ मास हैं। फलत त्रयोदशमासात्मक एक चान्द्रसम्वत्सर में शुक्र में १३ मासिक पिण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन तेरह मासिक पिण्डों के अतिरिक्त उत्तरायण, दक्षिणायन, भेद से दो चान्द्रपिण्ड और उत्पन्न होते हैं, एवं एक पिण्ड समष्टि रूप से पूरे सम्वत्सर में उत्पन्न होता है। वस्तुतस्तु पिण्ड केवल १३ ही हैं। मास भेद से जहाँ ये १३ हैं, वहा अयनभेद से तेरहों को दो भागों में विभक्त देखा जा सकता है, एवं पूर्ण सम्वत्सर की दृष्टि से एक ही भाग में देखा जा सकता है। मासिक, आयनिक, साम्वत्सरिक, तीनों ही अवस्थाएँ श्राद्धकर्म में गृहीत हैं। अतएव १३ मासिक, २-आयनिक, १-साम्वत्सरिक, इस दृष्टि से 'षोडशश्राद्ध' विहित हुए हैं, जैसा कि आगे चलकर विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है, तो केवल ८८ कल एक मासिक पिण्ड पर ही उक्त १६ पिण्डों का पर्य्यवसान मानना पड़ता है। मासिक पिण्ड ही मूलधन है। यह ऋणभाव में परिणत होता रहता है, पूर्त्ति के लिए पुनः धनभाव का आगमन होता है। इस धारा-वाहिक आदान-विसर्ग क्रम से ८८ का ही परिवर्त्तन होता रहता है। ८८ कल पिण्ड सदा शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, एवं यही 'बीजी' नामक मूलधन है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

८८—घनभावापन्ना सोमकलाः——————मूलधनम्

१३—मासिका, अष्टाविंशतिकलोपेता पिण्डाः
२—षाण्मासिकौ, ६॥ पिण्डात्मकौ पिण्डौ
१—त्रयोदशमासात्मकः साम्वत्सरिकः पिण्डः
} ऋणरूपाणि

नक्षत्रप्राणसयुक्त जो चान्द्ररस शुक्र में प्रतिष्ठित होता है, वही 'महः' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रस्थ इसी सह पिण्ड के प्रभाव से शरीर में 'माहस' वृत्ति का उदय होता है। यह सह पिण्ड पितृ-प्राणमय बनता हुआ तमप्रधान है। जिस व्यक्ति की अन्तरसंस्था में यह महोमूर्त्ति पितरप्राण विकसित रहता है, उसके शरीर में एक प्रकार की स्फूर्त्ति रहती है। ऐसे व्यक्ति को आलस्य सर्वथा अप्रिय मानता है। ऐसा साहसी दुस्तर कर्म्म-प्रवृत्ति में भी सङ्कोच नहीं करता। ठीक इसके

विपरीत जिस व्यक्ति का यह महोभाग शिथिल रहता है, निरा मूर्च्छित रहता है, आलस्य देवता साहस पूर्वक उसका आतिथ्य स्वीकार कर लेते हैं। मुख पर मक्षिकासंघ का साम्राज्य रहता है शरीर गिरा पड़ा रहता है, किसी काम में मनोयोग नहीं हो पाता। उत्साह स्वान्त' निलीन रहता है। सर्वत्र निराशा ही सम्मुख खड़ी रहती है। शुक्रस्थ पितरप्राण, न केवल पितृप्राण (जन्मदाता पिता का अल्परूप पित्र्यंश) ही मूर्च्छित रहता, अपितु पितामहादि का भाग भी मूर्च्छित रहता है। शुक्र में प्रतिष्ठित ६ पीढ़ियों के सगर्भ्य भाग शिथिल बने रहते हैं। ऐसे व्यक्ति की इसी स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए प्रान्तीय किंवदन्ती प्रचलित है कि—"अमुक व्यक्ति को अमुक कर्म्म में क्यों नियुक्त किया गया। उसका हतप्रभ-हतश्री मुख कह रहा है कि, यह अमुक कर्म्म न कर सकेगा, इसके तो बाप-दादे भी मर रहे हैं"। सचमुच उसके बाप-दादे (पितरप्राणसंघ) मूर्च्छित हैं।

भर्ग, मह, यश, ओज, ऊर्क्, वर्चस, सह, आदि भेद से बलतत्त्व अनेक श्रेणियों में विभक्त माना गया है। इन सब बलों में से प्रकृत में चान्द्रप्रभव 'महोबल' नामक बलविशेष ही लक्ष्य है। सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों प्रधानतः प्रजासृष्टि के आरम्भक माने गए हैं। ये तीनों अपने सगर्भ्य भाग से ही अपने निर्माण कर्म्म में समर्थ होते हैं, जैसा कि 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' (अथर्व संहिता) इत्यादि अथर्व सिद्धान्त से प्रमाणित है। इन का यह सगर्भ्य भाग अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम, भेद से दो प्रकार से स्वसर्गों में प्रविष्ट होता है। पृथिवी को ही लीजिए। पार्थिव इरामय रस का अन्तर्य्याम रूप 'कर्म्मात्मा' है, जो अन्न द्वारा परम्परया औपपातिक रूप में आता है। अन्न प्रपञ्च से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव इरामय रस साक्षात् रूप से आता हुआ बहिर्य्याम रूप से प्रतिष्ठित होता है, जो कि 'प्रतिष्ठात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। सौरतत्त्व अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर आध्यात्मिक प्राणदेवता, बुद्धिरूप में परिणत होता है, जिस बुद्धि को हमने सौरहिरण्मय 'क्षेत्रज्ञ' (विज्ञानात्मा) नाम से व्यवहृत किया है। बहिर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट वही सौरतत्त्व कर्म्मबल प्रदान करता है, चर्म्मगत दोषाणुओं का संहार करता है, जिसे कि हम 'ज्योति' कह सकते है। एवमेव चान्द्ररस अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अन्नद्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होता हुआ शुक्र-ओज-मन का निर्म्मापक बनता है, स्व पितृभाग से शुक्रस्थ 'महानात्मा' का स्वरूप सम्पादक बनता है। बहिर्य्याम सम्बन्ध से आगत वही चान्द्ररस साक्षाद्रूपेण मनोजगत् के आह्लाद का कारण बनता है, एवं शुक्रस्थित महानात्मा में स्वपितृप्राण प्रदान द्वारा अध्यात्मनिर्माणक्रम सह पिण्ड उत्पन्न करता है। इस प्रकार परम्परया अन्तर्य्याम सम्बन्ध से, साक्षाद्रूपेण बहिर्य्याम सम्बन्ध से तीनों दो दो भावों से हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट रहते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

* ———————— *

१—क्षेत्रज्ञात्मा (परम्परया आगत —सौरतत्त्व)—— अन्तर्यामसम्बन्धी
२—ज्योतिर्भाग (साक्षाद्रूपेण आगत ——— बहिर्यामसम्बन्धी
—सूर्य्य.

* ———————— *

१—महानात्मा (परम्परया आगत - चान्द्रतत्त्व)—— अन्तर्यामसम्बन्धी
२—रस पिण्ड (साक्षाद्रूपेण-आगत -)———— बहिर्यामसम्बन्धी
—चन्द्रमा

* ———————— *

१—कर्म्मात्मा (परम्परया आगत -पार्थिवतत्त्व)—— अन्तर्यामसम्बन्धी
२—प्रतिष्ठात्मा (साक्षाद्रूपेण-आगत -) ——— बहिर्यामसम्बन्धी
—पृथिवी

* ———————— *

महत्तत्त्व के आह्निकादि चार पिण्ड—

'पितृणां पितरोपनिषत्' नामक प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि, सौरसंस्था में इन्द्र, धाता, भग, पूषा, आदि १२ प्राण प्रतिष्ठित हैं। इनमें से इन्द्रप्रमुख कतिपय आदित्यप्राण 'सोमपा' हैं, सोमपान इन का प्रातिस्विक धर्म्म है। रात्रि में अन्यान्य असोमपा आदित्यप्राणों के विद्यमान होते हुए भी इन्द्रप्रमुख सोमपा प्राणों का अभाव रहता है। अतः रात्रि में उपर्युक्त सहोमूर्त्ति चान्द्रसोम का निर्विघ्न आगमन हो जाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। रात्रिकाल में शुक्र में आगत यह एक दिन (एक रात) का, अतएव 'आह्निक' नाम से व्यवहृत महोभाग अहरग्नि के, तथा शारीराग्नि के परिपाक से घनभाव में परिणत हो जाता है। इसी आह्निक पिण्ड को वैज्ञानिकों ने— तन्दुल नाम से व्यवहृत किया है।

सभी ओषधियों का निर्म्माण चान्द्रसोम से हुआ है, यह निःसन्दिग्ध विषय है। परन्तु सभी ओषधियों का यह चान्द्रसोम आन्तरिक्ष्य वायुगत सोमपा मरुत्त्वानिन्द्र के द्वारा आंशिकरूप से उत्क्रान्त हो जाता है। मरुत्त्वानिन्द्र के अतिरिक्त सौररश्मिगत मघवेन्द्र भी इस कर्म्म में अपना हस्तक्षेप करते रहते हैं। फलतः ओषधियों में आगत चान्द्ररस परिपूर्ण न रहकर 'क्षत' (अपूर्ण) बना रहता है। सभी ओषधियाँ इस रसमात्रा की विच्युति से 'क्षत' हैं। ओषधियों में केवल तन्दुल ही एक ऐसी ओषधि है, जिस की सोममात्रा इन्द्र नहीं ले सकते। कारण इसका यही है कि, पूर्वदिशा के लोकपाल इन्द्र हैं, पश्चिम दिशा के लोकपाल वरुण हैं। इन्द्र ज्योति के अधिष्ठाता हैं, वरुण अप्

तत्त्व के अधिष्ठाता हैं। इन्हीं विरुद्ध धर्म्मों के कारण दोनों में असमानिष्य है, सहज वैर है। विशुद्ध वरुणसाम्राज्य में इन्द्र का प्रवेश निषिद्ध है, विशुद्ध इन्द्र के साम्राज्य में वरुण का प्रवेश निषिद्ध है। वायु में मरुत्वानिन्द्र रहता है। यही कारण है कि, जहाँ वायु का आत्यन्तिकरूप से अभाव रहता है, वहाँ तत्प्रतिद्वन्द्वी वरुण का प्रवेश सहज बन जाता है, जैसाकि—यद्वै वातो नाभिवाति, तत्सर्वं वरुणदेवत्यम्" इत्यादि निगम से प्रमाणित है। चाँवल की खेती अप्प्रधाना है। जलाधिक्य ही चाँवल की उत्पत्ति का कारण है। पानी में इन्द्रविरोधी प्राण का प्रभुत्त्व है। अतएव जलाधिक्य से प्रबल बने हुए वारुणक्षेत्र में इन्द्रप्रवेश अवरुद्ध है। सोम, तथा अप्तत्त्व, दोनों सजातीय हैं। अतएव अपप्रधानता से चाँवलों में सोममात्रा को स्वविकास की ओर भी अधिक सुविधा मिल जाती है। इस प्रकार वरुणप्राधान्य से चाँवल की सोममात्रा सर्वथा 'अक्षत' रह जाती है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए वैज्ञानिकों ने इसे 'अक्षत' नाम से कहना अन्वर्थ समझा है। सोम से ही ओषधियों का आप्यायन होता है। इधर अक्षतों में इसका पूर्ण विकास है। यही कारण है कि, इतर ओषधियों की तुलना में चाँवल की खेती स्वल्पसमय में ही सम्पन्न हो जाती है।

प्रसङ्गोपात्त यह भी जान लीजिये कि, एकादशी विष्णुदेवता-प्रधाना तिथि है। विष्णुतत्त्व का उस आपोमय परमेष्ठी से सम्बन्ध है, जिसमें—'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' के अनुसार सोम की प्रतिष्ठा मानी गई है। इसी सोम-सम्बन्ध से विष्णुदेवता 'सोमवंशी' माने गए हैं। एकादशी तिथि विष्णु-उपासना का प्रधान काल है। मानस-धरातल पर विष्णुतत्त्व प्रश्नतया भी प्रतिष्ठित रहता है, उपवास प्रक्रिया द्वारा भी इसे आत्मसात् किया जाता है। मन सोममय है, आज इसमें सोममय विष्णुप्राण ही आ रहा है। ऐसी दशा में यदि एकादशी को चाँवल खाए जायँगे, तो मनका आयतन परिपूर्ण हो जायगा। विष्णु प्रवेश के लिए स्थान ही न रहेगा। हम प्रकृतिप्रदत्त वैष्णवतत्त्वागमन से वञ्चित न रहें, एकमात्र इसी उद्देश्य से एकादशी को चाँवल का भोजन एकान्तत निषिद्ध माना लिया गया है।

इस प्रासङ्गिक चर्चा को समाप्त करते हुए अन्त में हमें यही कहना है कि, अक्षत क्योंकि सचमुच अक्षत सोम है, उधर 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' के अनुसार पुरुषोत्पादक शुक्र अप्प्रधान, अतएव वरुणप्रधान है। अतएव इसमें सहोरूप से प्रतिष्ठित चान्द्ररस भी इन्द्र प्रवेशाभाव से अक्षत बना रहता है। अतएव इसे 'तन्दुल'-किंवा 'अक्षत' नाम से व्यवहृत करना समीचीन होता है। अष्टाविंशतिकल आह्निक सह पिण्ड का मासिक पिण्ड में अन्तर्भाव है। इस दृष्टि से १३ मासिक, २-षाण्मासिक, १-साम्वत्सरिक, भेद से कुल १६ पिण्ड हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है—

* आह्निकपिण्ड—अन्नभागात्मक (मासिकपिण्डे-अन्तर्भूत) *

१—मासिकपिण्डा	(= कलात्मक प्रत्येक)	१३
२—षाण्मासिकपिण्डौ	(सार्द्ध षट्क-षट्कपिण्डात्मकौ	२
३—सांवत्सरिकपिण्ड	(समष्टिरूप)	१
	पिण्डसम्पत्तिः—	१६

सहोभाग का पितृप्राणात्मकत्व—

शुक्र में साक्षात्-रूप से आने वाले इस चान्द्ररस में 'सह पिण्ड' में रसात्मक सूक्ष्म भूत, प्राणात्मक सुसूक्ष्म देवता, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। दूसरे शब्दों मे दोनों की समष्टि ही 'सह' है। रसभूतसम्परिष्वक्त यह चान्द्र प्राणरूप देवता ही 'पितर' है। इसी प्राणपितर के सम्बन्ध से यह सहोभाग 'पितृसह', किंवा 'पित्र्यसह' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही भौत पितृसह स्मार्त्त परिभाषा मे 'पित्र्यंश' कहलाया है। त्रयोदशमासात्मक चान्द्रसम्वत्सर के सम्बन्ध से शुक्र को त्रयोदशमासिक पिण्डात्मक बतलाया गया है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि, उत्तर उत्तर के मासिक पिण्डों की उत्पत्ति के साथ साथ पूर्व-पूर्व के सञ्चित मासिक पिण्ड इन्द्रियव्यापार से, प्रधानत शुक्र द्वारा विगत (खर्च) भी होते रहते हैं।

शुक्रव्ययमीमांसा—

शुक्रव्यय के प्रधानत. तीन द्वार हैं, गौणत. पॉच द्वार हैं। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-इन पॉचों इन्द्रियों के व्यापारों से जो शुक्र विनिर्गत होता है, यह इस का गौणात्मक व्ययीभाव है। प्रत्येक इन्द्रिय स्वव्यापार के लिये सर्वेन्द्रिय प्रज्ञान मन के सहयोग की अपेक्षा रखती है। मनका मूलाधार ओज है, ओज की मूलप्रतिष्ठा शुक्र है। इस प्रकार शुक्र ओज के द्वारा मानस भाव मे परिणत होता हुआ परम्परया पाँच द्वारों से खर्च होता रहता है। इन पाच गौण द्वारों के अतिरिक्त तीन प्रधान द्वार हैं। प्रजोत्पत्ति कर्म्म में मूलेन्द्रिय द्वारा शुक्र-विनिर्गमन प्रथम व्ययीभाव है। यह व्ययीभाव गृहमेधियों (गृहस्थाश्रमियों) से सम्बन्ध रखता है। प्रजातन्तुवितानकामुक ये ही गृहमेधी अधोभाग से शुक्र-व्यय करते हुए 'अधोरेता' कहलाए जो विवाहित नहीं है, विवाहित

होते हुए भी जो गृहस्थ पूर्णसंयम के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं, उनका शुक्र-प्रवाह उनकी शरीरवृद्धि के कारणभूत रसासृङ्मांसादि की वृद्धि में उपयुक्त होता रहता है, एवं इन्हीं को 'तिर्यक्स्रोता' कहा गया है।

जो ब्रह्मचारी सतत विद्याभ्यास में अनुरत हैं, जो वीतराग सन्यासकर्म्म में दीक्षित हैं, जो महर्षि अहर्निश तत्त्वान्वेषण कर्म्म में संलग्न हैं, चिन्ताशील इन पुण्यपुरुषों का शुक्र क्रमशः ओज, मनोरूप में परिणत होता हुआ शिरोभागावस्थित ज्ञानाग्नि में आहुत होता रहता है। ये जितने अधिक चिन्ताशील होते हैं, उतनी ही अधिक मात्रा में शुक्रक्षय होता रहता है, एवं तदनुरूप ही विज्ञान विकसित होता रहता है। यही कारण है कि, ज्ञानाग्नि में शुक्र की आहुति देने वाले विद्वान् शारीरिक श्रम करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। यही विभाग 'ऊर्ध्वरेता' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रविनिर्गम की इन्हीं तीन अवस्थाओं के लिए क्रमशः 'अवपतन, आयतन, उत्पतन' ये सांकेतिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

१—अधोरेता — —अवपतना———गृहमेधिनः प्रजातन्तुप्रवर्त्तकाः।

२—तिर्यग्रेता ——आयतना————संयमिनः सन्तत्य-भूतन्तुप्रवर्त्तकाः।

३—ऊर्ध्वरेता ———उत्पतना ———महर्षय, सन्यासिन, विद्वांसो ज्ञानतन्तुप्रवर्त्तकाः।

तीनों में से किसी भी एक मार्ग से, तथा पञ्चेन्द्रिय व्यापार से शुक्रव्यय प्रत्येक दशा में निश्चित है। इस विसर्गक्रिया के साथ साथ उसी चान्द्रनाडी के द्वारा आदानप्रक्रिया भी प्रक्रान्त रहती है। इस साम्वत्सरिक पिण्डादान, विसर्गक्रम परम्परा से युक्त पुरुष ही जीवनधारण में समर्थ बनता है। यदि एक ही मासिक पिण्ड व्यय होकर आगे आदानकर्म्म उपरत हो जाय, तो अवश्यमेव प्रथम मासिक पिण्ड के उपर्युक्त किसी भी द्वार से व्ययभाव का अनुगामी बनता हुआ विनष्टि का कारण बन जाय। इस साम्वत्सरिक आदान-विसर्ग के अनुग्रह से जीवनसंरक्षक एक मासिक पिण्ड अवश्य ही सुरक्षित रहता है। जिस दिन इसके स्वरूप पर भी आघात हो जाता है, तो क्षयरोगाक्रान्त ऐसे व्यक्ति को शीघ्र ही कीनाशनिकेतनातिथ्य स्वीकार कर लेना पड़ता है।

अपत्य-पत्यपुरुषमीमांसा—

उक्त तीन श्रेणियों में से अब तीनावस्थापन्न गृहस्थियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस वर्ग को 'अपत्यपुरुष, पत्यपुरुष' भेद से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। परिभाषाज्ञानविलुप्ति से, विशेषतः तत्त्वविज्ञानमूलक वैदिक स्वाध्याय परम्परा के उच्छेद से वर्त्तमान परम्परा में अपत्य, सूनु, तनय, आदि शब्द अभिन्नार्थक माने जा रहे हैं, जबकि ये शब्द सर्वथा भिन्न भिन्न अर्थों के वाचक बन रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित 'पत्यापत्यमीमांसा' से स्पष्ट हो रहा है।

अध', तिर्य्यक्, ऊर्ध्व, भेद से शुक्र का तीन मार्गों से विनिर्गम बतलाया गया है। इन तीनों में से तिर्य्यक्-ऊर्ध्व-विभागों में कोई विशेषता नहीं है। तीसरे अधःस्रोता विभाग में ही शुक्र विनिर्गम के सम्बन्ध से अपत्य-पत्य रूप से दो अवस्था उत्पन्न हो जाती हैं। 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' इस श्रौतसिद्धान्त को शिरोधार्य्य मान कर एक सद्गृहस्थी ऋतुकाल में (शास्त्र-निर्दिष्ट दाम्पत्यकाल में) रतिप्रसङ्ग करता है। योषा (स्त्री) के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आर्त्तव (शोणित) में रहने वाला अग्निप्राणसंश्लिष्ट, अतएव प्रजननधर्म्मशाली प्राणविशेष 'योषा' कहलाता है। वृषा (पति-पुरुष) के शुक्र में प्रतिष्ठित पितृप्राणयुक्त (सहोभागयुक्त), अतएव प्रजननकर्म्म में समर्थ प्राणविशेष 'वृषा' कहलाता है। पतिपत्नीरूप पुरुषस्त्री के दाम्पत्यलक्षण मिथुनसम्बन्ध से स्त्री के योषाप्राणप्रधान शोणिताग्नि में पुरुष के वृषाप्राणप्रधान शुक्र की आहुति होती है। इस आहुत सौम्य शुक्र, तथा आहुति-ग्राहक आग्नेय शोणित, दोनों के समन्वय से 'गर्भस्थिति' होती है। 'आधिक्ये रेतसः पुंसः' सिद्धान्त के अनुसार शुक्राधिक्य पुम्पसन्तान का कारण है। शुक्र सौम्य है, यही शोणिताग्नि में अभिषुत होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। इसी सोमाभिषव (शुक्राभिषव) सम्बन्ध से पुत्र को 'सूयते-इति-अभिषुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों से 'सूनु' नाम से व्यवहृत किया गया है। शोणिताग्नि में सुत (आहुत) यह सोम (शुक्र) आठवीं सन्तान के लिये सुत होता है, अतएव इसे 'अपत्य' कहा जाता है।

तात्पर्य्य यही है कि, प्रेतपितरपिण्ड शरीरत्यागानन्तर चान्द्रसम्वत्सरानुगत १२ महीनों के अनन्तर पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार स्वप्रभवस्थानीय चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित होता है। चन्द्रलोकस्थ उस प्रेतपिण्ड का अंश जबतक भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहता है, तबतक वह अपने स्वरूप से चन्द्र-लोक में प्रतिष्ठित रहता है। चन्द्रलोक से गिरने नहीं पाता। चन्द्रलोकस्थित प्रेतपितर के कुछ अंश, जिनका कि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है, चान्द्रश्रद्धासूत्र के आधार पर (द्वार से) अपने पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि में सन्तान-रूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन पार्थिव पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि सन्तानों में आने वाले अपने अंशों के बन्धन से वे अंशी पितर स्वलोक से च्युत नहीं होने पाते। जब उन प्रेतपितर की सातवीं सन्तान पृथिवी पर जन्म लेती है, तभी वह प्रेतपितर स्वप्रतिष्ठा से च्युत होता है। तभी इस की चन्द्रलोक से च्युति होती है। पुत्र-पौत्रादि ६ सन्तानों में उस मूल-पितर के भिन्न भिन्न संख्यायुक्त स्वांश प्रतिष्ठित रहते हैं। पुत्रादि के लीलासंवरण पर तत्तदंश पुनः उसे मिलते जाते हैं। यही 'पिण्डप्रत्यर्पणकर्म्म' है, जो स्वतः होता रहता है। इन ६ सन्तति-धाराओं में मूल प्रेतपितर के २१ अंश विभक्त हैं, उसके समीप केवल ७ अंश शेष रह जाते हैं। इन ७ पितृमहों को लेकर ही वह चन्द्रलोक में गमन करता है। तत्तत् सन्तान के तत्तदंश सपिण्डी-करण द्वारा पुनः उस उस सप्तांशयुक्त मूलपुरुष में प्रत्यर्पित होते हैं (वापस मिलते हैं)। इन प्रत्यर्पित-सन्तानगत २१ पितृमहों से मूलपितर २८ अंशों से युक्त होता हुआ अपने पूर्णभाव को

प्राप्त हो जाता है। इस प्रत्यर्पण कर्म्म से प्रकृत में केवल यही कहना है कि, क्योंकि–ये ६ सन्तान उसके द्वारा प्राप्त पितृसहों के आकर्षण से उन प्रेतपितरों को चन्द्रलोकपतनभय से मुक्त बनाने का हेतु बनती हैं, अतएव शुक्राहुति से उत्पन्न इन्हें 'अपत्य' कहा जाता है।

दूसरी दृष्टि से 'अपत्य' शब्द का समन्वय कीजिए। बीजी पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्य पितृसह ही शुक्राहुति के द्वारा सन्तानरूप में परिणत होता है। सन्तानरूप में परिणत होने वाले इस पित्र्यसह की गति निम्न है। अपने क्षेत्र से निम्न क्षेत्र की ओर गमन करता हुआ ही यह सन्ततिरूप में परिणत होता है। यही पितर (पितृसह) निम्नगति का आश्रय लेता हुआ सन्तानभाव के द्वारा पृथिवी पर प्रतिष्ठित होता है। अतएव इसे (सन्ततिरूपात्मक पितरभाग) 'अपत्य' कहना न्यायसङ्गत माना गया है। 'अप' शब्द अधोभाव निम्नभाव का सूचक है। अपत्यशब्द का 'अधस्तादुभवति' ही निर्वचन है। 'अप्' से 'अव्ययात् त्यप्' सूत्र द्वारा 'त्यप्' प्रत्यय होकर 'अपत्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। यह 'अपत्यभाव' उन अधोरेता–गृहस्थियों से ही सम्बन्ध रखता है, जो सन्तान से युक्त होते हैं। मान लीजिए–किसी गृहस्थी ने जन्म पर्य्यन्त सन्तति के दर्शन न किए। वह निःसन्तान (निरपत्य निपूता) ही मर गया। निःसन्तान मरने वाले इस व्यक्ति के स्वयं का, तथा इसके पिता, पितामहादि का चन्द्रलोकस्थित पितृसह, 'पत्य' ही कहलाएगा। सन्तान इसके हुई नहीं। शुक्रगत पितृसह व्यर्थमैथुनादि में २१ मात्रा से विगत (खर्च) अवश्य हो गया। फलतः प्रेतदशा में ७ भाग लेकर ही यह, वापस चन्द्रलोक में पहुँचेगा। अब सन्तानाभाव से व्ययीभूत उन शेष २१ पितृसहों को वापस लेने का कोई साधन नहीं रहा। फलतः उसका पतन अवश्यंभावी हो गया।

यही पर विश्राम नहीं हो जाता। अपितु निःसन्तान के शुक्रस्थ मासिक पिण्ड खर्च होते रहते हैं, सन्तान न होने से यह व्ययभाव व्यर्थ है। इस दृष्टि से यह प्रतिमास में 'पत्य' है। अयोनि में, वन्ध्या स्त्री में सिक्त रेत व्यर्थ चला जाता है, और यही इस का पत्यभाव है। व्यर्थ में खर्च होने वाला शुक्र (तद्गत पितरप्राण) अपने स्वरूप से यों भी पत्य है। दूसरे शब्दों में स्वप्रतिष्ठा से च्युत होता हुआ भी पत्य है। एवं एक गृहमेधी का इससे बढ़कर अमङ्गल दूसरा नहीं है, जैसा कि–'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि से प्रतिध्वनित है। इसी महा अमङ्गल के निरा[illegible] के लिए ऋषियों का 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' आदेश उद्घोषित हुआ है। इसी महामाङ्गलिक अपत्यभाव की रक्षा के लिए व्यर्थ मैथुन निषिद्ध माना गया है। इसी अपत्यसम्पत्ति की रक्षा के नाते ऋतुकाल में ही स्त्रीगमन विहित (शास्त्रानुमोदित) माना गया है।

पितृसोमपञ्चद्वारा त्र्यणप्रवृत्ति—

"स्व जन्मदाता पिता को, चन्द्रलोकस्थ पितामहादि को, एवं स्वयं अपने आपको भी अपत्यभाव से सुरक्षित रखने वाला पितृसह सन्तानधारा में तन्तुरूप से प्रवाहित रहता है" यह कहा गया है।

अब इस सम्बन्ध में देखना यह है कि, मूलपुरुष (बीजी पिता) से आरम्भ कर उस की सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त वितत रहने वाली सन्तान परम्परा में मूलपुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित ८४ कल पितृसहोरूप पितृधन किस क्रम से विभक्त होकर ऋण रूप में आहुत होता है ?। चान्द्ररस से अन्न द्वारा उत्पन्न होने वाले शुक्र में नक्षत्रसम्बन्ध से चान्द्रनाडी के द्वारा साक्षात् रूप से प्रतिष्ठित ८४ विंशतिकल पितृमहः-पिण्ड ही मूलधन है, यह पूर्वनिरूपण से गतार्थ है। यही पितृपिण्ड स्त्री के योषाप्राणप्रधान शोणिताग्नि में आहुत होने वाले शुक्र के साथ साथ आहुत हो जाता है। यह सोममय शुक्र, किंवा शुक्रमय सोम पितरप्राणप्रधान है, अतएव इस अग्निषोमीय सोमयज्ञ को सौम्यपितृप्राण की प्रधानता से 'पितृसोमयज्ञ' कहा गया है। यही सोमाहोम-(पितृसोम)-यज्ञ प्रजासृष्टि की मूलप्रतिष्ठा माना गया है।

देवसोमाहुति से सम्बन्ध रखने वाला ज्योतिष्टोमादपर्य्यायक अग्निप्रधान 'देवसोमयज्ञ' जैसे—'सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः' के अनुसार अग्निष्टोम–अत्यग्निष्टोम–उक्थ्यस्तोम–षोडशीस्तोम–अतिरात्रस्तोम–वाजपेयस्तोम–आप्तोर्य्यामस्तोम, भेद से सात संस्थाओं में विभक्त रहता है। ठीक उसी प्रकार सोमप्रधान यह 'पितृसोमयज्ञ' भी—'पिता–पुत्र–पौत्र–प्रपौत्र–वृद्धप्रपौत्र–अतिवृद्धप्रपौत्र–वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र' भेद से सात ही संस्थाओं में विभक्त रहता है। सगोत्र–सोदक–सपिण्ड नाम के पूर्वोक्त तीनों सप्तकों की समष्टि रूप पितरप्राणयुक्त, अतएव पितृसोमयज्ञात्मक पित्र्यमहःपिण्ड जायाग्नि में आहुत होकर अपने से सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त ही वितत रहता है।

शुक्र की आहुति होगी, शुक्र के साथ साथ ही तद्गत पितृमहः भी आहुत होगा। इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि, दाम्पत्यकाल में क्या सम्पूर्ण शारीर शुक्र आहुत हो जाता है ?, एवं क्या तद्गत पितृमहः की ८४ कला आहुत हो जाती है ?। प्रश्नों का उत्तर 'सर्वथा नहीं' में होगा। जीवनधारणोपयिक सम्पूर्ण शुक्रमात्रा, एवं तद्गत पित्र्यमहः की ८४सों कला एक ही काल में यदि आहुत हो जाँय, तो उसी क्षण जीवनलीला समाप्त हो जाय। ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ेगा कि, एक समय में हा सम्पूर्ण शुक्र, एवं तदविनाभूत पितृसहःपिण्ड आहुत नहीं होता, अपितु अंशातः ही, इन महोमात्राओं की आहुति होती है, जो अंशाहुति 'प्रवर्ग्याहुति'–'उच्छिष्टयज्ञ' आदि नामों से व्यवहृत हुई है।

प्राकृतिक उच्छिष्टयज्ञ भी इसी अंशदान का समर्थन कर रहे हैं। सौरप्राण वनस्पतियों में आहुत होता है, परन्तु अंशरूप से, प्रवर्ग्यरूप से। सम्पूर्ण मात्रोच्छेद हो जाता तो आज ब्रह्माण्ड में सूर्य्यसत्ता ही उपलब्ध न होती। एवमेव नक्षत्र, ग्रह, चन्द्रमा, वायु, इन्द्र, वरुण, मरुत्वान, वसु, रुद्र, पृथिवी, आदि आदि सभी प्राकृतिक प्रजापति (स्रष्टा) प्रजाति–(सर्ग)–कामना से स्वांशदान से ही स्व-स्व सर्ग के प्रभव-बन

रहे हैं। इस आंशिक निर्गमन मात्रा प्रदान के लिये ही ब्राह्मणग्रन्थों में 'विभ्रंति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सृष्टिकाल में प्रजापति सर्वात्मना आहुत नहीं होते, अपितु अंशरूप से ही प्रजापति का निर्गमन होता है। धरातल पर गिरी हुई जलबिन्दु को आगे हटाइये। अवश्य ही अणुअंशरूप से अल्पभाग स्वस्थान पर रह जायगा। यही आंशिकस्खलन विभ्रान्ति, किंवा विस्रंसन है, जिसके लिए लोकभाषा में 'स्खलन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ठीक यही व्यवस्था शुक्राहुति के सम्बन्ध में समझिए। शुक्र का सर्वात्मना उच्छेद नहीं होता, अपितु आंशिकरूप से निर्गमन होता है। अतएव शुक्रविनिर्गमन-प्रक्रिया 'रेतःस्खलन' नाम से ही व्यवहृत हुई है।

विचार पुरुषसृष्टि का प्रधान है, जिसके सम्बन्ध में 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः' (यजु संहिता) यह नियम व्यवस्थित है। "तीन भागों की आहुति, एवं एक भाग की 'इह' से गृहीत आहुतिप्रदाता में प्रतिष्ठा" यही निष्कर्ष है। ८४ कलात्मक पितृमह के तीन भाग तो योषिदग्नि में आहुत होंगे, एवं एक भाग स्वयं आहुति देने वाले पिता में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रह जायगा। यही ३-१ का क्रम आगे के आहुति-क्रम में चलेगा। आहुत होने वाला भाग 'सूयते'–'सुतो भवति'–(आहुतो भवति)–'अभिषुतो भवति' निर्वचनों से 'सुत:' कहलाएगा, एवं शेष अनाहुतभाग 'असुत:' (अनाहुत-शेष) कहलाएगा।

भागत्रयरूप से जो पितृधन प्रजोत्पत्ति के लिए योषाग्नि में हुत होता है, वह तो सन्तान (सन्तति-विस्तार) भाव में परिणत होता हुआ सप्तसप्त पितृसोम-यज्ञ का प्रवर्तक बनता है, एवं जो एक भाग आहुत नहीं होता, वह असुतभाग स्वयं आहुतिप्रदाता में ही प्रतिष्ठित रह जाता है। ८४ कलात्मक आत्मपिण्ड का एक चतुर्थांश सप्तकलभाग आत्मप्रतिष्ठा का कारण बनता है यही 'आत्मधारणा' पितर' है। वीर्य आधान करने वाले पितर में ही यह सप्तकल पितृमह प्रतिष्ठित रहता है। दूसरे शब्दों में वीर्य में इन सात पितृप्राणों का विशुद्ध पितृप्राणरूप से अवस्थान है, अतएव इस असुत पितृप्राणसमष्टि को ही अवश्य ही 'पितरः' संज्ञा से व्यवहृत किया जासकता है। दूसरा भागत्रयात्मक पितृभाग क्योंकि वागग्नि से अभिषुत होता है, अतः इसे 'सूनु' शब्द से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत बन जाता है।

आधानकर्ता (शुक्रात्मक बीज की आहुति देने वाले) के शुक्र में ८४ पितृमहः प्रतिष्ठित बतलाये गये हैं। इनमें से ७ इसमें स्वप्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित रह जाते हैं, शेष ७७ अंश योषिदग्नि में सुत हो जाते हैं। सप्तपितृभाग धनभाग है ७७ पितृप्राण ऋणभाग हैं। धनभाग असुत है, यही 'पितर' है। ऋणभाग सुत है, यही 'सूनु' है। दम्पती-सम्बन्ध से जब भी पुत्र उत्पन्न होगा, ७७ पितृमहों का ऋण लेकर ही उत्पन्न होगा। उत्पत्ति के अनन्तर इस उत्पन्न पुत्र में अपने भी स्वतन्त्र ८४ अंश उत्पन्न और हो जाते हैं यह कथान्तर है। परन्तु पुत्र के इस औपपातिक आत्मा

का अपनी भौमजन्मसत्ता के लिए, भूपृष्ठ पर शरीर धारण करने के लिए अपने पिता से शुक्रद्वारा २१ अंश लेना परमावश्यक हो जाता है। विना इस ऋण-आदान के इसका प्रभव ही असम्भव है। अतएव पुत्ररूप में उपयुक्त पिता के इस २१ भागसंघात को शास्त्रकारों ने 'पितृ-ऋण' नाम से व्यवहृत किया है। ६ धारा में वितत इन २१ मात्राओं को चन्द्रलोकस्थ पिता के ७ अंशों के साथ सपिण्डीकरण के द्वारा जबतक यह (पुत्र) उस की (पिता की) पूरी (२१) मात्रा लौटा कर उसे पूर्ण (२८ कल) नहीं बना देता, तबतक यह ऋणी रहता है। एवं तब तक इस का बन्धनविमोक नहीं हो सकता। इस पितृऋणमुक्ति के अनेक प्रकारों में से 'सन्तानोत्पत्ति' एक मुख्य साधन माना गया है। इस पितृऋण के अतिरिक्त पिता की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित ऋषिमात्रा, देवमात्रा, का भी ऋणरूप से इसमें आगमन होता है। वे ही दोनों ऋण ऋषिऋण, देवऋण, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन तीनों ऋणों का मोचन कैसे सम्भव है ?, इस प्रश्न की मीमांसा आगे के 'ऋणमोचनोपायोपनिषत्' नामक प्रकरण में की जाने वाली है। प्रकृत में इस ऋण-धन भाव से यही बतलाना है कि, पिता के द्वारा पुत्र में उपादान रूप से प्राप्त २१ सहः ही 'पितृऋण' है। इसका आगे किस क्रमसे वितान होता है, यही विजिज्ञास्य है।

पितृधनावापमीमांसा—

(१)—बीजीपिता की अपनी अर्जित सम्पत्ति (कमाई) के २८ पितृसहों में से २१ सहों को ऋण (उधार) ले कर पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र में पिता से आने वाला एकविंशतिकलोपेत यह सहःपिण्ड 'प्रथमावाप' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथमपात्रस्थानीय पिता के इन २१ पितृसहों का प्रथम अधिकारी पुत्र ही बनता है। प्रथमपात्र (पिता) द्वारा प्रथमाधिकारी (पुत्र) में आहुत यह पितृसहः अवश्यमेव 'प्रथमावाप' कहला सकता है। इन में पिता का शेष अहुतलक्षण सप्तकल धन 'पितरः' है, एवं पुत्र में आगत हुत एकविंशतिकल ऋण 'सूनवः' है। इस प्रकार २८ पितृसहों के प्रथमावाप सम्बन्ध से ७-२१ भेद से 'पितरः-सूनवः' ये दो श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। सात की प्रतिष्ठा स्वयं पिता है, २१ पुत्र में भुक्त है।

(२)—बीजीपिता से २१ मात्रा लेकर जन्मधारण करने वाले पुत्र में भी स्वतन्त्ररूप से २८ सहों का आगमन हुआ। यह अपने पुत्र को जहाँ स्वधन रूप में से उक्त नियमानुसार २१ मात्रा ऋण देगा, वहाँ पिता से मिली हुई २१ मात्रा में से भी इसे अपने पुत्र को ऋण देना पड़ेगा। इस पारम्परिक धन के ऋणदान का क्रम वही होगा, जो प्रथमावाप में बतलाया जा चुका है। पिता से प्राप्त २१ में से १५ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के पौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ६ भाग इसमें प्रतिष्ठित रह जाते हैं। यह ६ कलाएँ सुत नहीं होतीं, असुतरूप से इस में प्रतिष्ठित रहती हैं, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इन्हें 'पितरः' कहा जायगा। एवं पौत्रस्थानीय पुत्र में सुत १५ कलाएँ 'सूनवः' कहलाएँगी। इन १५ कलाओं का आवाप पुत्र के द्वारा होता है, अतएव यह द्वितीयपात्र है। पौत्र-

स्थानीय पुत्र में बीजी के पुत्र द्वारा इनका आवाप होता है, अतएव यह पौत्रस्थानीय पुत्र 'द्वितीयाधिकारी' है। द्वितीयपात्र (पुत्र) द्वारा द्वितीयाधिकारी (पौत्र) में आहुत पञ्चदशकलोपेत यह पितृमह अवश्यमेव 'द्वितीयावाप' कहला सकता है। इस प्रकार २१ पितृमहों में द्वितीयावापसम्बन्ध से ६-१५ भेद से 'पितर –सूनव' ये श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ६ की प्रतिष्ठा स्वयं पुत्र है, १५ पौत्र में भुक्त है।

(३)-बीजी के पुत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त १५ की राशि को सुरक्षित रखने वाले पौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी नियमानुसार २८ तो उत्पन्न होंगे ही, और यह भी अपने २८ में से २१ मात्रा अपने पुत्र (बीजी के प्रपौत्र) में देगा ही, साथ ही पिताद्वारा प्राप्त १५ राशि में से भी इसे ऋण-दान करना पड़ेगा। पिता से (बीजी के पुत्र से) प्राप्त १५ में से १० भाग तो यह पुत्र में (बीजी के प्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है। शेष ५ भाग स्वयं इस में (पौत्र) में प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये ५ कलाएँ भुक्त नहीं होतीं, अभुक्तरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहतीं हैं, अतएव इन्हें-'पितरः' कहा जायगा। एवं प्रपौत्रस्थानीय पुत्र में भुक्त १० कलाएँ 'सूनवः' कह लाएँगी। इन १० कलाओं का आवाप पौत्रद्वारा होता है, अतएव यह तृतीयपात्र है। जिस प्रपौत्र में आवाप होता है, वह तृतीयाधिकारी है। तृतीयपात्र (पौत्र) द्वारा तृतीयाधिकारी (प्रपौत्र) में आहुत दशकलोपेत यही पितृमह 'तृतीयावाप' है। इस प्रकार १५ पितृमहों में से तृतीयावाप सम्बन्ध से ५-१० भेद से 'पितर –सूनव' ये दो श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ५ की प्रतिष्ठा स्वयं पौत्र है, १० प्रपौत्र में भुक्त है।

(४)-बीजी के पौत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त १० राशि को सुरक्षित रखने वाले प्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इस प्रपौत्र में २८ स्वतः सिद्ध हैं, जिन में से २१ का नियमानुसार यह अपने पुत्र (बीजी के वृद्धप्रपौत्र) में आधान करेगा। इस के अतिरिक्त पिता के द्वारा प्राप्त १० संख्यात्मक पितृधन में से भी इसे ऋणदान करना पड़ेगा। पिता से (बीजी के पौत्र से) प्राप्त १० में से ६ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के वृद्धप्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ४ भाग स्वयं इस में (प्रपौत्र में) प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये ४ कला अभुक्तभाव से 'पितर' हैं, भुक्त ६ कला 'सूनव' हैं। इन ६ कलाओं का आवाप प्रपौत्रद्वारा होता है, अतएव यह चतुर्थपात्र है। जिस वृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह चतुर्थाधिकारी है। चतुर्थपात्र (प्रपौत्र) द्वारा चतुर्थाधिकारी (वृद्धप्रपौत्र) में आहुत षट्कलोपेत यही पितृमह 'चतुर्थावाप' है। इस प्रकार १० पितृमहों में से चतुर्थावापसम्बन्ध से ४-६ भेद से 'पितर –सूनव' ये दो श्रेणि-विभाग होजाते हैं। ४ की प्रतिष्ठा स्वयं प्रपौत्र है, ६ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं।

(५)-बीजी के प्रपौत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त ६ सहोभागों को सुरक्षित रखने वाले वृद्धप्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी २८ स्वतः सिद्ध हैं, जिनमें से २१ का यह अपने पुत्र

(बीजी के वृद्धप्रपौत्र) में आधान करेगा। इसके साथ ही पिता से प्राप्त ६ संख्यायुत पितृधन में से भी इसे ऋणदान करना पड़ेगा। पितासे (बीजी के प्रपौत्र से) प्राप्त ६ में से ३ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ३ भाग स्वय इसमें (वृद्ध प्रपौत्र में) प्रतिष्ठा रूप से रह जाते हैं। ये ३ कला असुतभाव की दृष्टि से 'पितरः' हैं, सुत ३ कला 'सूनवः' हैं। इन तीन सूनुकलाओं का आवाप वृद्धप्रपौत्र के द्वारा होता है, अतएव यह पञ्चमपात्र है। जिस अतिवृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह पञ्चमाधिकारी है। पञ्चमपात्र (वृद्धप्रपौत्र) द्वारा पञ्चमाधिकारी (अतिवृद्धप्रपौत्र) में आहुत कलात्रयोपेत यही पितृमह 'पञ्चमावाप' है। इस प्रकार ६ पितृसहो में से पञ्चमावाप सम्बन्ध से ३–३ भेद से 'पितरः–सूनवः' ये दो श्रेणि विभाग हो जाते हैं। ३ की प्रतिष्ठा स्वय वृद्धप्रपौत्र है, ३ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं।

(६)–बीजी के वृद्धप्रपौत्र स्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त ३ सहोभागों को सुरक्षित रखने वाले अतिवृद्धप्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी २८ तो स्वत सिद्ध हैं, जिनमें से २१ का यह अपने पुत्र (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) में आधान करेगा। एव इसके साथ ही पिता से प्राप्त ३ संख्या वाले पितृ धन में से भी इसे ऋण देना पड़ेगा। पिता से (बीजी के वृद्धप्रपौत्र से) प्राप्त ३ में से १ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में, एव अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष २ भाग स्वय इसमें (अतिवृद्धप्रपौत्र में) प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये २ कला असुतभावापेक्षया 'पितरौ' हैं, सुत १ कला 'सूनुः' है। इस १ सूनु कला का आवाप अतिवृद्धप्रपौत्र के द्वारा होता है, अतएव यह षष्ठपात्र है। जिस वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह षष्ठ अधिकारी है। षष्ठपात्र (अतिवृद्धप्रपौत्र) द्वारा षष्ठ अधिकारी (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) में आहुत एककल यही पितृमह 'षष्ठआवाप' है। इस प्रकार ३ पितृमहों में से षष्ठआवाप सम्बन्ध से २–१ भेद से 'पितरौ–सूनु' ये दो श्रेणि विभाग हो जाते हैं। २ की प्रतिष्ठा स्वय अतिवृद्धप्रपौत्र है, १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त है।

(७)–बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में बीजी की केवल १ सहोमात्रा रहती है। अतएव यहाँ आकर ऋणदान क्रम समाप्त हो जाता है। यह १ कला स्वय इसकी प्रतिष्ठा में उपयुक्त हो जाती है। यदि इसमें पितृधन की १ कला भी न रहे, तो इसकी प्रतिष्ठा का ही उच्छेद हो जाय। इस प्रकार अतिवृद्ध प्रपितामह से आने वाली यह १ कला स्वपरम्परा में उपयुक्त होती हुई आगे न जाकर केवल 'पितर' रूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है। फलत बीजी से आगे उत्तरोत्तर 'पितर-सूनव' रूप से वितत होने वाला २८ कलात्मक पितृमह ७—२१ × ६–१५ × ५–१० × ४–६ × ३–३ × २–१ + १ इस क्रमधारा से छठी पीढ़ी पर ही समाप्त हो जाता है। एक कलोपेत सातवीं पीढ़ी में आगे वितत होने योग्य पिण्ड का अभाव है। अतएव सातवीं पीढ़ी पर जाके सपिण्डता सम्बन्ध (२८ कलात्मक एक पिण्ड का वितानक्रम) समाप्त है। इसी विज्ञान के आधार पर—'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषं, सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते" इत्यादि राद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

प्रथमभाग	पात्रम्	१	१-पितर — सप्तमहांसि — पितरिमूलपुरुषे (७)	१-पिता
	अधिकारी		२-सूनर — एकविंशतिमहांसि — पुत्रे (२१)	२-पुत्र
द्वितीय भाग	पात्रम्	२	१-पितर — षट्महांसि — पुत्रे (६)	
	अधिकारी		२-सूनर — पञ्चदशमहांसि — पौत्रे (१५)	३-पौत्र
तृतीयभाग	पात्रम्	३	१-पितर — पञ्चमहांसि — पौत्रे (५)	
	अधिकारी		२-सूनर — दशमहांसि — प्रपौत्रे (१०)	४-प्रपौत्र
चतुर्थभाग	पात्रम्	४	१-पितर — चत्वारिमहांसि — प्रपौत्रे (४)	
	अधिकारी		२-सूनर — षट्महांसि — वृद्धप्रपौत्रे ( )	५-वृद्धप्रपौत्र
पञ्चमभाग	पात्रम्	५	१-पितर — त्रीणिमहांसि — वृद्धप्रपौत्रे (३)	
	अधिकारी		२-सूनर — त्रीणिमहांसि — अतिवृद्धप्रपौत्रे (३)	६-अतिवृद्धप्रपौत्र
षष्ठभाग	पात्रम्	६	१-पितरौ — द्वे महसी — अतिवृद्धप्रपौत्रे (२)	
	अधिकारी		२-सूनु — एकं महः — वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे (१)	७-वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र
०	०	७	१-पिता — एकं महः — वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे (१)	
			०-० × × × × ×	

पितृधनानि–पितरः		पितृऋणानि–सूनवः	
१—पितरि	७ सहांसि	❀	❀ मूलपुरुषः
२—पुत्रे	६ सहांसि	पुत्रे	२१ सहांसि
३-पौत्रे	५ सहांसि	पौत्रे	१५ सहांसि
४—प्रपौत्रे	४ सहांसि	प्रपौत्रे	१० सहांसि
५—वृद्धप्रपौत्रे	३ सहांसि	वृद्धप्रपौत्रे	६ सहांसि
६—अतिवृद्धप्रपौत्रे	२ सहसी	अतिवृद्धप्रपौत्रे	३ सहांसि
७—वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे	१ सहः	वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे	१ सहः
	२८ पितरः		५६ सूनवः

आवापपिण्ड–बीजपिण्ड–मीमांसा—

उपर्युक्त पितृसहः—पिण्ड के 'पितरः–सूनवः' भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। अब एक विभिन्न दृष्टि से इस वस्तुतत्त्व का समन्वय किया जाता है। इस दृष्टि से इस पितृसहः पिण्ड के 'आवापपिण्ड–बीजपिण्ड' भेद से दो विभाग माने जा सकते हैं। आवापपिण्ड पितृऋण है, पिता (बीजी) का वह धन है, जिसे ऋणरूप से ग्रहण कर उत्पन्न होने वाले पुत्रादि स्वयं भी सह:पिण्ड के संग्राहक बनते हैं। इनके शुक्र में भी उसी क्रमानुसार नक्षत्रभाणावच्छिन्न अष्टाविंशतिकल पितृमहः पिण्ड प्रतिष्ठित होता है, जिसे कि हम इनका अपना धन कह सकते हैं। इन का यही अपना धन इन के पुत्र का बीज बनता है, अतएव इसे हम 'बीजपिण्ड' कह सह सकते हैं। इस स्वार्जित धन का बीजत्व १६ वें वर्ष की समाप्ति पर ही पूर्णरूप से विकसित होता है। इससे पहिले पहिले इनका पितृसहःपिण्ड निर्वीर्य्य ही रहता है। इन में जो मात्राएँ पितादि के द्वारा आती हैं, वे ही 'आवापपिण्ड' कहलाई हैं। आवापपिण्ड के भी 'पितरः–सूनवः' दो विभाग रहते हैं, एवं बीजपिण्ड के भी दोनों विभाग सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए २१ संख्यायुक्त पुत्र के आवापपिण्ड को ही लीजिए। यह २१ पितृधन हैं, जिसे ऋण लेकर पुत्र ने जन्म धारण किया है। यही आवापपिण्ड है। इस के ६ भाग तो पूर्व कथनानुसार इस में रह जाते हैं, शेष १५ भाग आगे की पुत्रसन्तति में स्वधन के साथ आहुत हो जाते हैं। सप्तकल स्वात्मप्रतिष्ठभाग 'पितरः' हैं, पञ्चदशकल सन्ततिप्रतिष्ठभाग 'सूनवः' हैं। इस के अतिरिक्त २८ कलात्मक बीजपिण्ड भी इसमें प्रतिष्ठित हैं। इसमें से ७ कला इस में

रह जाती हैं, यही 'पितर' हैं, २१ कला पुत्र में चली जाती हैं, यही 'सूनव' है। इस प्रकार पितृधनरूप आवापपिण्ड, तथा स्वात्मधनरूप बीजपिण्ड, दोनों पिण्डों के प्रतिष्ठित-सन्ततिगत भेद से दो दो विभाग हो जाते हैं।

इन परम्परया आगत आवापपिण्डकलाओं का, तथा स्वार्जित बीजपिण्डकलाओं का यदि सङ्कलन किया जाता है, तो प्रत्येक पुरुष के शुक्र में चतुरशीतिकल (८४) महःपिण्ड की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रत्येक पुरुष के शुक्र में २८ सहोभाग तो स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते ही हैं। इस के अतिरिक्त २१ सहोभाग तो इस में अपने पिता से आते हैं, १५ सहोभाग पितामह से आते हैं, १० सहोभाग प्रपितामह से आते हैं, ६ सहोभाग वृद्धप्रपितामह से आते हैं, ३ सहोभाग अतिवृद्धप्रपितामह से आते हैं, एवं १ सहोभाग वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से आता है। इस प्रकार स्वात्मधनरूप २८ के अतिरिक्त अपने से ऊपर की ६ पितृपरम्पराओं से इसमें २१-१५-१०-६-३-१, इतने सहोभाग ऋणरूप से आते हैं, जिनका सङ्कलन ५६ कल होता है। यही 'आवापपिण्ड' है, एवं २८ कल भाग बीजपिण्ड है। '५६ × २८' के सङ्कलन से ८४ का निष्कर्ष निकलता है। शुक्राधारेण प्रतिष्ठित, आवाप-बीजपिण्डात्मक, चतुरशीतिकल इस पितृसहःपिण्ड की आयतन भूमि शुक्रगत चान्द्र महानात्मा ही माना गया है। इसी ८४ के व्यूहन से योनिभावप्रवर्त्तक महानात्मा चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) योनियों का प्रवर्त्तक बनता है।

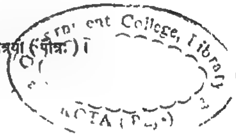
निवाप-पितृ-तन्य-पिण्डत्रयीमीमांसा—

बीजीपुरुष में अपनी स्वार्जित सम्पत्ति २८ कलात्मक है, यह कहा जा चुका है। अब इस सम्बन्ध में कुछ विशेषता और ज्ञातव्य है। इस बीजपिण्ड की **'निवापपिण्ड, पितृनिवापपिण्ड, तन्यपिण्ड'** भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। यह तीन तीन का क्रम बीजी से आरम्भ कर अतिवृद्धप्रपौत्र नाम की ६ ठी पीढ़ी पर्य्यन्त समानरूप से भुक्त है। सर्वप्रथम बीजी का ही विचार कीजिए। नक्षत्रावच्छिन्न चान्द्ररस के द्वारा आगत, एवं शुक्र में प्रतिष्ठित २८कलात्मक स्वार्जित सह पिण्ड 'निवाप पिण्ड' है, मूलधन है। इन में से पुत्रजनन में उपयुक्त होने वाली २१ मात्रा हैं, इसे ही हमनें सूनु कहा है। सूनु-और तनय भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व हैं, अतएव दोनों को पर्य्याय मानना भ्रान्ति है। सूनु आगे की सन्तति की अपेक्षा से निवापपिण्ड बनता है। यह सर्वात्मना ही वितत नहीं होता, अपितु इस का एकांश (१५ भाग) ही तनय रूप में परिणत होता है। अस्तु, कहना यह है कि, २८ कल पितृसह पिण्ड 'निवापपिण्ड' है, २१ कल पितृसह पिण्ड 'तन्यपिण्ड' है, ७ सप्तकल पितृसहःपिण्ड 'पितृनिवाप' पिण्ड है। मूल धनलक्षण अष्टाविंशति लक्षणनिवापपिण्ड का बीजी में ही रह जाने वाला सप्तकल पिण्ड 'पितृनिवाप' है, एवं पुत्र में आहुत हो जाने वाला एकविंशतिकल पिण्ड 'तन्यपिण्ड' है। इस प्रकार '२८-७-२१' क्रम से स्वार्जित सहःपिण्ड की तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। ये ही तीन विभाग पुत्र में समझिए। वहाँ '२१-६-१५' यह क्रम है। पौत्र में '१५-५-१०' यह क्रम है। प्रपौत्र में '१०-४-६' यह क्रम है। वृद्धप्रपौत्र में '६-३-३' यह क्रम है। अतिवृद्धप्रपौत्र में '३-२-१' यह क्रम है। वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में केवल एक सह का निवापपिण्ड है। विताननमात्रा के अभाव से यहाँ पितृनिवापपिण्ड, तथा तन्यपिण्ड, दोनों का अभाव है। निम्नलिखित परिलेख से इस क्रम का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

१— १-निवापपिण्डः—२८ सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—७ सहांसि
३-तन्यपिण्डः—२१ सहांसि
—पितृपिण्डत्रयी (बीजी)।

२— १-निवापपिण्डः—२१ सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—६ सहांसि
३-तन्यपिण्ड—१५ सहांसि
—पुत्रपिण्डत्रयी (पुत्रः)।

३— १-निवापपिण्डः—१५ सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—५ सहांसि
३-तन्यपिण्डः—१० सहांसि
—पौत्रपिण्डत्रयी (पौत्रः)।



४— १-निवापपिण्डः—१० सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—४ सहांसि
३-तन्यपिण्डः—६ सहांसि
— प्रपौत्रपिण्डत्रयी (प्रपौत्रः)।

५— १-निवापपिण्डः—६ सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—३ सहांसि
३-तन्यपिण्डः—३ सहांसि
—वृद्धप्रपौत्रपिण्डत्रयी (वृद्ध प्रपौत्रः)।

६— १-निवापपिण्डः—३ सहांसि
२-पितृनिवापपिण्डः—२ सहसी
३-तन्यपिण्डः—१ सहः
—अतिवृद्धप्रपौत्रपिण्डत्रयी (अतिवृद्धप्रपौत्रः)

७— *-निवापपिण्डः *
—वृ०अ०प्र०पिण्डत्रयी (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र)

शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा में पूर्वप्रदर्शित ५६ कल आवापिण्ड, तथा २८ कल बीजपिण्ड के समन्वय से ८४ पितृसहों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन ८४ कलाओं में से २८ कलाएँ तो बीजी मूल पुरुष का स्वोपार्जित धन है, एवं ५६ कलाएँ पिता-पिता महादि द्वारा प्राप्त आगन्तुक ऋण है। ऋणात्मक ५६ कलात्मक यह आवापपिण्ड धनात्मक २८ कलात्मक बीजपिण्ड में प्रतिष्ठित रहता है। बीजपिण्ड में प्रतिष्ठित यही पितृधन (पितृऋण) बीजी की जीवन सत्ता का कारण बनता है। जिस प्रकार २८ कलात्मक स्वोपार्जित आत्मनीन पितृमह पिण्ड बीजी के पुत्र-पौत्र प्रपौत्रादि सन्तानभावों में सातवीं पीढी पर्य्यन्त (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रपर्य्यन्त) ७-२१, ६-१५, ५-१०, ४-६, ३-३, २-१, इस क्रम से 'पितर-सृतु-भेद से दो दो भागों में विभक्त रहता है, एवमेव उपर्युक्त ५६ कलात्मक आगन्तुक पितृऋण (पितृधनरूप पितृमह पिण्ड) भी आत्मधेय, तन्य, रूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पितृऋण का जो अंश बीजी के आत्मा में (२८ कल महानात्मा में) जीवनसत्तार्थ प्रतिष्ठित रहता है, वह तो 'आत्मधेय' पितृमह कहलाता है। एवं जो पितृऋण अपनी कलाओं के साथ पुत्र-पौत्रादि के स्वरूप निर्म्माण में उपयुक्त हो जाता है, वह 'तन्य' कहलाता है। सातवीं पीढी का (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का) १ संख्या वाला पितृमह केवल आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रहता है। वितानमात्रा के अभाव से इसका आगे वितान नहीं होता, अतएव इस की तन्यरूप में परिणति न होकर केवल आत्मधेय रूप में ही बीजी में इस की स्थिति रहती है।

पितृऋणात्मक पितृमह कलाओं का जो भाग बीजी में प्रतिष्ठित रहता हुआ आत्मधेय बनता है, उसका बीजी के महानात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध रहता है। इसी अन्तर्य्याम सम्बन्ध से यह बीजी का (महदात्मवत्) उक्थ बन जाता है। जीवनसत्तोपयिक चान्द्ररस का ग्रहण करता उक्थ भावापन्न आत्मधेय इसी पितृसह का काम है। क्योंकि यह आत्मधेय आगत पितृसह पितृधन है, अतएव इस का प्रत्यर्पण आवश्यक हो जाता है। यदि इन आत्मधेयकलाओं का सकलन किया जाता है, तो २१ संख्या हो जाती है। इन २१ का ऋणभार स्वयं बीजी पर अवलम्बित है। वृद्धातिवृद्धप्रपितामह की १ कला, अतिवृद्धप्रपितामह की २ कला, वृद्धप्रपितामह की ३ कला, प्रपितामह की ४ कला, पितामह की ५ कला पिता की ६ कला, इस प्रकार '१-२-३-४-५-६' क्रम से २१ कला इस का आत्मधन बना रहता है। कहा गया है कि-- पितृधन की कुल ५६ कला आती है। ५६ में से २१ तो इस क्रम से आत्मधेय है। शेष ३५ कला तन्यरूप में परिणत है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। स्वोपार्जित २८ कलाओं में से २१ कला तो तन्यरूप से पुत्र-पौत्रादि को ऋण रूप से दे दी जाती है, शेष ७ कला इस बीजी में ही आत्मधेय रूप से प्रतिष्ठित रह जाती है। इस प्रकार पितृऋण की ५६ में २१ कला के, तथा स्वात्मधन की २८ में से ७ कला के समन्वय से २८ कला हो जाती है। यह २८ कल आत्मधेय भाग प्रत्येक पुरुष में नित्य प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर पूर्व में मासिक पिण्ड का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, पुरुष का महानात्मा

सदा २८ कल पितृमहःपिण्ड से युक्त रहता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, महानात्मा में प्रतिष्ठित २८ कल सहःपिण्ड में से २१ कला तो ऋणात्मक धन है, एवं ७ कला स्वोपार्जित धन है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

महानात्मनि प्रतिष्ठितानि–आत्मधेयानि–सहांसि—

१—एकं सहः — — —वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्य २—द्वे सहसी———अतिवृद्धप्रपितामहस्य ३—त्रीणि सहांसि——वृद्धप्रपितामहस्य ४—चत्वारि सहांसि-प्रपितामहस्य ५—पञ्च सहांसि——पितामहस्य ६—षट् सहांसि———पितुः	—षड्धनानि पितृऋणानि
७—सप्त सहांसि——आत्मनः	—सप्तममेकमात्मधनम्
२८-अष्टविंशतिकलोऽयं महानात्मा	

यह तो हुई आत्मधेय कलाओं की व्यवस्था। अब तन्य-कलाओं की मीमांसा कीजिए। यद्यपि बीजी का अपना धन २८ कलात्मक है। परन्तु अपने क्षेत्र में (महानात्मा में) आत्मधेयरूप से ७ ही कला शेष रहती हैं। शेष २१ कला तनयोत्पत्ति में ऋणरूप से भुक्त हो जाती हैं। अतः इस २१ कलसमष्टि को हम 'तन्य' ही कहेंगे। परम्परागत ५६ मात्राओं में से २१ का भोग स्वयं इसी बीजी में होता है, शेष ३५ कलाएँ बीजी के पुत्रादि-प्रजनन में भुक्त हैं। जो ऋणकलाएँ प्रजनन में ऋणरूप से भुक्त हैं, उन्हीं को तन्य कहा जायगा, एवं उन की व्यवस्था का समन्वय यों किया जायगा।

बीजी को अपने पिता से ऋण रूप में २१ मात्रा मिलती हैं। इन में से ६ मात्रा इस में आत्मधेय रूप से प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १५ मात्रा बीजी अपने पुत्र में ऋणरूप से प्रदान करता है। ऋण के ऋणरूप इसी पञ्चदशकल भाग को तन्य कहा जायगा। पितामह से बीजी को १५ मात्रा मिलती हैं। इन में से ५ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १० मात्रा बीजी अपने पुत्र में दे देता है, यही तन्य भाग है। प्रपितामह से बीजी को १० मात्रा मिलती हैं। इन

में से ४ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती है, शेष ६ मात्रा बीजी अपने पुत्र में दे देता है, यही तन्य भाग है। वृद्धप्रपितामह से बीजी को ६ मात्रा मिलती हैं। इन में से ३ मात्रा आत्मधेय रूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती है, शेष ३ मात्रा यह अपने पुत्र में दे देता है, यही तन्य भाग है। अतिवृद्धप्रपितामह से बीजी को ३ मात्रा मिलती हैं। इनमें से २ मात्रा आत्मधेय रूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १ मात्रा यह अपने पुत्र में समर्पित कर देता है। वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से इसे १ ही मात्रा मिलती है। इस का समर्पण असम्भव है। अतएव यह तन्य न बन कर केवल बीजी में प्रतिष्ठित रहती हुई आत्मधेय ही बनी रहती है। इस प्रकार "२१-१५-१०-६-३-१-" प्राप्त होने वाली इन ५६ कलाओं में से क्रमशः ६-५-४-३-२-१ ये २१ कला तो आत्मधेय रूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं। एवं '१५-१०-६-३-१' ये ३५ कला बीजी के पुत्र में सम्बद्ध होती हुई तन्य रूप में परिणत हो जाती हैं। ऋणरूप से आगत ५६ में से २१ कलाएँ आत्मधेय हैं, ३५ कलाएँ तन्य हैं, यही निष्कर्ष है। एवं स्वोपार्जित २८ में से ७ कलाएँ आत्मधेय हैं, २१ कलाएँ तन्य हैं, यही तात्पर्य है। ऋणात्मक २१ आत्मधेय, स्वोपार्जित ७ आत्मधेय, दोनों के संकलन से २८ आत्मधेय पिण्ड है, यही महानात्मा में प्रतिष्ठित रहने वाला धन है। ऋणात्मक ३५-तन्य, स्वोपार्जित २१ तन्य, दोनों के सङ्कलन से ५६ कल तन्यपिण्ड है। यह शुक्र में प्रतिष्ठित रहने वाला ऋण है। जैसा कि अनुपद में ही बतलाई जाने वाली ऋण-धन मीमांसा से स्पष्ट होने वाला है।

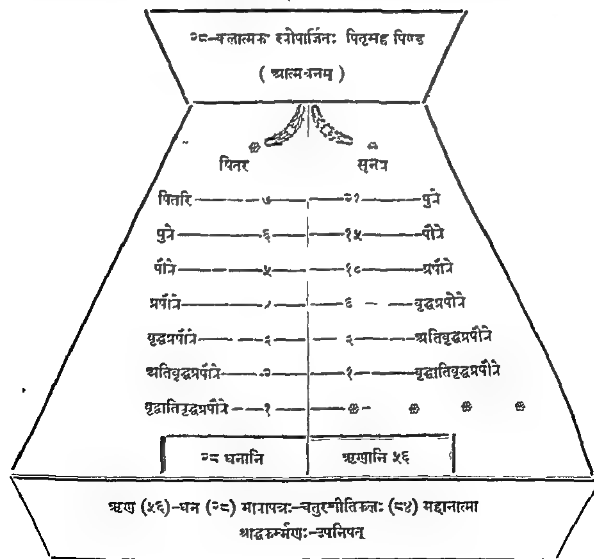
१—एकः महः———वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्य	—षडृणानि-आगतानि
३—त्रीणि महांसि – अतिवृद्धप्रपितामहस्य	
६—षट् महांसि——वृद्धप्रपितामहस्य	
१०—दश महांसि——प्रपितामहस्य	
१५—पञ्चदश महांसि—पितामहस्य	
२१—एकविंशतिमहांसि—पितुः	
५६—कलात्मकं ऋणम्	

आत्मधन-आत्मऋण-स्वरूपमीमांसा—

आत्मधनोपलक्षित २८ कल महःपिण्ड, आत्मऋणोपलक्षित ५६ कल महःपिण्ड, दोनों की आत्मधेय, तन्य, रूप से दो दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। पूर्व निरूपण से यद्यपि चारों अवस्थाओं का समन्वय हो जाता है, तथापि विषयदुरूहता के नाते इन सब का सङ्कलनदृष्टि से समन्वय और कर दिया जाता है। पहिले स्वोपार्जित, आत्मधनोपलक्षित, २८ कल महःपिण्ड को ही लीजिए। इसकी 'पितरः-सूनवः' भेद से दो अवस्था रहती हैं। बीजी से आगे उत्पन्न होने

वाली पुत्रादि-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रान्त ६ पीढ़ी पर्य्यन्त प्रत्येक पीढ़ी में इस बीजी के आत्मधन के 'पितरः सूनुः'-रूपसे दो दो विभाग हो जाते हैं। जो आत्मधन योषिदग्नि में आहुत न होकर आत्माप-कर्त्ताओं की महदनुसंस्था में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता जाता है, वह 'आत्मधेय' कहलाता है। एवं जो आत्मधन योषिदग्नि में आहुत होता जाता है, वह उत्तरोत्तर सन्तत होता हुआ 'तन्य' कहलाता है। आत्मधेयभाग धन है, तन्यभाग ऋण है। धनभाग 'पितरः' है, ऋणभाग 'सूनवः' है। ऋण-धन के इस क्रमिक धाराप्रवाह के कारण बीजी का आत्मधन ७ धनभागों में एवं ६ ऋणभागों में परिणत हो जाता है। लोकभाषा-दृष्टि से धनभाग 'जमा' है, ऋणभाग 'खर्च' है। 'जमा-खर्च' की यह परम्परा सचमुच पितृसृष्टि का एक अपूर्व-मौलिक रहस्य है, जिसका यथावत् समन्वय किए बिना 'सापिण्ड्य' रहस्य गतार्थ नहीं बन सकता। स्वोपार्जित २८ कल आत्मधन के इन ऋण धन भागों का परिलेख से भलीभांति स्पष्टीकरण हो रहा है।

ऋणधनभावापन्नो महानात्मा श्राद्धकर्म्मोपनिषत्—



बीजी के शुक्रात्मक महानात्मा में रहने वाले स्वोपार्जित-आत्मधनरूप-२८ कलात्मक पितृसहः पिण्ड के 'पितरः-सूनवः' इन विभागों के अनन्तर बीजी के महानात्मा में प्रतिष्ठित, पिता-पितामहादि के द्वारा ऋणरूप से आगत-अतएव आत्मऋणरूप ५६ कलात्मक पितृसह पिण्ड के आत्मधेय, तथा तन्य पिण्डों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। यह निश्चित है कि, पिता-*पितामहादि से आने वाली ऋणात्मिका सभी सह-कला बीजी में प्रतिष्ठित नहीं रह सकतीं।* अपितु कुछ अंश प्रतिष्ठित रहता है, शेषांश बीजी के पुत्रादि में ऋणरूप से चला जाता है। ५६ कलात्मक पितृऋणरूप पितृसहःकलाओं में जो जितनी कला बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, उन्हें 'आत्मधेयपिण्ड' कहा जाता है, एवं जितनी कला पुत्रादि में (सन्तानपरम्परा से) भुक्त हो जाती हैं, वे 'तन्यपिण्ड' कहलाई हैं।

आत्मधन भी आत्मधेय, तन्य भेद से ऋण-धन भावात्मक है। आत्मऋण भी आत्मधेय, तन्य भेद से ऋण धन भावात्मक है। सर्वत्र धनभाव आत्मधेय है, ऋणभाव तन्य है। आत्मधन के २८ में से ७ भाग आत्मधेय है, यही 'पितर' है, यही धन है। आत्मधन के २८ में से २१ तन्य हैं, यही 'सूनवः' है, यही ऋण है। एवमेव आत्मऋण के ५६ भागों में से २१ आत्मधेय हैं, यही पितर है; यही धन है। आत्मऋण के ५६ में से २५ तन्य हैं, यही सूनवः हैं, यही ऋण है, आत्मधन के धनरूप ७ आत्मधेय, आत्मऋण के धनरूप २१ आत्मधेय, इस प्रकार बीजी में २८ आत्मधेयकला प्रतिष्ठित हैं। आत्मऋण के ऋणरूप ३५ तन्य, आत्मधन के ऋण २१ तन्य, इस प्रकार बीजी में ५६ तन्यकला प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

५६ कलात्मकः पितृऋणरूपः सहःपिण्डः

(आत्मऋणम्)

आत्मधेयाः		तन्याः	
वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्य	१	०	
अतिवृद्धप्रपितामहस्य	२	१	वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे
वृद्धप्रपितामहस्य	३	३	अतिवृद्धप्रपौत्रे
प्रपितामहस्य	४	६	वृद्धप्रपौत्रे
पितामहस्य	५	१०	प्रपौत्रे
पितुः	६	१५	पौत्रे
आत्मनः	७	२१	पुत्रे

२८ धनानि . ऋणानि ५६

प्रत्येक पुरुष में अपने से ऊपर की क्रमिक ६ पीढ़ियों से ऋणरूप से ५६ सहोमात्रा प्रतिष्ठित रहतीं हैं, एवं यह स्वयं २८ अपनी स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न करता है। फलतः कुल ८४ मात्रा का संग्रह होता है। ५६ मात्रा ऋण है, २८ मात्रा धन है। धनात्मिका २८ मात्राओं में से इसके समीप ७ मात्रा रहने पाती हैं, २१ पुत्र में चली जाती हैं। ५६ मात्रा का ऋण इसे चुकाना है। इन में से ३५ मात्राओं का परिशोध तो पुत्रोत्पत्ति-मात्र से हो जाता है। क्योंकि जहाँ पुत्र में इसके अपने आत्मधन के २८ में से २१ भाग जाते हैं, साथ ही आत्मऋण के ३५ भाग भी तन्यभाव से पुत्र में चले जाते हैं। अब ऋणभाग में से केवल २१ कला इसके पास शेष रह जाती हैं। इन २१ ऋणभागों को, एवं ७ धनभागों को लेकर पुरुष यावदायुर्भोगपर्यन्त जीवनसत्ता-धारण में समर्थ होता है। इसकी बन्धनमुक्ति तभी सम्भव है, जब कि यह २१ ऋणभागों का तो परिशोध कर दे, एवं

अपने ७ भागों को पूर्ण (२८) बना दे। इसी 'पितृऋणमुक्ति' के लिए श्राद्धकर्म्म विहित हुआ है। यही इस का आनृण्य है, जैसा कि अगले प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्रकृत में इस 'सह' स्वरूपमीमांसा से यही बतलाना है कि, मूलपुरुष से आरम्भ कर उसकी सातवीं पीढ़ी पर्यन्त शुक्रस्थित एक ही पिण्ड का वितान होता है। इसी पिण्ड-समानता से सातों का सापिण्ड्य सम्बन्ध माना गया है। जिस सूत्र के द्वारा यह सम्बन्ध सातों में सुरक्षित रहता है, वही सूत्र 'श्राद्धकर्म्म' की मूलप्रतिष्ठा बनता है। इन सात सपिण्डों में पिता, पितामह, प्रपितामह ये तीन सहोभाग संख्याधिक्य से 'पिण्डभाज' कहलाए हैं, एवं वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, ये तीन संख्याल्पता से 'लेपभाज' कहलाए हैं। २१ संख्यायुक्त सातवीं (पुत्र) पिण्डद माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है।

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥

शुक्रस्थित महानात्मा चतुरशीतिकल पितृप्राणात्मक सह पिण्ड के द्वारा ही प्रजातन्तुवितान में समर्थ होता है। जिस प्रकार वस्त्रनिर्माण प्रक्रिया में ताना-बाना लगा करता है, ठीक यही प्रकार प्रजातन्तुवितान में है। ६ उपर के आगततन्तु, ६ नीचे के विततसूत्र, पुनः प्रत्येक की अवान्तर शाखा-प्रशाखाएँ, कैसा अद्भुत प्रजातन्तु-वितान है, और कैसी है उन अतीन्द्रियतत्त्वज्ञ महर्षियों की अलौकिक दृष्टि, जिन्होंने प्रजातन्तुवितानविज्ञान का साक्षात्कार किया, एवं तदाधार पर आनृण्यभाव प्रवर्त्तक श्राद्ध नामक वैज्ञानिक प्रक्रिया का आविष्कार किया, जोकि तात्त्विक प्रक्रिया आज उन ऋषिसन्तानों के द्वारा ही उपहास का क्षेत्र बनी हुई है। इससे अधिक हमारा और क्या पतन होगा।

तन्तुवितानसम्बन्धी-प्रमाणवाद—

प्रजातन्तुवितानात्मक, साप्तपौरुषलक्षण उक्त सापिण्ड्य-स्वरूप के सम्बन्ध में प्रमाणानन्तर इसलिए अनपेक्षित है कि प्रत्यक्षप्रमाणभूत ज्योतिःशास्त्र के प्रत्यक्ष चन्द्रदेवता के सौम्य प्राण का नक्षत्रभेद से २८ भागों में विभाजन हो रहा है, एवं यही तत्सजातीय सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित होकर प्रजातन्तुवितान का कारण बन रहा है। प्रजातन्तुवितानात्मक सापिण्ड्यभाव इस व्यवस्थित क्रम से सप्तपुरुषपर्य्यन्त व्याप्त हो रहा है, जिस के यथावत विमर्श के अनन्तर बुद्धिक्षेत्र में काम लेने वाले विचारशील को अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु आज निश्चित प्रजावर्ग की दृष्टि में इस प्रत्यक्ष विज्ञान का भी तबतक कोई महत्त्व नहीं है, जब तक कि उसे प्रमाणों से सन्तुष्ट न कर दिया जाय। जिन का यह आग्रह है कि प्रत्येक विषय के लिए प्रमाण होना चाहिए, फिर भले ही वह विषय बुद्धिगम्य ही क्या न हो, प्रमाण भी धर्मशास्त्र का, तत्रापि भी मूलसंहिताभाग का प्रमाण ही वस्तुगत्या प्रमाण माना जायगा। प्रमाणवादियों की संहिता

भक्तिवश हृदय से अभिनन्दन करते हुए, साथ ही यह भी समझते हुए कि, यदि बतलाये गए सहिता-प्रमाणों से कहीं उन अभिनिविष्टों का कल्पित सिद्धान्त उच्छिन्न होता हुआ उन्हें प्रतीत होगा, तो वे तद्विषयक संहिता प्रमाणों को भी प्रक्षिप्त कहने में अपने चिराभ्यस्त अभ्यास का ही अनुगमन करेंगे, केवल कर्त्तव्यबुद्धि से प्रजातन्तुवितानात्मक कुछ एक प्रमाण उद्धृत कर दिए जाते हैं। इस प्रमाणधारा का यह फल अवश्यभावी है कि, जो मुग्ध जिज्ञासु इन शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ-आडम्बरप्रिय-कुतर्कशिरोमणि-वेदभक्तों के अशास्त्रीय वाग्जाल के व्यामोह में पड़ कर शास्त्रीय कर्म्मों की उपेक्षा कर बैठते हैं, वे अवश्यमेव अपना पथ प्रशस्त बना सकेंगे। "जीवित पिता पितामहादि अवश्य पितर हैं, इन का श्रद्धा से पूजन करना भी शास्त्रसम्मत है" इस निष्ठा को सर्वथा सुरक्षित रखते हुए "श्राद्धकर्म्मफलभोक्ता पितर प्रेत पितर हैं, पुत्रादि के द्वारा प्रदत्त पिण्ड प्राण उन परलोकगत प्रेतात्माओं की तृप्ति का कारण बनता है", इस सिद्धान्त के उपोद्बलक प्रमाण 'पितरों पितरोपनिषत' में बतलाए जा चुके हैं। प्रकृत में केवल प्रजातन्तुवितानात्मक नापि तन्यभाव से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक प्रमाणों की ही मीमांसा की जायगी।

शुक्रस्थित ८४ कल पितृमहों में पूर्वप्रदर्शित 'पितर-मृतन'-'आत्मधेय-तन्य' विभागों से सम्बन्ध रखने वाले ऋण धन भागों के आधार पर विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, महानात्मगत 'पितृसहसूत्र' एक महासूत्र है, लम्बा हुआ धागा है। जिस प्रकार एक तन्तुवाय (कपड़ा बुनने वाला जुलाहा) ताने बाने लगाकर सूत्र विन्यास से कपड़ा बुनता है, ठीक उसी रूप से महदवच्छिन्न अन्तर्यामी इन सह सूत्रों से प्रजारूप वस्त्र का निर्म्माण कर रहे हैं। कपड़े में जो सीधे धागे होते हैं, उन्हें 'ताना' कहा जाता है, एवं आड़े धागे 'बाना' नाम से प्रसिद्ध हैं। ताने पर बाना होने से ही वस्त्र का स्वरूप सम्पन्न होता है। एवं इन तानों-बाना के प्रक्रम में एक खूँटा गड़ा रहता है, जहाँ से जुलाहा यह वितानप्रक्रिया आरम्भ करता है। बीजी नामक मूलपुरुष खूँटा है, महदवच्छिन्न अन्तर्य्यामी जुलाहा है, पुत्र-पौत्रादि में ऋजुभाव से वितत होने वाला तन्य भाग 'ताना' है, तन्य पर प्रतिष्ठित रहने वाला आत्मधेयभाग 'बाना' है। यही प्रजातन्तुवितान-लक्षण वस्त्र है, जोकि—परामुक्ति के सम्बन्ध में निर्बल माना गया है। पितृसत्र रूपा पुत्र-पौत्रादि की एषणा कभी परामुक्ति का कारण नहीं बन सकती। इसके लिए तो—

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।
यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति"

के अनुसार समानप्रत्ययप्रवाहरूप बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग (आत्मबोध) ही अपेक्षित है। स्वनामधन्य सन्त कबीर ने इसी भावना से प्रजातन्तुवितानरूपा पुत्रैषणा को मुक्तिपथ में निर्बल साधन मानते हुए अपनी निम्न लिखित भाषासूक्ति से प्रकट किया है—

"ताना दम का* ताना रे–
तू तो बडा जुलाहा रे
दास कबीरा बुनने लागा निकला धागा कच्चा । ताना० ।"

चान्द्रसुषुम्णा नाडी के द्वारा आगत चान्द्ररस से १० मास में निष्पन्न यह एक पितृपट विशुद्ध पुत्रैषणा से जहाँ बन्धन का कारण बनता है, वहाँ यही पट निष्कामभावानुगत सृष्टिप्रक्रिया को मुख्य बनाता हुआ स्वयमपि स्वस्वरूप से शुद्ध पूत बना रहता है, एवं वंशधरों के लिए भी निर्मल-आश्रयदाता बना रहता है। कबीर की एक अन्य सूक्ति से पितृपट के इसी स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

झीनी झीनी बीनी चदरिया—
काहे का ताना, काहे के भरनी–
कौन तार से बीनी चदरिया ॥ १ ॥
इंगला पिंगला ताना भरनी ।
सुषमन तार से बीनी चदरिया ॥ २ ॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै ।
पांच तत्व गुन तीनी चदरिया ॥ ३ ॥
सांइ को सियत मास दस लागे ।
ठोक ठोक के बीनी चदरिया ॥ ४ ॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी ।
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥ ५ ॥

हाँ तो अब प्रतिज्ञात प्रमाणवाद की मीमांसा कीजिये। "पुरुष का शुक्र पितृप्राणमय है। इस शुक्र में चन्द्रमा ऋतु के द्वारा पितृप्राण प्रतिष्ठित करते हैं" इस सम्बन्ध में प्रथम ब्राह्मण भाग का प्रमाण देखिये। यद्यपि यह प्रमाण पूर्व में 'रेत-योनि-रेतोधा' का विश्लेषण करते हुए उद्धृत हो चुका है। तथापि यहाँ अर्थदृष्टि-सम्बन्ध से उसे पुनः उद्धृत कर देना आवश्यक मान लिया गया है—

१—"विचक्षणाद् ऋतवो रेत आभृत पञ्चदशात् प्रसुतात् पित्र्यवतः ।
तन्मा पुंसि कर्त्तर्य्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिञ्चः ॥
२—स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासः ।
द्वादश त्रयोदशेन पित्रा सं तद्विदेहं प्रतितद्विदेऽहम् ॥

* पितृप्राण का

३—तन्म ऋतवो अमर्त्यत्र आरभध्वं तेन सत्येन ।
तपसा ऋतुरस्मि आर्त्तवोऽस्मि कोऽसि त्वमसि" (कौ० ब्रा० उप० १।२।) ।
४—"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" (कौ० ब्रा० ७।१०) ।
५—"रेतः सोमः" (कौ० ब्रा० १३।७।) ।

सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ चन्द्रमा से उत्पन्न हुए हैं । 'सुषुम्णश्चान्द्ररश्मिः' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार सौरप्राण सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा (जो कि सुषुम्णानाड़ी दक्षवृत्त नामक चान्द्रपरिभ्रमणवृत्त की दोनों परांधियों का स्पर्श करती हुई आगे व्याप्त रहती है) पृथिवी पर आता रहता है। इसी नाड़ी के द्वारा नाक्षत्रिक प्राणों का आगमन होता है। ग्रह-नक्षत्र-सौर द्वादश आदित्य, आदि आधिदैविक प्राण सुषुम्णा के द्वारा पृथिवी पर आते अवश्य हैं, परन्तु मध्यस्था चान्द्रकक्षा के सम्बन्ध से इन प्राणों को पहिले चान्द्र मण्डल में भुक्त होना पड़ता है। वहाँ आकर चान्द्ररस से संश्लिष्ट होकर ही ये पार्थिव प्रजा के उपादान बनने पाते हैं। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, आगत विविध भावापन्न आधिदैविक प्राणों के समन्वय से नानाभाव में परिणत चान्द्ररस ही नानाभावापन्न पार्थिव पदार्थों का उपादान बनता है। इस विविध प्राण भोग सम्बन्ध से ही चन्द्रमा 'विचक्षण' नाम से व्यवहृत हुआ है।

विचक्षण चन्द्रमा को स्वसृष्टि-प्रक्रिया साफल्य के लिए ऋतु का आश्रय लेना पड़ता है। बिना ऋतु के वह उपादान कर्म्म में सर्वथा असमर्थ है। तत्तदृतुप्राण के समन्वय से ही चन्द्रमा तत्तत् पदार्थों का उपादान बनता है। ऋतुकाल में ही चन्द्रमा स्वसौम्य रेत का आधान करता है। चन्द्रमा में रहने वाला सौम्यप्राण पितर है। तद्युक्त सोमरस ही रेतोरूप में परिणत होता हुआ पुरुष-सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। अतएव उस के लिए 'पित्र्यवतः' कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता है। शुक्लपक्ष में चान्द्ररस इन्द्र द्वारा अभिभूत है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतएव इस पक्ष की चान्द्ररस-सम्पत्ति से पार्थिवप्रजा वञ्चित रहती है। यदि अनुशय-उच्छिष्ट-रूप से शुक्लपक्ष में चान्द्ररस का आगमन मान भी लिया जाय, तब भी पितृसहोभाग का आगमन तो इस पक्ष में असम्भव ही है। पञ्चदशकलोपेत-कृष्णपक्षाधिष्ठाता-पितृप्राणयुक्त चान्द्रसोम ही ऋतु के समन्वय से अन्न में प्रतिष्ठित हो कर रेतोरूप में परिणत होता हुआ पुरुष प्रसूति का कारण बनता है। क्योंकि शुक्लपक्ष में चान्द्रसोम देवप्राण-प्रधान रहता है। स्वगत पितृभाग का विकास कृष्णपक्षीय चान्द्रसोम ही माना गया है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए—'पञ्चदशात प्रसूतात् पित्र्यवतः' कहा गया है।

वह चान्द्ररेत रेत-सेक करने वाले पुरुष पिता में प्रतिष्ठित होता है। उस रेत की मातृ-शोणितगत योषिदग्नि में आहुति होकर प्रजारूप में परिणति होती है। चान्द्र सम्वत्सर त्रयोदश

मासात्मक है। इस एक चान्द्र सम्वत्सर में गर्भ पूर्णावयव बनता है। चान्द्रभाग की दृष्टि से यह पुरुष पितृप्राणमूर्त्ति है, ऋतुदृष्टि से ऋतुरूप है, शोणितदृष्टि से आर्त्तवरूप है। प्रकृत श्रौत वचन विस्पष्ट शब्दों में इसी चान्द्रसृष्टिप्राधान्य का समर्थन कर रहे हैं। 'चन्द्रमा के द्वारा पितृप्राण का शुक्र में समावेश हुआ, वही सहोरूप चान्द्र भाग ऋण धन-द्वारा प्रजातन्तुरूप में परिणत हुआ' इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए इस से बढ़ कर और क्या प्रमाण होगा। अब उन महिता प्रमाणों की मीमांसा अपेक्षित है, जो विस्पष्ट शब्दों में 'पितरः-ऋतवः-आत्मधेयाः, तन्या', रूप से यं.जी द्वारा प्रजातन्तु-वितान का समर्थन कर रहे हैं। 'सापिण्ड्य' साप्तपौरुषम्' की मौलिक उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

१—को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत ॥

२—पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेधि सप्ततन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ॥

३—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन पृच्छामि विद्मने न विद्वान ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

—ऋक्सं० १ । १६४ । ४, ५, ६, म० ।

४—माता पितरमृत आबभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥

—ऋक्सं० १ । १६४ । ८ ।

५—स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥

६—अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कंस्विदर्धं परागात् क्वस्वित्सूते न हि यूथे अन्तः ॥

७—अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्रवोचद्देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥

८—ये अर्वाञ्चस्तॉं उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तॉं उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥

—ऋक्सं० १ । १६४ । १६, १७, १८, १९, मं० ।

वेदसिद्ध सामान्य परिभाषानुसार 'विज्ञान' प्रतिपादक मन्त्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों पक्षों में अर्थ होते हैं, जैसाकि—ब्राह्मणग्रन्थोक्त 'इति नु-अधिदैवतम्'—इतिन्व-ध्यात्मम्'—'इति नु—अधिभूतम्' इत्यादि वचनों से भी प्रमाणित है। इसी सामान्य नियम के अनुसार उक्त मन्त्रों का भी आधिदैविक सौरमण्डल, आधिभौतिक पार्थिवविवर्त्त, आध्यात्मिक शारीर प्रपञ्च, तीनों के साथ समन्वय हो रहा है। सर्वश्री सायणाचार्य ने विशेषतः आधिदैविक अर्थ का ही समादर किया है, जोकि समादर यज्ञेतिकर्त्तव्यता की दृष्टि से किसी सीमापर्य्यन्त मान्य कहा जा सकता है। वैध यज्ञकर्म्म पार्थिव विवर्त्त के आधार पर वितत हैं, पार्थिव यज्ञ आधिदैविक सौरयज्ञ के आधार पर वितत हैं, जैसाकि—"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि, देवाननु विधा वै मनुष्याः, देवानामिद्वो महत्तदावृणीमहे, अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः" इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसी यज्ञमूलता को सिद्ध करने के लिए आचार्य ने प्रायः आधिदैविक अर्थ का ही आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए उक्त मन्त्र समष्टि में से द्वितीय 'पाक' पृच्छामि०' इत्यादि मन्त्र के भाष्य पर ही दृष्टि डालिए।

"विशुद्धहृदय-दम्भशून्य-मैं अपने मन से (इस गभीरतत्त्व को) न जानता हुआ (जिज्ञासा रूप से) प्रश्न करता हूँ कि, ये जो देवताओं के स्थान हैं, वे अत्यन्त निगूढ़ होने से सशंयास्पद हैं। एक हायनात्मक इस आदित्य में सप्तसंस्थ सोमतन्तुओं को जानकर यजमान पिरोते हैं। अथवा सप्त सस्थारूप तिर्य्यक् तन्तुसन्तान के लिए सात छन्दों का वितान करते हैं।" भाष्यकार का अभिप्राय यही है कि—"सूर्य्य में पारमेष्ठ्य सोम निरन्तर आहुत हो रहा है। इसी सोमाहुति से प्राकृतिक (आधिदैविक) सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोमयज्ञ का वितान हो रहा है, जिस के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान वैध ज्योतिष्टोम यज्ञ का वितान करने में समर्थ होते हैं। सात सस्थाओं में विभक्त ज्योतिष्टोम ही सौर देवताओं के निगूढ पद हैं। अथवा जिन गायत्र्यादि सात छन्दों के आधार पर सौरप्राणदेवता यज्ञवितान करने में समर्थ होते हैं, वे छन्द ही देवताओं के निगूढ़ पद हैं"। अब उस आध्यात्मिक अर्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका 'सापिण्ड्य-विज्ञान' से सम्बन्ध है।

१—को ददर्श०

'प्रजातन्तुवितान' के आलोडन-विलोडन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, प्रत्येक पुरुष की उत्पत्ति उसके पिता के २१ सहोभागों के ऋण से हुई है। पुरुषोपलक्षित औप-

पातिक आत्मा जब भी 'जायमान उपजायमानः' (वैश्वदेवतानिकब्राह्मणोपनिषत) के अनुसार धरा तल पर जन्म लेगा, अवश्यमेव उसे पिता के शुक्रगत २१ कलात्मक सहोभाग का ऋण लेना पड़ेगा। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यह जन्मभाव यदि सादि-सान्त-प्रवाह है, तो इस का मूलपुरुष कौन ?। अवश्य ही उस समय हमारी विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है, जब हम 'प्रथम जायमान को ददर्श' पर दृष्टि डालते हैं। पिता-पितामह-प्रपितामहादि सैकड़ों, असंख्य परम्पराओं को सामने रखते जाइए, सर्वत्र प्रथमजन्मग्रहण करने वाले का अभाव मिलेगा। और मिलेगी यही परिस्थिति कि, २१ बीजी से लेकर ही पुत्रादि का जन्म हुआ है। सब से पहिला बीजी कौन, जिसने किसी से विरूसह उधार न लेकर स्वयं अपने से ही सापिण्डय वितान का उपक्रम किया ?। सब से पहिला औपपातिक आत्मा कौन , जिसे ऋण लेने की आवश्यकता न हुई हो, अपितु अयोनिज भाव से जो अपने आप ही उत्पन्न हो गया हो, एवं जिसने वंशपरम्परा का विधान आरम्भ किया हो ?। सचमुच न तो आज तक इस पहेली का समाधान ही हुआ, एवं न कोई जिज्ञासु इस प्रश्न को लेकर आज तक किसी विद्वान से पूंछने ही गया— 'अविद्वान् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्' ।

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से सृष्टिमर्य्यादा में अन्तर्भूत तत्वों के कारण ही मीमांस्य माने गए हैं। इन्द्रियातीत-विश्वातीत-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य विषयों की मीमांसा अतिप्रश्न है। सर्गप्रथमा जगत्सृष्टि का उपक्रम कैसे, कहाँ से, क्या हुआ ? ये सभी प्रश्न मानवीय बुद्धि से परे की वस्तु है। 'योऽस्याध्यक्षः, परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" (तैत्तिरीयब्राह्मण) के अनुसार अतिप्रश्न सर्वथा अचिन्त्य हैं। 'को ददर्श०' इत्यादिमन्त्र ने इसी अचिन्त्यभाव का समर्थन किया है। निम्न लिखित वचन भी इसी स्थिति का समर्थक बन रहा है--

> अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
> प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

सापिण्ड्यभाव कार्य्यात्मक विश्वप्रपञ्च में अन्तर्भूत है। इसका मूलकारण मूलप्रकृति है, जिसका विचार सर्वथा अचिन्त्य है। 'प्रथमं जायमानं को ददर्श' का उत्तर है—'मूलकारणं न कोऽपि ददर्श'। इस अचिन्त्य मूल बीजी से (जिसे हम प्रथम जायमान कहेंगे) जिस सापिण्ड्यभाव का वितान उपक्रान्त हुआ, कार्य्यभूत उस सापिण्ड्य की मीमांसा अवश्य ही चिन्त्यभाव है, जिसमें भूमि असु, असक्, आत्मा, ये चार श्रेणि-विभाग माने गये हैं। पुरुष को 'आत्मा, शरीर', इन दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। आत्मा से शुक्रमय वह महानात्मा अभिप्रेत है, जो औपपातिक आत्मा की आश्रयभूमि बनता है। पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर इस आत्मा की भूमि (आयतन) है। इस भूमि (शरीर) का स्वरूप रक्षक असु (प्राण) है। प्राणाग्नि जब तक शरीर-भूतों में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक शरीर सुरक्षित रहता है। प्राणाग्नि की स्वरूपरक्षा असक्

(रुधिर) पर अवलम्बित है। हृदय के द्वारा जब तक रक्त का सञ्चार होता रहता है तभी तक प्राणाग्नि सुरक्षित रहता है। रुधिर के प्रभूतमात्रा में निकल जाने पर शरीरयष्टि निश्चेष्ट होती देखी गई है। रुधिर की स्वरूपरक्षा, किंवा रुधिर सञ्चरण प्रक्रिया की स्वरूपरक्षा आत्मा (चेतना) पर अवलम्बित है। इस प्रकार भूमि–असु–असृक्–आत्मा, इन चारों का पारस्परिक उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध बना हुआ है।

इन चारों में भूमि (शरीर), और असृक् (रुधिर), ये दो तो भूतप्रधान हैं, स्थूल हैं, अतएव अस्थिमत् हैं। असु (प्राण), आत्मा (महान्) दो प्राणप्रधान हैं, सूक्ष्म हैं, अतएव अन स्थिमत् हैं। आश्चर्य है कि, एक बिना हड्डी वाले ने हड्डी वाले का भार अपने ऊपर वहन कर रक्खा है। सूक्ष्मजगत् स्थूल की प्रतिष्ठा बन रहा है। प्राणात्मक महानात्मा ही रुधिरात्मक शरीर की प्रतिष्ठा बन रहा है। अशरीर महान् ही सापिण्ड्यभाव का प्रवर्त्तक बनता हुआ शरीरों में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित हो रहा है। *निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति भी शुक्रस्थित महानात्मा के इसी अशरीर-अन-* स्थाभाव का स्पष्टीकरण कर रही है—

> अशरीरं शरीरेषु, अनवस्थेष्ववस्थितम्।
> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

—१—

२—पाकः पृच्छामि०

जिन वस्तुतत्त्वों के मूलकारण विश्वगर्भ में गुप्त होने से चिन्त्य हैं, उनके सम्बन्ध में परीक्षा प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले जल्प का, तथा असूया से सम्बन्ध रखने वाली वितण्डा का भी समादर किया जा सकता है। परन्तु जिसका कारण अचिन्त्य है, उस से सम्बद्ध वस्तुतत्त्वों के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक वादप्रश्न ही श्रेयस्कर है। ऐसा जिज्ञासात्मक प्रश्न ही वेदभाषा में 'पाक प्रश्न' कहलाया है। पूर्वमन्त्र-व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि, 'प्रथम जायमान' का प्रश्न अचिन्त्य है। इसी से सिद्ध हो जाता है कि, विश्वमर्य्यादा में गुप्त कार्य्यात्मक सापिण्ड्यभाव के सम्बन्ध में अवश्य ही मीमांसा की जा सकती है, परन्तु 'पाकेन मनसा'। कुतर्कबुद्धि से होने वाले प्रश्न कभी ऐसे तत्त्वों के निर्णायक नहीं बन सकते। इसी प्रश्नमर्य्यादा को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने 'प्रजातन्तुवितान' का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है।

देवताओं के निगूढ (परोक्ष) पदों के सम्बन्ध में उत्तरगर्भित प्रश्न हुआ है, जो कि वेदशास्त्र की एक स्वाभाविक शैली है। आध्यात्मिक संस्था के अध्यक्ष, प्रजातन्तु वितानकर्त्ता महानात्मा ही देवताओं से निगूढ पद हैं। एक पद नहीं, अपितु ७ पद हैं। आग्नेय-सौम्य भेद से देवता दो भागों में

विभक्त हैं। दोनों की समष्टि 'अग्नीषोमीयदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। महानात्मा के आरम्भक शुक्र शोणित बतलाए गए हैं। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। इस दृष्टि से उभयमूर्त्ति बना हुआ महानात्मा क्योंकि शुक्र मे प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इस मे सोम का प्राधान्य है। अग्निगर्भित सोम ही महानात्मा की प्रधान प्रतिष्ठा है। यह सोम सौम्य चान्द्रप्राण से युक्त है, जिसे 'पितृ मह' कहा गया है, एव जिस की २८ कला बतलाई गई हैं। अष्टाविंशतिकल अग्निगर्भित सोम मूर्त्ति महानात्मा की २८ कलाओं का बीजी-पुत्र-पौत्रादिरूप से सात तन्तुओं मे वितान हुआ है। प्रकृत मन्त्र इसी सप्ततन्तु वितान का विश्लेषण कर रहा है।

'वष्कय' शब्द का अर्थ है 'तरुण'। सस्कृत साहित्य में जिस अर्थ मे तरुण, युवा, वय स्थ, आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उसी अर्थ में वैदिक भाषा मे 'वष्कय, वष्कयण, वष्कयणी' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रजातन्तु को वितत करने की शक्ति (प्रजननशक्ति) वष्कय से ही सम्बन्ध रखती है। इसी में उत्पादन योग्यता प्रतिष्ठित रहती है। ऐसे वष्कय (तरुण) वत्स (पुत्र) में अपने आप मे प्रतिष्ठित (पितृतन्तुओं को) पुन सन्तत करने के लिए कविलोग (बीजीपुरुष) वितत किया करते हैं, जिनके वितानों मे देवताओं के पद निहित रहते हैं।

पिता अपने पुत्र मे 'ओत वै-उ' प्रयोजन के लिए सात तन्तुओं का वितान करता है। पिता स्वय वितान नहीं करता, अपितु कविलोग वितान करते हैं। भार्गवतत्त्व ही कवि है। महा नात्मा मे प्रतिष्ठित सौम्यप्राण भार्गव होने से 'कवि है। यह भी एक नहीं, २८ हैं। इसीलिए 'कवय' प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं के द्वारा तो २१ १५ १० इत्यादि क्रम से सात पीढ़ी पर्य्यन्त वितान हुआ है। केवल पुत्र मे ही वितान नहीं होता, अपितु परम्परया पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि ७ पर्य्यन्त वितान होता है। इसीलिए 'उ' का प्रयोग हुआ है। इसप्रकार बीजी पुरुष अपने सहोभागों का पुत्रद्वारा सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त वितान करता है। बीजी के देवपद इस तननप्रक्रिया से सात स्थानों मे निगूढ़रूप से प्रति ष्ठित रहते हैं। इस दृष्टि से सिद्ध होजाता है कि, प्रकृतमन्त्र सप्ततन्तुवितानात्मक सापिण्ड्यभाव का ही समर्थक बन रहा है।

३—अचिकित्वान्०

मन्त्रार्थ स्पष्ट है। 'मैं स्वय इस विषय मे ऊहापोह करने मैं असमर्थ, ऊहापोह करने में समर्थ विद्वानों से इसलिए इस विषय मे कुछ जानना चाहता हूँ कि, मैं स्वय इस विषय से अन भिज्ञ हूँ। जानने का विषय यही है कि—जिस एकने ६ रजों को अपने मे बद्ध कर रक्खा है, उस का क्या स्वरूप है? (महानात्मा का क्या स्वरूप है?)। तन्तुवितानकर्म्म मे एक मूलप्रतिष्ठा होती है, जिसके आधार पर बद्ध तन्तु आगे वितत होते हैं। बीजी पुरुष का महानात्मा ही वैसा मूलस्तम्भ है जिसे आधार बना कर पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्रपौत्र-अतिवृद्धप्रपौत्र वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र, ये ६ रज आगे

आगे वितत होते हैं। सप्तपुरुषों में बीजी स्थिर धन होने से अस्थिर रजोमर्य्यादा से वहिर्भूत मान लिया गया है। एवं स्थिर बीजी के आधार से प्रक्रान्त ६ पुरुष प्रक्रान्तिसम्बन्ध से 'रजांसि' मान-लिए गए हैं।

४—मातापितर०

बीजी के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा ६ रजो भागों के वैतानिक रूपों की मूलप्रतिष्ठा बनता है, यह पूर्वमन्त्र में कहा गया है। अब महानात्मा के आविर्भाव का इतिवृत्त बतलाया जाता है। माता (पत्नी) पिता (पति) के ऋतभाग को उस के शरीर से च्युत कर उसे अपने गर्भाशय में प्रतिष्ठित कर गर्भस्वरूप का आविर्भाव करने में समर्थ होती है। 'प्रजोत्पादनमहं करिष्ये' इस प्राथमिक संकल्प से पुरुष (पिता) दाम्पत्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है। स्त्री (माता) इस कर्म्म की अर्द्धाङ्गिनी बनती है। मिथुनभाव-प्रवृत्ति का प्रारम्भिक संकल्प ही प्रथम दाम्पत्यभाव है, मानस संयोग है। इसी के लिए—'धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे' कहा गया है। इस प्राथमिक मानसिक संगम के अनन्तर दोनों का भौतिक (शारीरिक) सङ्गम होता है। मातृगत शोणित अग्निप्रधान होने से पितृगत सौम्य शुक्र का स्वभावतः आकर्षक है। इस मातृगत शोणिताग्नि के आकर्षण से पिता के शरीर में विद्युत्-संचार होता है। फलतः शुक्र में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। क्षुब्ध शुक्र इस प्रकार माता के आकर्षण से पिता के शरीर से च्युत हो जाता है। अपूतत्त्व ही ऋत है, जिस के 'आपः-वायुः-सोमः' भेद से तीन विवर्त्त माने गए हैं। शुक्र में आपोभाग प्रत्यक्ष है, एवयामरुत् नामक रेतोधा वायु अनुमेय है, रस सौम्यप्राणावच्छिन्न सोमभाग प्रत्यक्ष है। इसी ऋतसम्पत्ति के कारण शुक्र को 'ऋत' कहा गया है।

दाम्पत्यभाव - कामुका वह स्त्री पुरुष-शरीर के साथ ऐक्य-भाव में आती हुई शुक्रग्रहण-काल में कम्पित हो जाती है। यही इसका गर्भरमकाल (शुक्रग्रहणकाल) है। इस समय शुक्र शोणित का परस्पर ओत-प्रोत भाव होता है, यही इस का 'नितरां' विद्धकाल है। पुंभ्रूणाधिक्य से पुरुष-सन्तान, स्त्रीभ्रूणाधिक्य से कन्या सन्तान, उभयसाम्य से नपुंसक सन्तान, यथापरिस्थिति तीनों में से एक सन्तान गर्भीभूत हो जाती है। गर्भीभूत इन सन्तानों का पोषण मातृभुक्त अन्नद्वारा होता है, अतएव गर्भस्थ गर्भी की 'नमस्वान्' (अन्नवान्) संज्ञा हो जाती है। ये नमस्वन्त (गर्भस्थ तीनों में से एक सन्तति) वाग्व्यवहार के योग्य हो जाते हैं। अर्थात् गर्भधारणानन्तर लोक में इन गर्भों के लिए—'आशा है, लड़का लड़की होने वाला है' इत्यादि लोकोक्तियाँ प्रचलित हो जाती हैं। अथवा स्थूल-शुक्र-शोणित के मिथुनभाव में आना ही इस औपपातिक आत्मा का धामच्छद् वाक्-तत्त्व से युक्त हो जाना है। निष्कर्ष यही हुआ कि, माता के शोणिताग्नि के आकर्षण से पिता के ऋतभाग (शुक्र) में विच्युति भाव का समावेश हो जाता है। यही शुक्राहुति मातृगर्भाशय में प्रविष्ट

जो अपत्यरूप में परिणत होती है। यही अपत्य महानात्मा की प्रतिष्ठा बनता है, जिसमें कि सपिण्डता प्रवर्त्तक ८४ कल पितृसह पिण्ड सुरक्षित हैं।

—४—

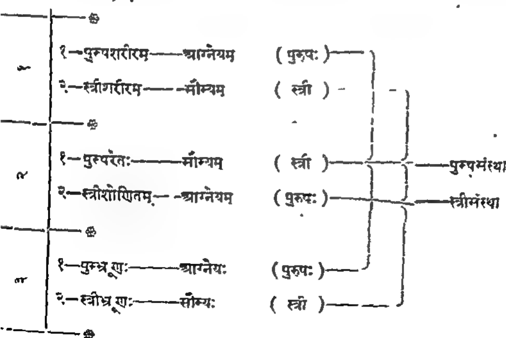
५—स्त्रियः सतीस्ताँ उ०

अग्नितत्त्व वृषा है, यही पुरुष है,। सोमतत्त्व योषा है, यही स्त्री है। पुरुष का शरीर भूताग्निप्रधान होने से वृषा है, अतएव शरीरदृष्ट्या पुरुष पुरुष है। स्त्री का शरीर भूतसोमप्रधान होने से योषा है, अतएव शरीरदृष्ट्या स्त्री स्त्री है। पुरुष का शरीर आग्नेय है, अतएव यह पुरुष है। स्त्री का शरीर सौम्य है, अतएव वह स्त्री है। एवं इस भूताग्नि, भूतसोम से सम्बद्ध शरीरों की दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, स्त्री को स्त्री कहना यथार्थ है। परन्तु प्रतिष्ठाग्नि, तथा प्रतिष्ठासोम की दृष्टि से जब विचार किया जाता है, तो मानना पड़ता है कि, पुरुष वास्तव में स्त्री है, एवं स्त्री वास्तव में पुरुष है। पुरुष के आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा शुक्र माना गया है। शुक्रसत्ता ही पुरुष सत्ता का कारण है। शुक्र सौम्य है। सोम उक्त परिभाषानुसार योषास्थानीय बनता हुआ स्त्रीतत्त्व है। क्योंकि सौम्य स्त्रीतत्त्व शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा है, अतएव इस शुक्रप्रतिष्ठादृष्टि से आग्नेयशरीरावच्छिन्न पुरुष को पुरुष न कह कर स्त्री ही कहा जायगा। उधर स्त्री के सौम्य शरीर की प्रतिष्ठा शोणित माना गया है। शोणित आग्नेय है। अग्नि उक्त परिभाषानुसार वृषास्थानीय बनता हुआ पुरुषतत्त्व है। क्योंकि आग्नेय पुरुषतत्त्व शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा है, अतएव इस शोणितप्रतिष्ठादृष्टि से सौम्यशरीरावच्छिन्न स्त्री को स्त्री न कह कर पुरुष ही कहा जायगा। विशेषत–महानात्मजनक दाम्पत्यभाव की दृष्टि से तो यही व्यवहार समीचीन माना जायगा। क्योंकि पुरुषशरीर-स्त्रीशरीर के मिथुनभाव से गर्भस्थिति नहीं होती। अपितु पूर्वमन्त्रस्थानुसार आग्नेय पुरुष के सौम्यशुक्र, तथा सौम्या स्त्री के आग्नेय शोणित के समन्वय से ही गर्भस्थिति होती है। इस प्रजनन कर्म की दृष्टि से पुरुष शुक्रावच्छेदेन स्त्री है, जिसे शरीरदृष्ट्या हम पुरुष कहा करते हैं। स्त्री शोणितावच्छेदेन पुरुष है, जिसे शरीरदृष्ट्या हम स्त्री कहा करते हैं। इसी मध्यम दृष्टि को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने कहा है—"स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः"।

जिस प्रकार, आग्नेय पुरुषशरीर, तथा सौम्य स्त्रीशरीररूप पुरुष-स्त्री का प्रथम युग्म गर्भस्थिति का कारण नहीं है, एवमेव पुरुष का सौम्यशुक्ररूप स्त्रीतत्त्व, स्त्री का आग्नेय शोणितरूप पुरुषतत्त्व, स्त्री पुरुष का (जिसे लोकव्यवहार में शरीरदृष्ट्या पुरुष स्त्री का) युग्म कहा जाता है, वस्तुगत्या इस द्वितीय युग्म से भी गर्भस्थिति नहीं होती। अपितु एक तीसरे ही 'योषा-वृषा' के युग्म से प्रजननकर्म सम्पन्न होता है, जिसे श्रुति ने 'कविपुत्र' कहा है। शुक्र सौम्य है, इस दृष्टि से पुरुष स्त्री है, यह मान लिया। परन्तु सौम्य शुक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला 'पुभ्रूण' आग्नेय

वृषाप्राणप्रधान है, यही शुक्र की प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार शरीरप्रतिष्ठा-दृष्टि से पुरुष स्त्री कहलाया है, वहाँ शुक्र की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे 'पुरुष' कहना ही न्यायसङ्गत बन सकता है। शोणित आग्नेय है, एवं इस दृष्टि से स्त्री पुरुष है, यह भी मान लिया। परन्तु आग्नेय शोणित के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला 'स्त्रीभ्रूण' सौम्ययोषाप्राणप्रधान है, यही शोणित की प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री पुरुष कहलाई है, वहाँ शोणित की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे स्त्री कहना ही अन्वर्थ बनता है। सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठारूपेण प्रतिष्ठित आग्नेय वृषाप्राणात्मक पुंभ्रूण, तथा आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठारूपेण प्रतिष्ठित सौम्य योषाप्राणात्मक स्त्रीभ्रूण, जब तक इन दोनों भ्रूणों का दाम्पत्यभाव नहीं हो जाता, तबतक शुक्र-शोणित का मिथुनभाव व्यर्थ है। अतएव हम कह सकते हैं कि, वस्तुगत्या यह तीसरा मिथुनभाव ही गर्भस्थिति का कारण है, जिस के लिए— 'वृषा योषामनुधावति' कहा गया है।

उक्त तीन युग्मों से अग्नि-सोम संस्था के तीन विभाग हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष के शरीरों का युग्म प्रथम युग्म है, स्त्री-पुरुष के शोणित-शुक्र का युग्म द्वितीय युग्म है, एवं स्त्रीपुरुष के स्त्रीभ्रूण-पुंभ्रूणों का युग्म तृतीय युग्म है। प्रथम युग्म की दृष्टि से पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। द्वितीय युग्म की दृष्टि से पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है। एवं तृतीय युग्म की दृष्टि से पुनः पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। पुरुषसंस्था मध्यदृष्टि से जहाँ स्त्रीप्रधाना है, वहाँ उपक्रमोपसंहारदृष्ट्या पुरुषप्रधाना ही है। स्त्रीसंस्था मध्यदृष्टि से जहाँ पुरुषप्रधाना है, वहाँ उपक्रमोपसंहारदृष्ट्या स्त्रीप्रधाना ही है।



"उक्त रहस्य को न जानने वाले लौकिक पुरुष सर्वथा अन्धे हैं। रहस्य को जानने वाले ही आँख वाले हैं। किंवा आँखों वाले ही इस रहस्य को जान सकते हैं, अन्धे नहीं जान सकते" इस कथन से ऋषि को क्या आदेश देना है ?, विचार कीजिए। विषयभोगपरायण कामकामी मनुष्य दाम्पत्यभाव का एक ही अर्थ समझते हैं—कामशान्ति, इन्हीं को 'कामान्ध' कहा गया है। कामान्ध व्यक्ति को यह विचारने की अपेक्षा नहीं है कि, मैं शुक्र का निरर्थक व्यय कर रहा हूँ, अथवा इसे सार्थक बना रहा हूँ। यह शुक्र पितृधनात्मक ऋण है। फलतः 'प्रजातन्तुसन्तान' का ऐसे वैषयिक लौकिकपुरुष की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परन्तु जो विचारशील हैं, विज्ञानचक्षुष्क हैं, वे इस रहस्य को जान कर इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि, शुक्र-शोणित का मिथुनभाव केवल विषयैषणा ही नहीं है, अपितु इसमें ऋणमोचन की वह गुप्तप्रक्रिया सुरक्षित है, जिसके अनुगमन करने के बिना कभी अन्धनमुक्ति नहीं हो सकती। इसी लक्ष्य से वे विवाहसूत्र में बद्ध होते हैं, ऋतुकाल में यथानियम दाम्पत्यभाव का अनुगमन कर ऋण से उर्ऋण होते हैं।

रेतःसृष्टि-विज्ञान के अनुसार पुरुष (बीजी) के शुक्र में प्रतिष्ठित पुम्भ्रूण ही २१ मात्रा से पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक्र सौम्य है, सोम भार्गव तत्त्व है। भृगु ही कवि है। इस दृष्टि से इसे अवश्य ही कवि-पुत्र कहा जा सकता है। जो कवि (सोमात्मक रेत) है, वही शोणिताग्नि में जाकर पुत्ररूप में परिणत होता है। जो विद्वान् इस रहस्य को जान कर मातृपितृसक्त दृष्टि से गर्भस्थिति का प्रवर्त्तक बनता है, वह अपने पिता का भी पिता बन जाता है। पिता के २१ अंश लेकर आज यह पुत्र बन रहा है। परन्तु यही प्रजातन्तु वितान द्वारा पिता से प्राप्त आत्मधेयरूप ७ कलाओं के प्रत्यर्पण से पिता के पिण्ड का पूरक बनता हुआ, चान्द्रलोकस्थ पिता के अपूर्ण स्वरूप को पूर्णरूप देता हुआ सचमुच 'पितुष्पितासन' को चरितार्थ कर रहा है।

—५—

६—अतः परेण पर एना०

मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने कहा है कि, 'अत्राग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरूपेण स्तूयते'। सायणाचार्य का अभिप्राय यही है कि, वैधयज्ञ में आहवनीय अग्नि में जिस पल्ली सोम की आहुति दी जाती है, वह सौम्य (रश्मिरूप) में परिणत हो जाती है। यही मन्त्र का आधिभौतिक समन्वय है। आधिदैविक समन्वय की दृष्टि से सूर्य्य आहवनीय है, पारमेष्ठ्य सोम आहुति द्रव्य है। 'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' इत्यादि ऋग्वर्णन के अनुसार सौरसावित्राग्नि में हुत यह पारमेष्ठ्य सोम ही रश्मिरूप सप्त गौ-रूप में परिणत होता हुआ प्रकाशरूप में परिणत हो रहा है। हमें प्रकृत में आध्यात्मिक दृष्टि से ही मन्त्र का समन्वय करना है।

मातृगर्भाशयस्थित शोणिताग्नि अग्नि है, पितृशुक्रस्थ सोम सोम है। इस सौम्य शुक्र की

उस शोणिताग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से आहुत सोम शोणिताग्नि के समन्वय से गौरूप में परिणत होता है। इस आध्यात्मिक रश्मिभार से यह सोम पर अवर, दो भावों में वितत हो जाता है। गर्भस्थित गर्भी यत है। पुत्ररूप बीजी में पिता-पितामहादि ६ पीढ़ियों का ऊपर की ओर से सम्बन्ध रहता है, एवं स्वयं इसके सोमसहों का इसकी पुत्र-पौत्रादि ६ पीढ़ियों पर्य्यन्त वितान होता है। प्रत्येक पुत्र इस रश्मिभावात्मक सापिण्ड्यभाव से ६ परभावों से, ६ अवरभावों से युक्त रहता है। रह रश्मिरूपा सोमगर्भा पुत्र के निधन पर अंशतः कहाँ चली जाती है ?, कहाँ अपना अंश समर्पण कर देती है ?, यह परोक्ष विषय है, इन्द्रियातीत विषय है, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए 'कध्रीची' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सापिण्ड्य से सम्बन्ध रखने वाले इस तन्तुयूथ के विस्तार का जब हम विचार करने लगते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। कहाँ से इस सन्तान परम्परा का उपक्रम हुआ ?, कहाँ इसका अवसान होगा ?, कौन वह मूलपुरुष है, जहाँ से सापिण्ड्यभाव आरम्भ हुआ ?, कौन वह अन्तिम वृद्धातिवृद्धमर्यादा है, जहाँ सापिण्ड्यभाव का आत्यन्तिक विश्राम हो जायगा ?, सृष्टिगर्भ में इन प्रश्नों की इयत्ता निर्धारित करना असम्भव ही है, जैसा कि—'को ददर्श प्रथमं जायमानम्' इत्यादि मन्त्रार्थ प्रकरण में कहा जा चुका है। सापिण्ड्यभावानुगत इसी तन्तु-आनन्त्य का श्रुति ने—'कस्विद् सूते नहि यूथे अन्तः' इन शब्दों में अभिनय किया है।

—६—

७—अवः परेण पितरम्०

पितृपरम्परा से सम्बद्ध परभाव, पुत्रपरम्परा से सम्बद्ध अव-भाव, दोनों के इसी आनन्त्य का दूसरे शब्दों में अभिनय करते हुए दीर्घतमा कहते हैं कि, पुत्र-पौत्रादि में स्थित पितर को (पितृमहः कलाओं को) पिता-पितामहादि से युक्त, तथा पिता-पितामहादि को पुत्र-पौत्रादि से युक्त, इस प्रकार अवस्थानीय पुत्रादि का परस्थानीय पितादि से, तथा परस्थानीय पितादि का अवस्थानीय (अवरस्थानीय) पुत्रादि से जो स्वाभाविक तन्तु-वितान सम्बन्ध है, उसे जिस विद्वान् ने जान लिया है, ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं। आज तक कितने विद्वान् ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इस परोक्ष अवर-पर, पर-अवर सम्बन्ध को देखा, और हमें बतलाया ?, साथ ही किस मूल से इस सम्बन्ध सूत्र का आरम्भ हुआ ?, कहाँ अवसान होगा ?, ये सभी विषय सर्वसाधारण के लिए दुरधिगम्य हैं।

—७—

८—ये अर्वाञ्चस्तां उ०

पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि अवर प्रजावर्ग कहने को तो अवर हैं। परन्तु सापिण्ड्य दृष्टि से जब इन के शुक्र में प्रतिष्ठित पितृसहों का विचार किया जाता है, तो मानना पड़ता है कि, ये अर्वाञ्चः पुत्रादि पराञ्चः हैं। पिता-पितामहादि पराञ्चः हैं, उनके सहोभागों का ऋणरूप से आदान

(महण) कर के ही तो इन पुत्रादि अर्वाञ्चों की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। इस ऋण के सम्बन्ध से अर्वाञ्च पुत्रादि को अवश्य ही पराञ्च कहा जा सकता है। एवमेव चन्द्रलोकगत पिता पितामहादि पर प्रजावर्ग कहने को तो पराञ्च है। परन्तु पृथिवी-लोकस्थ पुत्रादि में समर्पित अपने सहोभागों की दृष्टि से ये अर्वाञ्च हैं। पुत्रादि में इन पराञ्च का ही तो ऋणभाग प्रतिष्ठित है। इसी से तो ये श्राद्धपक्ष में अर्वाञ्च बनते हैं। इस प्रकार अर्वाञ्च पुत्रादि ऋण आदान से पराञ्च बन रहे हैं, एवं पराञ्च पितादि ऋणप्रदान से अर्वाञ्च बन रहे हैं। पुत्रादि पितरभागों से युक्त रहते हुए पितादि बन रहे हैं, एवं पितादि पुत्रों में अन्य कला समर्पित करते हुए पुत्रादि बन रहे हैं।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। सर्वसाधारण में यह प्रसिद्ध है कि, पिता पितामह आदि पराच हैं। परन्तु वस्तुतस्था ये पिता पितामहादि अपने सहोभागों को पुत्रादि में प्रदान करने से पुत्रादि रूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हुए अर्वाञ्च ही माने जायँगे। इस प्रकार पुत्रादि में भुक्ति होने से वस्तुतः अर्वाञ्च बने हुए पिता-पितामहादि को लोक में 'पराच' कहा जा रहा है। एवमेव पुत्र पुत्रादि लोकव्यवहार में 'अर्वाञ्च' कहला रहे हैं। परन्तु वस्तुगत्या ये पुत्र-पौत्रादि अपने पिता पितामहादिरूप पराचों के ऋणभाग से स्वस्वरूप का निर्म्माण करने में समर्थ बनते हुए 'पराच' हैं। इस प्रकार पिता-पितामहादि के पराच भागों की भुक्ति से वस्तुतः पराच बने हुए पुत्र-पौत्रादि को लोक में अर्वाञ्च कहा जा रहा है।

बात यथार्थ में यह है कि, जिस प्रकार रथचक्र घूमता हुआ अर्वाञ्च-पराच भावों से बदलता रहता है, कभी ऊपर का चक्र नीचे आ जाता है, नीचे का चक्र ऊपर चला जाता है, इसी प्रकार चन्द्रगति की अपेक्षा से अर्वाञ्च धुर भाग कभी पराच बनते हैं, पराच कभी अर्वाञ्च बन जाते हैं। एवमेव इन्द्रलक्षण आत्मनाभि में प्रतिष्ठित सोमात्मक सहोभागों से निष्पन्न यह सन्तानचक्र अर्वाञ्च से पराच रूप में, पराच से अर्वाञ्च रूप में परिणत होता रहता है।

—८—

महर्षि बृहदुक्थ का प्रजातन्तुवितानविज्ञान—

महर्षि दीर्घतमा के उक्त मन्त्रवर्णनों से हमें मान लेना पड़ता है कि, वास्तव में शुक्रस्थ महानात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित चतुरशीतिकलोपेत पितृसह पिण्ड के आत्मधेय-तन्य भेद से दो विवर्त्त होते हैं। आत्मधेय पिण्ड की २८ कला स्वप्रतिष्ठा में उपयुक्त हैं, एवं तन्य पिण्ड की ५६ कला तन्तुवितान में उपयुक्त हैं। वैदिकयुग में इस 'पिण्डपितृविज्ञान' के जानकार स्वल्प-संख्या में ही रहे होंगे, यह अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि, ऋषियों का प्रधान लक्ष्य यज्ञकाण्ड ही रहा है। यज्ञिय तत्त्वों का समन्वय ही प्रधानतः ऋषियों का दृष्टिकोण रहा है। यही कारण है कि, ब्राह्मणग्रन्थों में बड़े ही संक्षेप से परिगणित स्थानों में ही 'पिण्ड

पितृयज्ञ' रूप से इस पितृविद्या का विश्लेषण हुआ है। और ऐसा होने का एक प्रधान कारण भी था। सूर्य्यमूला त्रयीविद्या के आधार पर वितत यज्ञविद्या से सम्बन्ध रखने-वाला वैधयज्ञकर्म्म अपूर्व आविष्कारों का जनक है। इसके द्वारा विशेष फलसिद्धियाँ सम्भव हैं। उधर परमेष्ठीमूलक, अथर्वसूत्र पर प्रतिष्ठित श्राद्धकर्म्म केवल पितरप्राणतृप्ति का कारण है। इस के द्वारा यज्ञवत् लौकिक-पारलौकिक कोई अतिशयविशेष प्राप्त नहीं किया जासकता। नित्यकाम्यलक्षण श्राद्धकर्म्म के करने से विशेष अतिशय तो नहीं होता, परन्तु न करने से हानि अवश्य है। यही नहीं, न करने से आत्ममुक्ति भी असम्भव है। इसी आधार पर— 'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' यह कहा गया है।

देवकार्य्यात्मक यज्ञकर्म्म का जहाँ समष्टि से सम्बन्ध है, वहाँ पितृकार्य्यात्मक श्राद्धकर्म्म का व्यष्टि से सम्बन्ध है। अन्य कर्म्मठों के द्वारा सम्पादित यज्ञकर्म्म देवतत्त्व का संग्राहक बन सकता है। यदि कोई भी 'वारीरी इष्टि' करेगा, तो वृष्टि हो जायगी, सब प्रजावर्ग इस फल का भोक्ता बन जायगा परन्तु श्राद्धकर्म्म ऐसा नहीं है। जब तक प्रेतात्मा के पुत्रादि वंशज श्रद्धासूत्र द्वारा स्वप्रेतपितरों के लिए पिण्डदानादि लक्षण श्राद्धकर्म्म नहीं करते, तब तक उन की तृप्ति, बन्धनविमोक, इन का वंश वितान, असम्भव है। इसी प्रातिस्विक वैयक्तिक भाव के कारण देवकार्य्य की अपेक्षा पितृकार्य्य का विशेष महत्त्व है। क्योंकि यह प्रातिस्विक कर्म्म है—इसलिए, साथ ही निःश्रेयसातिशयप्रवर्त्तक देवयज्ञ की भाँति तत्त्वाविष्कारों की दृष्टि से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण पितृविज्ञानविषयक परामर्श कतिपय विद्वानों पर्य्यन्त ही सीमित रहा होगा, इस अनुमान का समर्थन किया जा सकता है।

महर्षि 'बृहदुक्थ वामदेव' इस पितृविद्या के उस युग के महापण्डित माने जाते थे। इन की परिषत् में समय समय पर इस विषय को लेकर प्रश्नोत्तर हुआ करते थे। महर्षि दीर्घतमा ने— 'पाकः पृच्छामि०' रूप से जो प्रश्न उठाए हैं, उन का सम्यक् समाधान हमें बृहदुक्थ के मन्त्रों से उपलब्ध हो रहा है। इसी आधार पर बृहदुक्थ को इस विद्या का पारगामी विद्वान कहा जा सकता है। दीर्घतमा ने 'पाकः पृच्छामि०' रूप से एतद्विषय में जो प्रश्न किए हैं, पहिले उन का मीमांसा कीजिए, अनन्तर बृहदुक्थ-समाज ने उन प्रश्नों का जो वैज्ञानिक समाधान किया, उन पर दृष्टि डालिए, पितृविद्या से सम्बन्ध रखने वाले सन्देह एकान्ततः निवृत्त हो जाँयगे।

हमारे पाञ्चभौतिक शरीर में 'पितर' कह कर व्यवहृत करने योग्य कोई तत्त्वविशेष प्रतिष्ठित है। शरीरत्यागानन्तर वह पितर परलोक में जाता है, तद्वंशधरों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड परलोकगत पितर की तृप्ति का कारण बनता है" इन सब विषयों पर तब हमारा श्रद्धान सम्भव है, जब कि पहिले हमें यह विश्वास हो जाय कि, शरीर में अमुक स्थान पर तो पितर रहता है अमुक प्रकार से प्रा

तन्तुवितान करता हुआ यह परलोक में चला जाता है, एवं अनुकसूत्र के द्वारा उसका स्ववंशधरों से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बनाते हुए दीर्घतमा के निम्न लिखित प्रश्न बृहदुक्थ समाज में उपस्थित होते हैं—

"हम अपने शरीर में सर्वत्र देवतत्त्व का ही साम्राज्य देखते हैं। देवतत्त्व से अतिरिक्त, 'पितृतत्त्व' कहने योग्य तत्त्वान्तर शरीर में सर्वथा अनुपलब्ध है। यही प्रथम प्रश्न भूमिका है, जिसका विश्लेषण यों किया जा सकता है। 'वस्तिगुहा, उदरगुहा, उरोगुहा, शिरोगुहा' भेद से आपाद-मस्तकावच्छिन्न पाञ्चभौतिक शरीर में चार गुहा मानीं गई हैं। इन चारों में प्रत्येक में अग्नीषोमीय देवता प्रतिष्ठित है। प्रत्येक गुहा में प्रतिष्ठित यह देवतत्त्व सात-सात संख्या में विभक्त है। अतएव सप्तप्राणसमष्टिरूप इस देवसप्तक को 'साकञ्ज' कहा गया है। "अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम," ये पाँच प्राणदेवता सुप्रसिद्ध हैं। पांचों में आरम्भ के तीन आग्नेय देवता हैं, अन्त के दो सौम्य देवता हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, 'भास्वर' सोमात्मक मनोदेवात्मक देवता सर्वाङ्गशरीर को आशय, हृदय को प्रतिष्ठा, अन्न को प्रभव, बनाता हुआ शरीर में प्रतिष्ठित है। यह उस देवसप्तक से पृथक् है। देवसप्तक का केवल अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोम, इन चार देवताओं के साथ ही सम्बन्ध है। चारों में आरम्भ के अग्निदेवता का एक विवर्त्त है, शेष तीनों के दो दो विवर्त हैं। फलतः ४ के ७ प्राणदेवता हो जाते हैं। इन्हीं साकञ्ज (सहोत्पन्न) सात देवप्राणों के स्थान बतलाती हुई श्रुति कहती है—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
(ऋक्सं० १।१६४।१५।)

'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्' (ऐ० उ० २।४।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति के अनुसार अर्वाग्बिल-ऊर्ध्वचमस शिरोगुहा में प्रतिष्ठित वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र, नामक इन्द्रिय देवता क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, देवताओं के ही प्रवर्ग्यांश हैं। वागाधार मुख एक है, अतएव वाङ्मय अग्निदेवता एक ही स्वरूप में परिणत रहता है। शेष तीनों के नासिका, चक्षु, कर्ण, तीनों दो दो विवरों में विभक्त हैं, अतएव तत्र प्रतिष्ठित प्राणमय वायु, चक्षुर्म्मय आदित्य, श्रोत्रमय दिक्सोम, तीनों देवता दो दो विवर्त्तभावों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार दो श्रोत्रप्राण, दो चक्षुः प्राण, दो नासाप्राण, ये तीन तो यमज (जोड़ले) हैं, सातवाँ मुखप्राण एकज है, एकाकी है। यही प्रथमसप्तक इस रूप से शिरोगुहा में प्रतिष्ठित है। सप्तधाविभक्त अग्नीषोमीय देवताओं का ही शिरोगुहा में साम्राज्य है।

यही स्थिति 'उरोगुहा' की है। दिक्सोमानुगत २ भुजा, आदित्यानुगत २ स्तन, वाय्वनुगत २ फुफ्फुस, अग्न्यनुगत १–हृदय, इस प्रकार उरोगुहा में भी अग्नीषोमीय देवसप्तक का ही साम्राज्य है। उदरगुहा में यकृत् (जिगर)-प्लीहा (तिल्ली), ये दोनों दिक्सोमानुगत हैं २–क्लोम आदित्यानुगत हैं, २–वृक्क वाय्वनुगत हैं, १–नाभि अग्न्यनुगता है। फलतः उदरगुहा में भी इस रूप से देवसप्तक का ही अनन्य प्रभुत्व सुरक्षित है। सर्वान्त की वस्तिगुहा में २–श्रोणी दिक्सोमानुगत हैं, २–मूत्र-रेतसी (नालिका द्वयी) आदित्यानुगत हैं, २–आण्ड वाय्वनुगत हैं, १–मूत्रद्वार अग्न्यनुगत है। इस प्रकार वस्तिगुहा में भी सप्तकातिरिक्त अन्य प्राणविशेष का अभाव है। चार गुहाओं की समष्टि का ही नाम शरीर है। चारों गुहा स्थान देवप्राण से नित्य आक्रान्त हैं*। इन अग्नीषोमीय देवताओं के पद (स्थान) सर्वथा निहित (निश्चित, सुव्यवस्थित) हैं। कोई प्रदेश ऐसा नहीं, जहाँ देवप्राण व्याप्त न हो। ऐसी स्थिति में दीर्घतमा का प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है कि, "जब कि सम्पूर्ण शरीर देवपदों से आक्रान्त है, तो फिर ऐसा रिक्त-स्थान बचा ही कौनसा, जिसमें सप्ततन्तु वितान करने वाला पितर प्राण प्रतिष्ठित रहा ?। इस प्रकार 'देवानामेना निहिता पदानि' से यही प्रश्न बृहदुक्थ-वामदेव के सम्मुख उपस्थित हुआ।

इस एक ही प्रश्न के साथ दो प्रश्न स्वयं ही और उपस्थित हो रहे हैं। "अग्निः सर्वा देवताः, वायुः सर्वा देवताः, इन्द्रः सर्वा देवताः" इन निगमवचनों के अनुसार प्राणाग्निदेवता सोमगर्भित अग्निप्रधान हैं, अग्निमय हैं। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद अग्नि के गर्भ में भुक्त अन्नसोम अन्नादाग्निरूप में परिणत होता हुआ अपना सोमभाव छोड़ देता है, जैसाकि— 'अन्नं वा-स्यायते नाद्यम्' (शत० ब्राह्मण) इत्यादि ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, अग्नि की ही घन-तरल-विरलावस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन प्रधान अन्नाद देवताओं की सीमा में प्रविष्ट दिक्सोमदेवता अग्निप्रधान बनता हुआ तद्-रूप ही बन रहा है। फलतः सर्वाङ्गशरीर में समानजातीय आग्नेय देवताओं का ही आयतन मुख्य सिद्ध हो रहा है। उधर पितर प्राण 'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः' (यजुःसं०) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार सौम्य बनते हुए इन शारीर आग्नेय प्राणदेवताओं की तुलना में 'विजातीय' हैं। एक विजातीय तृण भी जहाँ दन्तच्छिद्रों में स्थान नहीं पा सकता, जब तक वह निकल नहीं जाता, तबतक इन्द्रिय देवता शान्त नहीं होते, तो ऐसी अवस्था में सर्वथा विजातीय एक नहीं, ८४ सौम्य पितरप्राणों का शरीर में आगमन भी हो गया, वे प्रतिष्ठित भी हो गए, यह कैसे सम्भव है ?, 'विजातीयत्वेन पितरप्राण का आगमन ही कैसे हुआ' ? ' यही दूसरा प्रश्न है।

* सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोताः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ (मुण्डकोप० २ । १ । ८)

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, विजातीय होने पर भी सौम्य पितरप्राणों का शरीर में आगमन हो गया। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि, देवताओंने अपना स्थान संकुचित करते हुए पितरप्राण को स्थान भी दे दिया। यह सब कुछ स्वीकार कर लेने पर भी वह तन्तुवितानधर्म्म सर्वथा परोक्ष ही (अविज्ञात ही) बच रहता है, जिस के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि, शरीर पितर अगली ७ पीढ़ियों पर्य्यन्त अपने सहोभाग का वितान करते हैं। इस प्रकार दीर्घतमा के द्वारा निम्न लिखित तीन प्रश्नों का उद्गम हो जाता है—

१–विजातीय होने से पितरप्राण का शरीर में आगमन कैसे हुआ ?

२–शरीर में आकर भी (स्थान के अभाव से) वे प्रतिष्ठित कहाँ हुए ?

३–प्रतिष्ठित होकर भी उन्होंने तन्तुवितान कैसे किया ?

दीर्घतमा ऋषिद्वारा 'पाकः पृच्छामि मनसा-अविजानन्' रूप से उपस्थित होने वाले पितर विषयक इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए महर्षि बृहदुक्थ कहते हैं

" १–महिम्न एषा पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥

२–सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः ।
तनूषु विश्वा भुवनानि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ॥

३–द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्म्मणा ।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥

४–नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु ॥

(ऋक्सं० १०। ५६। २, ४, ६, ७, ८")

जिस ऋक्संहिता के मन्त्र यहाँ उद्धृत हुए हैं, वह ऋक्संहितामन्थ भी दुर्लभ नहीं है। साथ ही सनातनधर्म्मावलम्बियों के प्राणभूत सर्वश्री सायणाचार्य्य ने इस संहिता पर जो विस्तृत भाष्य लिखा है, वह भी दुष्प्राप्य नहीं है। भारतीय विद्वानोंने अथ से इति पर्य्यन्त सायण भाष्य का पारायण न किया होगा, यह भी असम्भव है। परन्तु । 'परन्तु' इसलिए कि, सायणभाष्य हमारी उस पितृनिष्ठा की रक्षा न कर सका, जिस पर आज अविज्ञजनों के कुतर्कपूर्ण आक्षेप हो रहे हैं। अवश्य ही विज्ञान-परम्परा के उच्छेद से विज्ञानप्रधान मन्त्रों का भाष्य हमारी

तुष्टि का कारण नहीं बन सकता। एवं न ऐसे भाष्यसहस्रों को आगे रखते हुए हम अपने मौलिक सिद्धान्तों को पर्यालोचना से बचा ही सकते। जिस तत्त्वदृष्टि से जिन विस्पष्ट शब्दों में मन्त्रोंने पितृविज्ञान का विश्लेषण किया है, उस के विद्यमान रहते किस का यह सामर्थ्य है कि, जो सापिण्ड्य भाव से सम्बन्ध रखने वाले 'श्राद्धकर्म' पर आक्षेप कर सके, अथवा तो इसे अवैदिक कहने की धृष्टता कर सके। अस्तु सायणनिष्ठानुगत (भावुकतानुगत) महानुभावों की निष्ठा (उपनाम भावुकता) को सुरक्षित रखने के लिए प्रथम भाष्यदृष्टि से ही मन्त्रार्थ का समन्वय होगा, एवं अनन्तर विज्ञानप्रधान आर्षदृष्टि से मन्त्रार्थ का विश्लेषण होगा। दोनों में से कौन उपादेय होगा, इस प्रश्न का निर्णय स्वयं आर्षप्रज्ञा की सहजनिष्ठा पर निर्भर होगा।

१–महिम्न एषाम्० (भाष्यकाराः)—

"हमारे अङ्गिरादि पितर इन देवताओं की महिमा से समर्थ हो रहे हैं। देवता सम्बन्ध से देवस्वभाव को प्राप्त होते हुए इन हमारे पितरोंने इन्द्रादि देवताओं में सङ्कल्प प्रतिष्ठित किए। अपि च ये पितर उन तेजोभावों में परिणत हो गए, जो इन के तेज प्रदीप्त हो रहे हैं। इन देवताओं के शरीर में ये पितर पुनः प्रविष्ट हो गए"।

२–महोभिर्विश्वम्०

"मेरे पितर अपने बलों से सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त हैं। (सर्वलोकपरिभ्रमण के साथ साथ) मेरे इन पितरोंने दूसरों से अजित (अनाक्रान्त) पूर्व स्थानों को चारों ओर से घेरते हुए, साथ ही (उन स्थानों के) सम्पूर्ण भूतों को घेरते हुए (भूतों में व्याप्त होते हुए), उन लोक-भूत मात्राओं को अपने शरीरों में प्रतिष्ठित करते हुए अपनी प्रजा को लक्ष्य बना कर ज्योतियों तथा पानियों को फैला दिया। दूसरे शब्दों में- मेरे अङ्गिरा नामक पूर्व पितरोंने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण लोक को अपने अधिकार में कर, अति रात्रन ग्रह-नक्षत्रादि को अपनी सीमा से परिच्छिन्न बना कर, सम्पूर्ण भूतों का नियमन कर प्रजा के प्रति जलों, तथा तेजों को फैला दिया।"

३–द्विधा सूनवः०

"स्वर्ग को जानने वाले, स्वर्गस्थान को प्राप्त होने वाले बलवान आदित्य को आदित्य के पुत्र अङ्गिराओंने प्रजोत्पादन रूप तीसरे कर्म्म से उदय-अस्तरूप दो अवस्थाओं में परिणत कर दिया। अपि च अङ्गिरा नामक पितर अपनी प्रजा को उत्पन्न कर स्वभाग के साथ अपने पिता आदित्य के बल को निकृष्ट प्रजारूप मनुष्यों में स्थापित करते हैं। जिस प्रकार पित्र्य धन की सर्वत्मना रक्षा करते हुए यह धन पुत्रों में (दायाद रूप से) बाँट दिया जाता है, उसी प्रकार अङ्गिरा-पितरोंने सर्वथा सुरक्षित पित्र्य धन रूप आदित्य पिता के बल को मनुष्य प्रजा में बाँट दिया है। अपि च-

'अयं ह्यातते तन्तुर्यत्प्रजा'—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' 'प्रजा वै तन्तुः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार तन्तु नाम से प्रसिद्ध मनुष्यप्रजा का उन्हीं पितरों ने आदित्य के बल से वितान किया है"।

४—नावा न क्षोदः०

"जिस प्रकार एक नौका से समुद्र का सन्तरण किया जाता है, एवमेव जैसे स्वस्तिभावों (मङ्गलों) से विघ्न-बाधारूप दुर्गमों (अमङ्गलों) को पार किया जाता है, इसी प्रकार बृहदुक्थ नामक तत्त्वविशेषने अपनी प्रजा को, 'वाजी' नाम से प्रसिद्ध अपने मृत पुत्र को स्वशक्ति से अग्न्यादि अवर प्रजावर्ग में, तथा स्वर्गादि पर देवताओं में स्थापित कर दिया है"।

भाष्यकार के इन मन्त्रार्थों का हमें इस लिए स्वागत करना चाहिए कि, उनके अनुग्रह से आज हमें 'वेदभाष्य' के दर्शनों का तो सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। रही बात वेदाक्षरों के आप्यायन की। इस सम्बन्ध में—'वृद्धास्तेन विचारणीयचरिताः' का अनुगमन ही श्रेयपन्था है। अब उस वैज्ञानिक अर्थ की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके यथार्थ स्वरूप परिचय से प्रश्नत्रयी का यथावत् समाधान गतार्थ बन रहा है।

१—महिम्न एषां पितरः०

'विजातीय पितर आग्नेयदेवता-प्रधान शरीर में प्रविष्ट कैसे हुए'?, प्रकृत मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। अग्नि-वायु-आदित्य-भेदभिन्न आध्यात्मिक आग्नेय-प्राणदेवता सौम्य पितरों के विरोधी नहीं, अपितु ये तो अग्नि के अन्यतम सखा माने गए हैं। अग्नि-सोम, दोनों सयुक् (एक साथ रहने वाले) सखा हैं। देखिए, इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कह रही है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि 'सख्ये' न्योकाः॥

(ऋक्संहिता)

प्रत्येक वस्तुतत्त्व 'आत्मा, पदं, पुनःपदम्' भेद से तीन संस्थाओं में परिणत होकर ही स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। हृदयावच्छिन्न भाग 'आत्मा' है, जिसे 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार 'प्रजापति' भी कहा गया है। हृदयाधारेण प्रतिष्ठित स्पृश्य-वस्तुपिण्ड आत्मप्रपतिस्थान बनता हुआ 'पदम्' है। हृदयस्थ आत्मोक्थ से अर्करूप से वितित होता, वस्तुपिण्ड से भी बाहिर बहुदूर तक सामरूप से अपनी व्याप्ति रखने वाला प्राणमण्डल 'पुनःपदम्' है। यही 'पुनःपदम्' 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिए सूर्यकेन्द्रावच्छिन्न आदित्यपुरुष आत्मा है, स्वयं सूर्यगोलक 'पदम्' है, एवं सौर प्रकाशमण्डल 'पुनःपदम्' है। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तुपिण्ड का हृत् आत्मा पुनःपदरूप अपने महिममण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है। जिस प्रकार

देवघन सौरजगत् के महिममण्डल में पृथिव्यादि सब प्रतिष्ठित हैं, एवमेव आध्यात्मिक प्राणाग्नित्रयी के महिमा-मण्डल में सौम्य पितरप्राण प्रतिष्ठित हो रहे हैं। देवप्राण की महिमा में पितर अवश्य ही प्रतिष्ठित रह सकते हैं। इसी अभिप्राय से–'महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे' (पितरः-अपि एषा-आध्यात्मिकप्राणदेवानां महिम्न -सकाशात्-ईशिरे)।

रही बात विजातीयता की। इसके सम्बन्ध में उत्तर दिया जा चुका है। सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। अन्न अन्नाद का विरोधी नहीं है, अपितु अन्नाद की प्रतिष्ठा है। विरोध की बात तो विदूर, दोनों मिल कर 'अत्तैवाख्यायते' न्याय से एकरूप बन जाते हैं। पितर-देवता बन जाते हैं, देवता पितर बन जाते हैं। विकासधर्म्मावच्छिन्न अग्नितत्त्व विकास की चरमावस्था में (प्रधि-परिधि स्थान में) पहुँच कर सकोचधर्म्मावच्छिन्न सोमतत्त्व रूप में परिणत हो जाता है, एवं सकोचधर्म्मा सोम सकोच की चरमावस्था में (केन्द्र में) पहुँच कर विकासधर्म्मा अग्निरूप में परिणत हो जाता है। केन्द्र-परिधि के समतुलन से दोनों अभिन्न हैं। केन्द्र में प्रतिष्ठित अग्नि, तथा परिधि से बाहिर प्रतिष्ठित सोम, दोनों का मध्यक्षेत्र में यजन सम्बन्ध हो रहा है। इस पारस्परिक सम्बन्ध से अग्नि सोम में प्रोत है, सोम अग्नि में ओत है, यही दोनों का ओतप्रोतभाव सम्बन्ध है। इसी याज्ञिक सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर– 'देवा देवेष्वदधुरपिक्रतुं-समविव्यचुः' गया है।

याज्ञिक सम्बन्ध का तात्पर्य्य यही है कि, प्राकृतिक-आधिदैविक यज्ञ में अग्न्यादिप्राण देवताओं में भौतिक सोमाहुति होने से 'सुत्या' नामक सोमयज्ञ सम्पन्न होता है। परन्तु हमारे इस आध्यात्मिक सुत्यायज्ञ में देवता (प्राणेन्द्रियवर्ग) देवरूप सोममय पितृप्राण की ही स्त्री के शोणिताग्नि में आहुति दे रहे हैं। मनुष्य (द्विजाति) प्राकृतिक सुत्यायज्ञ से समतुलित अपने वैधयज्ञ में जहाँ भौतिक सोम की आहुति देते हैं, प्राणदेवता अपने प्राकृतिकसुत्यायज्ञ में जहाँ भौतिक सोम की आहुति दे रहे हैं, वहाँ आध्यात्मिक यज्ञ में–'देवाः इन्द्रियदेवाः–देवेषु–पितृप्राणात्मकेषु देवेषु–क्रतुं–सुत्यायज्ञं अदधुः-सम्पादयाञ्चक्रुः' के अनुसार प्राणदेवता अन्य सौम्य प्राणदेवों में यज्ञस्वरूप प्रतिष्ठित कर रहे हैं। मन्त्रगत 'यानि' पद साकाङ्क्ष है। एवं पितृप्राण से यह पद 'पित्र्यसहांसि' का ही समाहक बन रहा है।

पित्र्यसह परस्पर संश्लिष्ट हो कर (शोणिताग्नि में हुत होकर) ही व्यक्तरूप (गर्भरूप) में परिणत होते हैं। जबतक शुक्र में ८० चान्द्र पित्र्यसहः पिण्डरूप में परिणत नहीं हो जाते, तबतक (१६ वर्ष पर्य्यन्त) न तो स्वयं वीजी में प्रजननशक्ति ही व्यक्त होती, एवं न पुत्रादि की ही अभिव्यक्ति होती। इसी अभिप्राय से 'यानि-समविव्यचुः' (पितृसहांसि प्रथम सह सगम्य, मूलपुरुषस्याभिव्यञ्ज कानि भवन्ति, अनन्तर च शोणिताग्नौ सगम्य पुत्रादिरूपेण व्यक्तिभावमगच्छन्) कहा गया है।

शुक्रगत पित्र्यसह. परस्पर सश्लिष्ट होकर ही पुत्रादि व्यक्तियों में (पुत्रादि की स्वरूप निष्पत्ति के लिए) शोणिताग्नि में आहुत होते हैं। एक ही व्यक्ति (पुत्र) में आ कर इस पित्र्यसह की गति

उपरत नहीं हो जाता, अपितु जब तक इस पितृपिण्ड का अपत्य भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक (सातवीं सन्तान पर्य्यन्त) वह पिण्ड अशात्मना प्रदीप्त रहता है। इसी अभिप्राय से 'उत यानि आच्चिपुः' कहा गया है। सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त ऋणदान-सम्बन्ध से प्रदीप्त ये पितर अपत्यों में मुक्त इन्हीं अपने तन्यभागों को लेने के लिए सपिण्डीकरण-काल में पुन इन अपत्यों में प्रविष्ट होते हैं। माता पितरों के सहोभाग एकत्र समवेत हो कर पुत्र-पौत्रादि तन्तुरूप से अभिव्यक्त होते हैं। तत्तत् तन्तु (सन्तान) की मृत्यु के अनन्तर तत्तत् तन्तु में ऋणरूप से प्रतिष्ठित तत्तत् सख्याक सहोभाग आधापकर्त्ता पितरों में समान रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। यही 'प्रत्यर्पण' है। जिस सख्याक्रम से अर्पण होता है, उसी सख्याक्रम से (सम सख्या से) वे अश उन में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से—'नि विविशुः पुनः' कहा गया है। 'आ एषां तनूषु पुनर्विविशुः' का निष्कर्षार्थ है।

शारीर आग्नेय देवता भी प्राणात्मक हैं, सौम्य पितर भी प्राणमूर्त्ति हैं। प्राणतत्त्व सर्वथा अधामच्छद है। स्थानावरोध करना भूत का धर्म्म है प्राण का नहीं। ऐसी स्थिति में प्राणात्मक पितरों के लिए अवकाश की मीमासा करना ही व्यर्थ है। फिर ये दोनों तत्त्व तो अभिन्न सत्ता हैं। अग्निमहिमा इन की आश्रय भूमि है, यहाँ आकर वे मिल जाते हैं। मिल कर तन्तुवितान करते हैं। फलत प्रथम प्रश्न सर्वथा समाहित बन जाता है।

२—सहोभिर्निरस्म्०

भाष्यकार ने 'सहोभिः' का अर्थ 'बलैः' किया है। कहना न होगा कि यह अर्थ विज्ञान-मर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। पुत्र-पौत्रादि में अभिषुत होकर प्रजारूप से वितत होने वाला, साहस का प्रवर्तक, पुरुष शुक्र में प्रतिष्ठित, नक्षत्रावच्छिन्न चान्द्रमसात्मक, नक्षत्रसख्या-भेद से २८ कल सौम्य पितृप्राणमय तत्त्व विशेष ही 'सह' है, जिस का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। सह १ नहीं, २८ हैं, अतएव 'सहोभि' कहा गया है। 'नि यत्तस्तम्भ षड्डिमा रजासि' इत्यादि पीर्व तमोक्त मन्त्रव्याख्यान में बतलाया जा चुका है कि, ६ रजो से प्रकृत में बीजी पुरुष के पुत्रादि ६ सन्तानें अभिप्रेत हैं। 'रज' शब्द सामान्यत 'लोक' का वाचक माना गया है। 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार 'जन' भी लोक है। एव 'प्रजास्यात् सन्ततौ जने' के अनुसार प्रजा 'जन' है। फलत 'रजासि' का अर्थ 'अपत्यानि' करने में कोई बाधा नहीं आती। श्रुतिपठित 'पूर्व' शब्द पुत्रादि में आहुत होने वाले पिण्डभाग की आहुति से पूर्वकाल का द्योतक है। 'धाम' शब्द 'पितृसह पिण्ड' का सूचक है। 'अमितानि' का अर्थ है—व्यवच्छेदरहित, अविच्छिन्न रूप से सन्तत। 'तनूषु' का अर्थ है—'७-६-५-४-३-२-१' इस क्रम से विभक्त रहने वाले 'पितृसह' नामक पिण्डाश। 'भुवन' का अर्थ है—'२१-१५-१०-६-३-१-' इस क्रम से तनु रूप में परिणत होने वाला प्रत्यश। 'पुरुधा'

का अर्थ है—बहुश। इन परिभाषाओं के समन्वय के अनन्तर ही प्रकृत मन्त्रार्थ का यथावत् समन्वय सम्भव है।

महोभिः—शुक्रस्थिताः २८ कलोपेताः पितृभागाः।
रजः———पुत्रपौत्रादयः।
पूर्वा———आहुतेः पूर्वकालम्
धामानि—पितृपिण्डः
तनूषु——पितरः
भुवना——सूनवः
पुरुधा——बहुशः

'पत्नीशरीरस्थ योषाप्राणप्रधान शोणिताग्नि में आहुति होने से पहिले पहिले '७-६-५-४-३-२-१' इन आत्मधेयरूप व्यवच्छेदों से रहित, अतएव अमित (एकरसात्मक) पुरुषशरीरस्थ वृषाप्राणप्रधान-महदात्मावच्छिन्न शुक्रस्थ अष्टाविंशतिकलात्मक पितरपिण्ड आहुत होता है। इस आहुति-सम्बन्ध से आगे आगे अपने तन्त्र भागों से पुत्रादि की उत्पत्ति का कारण बनता हुआ, स्वपिण्ड को ७-६-आदि पूर्वोक्त क्रमानुसार विभक्त करता हुआ, अतएव अपनी सहोमात्रा को उत्तरोत्तर परिमित बनाता हुआ स्वसह सन्तनन से सात पीढ़ी पर्य्यन्त अपत्योंमें व्याप्त हो जाता है। अपने सहोभागों को 'पितर-सूनव' दो भागों में विभक्त करता हुआ इन सहोभागों को अपत्य क्रमानुसार नियत कर देता है।"

२१ सूनु भाग के साथ ७ पितृभाग को, १५ सूनु भाग के साथ ६ पितृभाग को, इस प्रकार पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले योनि-शरीरों में अपनी मात्राएँ देता हुआ इन मात्राओं को तत्तद्योनिशरीरों के आधीन करता जाता है। पुत्रपौत्रादिगत पितृसहों का मूल स्वयं मूल पुरुष (बीजी) में बद्ध रहता है। यहाँ बद्ध होकर वे सह कलाएँ वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर्य्यन्त व्याप्त रहती हैं। इस प्रकार सूनुरूप-पुत्र-पौत्रादि सम्पूर्ण भुवनों में यह बीजी पितर अपने अपत्य भागों को (आत्मधेय कलाओं को) व्याप्त कर देता है। पितर का यह प्रसार कर्म्म समानधारा से प्रवाहित नहीं होता। अपितु बीजी में ७, पुत्र में ६, पौत्र में ५, इस प्रकार न्यूनाधिक्यरूप से ही इसका प्रसार होता है, जैसा कि आगे के मन्त्र में स्पष्ट हो जायगा।

द्वितीय मन्त्र व्याख्यान में बतलाया गया है कि, बीजी पिता के पितृसहोभाग शोणिताग्नि में आहुत हो कर दो स्वरूप धारण कर लेते हैं। द्विधा विभक्त उन्हीं 'सूनव' का प्रकृत मन्त्र में विश्लेषण हुआ है। बीजी पिता के २८ पितृसहों का पुत्र-पौत्रादि क्रम से २१-१५-१०-६-३-१ इस प्रकार विभाग हुआ है। इन ६ पितृसहों को ऋणरूप से लेकर पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्र०-अतिवृ०-वृद्धातिवृ० उत्पन्न हुए हैं। उत्पन्न होने वाले पुत्रपौत्रादि ये ६ सूनु पुत्रोत्पादनरूप इस तीसरे कर्म्म से

सौम्यसहोरूप बलप्रद पित्र्यभाग को आत्मनीन किंवा आत्मधेय, तथा तन्य, इन दो भागों में विभक्त करते हैं। स्वय पुत्रादि के महानात्मा में स्व प्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित रह जाने वाले सहोभाग 'असवनीय-अत्याज्य' हैं, एवं पुत्रादि के पुत्रादि में शुक्र द्वारा आहुत हो जाने वाले सहोभाग 'सवनीय-त्याज्य' हैं।

तात्पर्य्य यह हुआ कि, मूलपुरुष में जो अपनी कमाई से २८ महासि आए, वे सूनव कहलाए। इनमें ७ तो इसी में प्रतिष्ठित रह गए, २१ पुत्र में चले गए। स्वप्रतिष्ठ सप्तक अत्याज्य आत्मधेय कहलाया, पुत्रगत त्याज्य २१ भाग तन्य कहलाया। इस प्रकार २८ विध सूनव '७-२१' क्रम से आत्मधेय-तन्य भेद से दो भागों में विभक्त हो गए। बीजी पुरुष में स्वय अपनी कमाई के जहाँ २८ थे, वहाँ इस के पिता-पितामह-प्रपिता० वृद्ध० -अतिवृ०-वृद्धाति० इन ६ के ऋणरूप २१-१५-१०-६-३-१-इतनी कला और प्रतिष्ठित रहती हैं, जिन के सकलन से ५६ सहोभाग हो जाते हैं। इनमें से वृद्धातिवृद्धप्र० की १ कला तो आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रहती है। वितानमानाभाव से इस के सम्बन्ध में—'द्विधा सूनव' नियम समन्वित नहीं होता। शेष ५ के स्वा तव्यवत् (७वत्) आत्मधेय-तन्य, भेद से दो दो भेद हो जाते हैं। ५६ में से बीजी की सातवीं पीढी पर्य्यन्त ३५ ऋणकलाओं का भोग हो जाता है, २१ कला आत्मधेय रूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती है। २१ आत्मधेय ऋणात्मक, ७ आत्मधेय धनात्मक, इस प्रकार बीजी में २८ आत्मधेयकला बच रहती हैं। स्वधन की २१ कला, ऋण भाग की ३५ कला, दोनों की समष्टिरूप ५६ कला तन्य रूप में परिणत रहती है।

इस प्रकार मूलपुरुषस्थ पितर अपने आत्मधनरूप २८ सनुओं को, पिता-पितामहादि से ऋणरूप से आगत ५६ सूनुओं को, दो भागों में विभक्त आत्मधेय २८ कलाओं को तो अपने आप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं, एवं एकविंशतिकल आत्मधनरूप तन्यभाग को ३५ कल आत्मऋणरूप तन्य भाग को, सम्भूय ५६ कल तन्य भाग को अपनी अवर प्रजारूप सातवीं पीढी पर्य्यन्त वितत कर देते हैं। अपने तन्यात्मक ५६ सनुभागों को अवर पुत्रादि प्रजा में वितत करना ही तृतीय कर्म्म है, जैसा कि अगले मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है।

४—नाना न चोदः०

मूलपुरुषस्थ पितर प्राणात्मक पित्र्यसह पिण्ड उक्त कर्मानुसार (तृतीयकर्म्म से) अवर प्रजा रूप पुत्र-पौत्रादि में प्रतिष्ठित हुआ। क्या यह क्रम वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर जाके समाप्त हो जाता है?, ऋषि उत्तर देते हैं—नहीं। आगति के साथ गति का नित्य सम्बन्ध है, सम्भूति के साथ विनाश का अविनाभाव सम्बन्ध है, सर्ग के साथ साथ लयधारा प्रक्रान्त है। स्थिति बिना गति को आश्रय बनाए प्रतिष्ठित ही नहीं रह सकती। प्रकृतमन्त्र इसी गतिभावमूलक प्रत्यर्पण का रहस्य बतला रहा है।

शरीरोत्क्रान्ति के अनन्तर पुत्र-पौत्रादि के सहोरूप पितृभाग महानात्मा के साथ अन्तर्याम सम्बन्ध रखते हुए चन्द्रलोक में चले जाते हैं. जैसा कि—"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इस ओर भूपिण्ड है, उस ओर अन्तरिक्ष में अपने उद्वृत्त पर चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहा है। दोनों के अन्तराल में 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड से चन्द्रलोक में जाने वाले प्रेतपितर-लक्षण प्रेतात्मा को इस अर्णवसमुद्र का सन्तरण करना पडता है। इन्हीं स्थिति का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है।

समुद्र के अवार पार (इस ओर के किनारे से उस ओर के किनारे तक, तथा उस पार से इस पार तक) आने-जाने वाली नौका से जैसे मनुष्य समुद्र सन्तरण में समर्थ होते हैं, ठीक इसी प्रकार अपने जीवन सूत्रों से (जो कि जीवन सूत्र 'श्रद्धसूत्र' नाम से प्रसिद्ध है, जीवन प्रतिष्ठा के कारण बनते हुए जो सूत्र 'स्वस्ति' नाम से व्यवहृत हुए हैं) अवार रूप भूपिण्ड से पाररूप चन्द्रमा के मध्य में आने वाले श्याम-शबलादि क्रूर प्राणयुक्त अतिशय दुर्गमस्थानों में होकर चन्द्रलोक में इस प्रेतात्मा को इस की प्रतिष्ठारूप 'बृहदुक्थ' नाम से प्रसिद्ध महानात्मा स्वशक्ति से (चान्द्राकर्षण से) एकविंशत्यादि युक्त पुत्र-पौत्रादि प्रजा को चान्द्रमण्डलस्थ पिता-पितामहादि पर पितरा में प्रतिष्ठित करता जाता है।

अथवा महानात्मा ही स्वयं गन्ता है। कारण पितृसहः इसी में प्रतिष्ठित रहते हैं। विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा, महानात्मा, आदि सभी शारीर-खण्डात्मा अपने अपने भावों के उक्थ हैं। परन्तु पूर्वप्रतिपादित 'महदात्मोपनिषत्' के अनुसार चित् का योनिस्थानीय महानात्मा इतर सब खण्डात्मविवर्त्तों का भी उक्थ है। यही क्यों, सर्वथा अखण्ड चिदात्मा (अव्यय) तक को इस के गर्भ में आ जाना पडता है। ऐसी स्थिति में इससे बडा उक्थ और कौन हो सकता है। तभी तो इस आत्मविवर्त्त को 'महानात्मा कहना न्यायसङ्गत बनता है। महानात्मा की इसी बृहदुक्थता को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इसे 'बृहदुक्थ' नाम से विभूषित किया है। यही चन्द्रलोक में गमन करता है, इसी के द्वारा पितृसहों का प्रत्यर्पण होता है। पुत्र का महान् पिता के ६ का, पौत्र का महान् पितामह के ५ का, प्रपौत्र का महान् प्रपितामह के ४ का, वृद्धप्रपौत्र का महान् वृद्धप्रपितामह के ३ का, अतिवृद्धप्रपौत्र का महान् अतिवृद्धप्रपितामह के २ का, एवं वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र का महान् वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के १ का प्रत्यर्पण करता है। इस अर्पण से अन्तिम महान् (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का महान्) सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। तभी तो 'पिण्डदः सप्तमस्त्वेषाम्' कहा गया है। पितर प्राणात्मक सौम्य सहोभाग सात भागों में विभक्त होकर कुछ काल पर्य्यन्त (यावदायुर्भोगपर्य्यन्त) तो पृथिवी पर रहते हैं। अनन्तर चन्द्रलोक में जाकर उन ऋण भागों का प्रत्यर्पण कर देते हैं, यही निष्कर्ष है। पितृसहः की पृथिवी, तथा चन्द्रमा को छोडकर अन्यत्र स्थिति नहीं है।"

उक्त मन्त्रार्थों से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, यह पितृकर्म्म

सौम्यसहोरूप बलप्रद पिण्यभाग को श्रात्मनीन किंवा श्रात्मधेय, तथा तन्य, इन दो भागों में विभक्त करते हैं। स्वय पुत्रादि के महानात्मा में स्व प्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित रह जाने वाले सहोभाग 'असतनीय-ग्रत्याज्य' हैं, एव पुत्रादि के पुत्रादि मे शुक्र द्वारा आहुत हो जाने वाले सहोभाग 'सतनीय-त्याज्य' हैं।

तात्पर्य्य यह हुआ कि, मूलपुरुष में जो अपनी कमाई से २८ महासि आए, वे सूनर कहलाए। इनमें ७ तो इसी मे प्रतिष्ठित रह गए, २१ पुत्र मे चले गए। स्वप्रतिष्ठ सप्तक अत्याज्य आत्मधेय कहलाया, पुत्रगत त्याज्य २१ भाग तन्य कहलाया। इस प्रकार २८ विध सूनर '७-२१' क्रम से आत्मधेय-तन्य भेद से दो भागों मे विभक्त हो गए। बीजी पुरुष में स्वय अपनी कमाई के जहाँ २८ थे, वहाँ इस के पिता-पितामह-प्रपिता० वृद्धप्र -अतिवृ०-वृद्धाति० इन ६ के ऋणरूप २१-१५-१०-६-३-१-इतनी कला और प्रतिष्ठित रहतीं हैं, जिन के सङ्कलन से ५६ सहोभाग हो जाते हैं। इनमें से वृद्धातिवृद्धप्र० की १ कला तो आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रहती है। वितानमात्राभाव से इस के सम्बन्ध में—'द्विधा सूनव' नियम समन्वित नहीं होता। शेष ५ के स्वा त्मधनवत् (२८वत्) आत्मधेय-तन्य, भेद से दो दो भेद हो जाते हैं। ५६ में से बीजी की सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त ३५ ऋणकलाओं का भोग हो जाता है, २१ कला आत्मधेय रूप से बीजी मे प्रतिष्ठित रह जाती है। २१ आत्मधेय ऋणात्मक, ७ आत्मधेय धनात्मक, इस प्रकार बीजी मे २८ आत्मधेयकला बच रहती है। स्वधन की २१ कला, ऋण भाग की ३५ कला, दोनों की समष्टिरूप ५६ कला तन्य रूप मे परिणत रहती है।

इस प्रकार मूलपुरुषस्थ पितर अपने आत्मधनरूप २८ सूनुओं को, पिता-पितामहादि से ऋणरूप से आगत ५६ सूनुओं को, दो भागों मे विभक्त आत्मधेय २८ कलाओं को तो अपने आप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं, एक एकविंशतिकल आत्मधनरूप तन्यभाग को ३५ कल आत्मऋणरूप तन्य भाग को, सम्भूय ५६ कल तन्य भाग को अपनी अवर प्रजारूप सातवीं पीढ़ी पर्य्यन्त वितत कर देते हैं। अपने तन्यात्मक ५६ सूनुभागों को अवर पुत्रादि प्रजा मे वितत करना ही तृतीय कर्म्म है, जैसा कि अगले मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है।

४-माता न चोद:०

मूलपुरुषस्थ पितर प्राणात्मक पिण्यसह पिण्ड उक्त क्रमानुसार (तृतीयकर्म्म से) अवर प्रजा रूप पुत्र-पौत्रादि में प्रतिष्ठित हुआ। क्या यह क्रम वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर जाके समाप्त हो जाता है ?, ऋषि उत्तर देते हैं—नहीं। आगति के साथ गति का नित्य सम्बन्ध है, सम्भूति के साथ विनाश का अविनाभाव सम्बन्ध है, सर्ग के साथ साथ लयधारा प्रक्रान्त है। स्थिति बिना गति को आश्रय बनाए प्रतिष्ठित ही नहीं रह सकती। प्रकृतमन्त्र इसी गतिभावमूलक प्रत्यर्पण का रहस्य बतला रहा है।

शरीरोत्क्रान्ति के अनन्तर पुत्र-पौत्रादि के सहोरूप पितृभाग महानात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध रखते हुए चन्द्रलोक में चले जाते हैं, जैसा कि—"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रम-समेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इस ओर भूपिण्ड है, उस ओर अन्तरिक्ष में अपने दक्षवृत्त पर चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहा है। दोनों के अन्तराल में 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड से चन्द्रलोक में जाने वाले प्रेतपितर-लक्षण प्रेतात्मा को इस अर्णवसमुद्र का सन्तरण करना पड़ता है। इसी स्थिति का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है।

समुद्र के अवार पार (इस ओर के किनारे से उस ओर के किनारे तक, तथा उस पार से इस पार तक) आने-जाने वाली नौका से जैसे मनुष्य समुद्र सन्तरण में समर्थ होते हैं, ठीक इसी प्रकार अपने जीवन सूत्रों से (जो कि जीवन सूत्र 'भद्र सूत्र' नाम से प्रसिद्ध हैं, जीवन प्रतिष्ठा के कारण बनते हुए जो सूत्र 'स्वस्ति' नाम से व्यवहृत हुए हैं) अवार रूप भूपिण्ड से पाररूप चन्द्रमा के मध्य में आने वाले श्याव-शबलादि क्रूर प्राणयुक्त अतिशय दुर्गमस्थानों में होकर चन्द्रलोक में इस प्रेतात्मा को इस की प्रतिष्ठारूप 'बृहदुक्थ' नाम से प्रसिद्ध महानात्मा स्वशक्ति से (चान्द्राकर्षण से) एकविंशत्यादि युक्त पुत्र-पौत्रादि प्रजा को चान्द्रमण्डलस्थ पिता-पितामहादि पर पितरों में प्रतिष्ठित करता जाता है।

अथवा महानात्मा ही स्वयं गन्ता है। कारण पितृसहः इसी में प्रतिष्ठित रहते हैं। विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा, महानात्मा, आदि सभी शारीर-खण्डात्मा अपने अपने भावों के उक्थ हैं। परन्तु पूर्वप्रतिपादित 'महदात्मोपनिषत्' के अनुसार चित् का योनिस्थानीय महानात्मा इतर सब खण्डात्म-विवर्त्तों का भी उक्थ है। यही क्यों, सर्वथा अखण्ड चिदात्मा (अव्यय) तक को इस के गर्भ में आ जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इससे बड़ा उक्थ और कौन हो सकता है। तभी तो इस आत्म-विवर्त्त को 'महानात्मा' कहना न्यायसङ्गत बनता है। महानात्मा की इसी बृहदुक्थता को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इसे 'बृहदुक्थ' नाम से विभूषित किया है। यही चन्द्रलोक में गमन करता है, इसी के द्वारा पितृसहों का प्रत्यर्पण होता है। पुत्र का महान् पिता के ६ का, पौत्र का महान् पितामह के ५ का, प्रपौत्र का महान् प्रपितामह के ४ का, वृद्धप्रपौत्र का महान वृद्धप्रपितामह के ३ का, अति-वृद्धप्रपौत्र का महान् अतिवृद्धप्रपितामह के २ का, एवं वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र का महान् वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के १ का प्रत्यर्पण करता है। इस अर्पण से अन्तिम महान् (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का महान्) सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। तभी तो 'पिण्डदः सप्तमस्त्वेषाम्' कहा गया है। पितर प्राणात्मक सौम्य सहोभाग सात भागों में विभक्त होकर कुछ काल पर्य्यन्त (यावदायुर्भोगपर्य्यन्त) तो पृथिवी पर रहते हैं। अनन्तर चन्द्रलोक में जाकर उन ऋण भागों का प्रत्यपण कर देते हैं, यही निष्कर्ष है। पितृसहः की पृथिवी, तथा चन्द्रमा को छोड़कर अन्यत्र स्थिति नहीं है।"

उक्त मन्त्रार्थों से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, यह पितृकर्म्म

चतुर्द्धा विभक्त हैं। वीजी पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित २८ स्वात्मधन में से २१ धन, एवं वीजी पिता के ही शुक्र में प्रतिष्ठित ५६ ऋणात्मक धन में से ३५ भाग, इन ५६ तन्यात्मक सूत्र को लेकर जन्म ग्रहण करना पितृसह का प्रथम कर्म्म है।

जन्म लेने के अनन्तर अपने शुक्र में स्वतन्त्र रूप से २८ कलात्मक चान्द्रसहों का ग्रहण करना द्वितीय कर्म्म है। इस के अनन्तर सवनीय त्याज्य षट्पञ्चाशत् कल (५६) तन्य भाग को अवर प्रजारूप अपने पुत्रादि में आहुत करना तृतीय कर्म्म है, जिस का मन्त्र में विश्लेषण हुआ है। एवं ऋणरूप से प्राप्त कलाओं का (शरीरविच्युति के अनन्तर) प्रत्यर्पण कर देना चतुर्थ कर्म्म है।

१—षट्पञ्चाशन्मस्य पित्र्य सह् उपादाय जन्मग्रहणम्——तदिदं प्रथमं कर्म्म।

२—अष्टाविंशतिमस्य नवीन निज सह उपादत्ते———— तदिदं द्वितीयं कर्म्म

३—षट्पञ्चाशत्सहस्य सवनीयभागस्यावरेष्वाधानम्——तदिदं तृतीयं कर्म्म

४—अष्टाविंशतिसहस्यस्वात्मनीनभागस्य परेष्वाधानम्———तदिदं चतुर्थं कर्म्म

प्रकरणोपसंहार—

पितरप्राणमूर्त्ति सर्वात्माधिष्ठाता, अतएव 'बृहदुक्थ' नाम से प्रसिद्ध महानात्मा के ही उक्त चार कर्म्म हैं। ऐसे महानात्मा को, महानात्मा के उक्त वैज्ञानिक स्वरूप को सर्वप्रथम जिस ऋषि ने समझा, समझ कर अपने शब्दों में प्रकट किया, वे भी तत्कालीन 'यशोनाम' पद्धति के अनुसार 'बृहदुक्थ' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। बृहदुक्थ महर्षि की पर्षत् में बृहदुक्थविज्ञान (पितृविज्ञान) का ही प्राधान्य था। इसी पर्षत् के द्वारा दीर्घतमा के प्रश्नों का यथाक्रम समाधान हुआ। दीर्घकालसे अविद्यारूप तम से अभिभूत, अतएव यौगिकमर्य्यादया 'दीर्घतमा' नाम से पुकारे जाने योग्य वर्त्तमान युग के अभिनिविष्टों की मोहनिद्रा भंग करने के लिए बृहदुक्थ (श्रीगुरुप) के अर्थद्वारा सापिण्ड्य विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृत प्रजानन्तुवितानविज्ञान उपस्थित हुआ है। बृहदुक्थस्थानीय श्रीगुरुचरणों ने जिन शब्दों में यह रहस्य प्रकट किया है, मङ्गल भावना से उनमें से कुछ एक वचन उद्धृत करते हुए, साथ ही सन्तानपरम्परा का स्पष्टीकरण करने वाले परिलेखों को सुविधा के लिए व्यवस्थित रूप से उद्धृत करते हुए प्रस्तुत अवान्तर प्रकरण उपरत हो रहा है—

अथमत्र माङ्गलिकसङ्ग्रह—

१—दैवं सहो यन्निहितं हि तस्मिन् पित्र्य महोऽप्योतमितीममर्थम्।
मीमांसमानो भगवान् महर्षिः स वामदेव्यो बृहदुक्थ ऊचे॥

२—एषा सलाना पितरश्च देवाश्चापीशते ते समनिव्यचुश्च ।
क्रतुं च देवेष्वदधुः पृथक्स्थानिमान् प्रमीताः प्रविशन्ति पश्चात् ॥
३—लोकान् सहोभिर्निखिलानटन्ति पूर्वाणि धामान्यमितानि माता ।
यन्त्यन्ति तत्रा भुवनानि तानि प्रसारयन्ते बहुधा प्रजाश्च ॥
४—ये स्वर्विदो येऽप्यथ राक्षसा इति द्वेधाऽसुराः स्वर्विदंशुस्त्वचन्द्रमाः ।
मासेन सौम्यांशाव आत्मनि क्रमादाशेरते विशतिरष्टचाह्निकाः ॥
५—इत्थं पितृस्तोमगति सपिण्डता परेषु सप्तस्वपरेषु चोदिता ।
भूतात्मदिव्यात्मयुजोऽन्तरात्मनः सौम्यस्य नातः परितः स्थितिः क्वचित् ॥
६—यद्वाततं सप्तसु पूरुषेषु श्रद्धानमूर्त्तं प्रवदामि ता गाम् ।
प्रत्यर्पणात् मोद्ध्रियते तदासौ स्वयोनिमायाति जहाति गृध्रम् ॥
७—नाक्षत्रिकद्वादशमासरूपः सम्वत्सरः सोऽस्ति पिता स गर्भे ।
देहं विनिर्म्माति तदेनमर्थं कौषीतकीया भगवन्त आहुः ॥"

(श्रीगुरुप्रणीते–अहोरात्रवादे–आर्त्तवाधिकरणे)

"आप्तोपदेशः प्रमाणम्"–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ"–"यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्" इत्यादिरूप से शास्त्रप्रामाण्य निष्ठा को ही अपनी मान्यताओं में प्रधान अवलम्ब मानने वाले आस्था–श्रद्धानुगत धर्म्माचरणशील मानवों के परितोष के लिए यद्यपि "पितरः–सूनवः–तन्तवः–पिण्डाः–सहांसि–तन्तुवितानम्" आदि प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत् के सम्बन्ध में तत्तद्विशेष–प्रसङ्गावसरों पर ही प्रमाण उद्धृत कर दिए गए हैं। तथापि 'द्विर्बद्ध' न्याय से सर्वान्त में पुन कुछ एक वे वचन और उद्धृत कर दिए जाते हैं, जो निस्पष्टरूप से इन 'तन्तु–तत्त्व–परम्पराओं' का समर्थन–प्रतिपादन–स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं। वस्तुगत्या इस प्रामाण्यवाद से धर्म्मशील सनातनप्रजा की आस्था–श्रद्धा जहाँ श्रोतसीयमूलक्षानुगता बनेगी, वहाँ यही प्रामाण्यवाद धार्म्मिकों के अभिनिवेश का भी वाग्बन्धन कर सकेगा, निश्चयेन कर सकेगा, इसी माङ्गलिक अनुभूति के साथ क्रमप्राप्त दूसरी 'ऋणमोचनोपायोपनिषत्' की ओर श्रद्धाशील प्रजा का ध्यान आकर्षित कराया जा रहा है।

१—अवस्पृधि पितरं योऽधिविद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे ।
कदाचिकित्वो अभिचक्षसे नोऽग्ने कदा ऋतचिद्यातयासे ॥ (ऋक्० ५।३।६) ।
२—नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः ।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा ॥ (ऋक्० ६।६।२) ।

३—स इत्तन्तु स विजानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन परो अन्येन पश्यत् ॥ (ऋक्० ६।६।३)।

४—ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये ।
स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्म्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः ॥(ऋक् म १।१५९।३)।

५—ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी स योनी मिथुना समोकसा ।
नव्यन्नव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः ॥
(ऋक्० १।१५९।४)।

६—वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति ।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ ॥(ऋक् ५।४७।६)।

७—सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम् ।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यत. ॥ (ऋक्० १०।१३।५)

८—एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ ॥(ऋक्०१।१६२।१९)

९—तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥ (ऋक्० ९।८३।२)।

१०—अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥
(ऋक्० ९।८३।३)।

११—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥(ऋक्० १०।१३०।१)।

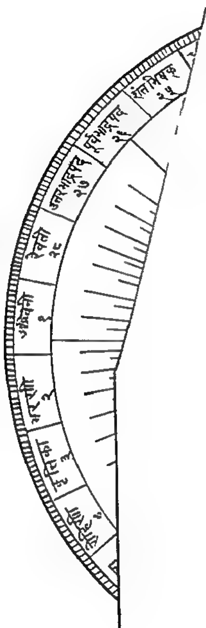
१२—पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधिनाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥ (ऋक्०१०।१३०।२)।

इति—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्

प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

प्रथमा

—१—


शतभिषक्
२५
पूर्वभाद्रपद
उत्तरभाद्रपद
२७
रेवती
२८
अश्विनी
१
भरणी
२
कृत्तिका
३

स्व	बीजिनि ७		पुत्र ६		पौत्र ५		प्रपौत्र ४		वृद्धप्र-पौत्र ३		अतिवृद्धप्र-पौत्र २		वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र १		सपिण्डतानुवृत्ति सप्तमोऽन्ते ०००		
१	महांशि २८	७ महांशि	६ महांशि														
	निपात्य पिण्ड	पितृनिपाप	तन्तुः														
	२८	२८(३)	२१ महांशि	६ महांशि	२५ महांशि												
	२७	२७(६)															
	२६	२६(५)															
२	२५	२५(४)	निपात्य पिण्डः	पितृ निपापः	तन्तुः												
	२४	२४(३)															
	२३	२३(२)															
	२२	२२(१)															
	२१		२१	२१(६)	१५ महांशि	५ महांशि	१० महांशि										
	२०		२०	२०(५)													
३	१९		१९	१९(४)													
	१८		१८	१८(३)	निपात्य पिण्ड	पितृ निपाप	तन्तुः										
	१७		१७	१७(२)													
	१६		१६	१६(१)													
	१५		१५		१५	१५(६)	महांशि	४ महांशि	महांशि								
४	१४		१४		१४	१४(५)											
	१३	-	१३		१३	१३(४)	निपात्य पिण्ड	पितृ निपाप	तन्तुः								
	१२		१२		१२	१२(२)											
	११		११		११	११(१)											
	१०		१०		१०		१०	१०(४)	महांशि	महांशि	महांशि						
५	९		९		९		९	९(३)									
	८		८		८		८	८(२)	निपात्य पिण्ड	पितृ निपाप	तन्तुः						
	७		७		७		७	७(१)									
६	६		६		६		६		६	६(३)	महांशि	महांशि	महांशि				
	५		५		५		५		५	५(२)	निपात्यपिण्ड	पितृ निपाप	तन्तुः				
	४		४		४		४		४	४(१)							
७	३		३		३		३		३	.	३	३(२)	२	१	०		
	२		२		२		२		२		२	२(१)				०	
*	१		१		१		१		१		१			१	०	०	०
															स्व°	स्व°	त°
	बीजी		पुत्रः		पौत्रः		प्रपौत्रः		वृद्धप्रपौत्रः		अतिवृद्ध प्रपौत्रः		वृ॰अ॰वृ		सापिण्ड्यम्		
	१ पुरुषः		२ पुरुषः		३ पुरुषः		४ पुरुषः		५ पुरुषः		६ पुरुषः		७ पुरुषः		॰		

		१	२	३	४	५	६	७	
		बीजी	पुत्रः	पौत्रः	प्रपौत्रः	वृ॰ प्र॰	अ॰ वृ॰ प्र॰	वृद्धातिवृ॰	
मूलपिण्ड॰		७ पितरः							
७	२८	●							
	२७	●							
	२६	●							
	२५	●	१						
	२४	●							
	२३	●							
	२२	●							
६		सूनव २१	पितर १६						
	२१	●	●						
	२०	●	●						
	१९	●	●	२					
	१८	●	●						
	१७	●	●						
	१६	●	●						
५			सूनव॰ १५	पितर ५					
	१५	●	●	●					
	१४	●	●	●					
	१३	●	●	●	३				
	१२	●	●	●					
	११	●	●	●					
४				सूनव१०	पितर १				
	१०	●	●	●	●				
	९	●	●	●	●	४			
	८	●	●	●	●				
	७	●	●	●	●				
३					सूनव ६	पितर॰ ३			
	६	●	●	●	●				
	५						५		
	४								
२						सूनव॰ ३	पितर २		
	३	●	●	●	●	●	●	६	
	२	●	●	●	●	●	●		
१	१						सूनव १	पितर॰ १	७

पिण्डाः	सन्तानाः	→ अर्चिमार्गः
२८	०	
२१	७	
१५	६	
१०	५	
६	४	
३	३	
१	२	
०	१	

धूममार्गः ←	पिण्डाः	सन्तानाः
	२८	०
	२१	७
	१५	६
	१०	५
	६	४
	३	३
	१	२
	०	१

५ ऋणाधनभावपरिलेख :-

पिण्डाः निवाप्याः	सन्तानाः	पुरुषाः — सप्त	पीठिका	ऋणाधनानि
		बीजी	१	मूलधनम्
		पुत्रः	२	ऋणाधनानि
		पौत्रः	३	ऋणाधनानि
		प्रपौत्रः	४	ऋणाधनानि
		वृद्धप्रपौत्रः	५	ऋणाधनानि
		अतिवृद्धप्रपौत्र.	६	ऋणाधनानि
		वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः	७	ऋणाधनानि
		० ० ० ० ० ०	०	सर्वथा-ऋणम्

२८	हरिश्चन्द्रः	आत्मा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८		अष्टाविंशति पर्यन्त १
२१	बालचन्द्रः	पिता	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१								पितृपिण्डः एकविंशान - सहांसि (२१)।	२
१५	लक्ष्मणशर्मा	पितामह	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५														पितामहपिण्डः - पञ्चदश सहांसि (१५)।	३
१०	जटाशङ्करः	प्रपितामह	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०																			प्रपितामहपिण्ड - दश सहांसि (१०)।	४
६	वृन्दावन	वृद्ध-प्रपितामह	१	२	३	४	५	६																							वृद्धप्रपितामहपिण्डः - षट् सहांसि (६)।	५
३	सेवाराम.	अतिवृद्ध प्रपितामहः	१	२	३																										अतिवृद्ध प्रपितामह पिण्डः - तिस्रः सहांसि (३)।	६
१		वृद्धाति-वृद्धप्रपितामह	१																												वृद्धातिवृद्धप्रपितामहपिण्डः - एकं सहः (१)।	७

विवाहसापिण्ड्यम्

०	२८	२१	१५	१०	६	३
मुकुन्दः	मधुसूदनः	वैद्यनाथः	देवनाथः	हीरानाथः	प्राणपतिः	कलानाथः (सुन्दरः)
२८	२१	१५	१०	६	३	१

"सापिण्ड्यं - साप्तपौरुषम्" इत्याहुराचार्य्याः

(७)—परिलेखः

(७)—दत्तकविधि-मर्य्यादायां तु सपिण्डता पञ्चरूपेण—

सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्
चतुरशीतिकलाः—पितृपिण्डः
८४

१	वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः	सेवारामः
३	अतिवृद्धप्रपितामहः	वृन्दावनः
६	वृद्धप्रपितामहः	जटाशंकरः
१०	प्रपितामहः	लक्ष्मणरामः
१५	पितामहः	बालचन्द्रः
२१	पिता	रामचन्द्रः
२८	आत्मा (पुत्रः)	गोविन्दचन्द्रः

'जातसंस्कारबाधायोगात्' इत्याहुस्मार्त्त धर्म्माचार्य्याः

इति–सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि

प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

प्रथमा

—१—

अथ

मणिप्रभविज्ञानोपनिषदि—

"ऋणमोचनोपायोपनिषत्"

द्वितीया

२

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा ।
ऋणवाञ्जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥ १ ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्म्मणा ।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ २ ॥

वाचाशेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च ।
यथावद्भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म्म आदितः ॥ ३ ॥

—महाभारत० शान्तिपर्व मोक्ष० २६२ अ० ९,१०,११, श्लोक

श्री

ऋणमोचनोपायोपनिषत्

ऋणस्वरूपपरिचय

पञ्चविध-ऋणस्वरूपविज्ञान

आत्मदेवता स्वस्वरूप मे नित्यशुद्ध-मुक्त है। यह शरीर-बन्धन मे आया कैसे ?, महामायावच्छिन्न मायी चिदात्मा अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश-क्षुधा-पिपासा-जरा-मूर्च्छा-मृत्यु-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मोह-कर्म्मविपाक-आशय, इत्यादि सप्तदश पाप्माओं से युक्त हो कर जीवस्वरूप में कैसे परिणत हो गया ?, इन सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है-त्रिगुणभावमयी योगमाया का ऐकान्तिक अनुग्रह। त्रिगुणात्मिका इस योगमाया को हम थोडी देर के लिए 'व्यक्त-क्षरप्रकृति' कह लेते है। इस व्यक्त-क्षरप्रकृति का प्रधानत आपोमय परमेष्ठी से सम्बन्ध है, जो पारमेष्ठ्य तत्त्व प्रवर्ग्यभाग से अध्यात्मसंस्था का स्वरूप समर्पक बनता हुआ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन तीनो की दर्श-पूर्णमासप्रक्रिया से इस पारमेष्ठ्य महान में क्रमशः अहङ्कृति, प्रकृति, आकृति, इन तीन अवस्थाओं का उदय होता है। साथ ही सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से इस में सत्त्व-रज-तम, इन तीन गुणों का आविर्भाव होता है। सौरतेजोऽवच्छिन्न पारमेष्ठ्य महान् 'सत्त्वगुणक' है, अप्रकाशित महान् 'तमोगुणक' है, एव सान्ध्य महान् 'रजोगुणक' है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास से पारमेष्ठ्य महान षड्भावापन्न बन रहा है जिस का 'महदात्मोपनिषत्' में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

परमेष्ठी महान से ऊपर अव्यक्त स्वयम्भू है, नीचे हिरण्यगर्भ सूर्य्य है। हिरण्यगर्भ सूर्य्य क्षत्र है, अव्यक्त स्वयम्भू 'ब्रह्म' है। उस ओर से ब्रह्म को इस ओर से क्षत्र को, दोनो को मध्यस्थ महान ने अपना ओदन बना रक्खा है। दोनो तत्त्व इस के गर्भ मे भुक्त है। और इस दृष्टि से भी यह त्रिगुणभावापन्न बन रहा है। स्वायम्भुव ब्रह्मतत्त्व 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है, एव यह ज्ञानतन्तु का वितान करता है। सौर क्षत्रतत्त्व 'देव' नाम से प्रसिद्ध है, एव यह यज्ञतन्तु का वितान करता है। उभयधर्म्मावच्छिन्न मध्यस्थ परमेष्ठी प्राण 'पितर' नाम से प्रसिद्ध है, एव यह प्रजातन्तु का वितान करता है। इस प्रकार स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक ज्ञानतन्तुओ को, सौर देवप्राणात्मक यज्ञतन्तुओं * को, दोनो को अपने गर्भ मे रखता हुआ स्वपितरप्राणात्मक प्रजातन्तुओं से युक्त पारमेष्ठ्य महान हो

---

* त्रयस्त्रिंशत् तन्तवो य वितत्निरे ।

चिदात्मा की योनि बनता है। योनिस्थानीय इस महानात्मा के गर्भ में आते ही चिदात्मा जीव स्वरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म क्षत्र को ओदन बनाने वाले महान् के इसी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

> यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
> मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ —कठोपनिषत् १।२।२४।

स्वायम्भुव ऋषिप्राण, और देवप्राण, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला पारमेष्ठ्य महान् 'भाव, योनिज, अयोनिज,' भेद से तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। ऋषिप्राण के द्वारा भाव सृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'मानसी सृष्टि' भी कहा जा सकता है। यही पहिली 'ऋषिसृष्टि' (प्राणसृष्टि) है। देवप्राण के द्वारा अयोनिज सृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'गुणसृष्टि, भी कहा जा सकता है। यही दूसरी देवसृष्टि है। स्वप्राणद्वारा योनिज सृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'विकारसृष्टि' भी कहा जा सकता है। यही तीसरी प्राणीसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) है। इस प्रकार ऋषि देव-पितर, तीनों. के समन्वय से महान् के द्वारा तीन सृष्टियों का विकास हो रहा है।

महान से पहिले अपनी सत्ता रखने वाले स्वयम्भू ब्रह्म वेदमूर्त्ति हैं। ऋक्सामावच्छिन्न यजु ही ब्रह्मनि श्वसित नामक अपौरुषेय वेदतत्त्व है, जिस का 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ८०० पृष्ठों में विशद-वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। जूरूप स्थितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित यत्रूप गति भाव ही ऋषितत्त्व है, जिसे 'प्राणा वा ऋषयः' (शत०६।१।१।१ ब्रा०१ क०) इत्यादि रूप से 'प्राण' भी कहा गया है। ऋक्-साम सम्बन्ध से नित्य युक्त इस ऋषिप्राण के तपोलक्षण आभ्यन्तर व्यापार से वाग्रूप जू भाग द्वारा प्रवर्ग्यरूप से सर्वप्रथम आपोमय परमेष्ठी का ही व्यक्तीभाव हुआ है, जैसा कि—'सोऽपोऽसृजत् वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।) 'अप एव ससर्जादौ' (मनुस्मृति) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों से प्रमाणित है। ऋक्-साम सम्बन्ध से त्रयीमूर्त्ति बना हुआ यह ऋषिप्राण, किंवा त्रयीतत्त्व जू भाग से आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्' न्याय से इस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, जिस गर्भीभाव का 'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।) इत्यादि शब्दों में विश्लेषण हुआ है। इस गर्भस्थिति से बतलाना यही है कि आपोमय परमेष्ठी स्वायम्भुव-वेदात्मक ऋषिप्राण को अपने गर्भ में लिए हुए हैं। गर्भीभूत इसी ऋषिप्राण के द्वारा यह महान् ऋषिसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है।

अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ है 'यज्जू' नामक यजु से। यज्जू का यत् भाग गतिप्रकृतिक है, जू भाग स्थितिप्रकृतिक है। गतितत्त्व विकासधर्मा है, स्थितितत्त्व सङ्कोचधर्मा है। सङ्कोच

विकासोभयधर्म्मावच्छिन्न कारणात्मक यजु से उत्पन्न तत्कार्य्यरूप अपतत्त्व में भी 'कारणगुणा कार्य्यगुणानारभन्ते' न्याय से संकोच विकास, दोनों धर्म्म उद्भूत रहते हैं। इन दो विरुद्ध धर्म्मों से युक्त अपतत्त्व के स्नेह, तेज, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्नेहलक्षण अपतत्त्व संकोचधर्मा है, यही 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध है। एवं तेजोलक्षण अपतत्त्व विकासधर्मा है, यही 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। स्नेह-तेजो लक्षण, भृग्वङ्गिरोमय, पूर्व कथनानुसार त्रयीतत्त्वात्मक अपितत्त्व को अपने गर्भ में रखने वाले इसी पारमेष्ठ्य तत्त्व का स्वरूप लक्ष्य में रखते हुए अथर्वश्रुति कहती है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥ (गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग)।

भृग्वङ्गिरोमय आप का भृगु भाग 'आप, वायु, सोम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। अङ्गिरा भाग 'अग्नि यम-आदित्य' भेद से तीन भागों में विभक्त है। यही षड्‌ब्रह्म यत्-जूरूप द्विब्रह्म की प्रतिष्ठा (वेदप्रतिष्ठा) पर प्रतिष्ठित हो कर सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक बन रहा है। अग्नि-वायु-आदित्यगर्भित आप-वायु सोममूर्त्ति स्नेहप्रधान आप पितृसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं आप वायु-सोम-गर्भित अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति तेज प्रधान आप देवसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। पितृ सृष्टि में भार्गव अपतत्त्व का प्राधान्य है, देवसृष्टि में आङ्गिरस अपतत्त्व का प्राधान्य है। देवता पितरों की आधारभूमि बने हुए हैं, पितर देवताओं की आधार भूमि बन रहे हैं। इसी पारस्परिक सम्बन्ध से इन के लिए 'समविव्यचु' (सम विव्यचु—ऋक्‌संहिता) कहा जाता है, जैसा कि पूर्व प्रकरण में बृहदुक्थ-विज्ञान में स्पष्ट कर दिया गया है।

सोमभाग को आधार बनाने वाला आदित्य सूर्य्य है, वायुभाग को आधार बनाने वाला आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा है, एवं आप को आधार बनाने वाला अग्नि पृथिवीलोक है। पृथिवी, वायु-चन्द्रयुक्त अन्तरिक्ष, आदित्यप्राणात्मक सूर्य्य, तीनों की समष्टि देवसृष्टि है। अग्नि के आधारभूत पार्थिव पितर वसु हैं, वायु के आधारभूत पितर रुद्र हैं, सूर्य्य के आधारभूत पितर आदित्य हैं। इस प्रकार अग्नि-वायु-सूर्य्य, तीनों देवताओं की महिमा में आधाररूप से प्रतिष्ठित पितर वसु-रुद्र आदित्य नामों से ही व्यवहृत हो रहे हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण (जिन्हें अश्विनीकुमार कहा जाता है), इस प्रकार देवतन्तु ३३ भागों में विभक्त हो रहे हैं, जो अग्नीषोमात्मक यज्ञ का वहन कर रहे हैं। यज्ञवहन करने वाले यही ३३ देवता उस पारमेष्ठ्य महान की अयोनिज देवसृष्टि है।

जिस प्रकार आप-वायु-सोमात्मक पितृतत्त्व का अग्नि-वायु आदित्यात्मिका देवसृष्टि के साथ आधार रूप से समन्वय है, एवमेव अग्न्यादि तीनों का अग्न्यादि तीनों के साथ भी आधार

रूप से समन्वय हो रहा है। अग्नि अप्तत्त्व की, वायु तदनुगृहीत चन्द्रमा-वायुतत्त्व की, एवं आदित्य सोमतत्त्व की आधारभूमि बन रहा है। इन तीनों के सम्बन्ध से अन्न-वायु-सोममूर्त्ति महान् क्रमशः आकृति, प्रकृति, अहङ्कृति का, तथा तम-रज-सत्त्व गुण का अधिष्ठाता बन रहा है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। अग्निगर्भित आपोमय महान् आप्यजीवों की, वायुगर्भित वायव्य महान् वायव्य जीवों की, तथा आदित्यगर्भित सौम्य महान् सौम्य जीवों की योनि बन रहा है। यही त्रिविध योनिजसृष्टि है, जिसे हम मैथुनीसृष्टि भी कह सकते हैं। प्रकृत में जिस योनिजसृष्टि का विवेचन प्रक्रान्त है, उस का 'महानात्मा' की पितृसृष्टि से ही प्रधान सम्बन्ध है, जिस के गर्भ में गौणरूप से देव, ऋषि भाग भी प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

१—आप —–(अग्नि)
२—वायु —–(यम)
३—सोम —–(आदित्य)
—पितृसृष्टिप्रवर्त्तको महान्-भार्गवः (स्नेहप्रधान)।

१—अग्नि —–(आप)
२—यम —–(वायु)
३—आदित्य —–(सोम)
—देवसृष्टिप्रवर्त्तको महान्-आङ्गिरसः (तेज प्रधान)।

महानात्मा प्रजातन्तुवितानरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है। इस महानात्मा के गर्भ में स्वायम्भुव ऋषिप्राण, तथा सौर देवप्राण भी प्रतिष्ठित हैं, यह पूर्व कथन से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। इसी आधार पर मान लेना पड़ता है कि, पितृऋण के साथ साथ पुत्र को ऋषिऋण, देवऋण, इन दोनों का भी अधिष्ठान बन जाना पड़ता है। बीजी पिता के महानात्मा में प्रतिष्ठित २८ कल पितृमहों में से जिस प्रकार पुत्र के औपपातिक आत्मा को २१ मात्रा का ऋण लेना पड़ता है, तथैव बीजी के महानात्मगत पितृमह से अविनाभूत ऋषिमात्रा, देवमात्रा, इन दोनों का भी उसे ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार तीनों ऋणों को लेकर ही जीवात्मा जन्म धारण में समर्थ होता है। जब तक महानात्मानुगत भूतात्मा इन तीन ऋणों का परिशोध नहीं कर लेता, तब तक यह अपने नित्यशुद्ध मुक्तरूप में नहीं आ सकता। क्योंकि बन्धनात्यन्तविमोक ही भूतात्मा का परमपुरुषार्थ माना गया है, अतएव तत्सिद्धि के लिए इन तीनों ऋणों का अपाकरण आवश्यक हो जाता है।

कहा गया है कि–ऋषिमात्रा से इसमें ज्ञानतन्तु का प्रसार होता है। जितनी ज्ञानमात्रा इसे मिली है, इसका कर्त्तव्य है कि अपने ब्रह्मचर्य्यकाल में उसका स्वाध्यायद्वारा विकास कर उसे सन्ततियों में वितत कर दे। यही इसकी ऋषिऋण से मुक्ति मानी जायगी। देवमात्रा से इसके आध्यात्मिक जीवन यज्ञतन्तुओं की स्वरूपरक्षा हो रही है। इसका कर्त्तव्य है कि, आधिभौतिक यज्ञकर्म्मद्वारा यह प्राकृतिक देवयज्ञ का अनुगमन करता हुआ देवमात्रा का आप्यायन कर दे। यही इसकी देवऋण से मुक्ति मानी जायगी। एवं तीसरे पितृऋण से त्राण पाने के लिए इसे जो कुछ करना पड़ता है, उसमें प्रजोत्पादन प्रधान कर्म्म माना गया है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। इस प्रकार स्वाध्याय से ऋषि ऋण का, यजन से देवऋण का, एवं पुत्रोत्पादन से पितृऋण का अपाकरण करता हुआ द्विजाति वास्तव में परमपुरुषार्थसाधन में समर्थ हो जाता है। ऐसे अनृणी का ही जन्म धन्य है। यही कृतकृत्य है।

उक्त तीनों ऋणों से अतिरिक्त एक चौथा 'मनुष्यऋण' और माना गया है। आप संसार में उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर आयुर्भोग पर्य्यन्त अन्न, वित्त, पशु आदि सम्पत्तियों का प्रभूत मात्रा में भोग करते हैं। यह यथार्थ है कि, यदि आप उत्पन्न न होते, तो आपके उपभोग में आने वाली यह प्रभूत सम्पत्ति अवश्यमेव किसी अन्य मनुष्य के काम में आती। आपको यह नहीं भुला देना चाहिये कि, आप जिस पार्थिव अन्नादि सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं, वह दूसरों की भी भोग्य है, आप उन मनुष्यों के ऋणी हैं, जिन्होंने सद्भावना से अपना सत्त्व हटा कर आपको सम्पत्-भोग का अवसर दिया है। *यही आप पर मनुष्य का, मनुष्य का ही क्यों, प्राणिमात्र का ऋण है।* इस ऋण से छुटकारा पाने के उपाय हैं—

आगत अतिथियों को अपने घर में सत्कार पूर्वक आश्रय देना। निर्धन, हीनाङ्ग, रुग्ण, असमर्थ, मनुष्यों की सहायता करना। अपने सामर्थ्य से सर्वात्मना स्वोदर पोषण में असमर्थ पशु पक्षी–कृमि–कीटादि के लिए घास, पानी, अन्नकण, आदि प्रदान करना। पथिकों के लिए वापी–कूप–तडागादि बनवाना। अन्नक्षेत्र (सदावर्त), पाठशाला, मल्लशाला, आदि की स्थापना करना। निःसहाय कुलीन विधवाओं को गुप्तदान से उपकृत करना। इत्यादि सब कर्म्म मनुष्यऋण से आपको अनृणी बनावेंगे, जिस इस आनृण्यकर्म्म को धर्म्माचार्य्योंने—'आनृशंसधर्म्म' नाम से व्यवहृत किया है।

क्रूरवृत्ति वाला निष्ठुर–निर्दयी मनुष्य ही 'नृशंसो घातकः क्रूरः' के अनुसार 'नृशंस' कहलाया है। सद्भावसिद्ध मानवीय सौहार्द को जलाञ्जलि समर्पित करने वाले, अपनी क्रूरता से असमर्थों पर अनुचित शासन करने वाले, आगत अभ्यागतों का अश्लील–उद्दण्डभाषा में तिरस्कार करने वाले मदमत्त धनमदान्ध ही 'नृशंस' कहलाए हैं। यहाँ मानवता सर्वथा जर्जरित है। और मानवता के नाते ऐसे नृशंस अगण्य हैं, उपेक्षणीय हैं। मनुष्यता से विरुद्ध धर्म्म ही नृशंसधर्म्म (अधर्म्म) है। और इसके विपरीत मनुष्यमात्र के साथ सद्व्यवहार रखना, यथाशक्ति प्राणिमात्र

का उपकार करना मानवधर्म्म है, मनुष्यता है। यही आनृशंस्यधर्म्म है। इसी के अनुगमन से मनुष्यऋण नामक चतुर्थ ऋण का अपाकरण होता है। इन्हीं चारों ऋणों का स्वरूप बतलाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

१—ऋणं ह वै जायते—योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः, ऋषिभ्यः, पितृभ्यः, मनुष्येभ्यः। स यदेव यजेत—तेन देवेभ्यः ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, यदेनान् यजते, यदेभ्यो जुहोति। (१)"

२—"अथ यदेवानुब्रुवीत—तेनर्षिभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, ऋषीणान्निधिगोप इति, ह्यनूचानमाहुः। (२)"

३—"अथ यदेव प्रजामिच्छेत—तेन पितृभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, यदेषां सन्तता अव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। (३)"

४—"अथ यदेव वासयेत—तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते। यदेभ्योऽशनं ददाति।" (४)। स एतानि सर्वाणि करोति, स कृतकर्म्मा। तस्य सर्वमाप्तं, सर्वं जितम्' (शत० १।७।२।१,२,३,४,५,)।

कहीं कहीं ब्राह्मणग्रन्थों में ही मनुष्यऋण के अतिरिक्त एक 'भूतऋण' और माना गया है। वस्तुत प्राणऋण, भूतऋण, भेद से ऋण के दो ही मुख्य विभाग हैं। प्राणऋण ऋषि, पितर, देव, भेद से तीन भागों में विभक्त है। मनुष्य–पशु–पक्षी–कृमि–कीट, इन पाँच सर्गों में से मनुष्यविध भूतसर्ग पूर्णप्रज्ञ है, इस में प्रज्ञान ज्ञान का (बुद्धि के सम्बन्ध से) पूर्ण विकास है। शेष चारों भूतसर्गों का प्रज्ञानज्ञान मुकुलित है, अतएव इन्हें अपूर्णप्रज्ञ कहा जा सकता है। इस प्रकार एक ही भूतवर्ग के मनुष्यऋण, भूतऋण भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। सम्भूय पाँच ऋण हो जाते हैं। इन पाँचों ऋणों के अपाकरण के लिए पञ्चमहायज्ञों का विधान हुआ है। सामान्यरूप से ऋण-अपाकरण करने वाले इन पाँचों महायज्ञों का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महा सत्राणि—भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, पितृयज्ञः, देवयज्ञः, ब्रह्मयज्ञः, इति।

अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्, तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति। अहरहर्दद्यात्—ओदपात्रात्, तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वधा कुर्यात्—ओदपात्रात्, तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वाहा कुर्यात्—आकाष्ठात्, तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। (शत० ११।३।६।१,२,३.)।

उक्त द्विविध ऋणों में से ऋषियोंने प्राणऋण को ही मुख्य माना है, जिसके ऋषि, पितर, देव, भेद से तीन अवान्तर विभाग हैं। कारण इस का यही है कि, पूर्णप्रज्ञ मनुष्य (अतिथि) से सम्बद्ध मनुष्यऋण, अपूर्णप्रज्ञ पश्वादि प्राणियों से सम्बद्ध भूतऋण, यह द्विविध भूतऋण केवल लोकनिष्ठा से ही सम्बन्ध रखता है। उभयलोकानुगता प्राणसंस्था से इस का विशेष सम्बन्ध नहीं है। भूतऋण परिशोध न करने वाला मानवता से बहिष्कृत है, वह क्रूर कहलाता है, उस का व्यावहारिक मार्ग कण्टकाकीर्ण हो जाता है। परन्तु परलोकरूप्या प्रत्यक्ष में विशेष अनिष्ट नहीं होता। इधर प्राणऋणत्रयी के परिशोध किए बिना यह उभयलोकसम्पत् से वञ्चित रह जाता है। इस लोक में अभ्युदय नहीं होता, परलोक में यामी-यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। आत्मा जन्म-मृत्युबन्धन से छुटकारा नहीं पाता। अतएव अन्यत्र स्वयं श्रुतिने इन तीनों का ही प्राधान्य स्वीकार किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है —

"एष व जायमानस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते—ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणी—यः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारी च"।

उक्त तीनो ऋणों में से प्रकृत प्रकरण में हमें केवल 'पितृऋण' के परिशोध की मीमांसा करनी है। पूर्वप्रतिपादित 'प्रजातन्तुवितानविज्ञान' से यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्रत्येक पुरुष में ८४ कल पितृसहःपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है। इन चौरासी में से मूलपुरुष के १-वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, २-अतिवृद्धप्रपितामह, ३-वृद्धप्रपितामह, ४-प्रपितामह, ५-पितामह, ६-पिता, इन ६ पर्पुरुषों से इस मूलपुरुष को क्रमशः १-३-६-१०-१५-२१' इतने सहोभाग ऋणरूप से मिले हैं, जिन के सङ्कलन से ५६ कला हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं मूलपुरुष अपने शुक्रगत महानात्मा में २८ कला स्वपुरुषार्थ से उत्पन्न करता है। यह इस का आत्मधन है। इस प्रकार ५६ पितृऋण, २८ आत्मधन, दोनों के सङ्कलन से इस का शुक्रस्थ महानात्मा ८४ कल सहःपिण्ड से युक्त हो जाता है। मूलपुरुष में प्रतिष्ठित स्वात्मधनरूप २८ कलाओं का विचार छोड़ते हुए पहिले हमें परम्परया आगत, ऋणरूप से प्रतिष्ठित ५६ कलाओं का विचार करना है। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, यदि पितृऋण के परिशोध के बिना आत्मबन्धन विमोक असम्भव है, तो इन के परिशोध का उपाय क्या ?, किन साधनों से, किन उपायों से मूलपुरुष अपनी इन ५६ ऋणकलाओं के भार से मुक्ति पा सकता है ?, इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषियों की ओर से चार उपाय हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—प्रजोत्पादनकर्म्मणा —ऋणमुक्तिः—प्रजोत्पादनेनान्यत् ।

२—सपिण्डीकरणेन — ऋणमुक्तिः—सपिण्डीकरणेनान्यत् ।

३—श्राद्धकर्म्मणा — ऋणमुक्तिः—श्राद्धेनान्यत् ।

४—गयापिण्डदानेन — ऋणमुक्तिः—गयापिण्डदानेनान्यत् ।

१—प्रजोत्पादनात्मकं प्रथममानृण्यं कर्म्म

प्रजोत्पादनानुगत आनृण्यविज्ञानोपक्रम—

सर्वप्रथम क्रमप्राप्त प्रजोत्पादनलक्षण प्रथम ऋणपरिशोध की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शास्त्रविहित पद्धति के अनुसार पुरुष ने समावर्त्तनसंस्कारानन्तर गृहमेधी बनने की कामना से 'असमानार्षगोत्रजा' कन्या के साथ विवाह किया। प्राप्तवयस्का पत्नी के साथ ऋतुकाल में पति ने गर्भाधानसंस्कार किया। परिणामस्वरूप दम्पती के शुक्र-शोणित के समन्वय से गर्भस्वरूप सम्पन्न हो गया। कालान्तर में माता पिता ने पुत्रमुखदर्शन कर अपने आप को पितृऋण से उऋण माना। और यही भारतीय विवाह बन्धन का प्रधान लक्ष्य माना गया। शुक्राहुति के द्वारा सुतमुखावलोकन से दम्पती पितृऋण से कैसे उऋण हो गए?, यही विचारणीय प्रश्न है। शुक्र का शोणित में आधान करने वाला, शुक्रात्मक बीज का शोणितात्मक क्षेत्र में वपन करने वाला, अतएव 'बीजी' नाम से व्यवहृत होने वाला पिता शुक्राहुति के साथ साथ शुक्रस्थ ऋण कलाओं का भी आधान कर देता है। बस यही इस का आनृण्यकर्म्म है, जिस का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया जा सकता है,

मात्रानुगतऋणतत्त्ववितान—

ऋणरूप से प्राप्त जिन ५६ कलाओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वे सभी तो शुक्रद्वारा शोणित में आहुत नहीं हो जातीं। अपितु 'आत्मधेय-तन्य' रूप से इन के दो विभाग हो जाते हैं। इनमें से आत्मधेयकलात्मक ऋण का तो बीजी पुत्रोत्पादनकर्म्म से परिशोध नहीं कर सकता। परिशोध करता है केवल तन्यकलात्मक ऋण का। कहा गया है कि, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से इसे केवल १ कला ऋणरूप से मिली है। क्योंकि इस में आगे वितान का अभाव है, अत एव यह सातवें पुरुष की ऋणकला तो केवल बीजी में आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है। इस का शुक्रद्वारा परिशोध असम्भव है। अतिवृद्धप्रपितामह से इसे ३ कला ऋणरूप से मिली हैं। इन में सप्तानुगत मात्राधिक्य से आगे वितत होने का धर्म्म विद्यमान है। फलतः इस के आत्मधेय तन्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। १ ऋण कला आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रहती है, शेष २ ऋण कला तन्यरूप से शुक्रद्वारा पुत्रोत्पादन कर्म्म में उपयुक्त हो जाती हैं। वृद्धप्रपितामह से इसे ६ कला ऋणरूप से मिली हैं। इन में से ३ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, ३ पुत्रोत्पादनकर्म्म में उपयुक्त हो जाती हैं। प्रपितामह से १० कला मिली हैं। इन में से ४ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, ६ कला उपयुक्त हो जाती हैं। पितामह से १५ कला मिली हैं। इन में से ५ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, १० कला उपयुक्त हो जाती हैं। अपने पिता से २१ मिली हैं। इन में से ६ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, १५ कला उपयुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार वृद्धातिवृद्ध०—अतिवृद्धप्र०—वृद्धप्रपिता०—प्रपिता०—

पितामह०-एवं पिता से मिलने वाली १-३-६-१०-१५-२१' इन ऋणकलाओं में से ॐ १-२-३-४-५-६' ये २१ ऋणकलाएँ तो आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवं शेष १-३-६-१० १५' ये ३५ कला तन्यरूप से शुक्रद्वारा पुत्रोत्पादनकर्म्म में उपयुक्त हो जाती है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

वृद्धातिवृद्धप्रपितामहत ———१—— ॐ मात्राभावाद्वितानाभाव

अतिवृद्धप्रपितामहत ———३——१——२

वृद्धप्रपितामहत ———६——३——३

प्रपितामहत ———१०——६——४

पितामहत ———१५——१० —५

पितु सकाशात् —२१——१५——६

(पितृऋणम्) ऋणभाग ५६ ३५ २१ (३५ + २१—५६)—

तन्या आत्मधेया

इस दृष्टिकोण को विशेषरूप से ध्यान में रखना होगा कि, पुरुष के शुक्र में ऋण रूप से प्रतिष्ठित ५६ कलाओं में से ३५ कलाओं के ऋण से ही इस की मुक्ति होती है, शेष २१ ऋणकलाएँ आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं। यदि पुत्रोत्पादन कर्म्म न हो, तो इन ३५ कलाओं का परिशोध सर्वथा असम्भव बन जाय। इस के अतिरिक्त यह स्वयं भी अपूर्ण बना रह जाय। अपनी अपूर्णता का कारण यही है कि, पुत्रादि उत्पन्न न होने पर शुक्राहुति व्यर्थ चली जाती हैं। और उस समय न तो इस के आत्मधन के तन्यभाग की ही पूर्णता होती है, एवं न पितृऋण का ही परिशोध होता है। इसी अपूर्णतानिवृत्ति पूर्णताप्राप्ति पितृऋणमोचन के लिए प्रजोत्पादन कर्म्म आवश्यक माना गया है जो कि कर्म्म असमानार्ष गोत्रजा कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा दाम्पत्यभाव प्राप्त करने पर ही सफल बन सकता है।

बीजी में पर पुरुषों से ऋणरूप से जैसे ५६ कला आती हैं, वैसे इसके अपने शुक्र में नक्षत्र परिच्छिन्न, अतएव २८ कल विभक्त चान्द्ररस के द्वारा २८ कला पितृसहाग्नि और आते हैं। यही इसका आत्मधन कहलाया है। जिस प्रकार पितृऋण की ३५ कलाएँ तन्यरूप से पूर्वक्रमानुसार शुक्रद्वारा प्रजोत्पादनकर्म्म से पुत्र में जाती हैं, शेष २१ कला आत्मधेयरूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवमेव स्वात्मधन की २८ कलाओं के भी आत्मधेय-तन्यरूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं। २८ में से २१ मात्राएँ पुत्रोत्पादनकर्म्म में उपयुक्त हो जाती हैं, ये ही आत्मधन की तन्यकला हैं। एवं ७ कलाएँ

स्वय बीजी मे प्रतिष्ठित रह जातीं हैं, ये ही आत्मधन की आत्मधेयकला है। पितृऋण की ३५ तन्यकला, आत्मधन की २१ तन्यकला, सम्भूय जो ५६ कला ऋणरूप से पुत्रोत्पादन कर्म्म मे उपयुक्त होतीं हैं, वे कालक्रम से पुत्र-पौत्रादि के द्वारा चन्द्रलोकगत बीजी, तत्पिता-पितामहादि को पुन मिल जातीं हैं, जैसा कि सपिण्डीकरण मे स्पष्ट होने वाला है। कालक्रम इसलिए मानना पडता है कि, बीजी के सातवें पुरुष (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) पर्य्यन्त व्याप्त पितृसहों को वह बीजी पुत्र-पौत्रादि क्रम से ही वापस प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। हाँ, यदि पुत्र से पहिले पौत्र का निधन हो जाता है, तो कालक्रम का विपर्य्यय भी हो जाता है। परन्तु पूरी मात्राओं का प्रत्यर्पण सातवीं पीढी पर जाने ही समाप्त होता है।

सातवीं सन्तान के द्वारा जो ऋणकलाएँ वापस मिलतीं हैं, उन से मुक्ति कवल वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह की होती है। कारण स्पष्ट है। सातवीं पीढी में वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का एक पितृसह ऋणरूप से भुक्त है। इसी से उसे अपना यह एक अश प्राप्त होता है। इस अश को प्राप्त करने के अनन्तर ही सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पृथिवी से सम्बन्ध टूट जाता है। बीजी ने यदि पुत्र उत्पन्न कर दिया, तो पिता से आने वाली २१ कलाओं मे से १५ देकर यह यह ऋणमुक्त हो गया। पुत्र ने यदि पुत्र उत्पन्न कर दिया तो आत्मस्थ १५ मे से १० कला देकर इस अश से यह उऋण हो गया। यही क्रम आगे समझिए। सातवीं पीढी पर जाके परम्परया प्राप्त इन २५ कलाओं का पूर्ण परिशोध हो जायगा। शेष कलाएँ सपिण्डीकरण से ही वापस मिलेंगी। बीजीपुरुष का आत्मधन किस व्यवस्था से आत्मधेय, तन्यरूप से विभक्त होता है, यह निम्न लिखित परिलेख से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है—

१—आत्मन्येव यथास्थान———सप्त कला ७—आत्मधेया

२—पुत्रे-ओप्यैकविंशते ———षट् कला ६—पुत्रात्मधेया

३—पौत्रे-ओप्तपञ्चदशभ्य —— पञ्च कला ५—पौत्रात्मधेया

४—प्रपौत्रे-ओप्तदशभ्य ———चतस्र कला ४—प्रपौत्रात्मधेया

५—वृ० प्र०—ओप्तेभ्य षड्भ्य — तिस्र कला ३—वृद्धप्रपौत्रात्मधेया

६—अति०—ओप्तेभ्यस्तिसृभ्य—द्वे कले २—अतिवृद्धप्रपौत्रात्मधेया

७—वृ० अति०—ओप्तावशिष्टा——एका कला १—वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रात्मधेया

'ऋणमस्मिन् संनयति'—

उक्त क्रमानुसार अष्टाविंशतिकल आत्मधन का ६ सन्तानों में आवाप होने से स्वय बीजी पुरुष में आत्मधनरूप से केवल ७ मात्राएँ (आत्मप्रतिष्ठा के लिए) बच रहतीं हैं। प्रत्येक पुरुष

अपने पिता का पुत्र है पितामह का पौत्र है, प्रपितामह का प्रपौत्र है, वृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है, अतिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र है। इस आपेक्षिक भाव से प्रत्येक पुरुष परम्परया आगत ५६ ऋणकलाओं से, स्वोपार्जित २८ कलाओं से ८४ कल बन जाता है। इनमें से ऋण की ५६ में से इसमें २१ आत्मधेयरूप से बचती हैं, धन की २८ कला में से आत्मधेयरूप से ७ कला बचती हैं। सम्भूय आत्मधेय कला २८ बच रहती हैं। प्रत्येक पुरुष के शुक्रारम्भिकन्न महानात्मा में २८ कला नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं।

प्रकरणार्थ यही है कि, स्वप्रतिष्ठा के लिए, पितृऋण के द्वारा प्राप्त ३५ कलाओं के परिशोध के लिए प्रजोत्पादनकर्म्म (पुत्रोत्पादन) आवश्यकरूप से अपेक्षित है। जिसके पुत्र उत्पन्न नहीं होता, वह ऋण-धन से भी मुक्त नहीं होता, साथ ही अपने आत्मधन से भी वह वञ्चित रह जाता है, जैसा कि-'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि से स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उत्पन्न पुत्र का मुखदर्शन आवश्यक है। दृष्टि में सत्यतत्त्व विद्यमान है, सत्य ही श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर है। उधर श्रद्धासूत्र के द्वारा ही प्रजातन्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध सुरक्षित रहता है। इसी सम्बन्धरक्षा के लिए पुत्रमुखदर्शन को धर्म्माचार्य्योंने आवश्यक बतलाया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> "ऋणमस्मिन् संनयति, अमृतत्त्वं च गच्छति।
> पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवितो मुखम् ॥" (वसिष्ठ १७ अ०)।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, उत्पन्नपुत्र के साथ एक बार यदि पिता का दृष्टि-सम्बन्ध हो गया, एवं दुर्दैववश पुत्र का यदि पिता से पहिले निधन हो गया, तब भी आनृण्यकर्म्म में कोई क्षति नहीं होती। यदि पुत्र पिता के दृष्टिसम्बन्ध से वञ्चित रहता हुआ कालकवलित हो गया, तो आनृण्यकर्म्म संशयास्पद बन जाता है। बीजी पिता अपनी २८ में से २१ का पुत्र को ऋणी बनाता हुआ, ५६ पारम्परिक मात्राओं से ३५ का पुत्र पर उत्तरदायित्व डाल देता है, इसी अभिप्राय से 'ऋणमस्मिन् संनयति' कहा गया है। अपुत्री, अतएव उभयलोक-प्रतिष्ठा से वञ्चित, एवं पुत्री, अतएव उभयलोक प्रतिष्ठा से युक्त पुरुष की प्रातिस्विक दशाओं का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—"अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य लोकोऽस्ति"।

२—"प्रजाः सन्त्वपुत्रिणः" इत्यभिशापः।

३—"प्रजाभिरग्नेऽमृतत्त्वमस्याम्" इत्यपि निगमो भवति।

४—"पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥"

चतुर्थ वचन बीजी की जीवितन्शा से सम्बन्ध रखता है। बीजी–पिता अपनी जीवितदशा मे (जीतेजी) पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इन तीन पीढियों को यदि अपनी ऑखों से देख लेता है, तो उस का भूतात्मा 'ब्रध्नस्य विष्टप्' नामक, पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित 'नाक' नाम से प्रसिद्ध सौर-तत्त्वानुशय से युक्त हो जाता है। सौरतत्त्व हिरण्मय है, जिस सौरतत्त्वातिशय के प्रवेश से सुवर्ण धातु भी 'हिरण्य' कहलाया है। यही कारण है कि, प्रपौत्रजन्मोत्सव पर प्रपितामह (पडदादा) को सोने की सीढी पर चढाया जाता है। यह प्राकृतिक हिरण्मयी–नाकगति का अभिनयमात्र है।

यदि किसी पुरुष के स्वय के पुत्र उत्पन्न नहीं होता, तो उस की ऋणमुक्ति का क्या उपाय ?, इस सम्बन्ध मे शास्त्र (स्मृति) ने यह व्यवस्था की है कि समानोदर (सहोदर) अनेक भ्राताओं मे से यदि किसी एक के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो इससे वे सभी समानोदर पुत्रवान् बन जाते हैं। क्योंकि समानरूप से नित्त ऋणतन्तुओं का परिशोध एक के पुत्र हो जाने से गतार्थ है। इसी अभिप्राय से वसिष्ठ ने कहा है—

बहूनामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवान्नरः ॥
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रवन्त इति श्रुति. ॥ १ ॥
बह्वीनामेकपत्नीनामेका पुत्रवती यदि ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रवत्य इति श्रुतिः ॥ २ ॥ (वसिष्ठस्मृति)।

द्वादशविधपुत्रस्वरूपपरिचय—

धर्म्मशास्त्र में जिन द्वादशविध पुत्रों का उल्लेख उपलब्ध होता है, उनमे से प्रथम क्षेत्री (औरस) पुत्र के अतिरिक्त शेष ११ पुत्र श्रौतविज्ञानसिद्ध ऋणमोचनकर्म्म से सम्बद्ध हैं, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न की कोई मीमासा न करते हुए प्रसङ्गोपात्त यहॉं केवल उनका स्वरूप उद्धृत कर दिया जाता है। दत्तकविधि के सम्बन्ध में अभी मौनपक्ष ही श्रेयपन्था है। तत्त्वदर्शी विद्वानों के लिए कारण परोक्ष नहीं है। परन्तु 'पुत्र' नाम से व्यवहृत १२ विभाग यत्रतत्र स्मार्तग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन १२ हो मे पूर्वषट्क 'दायाद' है, इसे कुलक्रमानुगत सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है। उत्तर-षट्क 'अदायाद' माना गया है। एव ये पुत्र विभाग निम्न लिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

१—क्षेत्री	(१)	षड्-दायाद	१—दत्तक	(७)	षड्-अदायाद
२—दौहित्र	(२)		२—क्रीत	(८)	
३–क्षेत्रज	(३)		३—कृत्रिम	(९)	
४—गूढज	(४)		४—दत्तात्मा	(१०)	
५—कानीन	(५)		५—सहोढज	(११)	
६—पौनर्भव	(६)		६—अपविद्ध	(१२)	

१–क्षेत्री—

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, चारों में से किसी एक शास्त्रपद्धति से परिणीता धर्म्मपत्नी में यथाविधि उत्पन्न पुत्र ही 'क्षेत्री' है। यही 'औरस' पुत्र कहलाया है, जैसा कि–'औरसो धर्म्मपत्नीज' इत्यादि याज्ञवल्क्यस्मृति से प्रमाणित है। उक्त चारों विवाहों के धर्म्मशास्त्र में निम्न लिखित लक्षण बतलाए गए हैं—

"ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम्" (या० स्मृ० आ० ५८।)।

"कुल-शील-वय-आदि लक्षणों से परीक्षित वर का सम्मानपूर्वक निमन्त्रण कर स्वशक्त्यनुसार वस्त्रालङ्कारादिपूर्वक कन्यादान करना ही '१–ब्राह्मविवाह' है। ऐसी कन्या से उत्पन्न औरस पुत्र अपने सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, एवं सगोत्रसप्तक, इन २१ पितृपरम्पराओं को पवित्र करता है। एवं पिता-पितामहादि १० पूर्वपुरुषों को तथा स्वपुत्र-पौत्रादि १० उत्तरपुरुषों को स्वयं अपने आपको, इस प्रकार इन २१ पुरुषों को पवित्र करता है"।

२—यज्ञस्थऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम्।
चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट्॥" (या० ५९।)।

"अपने श्रौत वितानयज्ञ में ऋत्विक्‌रूप से वृत योग्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को कन्यादान करना '२–दैवविवाह' है। एवं गोमिथुन पूर्वक कन्यादान करना '३–आर्षविवाह' है। दैवविवाह से कन्या में उत्पन्न पुत्र अपने सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, इन १४ पितृपरम्पराओं को, तथा पिता-पितामहादि सात पूर्वपुरुषों को, तथा पुत्र-पौत्रादि सात उत्तरपुरुषों को, इस प्रकार १४ पुरुषों को पवित्र करता है। आर्षविवाह से उत्पन्न होने वाला पुत्र पिता, पितामह, प्रपितामह ३ पूर्वपुरुषों को, एवं पुत्र पौत्र-प्रपौत्र, इन तीन उत्तर पुरुषों को, सम्भूय ६ पुरुषों को पवित्र करता है"।

४—इत्युक्त्वा चरतां धर्म्मं सह या दीयतेऽर्थिने।
स कायः पावयेत्तज्जः षट् षट् वंश्यान् सहात्मना॥ (या० ६०।)

"विवाहकामुक अर्थी के लिए 'सह धर्म्मं चरताम्' इस सङ्कल्पोच्चारण के साथ जो कन्यादान होता है, वही '४–प्राजापत्यविवाह' कहलाया है। प्राजापत्यविवाह से उत्पन्न पुत्र पिता-पितामहादि ६ पूर्वपुरुषों को, पुत्र-पौत्रादि ६ उत्तर पुरुषों को, स्वयं अपने आपको, सम्भूय १३ पुरुषों को पवित्र करता है"।

२–'दौहित्रः' (औरससमः)

"अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्य यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति" ॥ (वसिष्ठस्मृति. १७।१८) ।

"बिना भ्राता की यह कन्या मैं आपको इस सन्धा (शर्त्त) के साथ दान कर रहा हूँ कि, इसके जो प्रथम पुत्रसन्तान होगी, वह मेरा (कन्यादानकर्त्ता–कन्यापिता) का पुत्र होगा," इस प्रकार जो कन्यादान होता है, उस कन्या से उत्पन्न पुत्र 'दौहित्रपुत्र' कहलाया है । रक्तसम्बन्ध के सन्निकट होने से 'द्वितीयः पुत्रिकेव' के अनुसार इसे द्वितीयपुत्र मान लिया गया है । स्वसङ्कल्प द्वारा इस भविष्यत्–कन्यापुत्र में 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' सिद्धान्तानुसार कन्यादान समय में ही दाता स्वगोत्र–सम्बन्ध स्थापित कर देता है । इसी आधार पर–'तत्समः पुत्रिकासुतः' (या० ८।१२८) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

——२——

३–क्षेत्रजः–

"क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा" (या० ८।१।२८)
"तद्लाभे नियुक्तायां क्षेत्रजः" (वसिष्ठः १७।१४)

इत्यादि वचनों के अनुसार सगोत्रबन्धु के द्वारा, अथवा सपिण्ड देवर के द्वारा नियोगविधि से उत्पादित पुत्र ही 'क्षेत्रज' कहलाया है ।

"अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥"

उपर्युक्त स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार–'अपुत्रां गुर्वनुज्ञातः' इत्यादि शास्त्र–विधिपूर्वक पर-भार्य्या में अन्य पुरुष से उत्पादित पुत्र ही 'क्षेत्रज' कहलाया है । इस नियोगविधि का अधिकारी देवरादि स्ववंश का ही व्यक्ति माना गया है । यदि नियोगकर्त्ता देवर स्वयं भी अपुत्री है, तो नियोग-विधि से परक्षेत्र में उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र बीजी, क्षेत्री, दोनों का पुत्र कहलाता है । यदि नियुक्त देवरादि पुत्रवान् हैं, केवल क्षेत्री के लिए ही यदि वह पुत्र उत्पन्न करता है, तो ऐसी दशा में वह क्षेत्रज केवल क्षेत्री का ही रिक्थहर, तथा पिण्डदाता बनता है । इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भगवान् मनु कहते हैं–

फलं त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणा बीजिना तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥

परक्षेत्र के साथ नियोग करना शास्त्रसम्मत है, परन्तु वह परक्षेत्र कैसा ?, क्या विधवा स्त्री नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न कर सकती है ?, नहीं, सर्वथा नहीं। नियोग की अधिकारिणी कौन है ?, इस प्रश्न की मीमांसा करते हुए मनु ने व्यवस्था की है कि—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ॥
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ॥
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ २ ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तेयातां तु कामतः ॥
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ३ ॥

जहाँ (राज्यतन्त्रानुशासक प्रजाव्यवस्थासापेक्ष राजवंश में) वंशोच्छेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, उस परिस्थिति में विधवा स्त्री से अपने देवर से, अथवा अन्य सपिण्ड से नियोग विधिद्वारा सन्तानोत्पत्ति की जा सकती है, जिस का एकमात्र लक्ष्य है—अराजकता का निरोध। इस विधवा से नियोग करने वाला अपने शरीर से घृत लिप्त कर सर्वथा मौन रहता हुआ रात्रि में बड़े संयम के साथ कामचेष्टाओं से अपने आप को सर्वथा बचाता हुआ ही नियोग करेगा। नियोगविधि में प्रवृत्त स्त्री, पुरुष, दोनों में से किसी एक ने भी काम-चेष्टा का अनुगमन किया, तो दोनों का पतन हो जायगा।

उक्त व्यवस्था के अनन्तर 'विधवा' का प्रश्न उपस्थित हुआ। नियोगविधि में 'विधवा' से कौन गृहीत है ?, इस प्रश्न का उत्तर है—'वाग्दान से अन्य मृतपति की स्त्री'। जिस के प्रति कन्या का वाग्दान (सगाई) हो जाता है, आर्षपद्धति के अनुसार वही उस का 'पति' बन जाता है। यदि दुर्भाग्य से वाग्दान होने के अनन्तर, तथा साप्तपदीन से पहिले (विवाह से पहिले) वह पति मर जाता है, तो वह वाग्दत्ता विधवा बन जाती है। 'सकृत् कन्या प्रदीयते' सिद्धान्त के अनुसार वाग्दान समय में ही कन्यादान गतार्थ है। अब पुनः अन्य के लिए इस का दान अवरुद्ध है, क्योंकि वाग्दान कर्म्म से दाता पिता के स्वत्त्व की निवृत्ति हो चुकी है, एवं भावी पति के स्वत्त्व का स्थापन हो चुका है। अब इस वाग्दत्ता का वरण कैसे चले ?, इस प्रश्न समाधि के लिए ही, ऐसी विधवा के लिए ही उक्त नियोगविधि विहित हुई है। विवाहानन्तर जिस का पति मर जाता है, उस विधवा के लिए तो यह नियोगविधि भी सर्वथा अवरुद्ध है। हाँ, द्विजातिवर्गातिरिक्त शूद्रवर्ग में ऐसी विधवा भी नियोगविधि का अनुगमन कर सकती है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, यदि कहीं राज्यतन्त्रोच्छेद का अवसर आ जाय, तो क्षत्रियराजा के लिए भी ऐसा नियोग विधान अपवाद रूप से माह्य बन जाता है। परन्तु सामान्यतः मृतपति की विधवा के लिए नियोग-विधान सर्वथा वर्ज्य ही है। इसी व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर मनु ने कहा है—

"नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम् ॥ १॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ २ ॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ॥
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ४ ॥
ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ॥
नियोजयत्यपत्यार्थे तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ५ ॥"

× × × × × ×

"यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ॥
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः " (६)।

—३—

४—गूढजः—

'गूढे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः' (या०स्मृ० २।१२९।) के अनुसार अपने पति के घर में ही किसी स्वजातिपुरुष से उत्पन्न पुत्र 'गूढज' कहलाया है। इस के सम्बन्ध में सवर्णजत्त्व का निश्चय होना आवश्यक माना गया है। ऐसी यह गूढज सन्तति भ —'बीजाद्योनिर्बलीयसी' के अनुसार 'क्षेत्री' की ही मान ली गई है।

—४—

५—कानीनः—

१—"कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः " (या० २ १२९)
२—"पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ " (मनु)
३—"या पितृगृहे-असंस्कृता कामादुत्पादयेत्, मातामहस्य पुत्रो भवतीत्याहुः " (वसिष्ठ १७। २४)

उक्त वचनों के अनुसार पिता के ही घर में यदि गुप्तरूप से किसी सवर्ण पुरुष के सयोग से कन्या के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो वह पुत्र 'कानीन' कहलाता है। यदि इस दशा में कन्या अविवाहित होती है, तो यह कानीनपुत्र 'बीजाद्योनिर्बलीयसी' न्याय से मातामह का पुत्र मान लिया जाता

है। इस प्रकार से ऐसा कानीन इस मातामह का 'दौहित्र' लक्षण कानीन पुत्र बनता है। यदि कन्या विवाहित है, और उस समय मातामह के घर में प्रच्छन्न रूप से अन्य सवर्ण सम्बन्ध से इस के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो उस दशा में यह वोढा-पति का ही पुत्र माना जाता है।

—५—

६—पौनर्भवः—

"अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः" (या० २।१३०)

"या कौमारं भर्तारमुत्सृज्य-अन्यैः सह चरित्वा, तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति, सा पुनर्भूर्भवति। या च क्लीबं, पतितं, मुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्य-अन्यं पतिं विन्दते, मृते वा, सा पुनर्भूर्भवति" (वसिष्ठ १७।२१)।

इत्यादि वचनों के अनुसार पूर्वलक्षण क्षत,अथवा अक्षत पुनर्भू स्त्री में सवर्ण पुरुष से उत्पन्न पुत्र 'पौनर्भव' कहलाया है।

—६—

७—दत्तकः—

"दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्" (या०२।१३०)।

"माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥" (मनुस्मृतिः)

"यं मातापितरौ दद्याताम्" (वसिष्ठः १७।२६)।

इत्यादि वचनों के अनुसार सवर्ण पुत्र को यदि उस के माता पिता प्रसन्नता पूर्वक सोदक संकल्प पूर्वक स्वस्वत्त्व हटा कर उसे परःस्वत्त्व से युक्त कर देते हैं, तो वह पुत्र गृहीता का 'दत्तक' (दानप्राप्त) पुत्र कहलाता है। यदि दाता के एक ही पुत्र है, तो उस दशा में 'न त्वेकं पुत्रं दद्यात्' के अनुसार दाता को जहाँ देने का निषेध है, वहाँ 'प्रतिगृह्णीयाद्वा' के अनुसार गृहीता को लेने का भी निषेध है। साथ ही—'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः' सिद्धान्त के अनुसार अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र के भी दान का निषेध है।

—७—

८—क्रीतः—

"क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः" (या० २।१३१)।

"क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥" (मनुः)

इत्यादि वचनों के अनुसार सवर्ण मातापिता के द्वारा उनकी इच्छा से निश्चित धनराशि देकर क्रय किया हुआ पुत्र 'क्रीतपुत्र' कहलाया है। 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार इस क्रीत पुत्र के साथ क्रयकर्त्ता के भूतात्मा का वित्त द्वारा सम्बन्ध हो जाता है। इसी आधार पर राजर्षि हरिश्चन्द्र ने अपने वरुणयज्ञ में स्वपुत्ररक्षार्थ अजीगर्त्त को निश्चित धनराशि देकर शुन शेप को अपना क्रीतपुत्र बना कर इससे वरुणप्रसाद प्राप्त किया था।

——८——

९–स्वयंकृतः (कृत्रिम.)—

किसी सवर्णवंश में कोई योग्य पुत्र विद्यमान है। माता-पिता उसके मर चुके हैं। उस मातृपितृविहीन सवर्णपुत्र को स्व-धन क्षेत्रादि के प्रलोभन द्वारा अपना पुत्र बना लेना ही 'कृत्रिम' विधि है। पुत्रार्थी स्वयं अपनी कामना से इसे पुत्र बनाता है, अतएव 'कृत्रिमः स्यात् स्वयंकृतः' (या० २।१३१) के अनुसार इस कृत्रिमपुत्र को 'स्वयंकृत' भी कहा जा सकता है।

——९——

१०–स्वयंदत्त. (दत्तात्मा)—

एक सवर्ण मातापिता का पुत्र माता-पिता के निधन से, अथवा उनके भरणपोषणासामर्थ्य से, अथवा तो और किसी कारण से अनाथ बन जाता है। ऐसा अनाथ आश्रय खोजता हुआ सवर्ण-दम्पती के आश्रय में पहुँचता है। वहाँ पहुँच कर—'मैं आज से आपका धर्म्मपुत्र हूँ, मुझे आश्रय दीजिये' कहता हुआ पुत्ररूपेण शरण आ जाता है, वही 'दत्तात्मा तु स्वयं दत्तः' (या० २।१३१) के अनुसार 'दत्तात्मा' कहलाया है। इसे ही लोक में 'पोष्यपुत्र' भी कहा गया है। धर्म्मपुत्र, धर्म्म-पिता, धर्म्ममाता धर्म्मभ्राता, धर्म्मभगिनी इत्यादि व्यवहार भी यहाँ प्रसिद्ध हैं।

——१०——

११–सहोढजः—

"गर्भे विन्नः सहोढजः" (या० २।१३१)।

"या गर्भिणी संस्क्रियते, तस्यां जातः सहोढः पुत्रो भवति" (वसिष्ठ)

इत्यादि के अनुसार गर्भिणी का पुत्र (जो कि गर्भिणी बन कर ही विवाहित होकर पति के घर जाती है, उसका सवर्णपुत्र) 'सहोढज' कहलाया है। यह पुत्र भी 'बीजाद्योनिर्बलीयसी' इस मानवसिद्धान्त के अनुसार वोढा का ही पुत्र कहलाया है।

——११——

१२–अपविद्धः—

"उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत् सुतः" (या॰ ८। १३२।) के अनुसार माता-पिता की निर्दयता से घरसे निकाला हुआ पुत्र गृहीता का पुत्र बनकर 'अपविद्ध' कहलाया है।

——१२——

इस प्रकार धर्म्मशास्त्र ने १२ पुत्रों का उल्लेख किया है। वसिष्ठ की दृष्टि में स्वयंकृत रूप कृत्रिमपुत्र, तथा स्वयं दत्तलक्षण दत्तात्मा, दोनों अभिन्न हैं। इन के मतानुसार शूद्रापुत्र १२वाँ होता है। इन में से औरसपुत्र को छोड़ कर शेष ११ पुत्र तन्तुवितानलक्षण सापिण्ड्यभाव के रक्षक हैं, अथवा नहीं ?, यह मीमांस्य विषय है। प्रकृत में तो इस पुत्रभेदसन्दर्भ से यही कहना है कि, धर्म्माचार्य्यों की दृष्टि में आनृण्यभाव के लिए प्रजोत्पादन एक आवश्यक कर्म्म है, जिसका स्वयं श्रौताचार्य्यों ने भी बड़े आटोप के साथ समर्थन किया है। पुत्रोत्पादन के सम्बन्ध में स्वयं श्रुति ने जो फलसन्दर्भ हमारे सम्मुख रक्खा है, यह भी प्रसङ्गतः जान लेना सामयिक ही मान लिया जायगा।

प्रजोत्पादनादेश—

१—"अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम!"
—ऋक्सं॰ १०। १८३। १।

पुम्पसृष्टि के मूलाधाररूप तन्तुवितान के द्रष्टा महर्षि प्राजापत्य पुरुष को सम्बोधन करते हुए, पुत्रोत्पादन कर्म्म को इस के लिए आवश्यक मानते हुए आदेश दे रहे हैं कि—"हे पुरुष! हे पुत्रकाम! मैंने अपने विज्ञानचक्षु से यह देख लिया है कि, तू अपने शुक्रस्थ महानात्मा से चेकितान (कर्म्मक्रियमाण) है। उसी महानात्मा के (अपने पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के प्रजननरूप तप (आभ्यन्तर व्यापार) से, किंवा महानात्मानुगत पितृसहः के दानलक्षण * तप से उत्पन्न हुआ है, एवं उसी तप से (महानात्मगत तन्तुवितान से) तू इस पृथिवी पर (तन्तुसम्पत्ति ले कर) व्याप्त हुआ है। ऐसी दशा में मेरा यह आदेश है कि (उस तपोरूप तन्तु की रक्षा के लिए, वितान के लिए) इस पृथिवी पर प्रजा, और सम्पत्ति से रममाण बनता हुआ प्रजा उत्पन्न कर"।

——*——

२—"अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे!"
ऋक्सं॰ १०। १८३। २)।

* एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" (तैत्तिरीयब्राह्मण)

अत्र शुक्राहुति-क्षेत्रभूता पत्नी को सम्बोधन करते हुए ऋषि कहते हैं कि, "हे स्त्री! हे-पुत्रकामे! मैंने यह जान लिया है कि, ऋतुकाल में तू पुरुष के साथ दाम्पत्यभाव की इच्छा रखती है। मैं चाहता हूँ कि, तू तरुणी बने, एवं इस दाम्पत्यभाव से प्रजा उत्पन्न करे, (इस प्रकार तुम दोनों प्रजा-तन्तु का वितान करो। यही तुम्हारे महानात्मा का तप है, इसी तप के द्वारा तुम्हारे तन्तु विश्व में व्याप्त होंगे)।"

—— ※ ——

३—अहं गर्भमदधामोषधीषु, अहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यां, अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्"

— ऋक्सं० १०।१८३।३।

"ओषधिलोको वै पितरः" (शत०१३।८।१।२०) के अनुसार पितृप्राणमय चान्द्रसोम से उत्पन्न अन्न में ही सर्वप्रथम पितृप्राण प्रतिष्ठित होता है। यही भावी संतति का प्रथम ओषधी में गर्भाधान है। ओषधि (अन्न) द्वारा यह पुरुष में गर्भभूत होता है, जैसाकि—'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति' (ऐ० ब्रा०) इत्यादिरूप से पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पुरुष के द्वारा शुक्राहुतिरूप में परिणत तन्तु कालान्तर में विश्वगर्भ की वस्तु बन जाता है। इसी तन्तुसमष्टि के द्वारा परम्परया आहुत हुआ यह धन पुत्र-पौत्रादि-अन्य पुत्रों का उपादान बनता है"।

—— ※ ——

ऋक्संहितापठित उक्त तीन मन्त्रों से मन्त्रर्षि की ओर से जिस प्रजोत्पादनकर्म्म का आदेश हुआ है, ब्राह्मण ने उसी आदेश का बड़े विस्तार के साथ उपबृंहण करते हुए पुत्रसन्तति की आवश्यकता का समर्थन किया है। सुप्रसिद्ध 'हरिश्चन्द्राख्यान' के द्वारा ही भगवान् ऐतरेय ने इन फलश्रुतियों का स्पष्टीकरण किया है, जिनका स्मृतिग्रन्थों में यत्र-तत्र समर्थन प्राप्त होता है। कथानक यों विहित हुआ है—

पुत्र माहात्म्यप्रदर्शक वैदिक आख्यान—

"इक्ष्वाकुवंशोद्भव, अतएव 'ऐक्ष्वाक' नाम से प्रसिद्ध, वेधस के पुत्र, अतएव वैधस नाम से व्यवहृत सत्यवादी राजर्षि हरिश्चन्द्र एक सुप्रसिद्ध धर्म्मात्मा राजा हो गए हैं। आपके यद्यपि १०० पत्नियाँ थीं, परन्तु दुर्भाग्य से पुत्र एक से भी प्राप्त नहीं हुआ। सुप्रसिद्ध पर्वत तथा नारद महर्षि सदा आपके ही समीप पुरोहित के रूप से निवास करते थे। एकवार हरिश्चन्द्र ने नारद महर्षि को लक्ष्य बनाते हुए उनसे प्रश्न किया कि—

"य त्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न ।
किंस्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद !" ।

"हे महर्षे ! क्या मूर्ख, क्या विद्वान्, सभी पुत्र की कामना किया करते हैं। इस पुत्र से इन पुत्रैषणा रखने वालों को क्या लाभ होता है ?, क्या ये पुत्र के लिए इतना प्रयास करते हैं ?, इन प्रश्नों का समाधान कीजिए"। हरिश्चन्द्र ने प्रश्न किया एक, नारद ने १० उत्तर राजर्षि के सम्मुख रक्खे। नारद कहने लगे—

१—"ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति ।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवितो मुखम् ॥

"पुत्रोत्पादन कर्त्ता जीवीपिता शुक्रस्थ महानात्मा में आरम्भ से प्रतिष्ठित ८६ पितृसहा में से ४८ सहों का ऋण का उत्तरदायित्व पुत्र पर डालता हुआ अनृणी बन जाता है। स्वयं अपनी ८८ धनमात्राओं में से २१ का प्रदान करता हुआ पृथिवी पर स्वप्रतिष्ठा से अशातमना प्रतिष्ठित होता हुआ निधनानन्तर सात कला से चन्द्रलोक (अमृतलोक-सोमलोक) में अपत्यप्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित हो जाता है"। इस प्रकार आनृण्य, उभयलोकप्रतिष्ठा, ही पुत्रकामना का प्रथम फल है। "अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन् मन्यते, अथ पुत्रमाह-त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः। सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते" इत्यादि वचनान्तर भी इसी फलश्रुति का समर्थन कर रहे हैं।

——१——

२—"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि ।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥"।

"पृथिवी, जातवेदा नामक अग्नि, एवं पानी, इन तीनों में प्राणिवर्ग के लिए जितने भोग हैं, एक पिता के लिए उसके पुत्र में इन सब से अधिक भोगसामग्री विद्यमान है। स्थूलशरीर पार्थिव है, सूक्ष्मशरीर अर्थविज्ञानानुगत, अतएव जातवेदा नाम से प्रसिद्ध प्राणाग्नि है, एवं कारणशरीर आपोमय महान् है। तीनों शरीरों से अतिरिक्त प्राणी के लिए भोग्य और क्या बच रहता है। परन्तु एक पुत्र का महत्त्व इन तीनों से भी अधिक इसलिए है कि, स्थूल, सूक्ष्म शरीरों की प्रतिष्ठारूप आपोमय महानात्मा की पूर्णता, आनृण्य, उभयलोक प्रतिष्ठा एकमात्र पुत्रोत्पादन पर ही निर्भर है। अतएव इसे पिता का सर्वश्रेष्ठ भोग (आत्मवित्त) कहा जा सकता है।"

——२——

३—"शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः ।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी" ॥

"स्वप्रभवभूत चान्द्रलोक में प्रतिदिन महःप्राणात्मक पितर स्वांशभूत पुत्रद्वारा प्रदत्त पिण्ड से प्रति कन्यालयश्राद्धपक्ष में चान्द्रज्योतिर्लक्षण बलप्राप्त करते हुए अपूर्णतालक्षण तम को हटाते रहते हैं। इस बलप्राप्ति का कारण यही है कि, पुत्र स्वयं पिता का अंश है। इसका उस पितर के साथ चन्द्र नाडी द्वारा अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इसी सम्बन्ध सूत्र द्वारा पुत्रप्रदत्त रस तत्-पिता-पितामहादि पितरों में बलाधान का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त पुत्रप्रदत्त वैतरणीदान से चन्द्रलोक में जाते हुए पितर 'इरावती' नाम की व्योम नदी का सन्तरण करने में समर्थ होते हैं।"

—३—

४—"किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः" ॥

'मलोपलक्षित गृहस्थाश्रम, अजिनोपलक्षित ब्रह्मचर्य्याश्रम, श्मश्रूपलक्षित वानप्रस्थाश्रम, तथा तप उपलक्षित सन्यासाश्रम, ये चार आश्रम व्यक्तिप्रतिष्ठा के, व्यक्तिविकास के कारण माने गए हैं। साधक ब्रह्मचर्य्याश्रम के द्वारा साध्य गृहस्थाश्रम से द्विजाति अपनी आध्यात्मिक कर्म्मकला को पूर्ण बनाता है। एवं साधक वानप्रस्थाश्रम द्वारा साध्य सन्यासाश्रम से ज्ञानकला को पूर्ण बनाता है। इस प्रकार आश्रमचतुष्टयी के अनुगमन से यह पूर्ण बन जाता है। यही इसका अपवादरहित परमपुरुषार्थ है, अनन्य उभयलोक प्रतिष्ठा है। परन्तु सापिण्ड्यविज्ञानवेत्ताओं का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, बिना पुत्र के चारों आश्रम व्यर्थ हैं। पुत्र परम्परा के बिना चारों का कोई महत्त्व नहीं। पुत्र ही वस्तुतः अपवाद रहित लोकप्रतिष्ठा है। बिना इसके पूर्णता असम्भव है।"

—— ——

५—"अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्" ॥

"अग्नीषोमात्मकप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" के अनुसार भुक्तान्न शारीराग्नि में हुत हो कर पहिले बलप्रद 'ऊर्क्' नामक रस विशेष में परिणत होता है, अनन्तर ऊर्क् रस ओज प्रवर्त्तक प्राण रूप में परिणत होता है। यही अन्नात्मक, किंवा प्राणात्मक आध्यात्मिक यज्ञ शरीर की अन्तःप्रतिष्ठा (जीवन) का कारण है। वस्त्र शरीर की बाह्यप्रतिष्ठा के कारण हैं। अलङ्कार सौन्दर्य्य के कारण हैं। गो-अश्व-आदि पशु बहिर्वित्तस्थानीया जाया की भाँति बाह्यभोग के कारण हैं। विवाहसम्बन्धेन परिणीता जाया जीवनसङ्गिनी है। इस प्रकार लोकयात्रा में केवल कन्या को छोड़ कर अन्न, वस्त्र, हिरण्य, पशु, जाया, सभी सुख के साधन हैं। परन्तु पुत्रसुख की तुलना में ये सब सुख अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित माने जायँगे। कारण यही है कि, अन्नादिसुख केवल ऐहलौकिक सुख हैं। उधर

पुत्र ऐहलौकिकसुख साधन के साथ साथ आन्तरात्मलक्षण पारलौकिक सुख का भी साधन बन रहा है, जैसा कि—'अमृतत्वं च गच्छति' इत्यादि से प्रथम मन्त्रार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है।

—५—

६—पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥

"स्मरण रखना चाहिए कि, पुत्र पिता का साक्षात् रूपान्तर है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि, वह विश्व में अपने आप को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया करता है। इस की निर्बलता मानिए,अथवा प्राकृतिक स्वभाव कहिए, मनुष्य अपनी दृष्टि में अपने आप को अन्यों की अपेक्षा बड़ा-बुद्धिमान् समझता है। साथ ही अन्य पुरुषों की उत्कृष्टता से ईर्ष्या रखता है। परन्तु पुत्र के प्रति सर्वथा विपरीत भावना रहती है। पुत्र ज्यों ज्यों पिता से उत्कृष्ट होता जायगा, त्यों त्यों पिता का अन्तरात्मा विकसित होता जायगा। क्यों ?, क्यों नहीं यहाँ उक्त प्राकृतिक नियम युक्त होता ?। उत्तर स्पष्ट है। अन्य के प्रति ईर्ष्या बतलाई गई है। पुत्र तो स्वयं इस का आत्मा है। पिता ही पुत्र है। पुत्र की यश श्रीवृद्धि पिता की ही यश श्रीवृद्धि है। अपने पुरुषाकार से पिता अपनी स्त्री का जहाँ पति है, वहाँ रेतोरूपाकार से यही अपनी स्त्री का पुत्र बनता है। पुरुषाकार की दृष्टि से जाया अपने पति की पत्नी है, किन्तु रेतोरूपाकार की दृष्टि से वही अपने पति की माता है। स्वयं पिता रेतोरूप से आहुत हो कर दशमासानन्तर पुत्र रूप से धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। 'आत्मनस्तु कामाय०' सिद्धान्तानुसार हम स्वयं अपने लिए अतिशयरूप से प्रिय हैं। पुत्र हमारा ही रूपान्तर है। अतएव आत्मवत् प्रिय है। भला ऐसे पुत्र की आवश्यकता कौन स्वीकार न करेगा।"

—६—

७—"तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीयते"॥

'एक योग्य पति अपनी पत्नी को * 'जाया' समझता है, आभूति मानता है, भूति कहता है। त को स्मरण रखना चाहिए कि, उस का यह समझना, मानना, कहना एकमात्र पुत्रोत्पत्ति पर ही

* लोकगीतों में प्रसवानन्तर मङ्गलगान होता है। उसमें—'थे तो 'जाया' छ लाडन पूत' यह वाक्य आता है। 'हे पुत्रवती ! तुमने प्रिय पुत्र उत्पन्न किया है, अतएव तुम सचमुच 'जाया' हो, यही इस का तात्पर्य है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, लोकगीतसाहित्य में केवल इसी अवसर पर पुत्रवती के लिए ही 'जाया' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

निर्भर है । 'अस्या रेतोरूपेण जायते' ही आया शब्द का निर्वचन है। बिना पुत्र के जाया को जाया समझना व्यर्थ है। 'भवत्यस्यां पुत्ररूपेण पतिः' यह भूति शब्द का निर्वचन है, एव-'रेतोरूपेण-'आ'-गत्य भवति पुत्ररूपेण पतिः' यह आभूति शब्द का निर्वचन है। इन की सार्थकता भी पुत्रोत्पादन पर ही अवलम्बित है।"

—७—

८—"देवाश्चैतामृषयश्च तेजः समभरन् महत्।
 देवा मनुष्यानब्रुवन्नेषा वो जननी पुनः" ॥

"प्रकरणारम्भ मे ऋण का परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य महान् के गर्भ मे इस ओर से सार देवतत्त्व का, उस ओर से स्वायम्भुव ऋषितत्त्व का समावेश है, स्वय महान् पितृतत्त्व प्रधान है। इस प्रकार शुक्रस्थ महानात्मा ज्ञानतन्तुप्रवर्त्तक ऋषि, यज्ञतन्तुप्रवर्त्तक देव, दोनों तत्त्वों से युक्त हो कर ही स्वपितृतत्त्व से प्रजानन्तुवितान मे समर्थ होता है। यही इस महान की महत्ता है। सामान्य मनुष्य समझते होंगे कि, पुत्रोत्पादन से केवल पितृ ऋण से ही मुक्ति होती है। परन्तु उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, पितृऋण के साथ साथ आगत ऋषि, देवमाता द्वारा यही पुत्र इन दोनों का भी आंशिकरूप से परिशोध कर देता है। पुत्र के द्वारा न केवल पितृवंश का ही वितान होता, अपितु ज्ञानधारा, यज्ञधारा भी परम्परया प्रवाहित रहती है। पुरुष के शुक्र मे प्रतिष्ठित त्रिमूर्त्ति इसी महानात्मा को लक्ष्य मे रखते हुए वैज्ञानिकों ने कहा है कि, हे मनुष्यो ! यही स्त्री तुम्हारी जननी है। अर्थात् इसे पुत्रोत्पादन द्वारा जननी बनाते हुए ही तुम ऋणत्रयी का परिशोध कर सकते हो।"

—८—

९—"नापुत्रस्य लोकोऽस्ति, इति तत् सर्वे पशवो विदुः।
 तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति" ।

"मानव प्रजा पुत्र को उभय लोकप्रतिष्ठा का कारण समझे, इस मे कौन सा नया आश्चर्य है, जब कि पशु प्रजा को भी (जिसे अपूर्ण प्रज्ञ कहा जाता है) पुत्र का माहात्म्य प्रकृत्या विदित है। एक मात्र इसी पुत्रैषणा से प्रेरित हो कर इन का दाम्पत्यभाव प्रक्रान्त है। पशु-पक्षी-कृमि-कीट-सभी स्वसन्तति के प्रति कैसे आकर्षित हैं ?, इस प्रश्न समाधि के लिए गोष्ठान पर जाइए, जहाँ गाय अपने नवजात वत्स को चाटती है, वत्स माता को चाटता है। चिड़ियाओं के घोंसलों पर दृष्टि डालिए, किस लाड-प्यार से पालन-पोषण होता है। इस प्रकार प्राणिमात्र स्वभावत पुत्र की ओर

आकम्पित है। बिना पुत्र के घर अंधेरा है, बाहर अंधेरा है, सर्वत्र अंधेरा है। 'ना पुत्रस्य लोकोऽस्ति' सर्वथा सत्य उद्घोष है।"

——६——

१०—"एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते मात्रापि मिथुनी भवन्ति"॥

"पुत्र-पौत्रादि रूप में प्रजातन्तु वितान कर स्वप्रभवरूप चान्द्रलोक की ओर जाने वाले प्रेत पिता पितामहादि का यह दिव्यलोक वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत है, सब की आदरभूमि है। किन पितरों के लिए ?, जो शोकरहित हैं। कौन पितर शोक रहित है ?, जो 'पुत्रिण' हैं। कौन से पितृलोक का यशोगान होता है ?, जिन में ऐसे पुत्री, अतएव विशोक पितर जाते हैं। किन पितरों के लिए वह लोक सुशेव (सुष्ठु रूपेण-सुखरूपेण निवास योग्य) है ?, जिन्होंने प्रजातन्तु का वितान किया है। ऐसे लोक की प्राप्ति के लिए क्या एक पूर्णप्रज्ञ मनुष्य अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं करेगा, जब कि केवल पुत्रप्रेम के नाते अपूर्णप्रज्ञ पशु अपनी जननी तक से मिथुन भाव को प्राप्त होते सुने जाते हैं"।

——१०——

इस प्रकार राजर्षि के एक प्रश्न पर महर्षि ने १० समाधान कर अन्त में राजर्षि को आदेश दिया कि, हरिश्चन्द्र ! तुम्हें पुत्रप्राप्त्यर्थ वरुणयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। आदेशानुसार राजर्षिने वरुणसव का अनुगमन किया। फलस्वरूप कालान्तर में 'रोहित' नामक पुत्र ने पिता के पुत्रभाव जनित क्षोभ को शान्त किया" (ऐ० ब्रा ३३। १) इन्हीं सब फलश्रुतियों का एक ही मन्त्र में संग्रह करते हुए वेदमहर्षि ने कहा है—

"ता ईं वर्द्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे।
दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधिरोचने दिवः"॥

—ऋक्सं० १। १५५। ३।

ऐहलौकिक दृष्टि से पुत्रोत्पादन का क्या फल है ?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है। प्रकृत सन्दर्भ से हमारा लक्ष्य एकमात्र पारलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध आनृण्य कर्म है। यदि पुरुष के पुत्र उत्पन्न न हो, तो दो प्रकार से इस की महान् सत्था का पतन है। परम्परया ऋणरूप से प्राप्त ५६ पितृसहों में से ३५ कलाओं का ऋणपरिशोध पुत्र के अभाव में असम्भव है, यही महानात्मा का प्रथम पतन है। इस के अतिरिक्त २८ पितृसह इस में स्वतन्त्ररूप से धन रूपेण प्रतिष्ठित होते हैं। पुत्र के अभाव में भी पूर्व प्रकरणोक्त कारणान्तरों से २८ में से २१ का व्यय

होना अनिवार्य्य है। फलतः शरीरनिधनानन्तर यह अपने धन की केवल सात कलाएँ ले कर ही वापस लौटता है। पुत्राभाव से अपनी २१ कलाओं की प्राप्ति इस के लिए असम्भव हो जाती है। परिणामस्वरूप यह कभी पूर्ण तालक्षण सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं होता। यही महानात्मा का दूसरा पतन है। इस पतन से बचने के लिए, साथ ही प्रधानतया पितृधन की ३५ कलाओं के आनृण्यके लिए प्रजोत्पादन कर्म्म आवश्यकरूप से अपेक्षित है। एवं यही प्रथम आनृण्यकर्म्म है।

इति प्रथमं प्रजोत्पादनात्मकमानृण्यं कर्म्म

१

—×—

२–सपिण्डीकरणात्मकं द्वितीयमानृण्यं कर्म्म–

सपिण्डीकरणानुगत आनृण्य विज्ञानोपक्रम—

पुरुप के पर ६ पुरुषों से इसे जो ऋण मिला था, उसे 'आत्मधेय-तन्य' भेद से दो भागों में विभक्त करते हुए पूर्व परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से इसे जो १ कला मिली है, वह तो आत्मधेयरूप से ही इस बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती है। इसका (वितानमात्रा के अभाव से) पुत्रादि में ततन नहीं होता, अतएव इस एक सातवें पर-पुरुप की कला में तन्य विभाग नहीं होता। अब शेप रहते हैं ५ परपुरुप। अतिवृद्धप्रपितामह से ३ कला मिली है, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से २–१ ये दो विभाग हो जाते हैं। २ आत्मधेय बीजी में, १ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाता है। वृद्धप्रपितामह से ६ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ३-३ ये दो विभाग हो जाते हैं। ३ आत्मधेय बीजी में, ३ तन्य बीजीपुत्र में, भुक्त हो जाते हैं। प्रपितामह से १० कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय तन्यरूप से ४–६ ये दो विभाग हो जाते हैं। ४ आत्मधेय बीजी में, ६ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पितामह से १५ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ५–१० ये दो विभाग हो जाते हैं। ५ आत्मधेय बीजी में, १० तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पिता से २१ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ६-१५ ये दो विभाग हो जाते हैं। ६ आत्मधेय बीजी में, १५ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार १/१–१/२–१/३–१/४–१/५–१/६, इन ६ पुरुषों से ऋणरूप से प्राप्त १/१–२/३–३/६–४/१०–५/१५–६/२१ इन ५६ पितृ-कलाओं में से १/१–२/२–३/३–४/४–५/५–६/६ ये २१ कला तो आत्मधेयरूप से सातवें (किंवा प्रथम) बीजी पुरुप में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवं २/१–३/३–४/६–५/१०–६/१५ ये ३५ कला बीजी के शुक्र द्वारा बीजीपुत्र में भुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार पुत्रोत्पादन का फल यह होता है कि, ५६ ऋणों में से ३५ ऋणकलाओं का भार बीजी पुरुप अपने पुत्र पर डाल कर स्वयं इन उपकलाओं से अनृणी बन जाता है। यही प्रजोत्पादनलक्षण

प्रथम आनृण्यकर्म्म है, जिसका पूर्वपरिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा चुका है, एवं सन्दर्भ सङ्गति की दृष्टि से जिसका यहाँ भी सिंहावलोकन कर लिया गया है।

	पितृऋणानि	आत्मधेया	तन्त्या	सङ्कलनम्	
(७) १—वृद्धातिवृद्धप्रपितामह	१	१	०	(१)	बहिर्दृष्ट्या परेभ्य षट्पुरुषेभ्य यान्यागतानि ५६ कलोपेतानि ऋणानि २१ मात्रया बीजिन्यात्मधेयरूपेण प्रतिष्ठितानि, ३५ मात्रया च शुक्रद्वारा तन्तुरूपेऽर्पितानीति ३५ मात्रयानुरूप्यं बीजिन: । बहिर्दृष्ट्यानुरूप्यं प्रजोत्पादन धर्मेणैव सम्पद्यते, नान्यथेति भावः
(६) २—अतिवृद्धप्रपितामह	३	२	१	(३)	
(५) ३—वृद्धप्रपितामह	६	३	३	(६)	
(४) ४—प्रपितामह	१०	४	६	(१०)	
(३) ५—पितामह	१५	५	१०	(१५)	
(२) ६—पिता	२१	६	१५	(२१)	
(१) ७—बीजीपुरुष	५६	२१ बीजिनि	३५ तन्तुरे		

पितृतन्तु का ताना बाना—

बीजी पुरुष ने ५६ ऋणकलाओं में से प्रजोत्पादन द्वारा ३५ कलाओं से तो आनृण्य प्राप्त कर लिया। परन्तु अभी इस के पास उन्हीं ५६ ऋणकलाओं में से ३५ से शेष बची हुई २१ कलाएँ सुरक्षित हैं। इन आत्मधेयलक्षण २१ ऋणकलाओं से अनृणी बनने का क्या उपाय?, सपिण्डीकरणकर्म्म इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। आत्मधेयरूप से २१ ऋणकलाओं को अपने शुक्रस्थ महानात्मा में प्रतिष्ठित रखने वाले इस बीजी पुरुष को थोड़ी देर के लिए इसी पाञ्च भौतिक शरीर में इसी भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करने दीजिए, और इस के उन ६ पर-पुरुषों का विचार कीजिए, जो अपनी ऋणमात्राएँ दे दे कर शरीरत्यागानन्तर स्वप्रभव चान्द्रलोक में जाकर प्रतिष्ठित हो गए हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखिए कि, ५६-२८ वाले २८ के चक्र से सभी पुरुष नित्ययुक्त हैं। सभी ने अपनी ५६ ऋणकलाओं में से ३५ पुत्रों में दी हैं, २१ स्वयं में रक्खी हैं। एवं २८ कलाओं में से २१ पुत्रों में दी हैं, ७ स्वयं में रक्खी हैं। पितृतन्तुओं का कैसा अपूर्व ताना-बाना है।

बीजीपुरुष को लक्ष्य बना कर केवल एक सप्तक (एक सपिण्डक) का विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, बीजीपुरुष अपने वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र

है। बीजीपुरुष का पिता इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है। बीजीपुरुष का पितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है। बीजीपुरुष का प्रपितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का प्रपौत्र है। बीजीपुरुष का वृद्धप्रपितामह इसी के वृद्धप्रपितामह का पौत्र है। बीजीपुरुष का अतिवृद्ध प्रपितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पुत्र है। बीजीपुरुष का वृद्धातिवृद्धप्रपितामह इसी के अतिवृद्ध प्रपितामह स्थानीय पुत्र का बीजीपुरुष है, इस प्रकार सात पुरुषपरम्परा में सापिण्ड्य सम्बन्ध समाप्त है

(१) वृद्धातिवृद्धप्रपितामह —— ——(७) बीजीपुरुष

(२) अतिवृद्धप्रपितामह ———(६) पुत्र

(३) वृद्धप्रपितामह ————(५) पौत्र

(४) प्रपितामह —— ——(४) प्रपौत्र

(५) पितामह ————(३) वृद्धप्रपौत्र

(६) पिता————(२) अतिवृद्धप्रपौत्र

(७) बीजीपुरुष — (१) वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र

वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से आरम्भ कर ६ठे बीजीपुरुष के पितापर्य्यन्त ६ओं पूर्वपुरुषों में प्रत्येक में ५६ ऋण, २८ धनरूप से ८४ कला प्रतिष्ठित है। इनमें से २८ धनकलाओं को छोड़िए। ५६ कलाओं में से केवल उन ऋणकलाओं को लक्ष्य बनाइए, जिनका ऋणभार सातवें बीजीपुरुष पर है। वृद्धातिवृद्धप्रपितामह की ५६ कलाओं में से केवल १ ऋणकला का भार बीजीपुरुष पर है। इसी प्रकार अतिवृद्धप्रपितामह की ५६ में से केवल ३ का, वृद्धप्रपितामह की ५६ में से केवल ६ का, प्रपितामह की ५६ में से केवल १० का, पितामह के ५६ में से केवल १५ का, तथा पिता की ५६ में से केवल २१ का, इस प्रकार सम्भूय ५६ कला का भार इस पर है। इनमें से ३५ इसने प्रजोत्पादन के द्वारा पुत्र को समर्पित कर दीं, शेष २१ कला इसमें आत्मवयरूप से प्रतिष्ठित रह गईं, जिनका १, २, ३, ४, ५, ६, रूप से पूर्व में विभाजन बतलाया जा चुका है।

बीजीपुरुष शरीरनिधनानन्तर जब पितृलोक में जाता है, तो अपने में प्रतिष्ठित इसका पितृऋण तत्तत्प्रेत पिता-पितामहादि पितरों में प्रकृत्या संयुक्त हो जाता है। १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपितामह में, २ कला अतिवृद्धप्रपितामह में, ३ कला वृद्धप्रपितामह में ४ कला प्रपितामह में, ५ कला पितामह में,

एव ६ कला पिता में प्रत्यर्पित हो जाती हैं। यदि बीजीपुरुष स्वपिता-पितामहादि से पहिले मर जाता है, तो उनका ऋणात्मक धन इन्हीं में सुरक्षित रहता है। जब ये पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं, तो अपना धन उस समय इन्हें मिल जाता है। इस प्रकार ३५ कलाओं में से शेष रहा २१ कल ऋण इस प्रत्यर्पणपद्धति से उन्हें मिल जाता है, और इस स्थिति में आकर यह प्रेत बीजीपुरुष ५६ कल पितृऋण से सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है। साथ ही इस ऋणमुक्ति की दशा में इसके पास केवल अपने अर्जित धन की ७ कला शेष रह जाती हैं।

यही प्रत्यर्पण कर्म्म 'सपिण्डीकरण' नाम से प्रसिद्ध है। कारण यही है कि, २८ कल पितृपिण्डों के निर्माण हो जाने पर वे पिण्ड '७-६-५-४-३-२-१' इस क्रम से बीजी, तत्पुत्र, पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्रपौत्र-अतिवृद्धप्रपौत्र-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र, इन ७ पुरुषों में विभक्त हो जाते हैं। सातवाँ बीजी (अपने वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र का वृद्धातिवृद्धप्रपितामह) चन्द्रलोक में केवल ७ कला लेकर पहुँचता है। जब इसका पुत्र जाता है, तो ६ कला का प्रत्यर्पण होता है ७+६=१३ हो जाती हैं। पौत्र से ५ मिलती हैं, १३+५=१८ हो जाती हैं। प्रपौत्र से ४ मिलती हैं, १८+४=२२ हो जाती हैं। वृद्धप्रपौत्र से ३ मिलती हैं, २२+३=२५ हो जाती हैं। अतिवृद्धप्रपौत्र से २ मिलती हैं, २५+२=२७ हो जाती हैं। एवं वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र से १ कला मिलती है, २७+१=२८ कला सम्पन्न हो जाती हैं। यहाँ आकर वृद्धातिवृद्धप्रपितामह सहपिण्डात्मक बनता हुआ सापिण्ड्यरूप में परिणत हो जाता है। क्योंकि सापिण्ड्य लक्षण पूर्णपिण्डत्व सातवीं सन्तति में प्रतिष्ठित १ कला के प्रत्यर्पण पर अवलम्बित है, इसी आधार पर 'पिण्डदः सप्तमस्तेषाम्—सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' कहा जाता है।

पुत्राग्नि द्वारा प्रत्यर्पित पितृधन से सात पुरुषों में से सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पिण्ड सम्पूर्णावयव बनता है। अपने पिण्ड की पूर्णता के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह सातवाँ प्रेतपुरुष पार्थिव आकर्षण से एकान्तत मुक्त हो जाता है। जब तक एक भी कला पृथिवी पर स्वसन्ततिरूप से प्रतिष्ठित रहती है, तब तक इसे पार्थिवाकर्षण से आकर्षित रहना पड़ता है। क्योंकि वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र की उत्क्रान्ति के साथ साथ ही वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का शेष १ भाग भी पृथिवी से उच्छिन्न हो जाता है, अतएव आकर्षण विमोक स्वाभाविक बन जाता है। चान्द्र संस्था से उन्मुक्त पितर सौर संस्था में आता हुआ तद्द्वारा स्वयमेव इसी पारमेष्ठ्य लोक में चला जाता है। यहाँ आकर त्रैगुण्यभाव से अतिमुक्त बन कर—'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते'। इस त्रिगुणातीत मुक्त-उन्मुक्त महानात्मा के लिये इस के अनन्तर पृथिवी में कोई कर्म्म (श्राद्धादि) शेष नहीं रह जाता।

निष्कर्ष यह निकला कि, आगे सातवें पुरुष के निधन से सप्तार्पण द्वारा पर सातवें पुरुष का बन्धन विमोक होता है। अपर सातवेंने ३५ कलाओं के ऋणात्मक दान से जो २१ कलाएँ सुरक्षित रक्खी थीं, वे इस प्रत्यर्पण विधिरूप सपिण्डीकरण से तत्तत् प्रेत पितरों में वापस

निहित हो जाती हैं। फलतः सपिण्डीकरण से यह २१ कला से आनृण्यभाव को प्राप्त हो जाता है। प्रजोत्पादनकर्म्म से ३५ का, निधनानन्तर प्रत्यर्पण से २१ का प्रतिशोध होता है। इस प्रकार प्रजोत्पादन, तथा सपिण्डीकरण, इन दो कर्म्मों से पुरुष अपनी जीवनदशा, चान्द्रस्थिति, इन दो स्थितियों के द्वारा ऋणरूप से प्राप्त ५६ कलाओं से उऋण हो जाता है। इस की जो अपनी कमाई की आत्मधेयरूप ७ कला हैं, उन की पूर्णता इस के पुत्र-पौत्रादि सप्तक पर ही निर्भर है।

वृद्धातिवृद्धप्रपितामहानुगतं——— —एकम् (१) सहः——प्रत्यर्पयति सप्तमः

अतिवृद्धप्रपितामहानुगते——— —द्वे (२) महसी ,,

वृद्धप्रपितामहानुगतानि——त्रीणि (३) सहांसि ,,

प्रपितामहानुगतानि--चत्वारि (४) सहांसि ,,

पितामहानुगतानि पञ्च (५) सहांसि ,,

पितुरनुगतानि-षट् (६) महांसि ,,

२१

तदिदं सपिण्डीकरणं नाम

द्वितीयमानृण्यं कर्म्म

सप्तमः पिण्डदः



इति—सपिण्डीकरणेनानृण्यं द्वितीयं कर्म्म

२



अथ श्राद्धनानृण्यं तृतीयं कर्म्म

श्राद्धकर्म्मानुगत आनृण्यविज्ञानोपक्रम—

जिस बीजी पुरुष ने २८ मे से शेष बचीं हुई २१ कलाएँ स्व-पिता-पितामहादि मे चन्द्रलोक में पहुँच कर प्रत्यर्पित की थी, उस बीजी पुरुष का 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' नामक चान्द्रलोकस्थ सातवाँ परपुरुष बीजी के प्रत्यर्पणलक्षण सपिण्डीकरण से पूर्णकलाओं से युक्त होता हुआ पार्थिव बन्धन से विमुक्त हो जाता है। शेष पितर (अतिवृद्धप्रपितामहादि) अब भी पूर्णता के अभाव से पार्थिव आकर्षण सूत्र से बद्ध रहते हैं। बीजी पुरुष के चन्द्रलोकगमन (निधन) से पहिले चान्द्रलोकस्थ पिता-पितामहादि में निम्न लिखित सह पिण्ड रहते हैं —

६—(७) वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे——२८ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थो वृद्धप्रपितामहपिण्ड

५—(६) अतिवृद्धप्रपितामहे——२५ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थोऽतिवृद्धप्रपितामहपिण्ड

४—(५) वृद्धप्रपितामहे——२१ महांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थो वृद्धप्रपितामहपिण्ड

३—(४) प्रपितामहे——१८ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थ प्रपितामहपिण्ड

२—(३) पितामहे——१२ महांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थ पितामहपिण्ड

१—(२) पितरि——७ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थ पितृपिण्ड

कारण स्पष्ट है। 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' के चान्द्रलोक मे पहुँचने पर स्वधनात्मक २८ महों मे से केवल ७ बचे थे, शेष २१ का इसने अपने पुत्रोत्पादन में ऋणदान कर डाला था। आगे जाकर इस ओर की [illegible] प्रजाओं से क्रमश बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के वृद्धप्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, बीजी के प्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के प्रपौत्र) से ४ कलाएँ, बीजी के पितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के वृद्धप्रपौत्र) से ३ कलाएँ, एवं बीजी के पिता (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के अतिवृद्धप्रपौत्र) से [illegible] कलाएँ इन के निधनानन्तर वापस मिल जाती है। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, '६-५-४-३-२-' ये २० आत्मधन इन ५ अवर प्रजाओं से, सम्भूय बीजी (जोकि वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र है, जिस मे कि वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र की १ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ वृद्धातिवृद्धप्रपितामह मे २७ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'अतिवृद्धप्रपितामह' की २८ कलाओं मे से २१ तो तत् पुत्र में न्युप्त हैं। फलत चान्द्रलोकस्थ इस मे भी आत्मधन की ७ कला ही शेष है। आगे जाकर अवरक्रमानुगत ४

प्रजाओं से इसे क्रमशः बीजी के वृद्धप्रपितामह (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के प्रपितामह से (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, बीजी के पितामह (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के प्रपौत्र) से ४ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के वृद्धप्रपौत्र) से ३ सहोभाग, इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, ६-५-४-३, ये १८ सहोभाग अवर प्रजाचतुष्टयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जोकि अतिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है, जिस में कि अतिवृद्धप्रपितामह की ३ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ अतिवृद्धप्रपितामह में २५ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'वृद्धप्रपितामह' के २८ कलाओं में से २१ तो तत् पुत्र में न्युप्त है। फलतः चान्द्रलोकस्थ इस में भी आत्मधन का ७ कलाएं ही शेष माननी पड़ती हैं। आगे जाकर अवर कलानुगत ३ प्रजाओं से इसे क्रमशः बीजी के प्रपितामह (बीजी के वृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के पितामह (बीजी के वृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के वृद्धप्रपितामह के प्रपौत्र) से ४ सहोभाग इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धनभाग, ६-५-४ ये १५ सहोभाग अवर प्रजात्रयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जोकि वृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है, जिस में कि वृद्धप्रपितामह की ३ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ वृद्धप्रपितामह में २१ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'प्रपितामह' की २८ कलाओं से २१ तो तत् पुत्र में न्युप्त हैं। फलतः चान्द्रलोकस्थ इस में भी आत्मधन की शेष कला ७ ही सिद्ध हो जाती हैं। आगे जाकर अवर-कलानुगत २ प्रजाओं से इसे क्रमशः बीजी के पितामह (बीजी के प्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के प्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते है। इस प्रकार ७ आत्मगत धनभाग, ६-५, ये ११ सहोभाग अवर प्रजात्रयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जो कि प्रपितामह का प्रपौत्र है, जिस में कि प्रपितामह की ५ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ प्रपितामह में १८ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'पितामह' की २८ में से २१ पुत्र में न्युप्त है, ७ धनरूपेण आत्मधेय हैं। आगे जाकर अवरकलानुगत बीजी के पिता (बीजी के पितामह के पुत्र) से इसमें ६ सहोभाग और प्रत्यर्पित होते है। सम्भूय बीजी (जोकि पितामह का पौत्र है, जिस में पितामह की ५ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ पितामह में १३ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'पिता' का २८ में से २१ तो तत् पुत्र बीजी में न्युप्त है। बीजी के निधन

से पहिले पहिल इस प्रेतपिता में ७ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

१—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे—२७ सहांसि—

(१) ७—सहांसि सहागतानि——प्रेतात्मा प्रथमो वीजी

---

(२) ६—सहांसि—अतिवृद्धप्रपितामहत (पुत्रत) प्रेतात्मा द्वितीय
(३) ५—सहांसि—वृद्धप्रपितामहत (पौत्रत) प्रेतात्मा तृतीय
(४) ४—सहांसि—प्रपितामहत (प्रपौत्रत) प्रेतात्मा चतुर्थ
(५) ३—सहांसि—पितामहत (वृद्धप्रपौत्रत) प्रेतात्मा पञ्चम
(६) २—सहांसि—पितु सकाशात (अतिवृद्धप्रपौत्रत) प्रेतात्मा षष्ठ

२७ सहांसि सप्तमस्य वाजिनो निधनात् प्राक्—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे

——१——

२—अतिवृद्धप्रपितामहे—२५ सहांसि—

(२) ७—सहांसि सहागतानि—प्रेतात्मा द्वितीयो वीजी

---

(३) ६—सहांसि—वृद्धप्रपितामहत (पुत्रत) प्रेतात्मा तृतीय
(४) ५—सहांसि—प्रपितामहत (पौत्रत) प्रेतात्मा चतुर्थ
(५) ४—सहांसि—पितामहत (प्रपौत्रत) प्रेतात्मा पञ्चम
(६) ३—सहांसि—पितु सकाशात (वृद्धप्रपौत्रत) प्रेतात्मा षष्ठ

२५ सहांसि सप्तमस्य वाजिनो निधनात् प्राक्—अतिवृद्धप्रपितामहे

——२——

३—वृद्धप्रपितामहे—२१ सहांसि—

(३) ७—सहांसि सहागतानि—प्रेतात्मा तृतीयो वीजी

---

(४) ६—सहांसि—प्रपितामहत (पुत्रत) प्रेतात्मा चतुर्थ
(५) ५—सहांसि—पितामहत (पौत्रत) प्रेतात्मा पञ्चम
(६) ४—सहांसि—पितु सकाशात (प्रपौत्रत) प्रेतात्मा षष्ठ

२१ सहांसि सप्तमस्य वाजिनो निधनात् प्राक्—वृद्धप्रपितामहे

——३——

४—प्रपितामहे—१८सहांसि—

(४) ७—सहांसि—सहागतानि—प्रेतात्मा चतुर्थो बीजी

(५) ६—महांसि—पितामहत (पुत्रतः) प्रेतात्मा पञ्चम

(६) ५—महांसि—पितु सकाशात (पौत्रत) प्रेतात्मा षष्ठ

१८ महांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात प्राक् –प्रपितामहे

——४——

५—पितामहे–१३ सहांसि—

(५) ७—महासि—सहागतानि-प्रेतात्मा पञ्चमो बीजी

(६) ६—सहासि – पितु सकाशात (पुत्रत) प्रेतात्मा षष्ठ

१३–महांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्-पितामहे

——५——

६—पितरि–७ सहांसि—

(६) ७—सहासि सहागतानि-प्रेतात्मा षष्ठो बीजी

७—महांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात प्राक्-पितरि

——६——

अब सातवें बीजीपुरुष की प्रेतावस्था का विचार कीजिए। इस ने भी नियमानुसार २१ तो पुत्र में न्युप्त कर दिए, इस प्रकार आत्मधन में से कुल ७ महोभाग लेकर यह चान्द्रलोक में पहुँचा। इन ७ के अतिरिक्त ५६ ऋणभागों में से बाकी बचे हुए २१ सहोभाग भी इस के साथ चन्द्रसंस्था में गए। इन २१ में से उक्त ६ पत्पुरुषों के क्रमश '१–२–३–४–५–६' इस क्रम से विभाग हैं। इसी क्रम से ये ६ आ विभाग धनाधिकारी तत्तत् ६ ओं पत्पुरुषों में प्रत्यर्पित हो जाते हैं। १ में २७ थे, उसने सातवें के द्वारा १ ले लिया, २८ हो गए। २ में २५ थे, उसने सातवें के द्वारा २ लिए, २७ हो गए। ३ में २१ थे, इसने सातवें के द्वारा ३ लिए, २४ हो गए। ४ में १८ थे, इसने सातवे के द्वारा ४ लिए, २२ हो गए। ५ वें में १३ थे, इसने सातवें के द्वारा ५ लिए १८ हो गए। ६ ठे में ७ थे, इसने सातवें के द्वारा ६ लिए, १३ हो गए। इस प्रकार सातवें बीजी के निधन से पहिले जिन ६ पुरुषों में '२७–२५–२१–१८–१३–७' क्रम से सहांसि थे, वे सातवें बीजी के निधन से तत्रस्थ '१–२–३–४–५–६' इन प्रत्यर्पित सहोभागों से क्रमश '२८–२७-२४–२२–१८-१३' इन महः संख्याओं में परिणत हो गए, जैसा कि अगले परिलेख से स्पष्ट है—

१	७							—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे २८ सहांश—पूर्णपिण्ड
२		७						—अतिवृद्धप्रपितामहे २७ सहांश—अपूर्ण
३	५	६	७					—वृद्धप्रपितामहे २५ सहांश—अपूर्ण
४	४	५	६	७				—प्रपितामहे २२ सहांश—अपूर्ण
५	३	४	५	६	७			—पितामहे १८ सहांश—अपूर्ण
६	[illegible]	३	४	५	६	७		—पितरि १३ सहांश—अपूर्ण
७	१	२	३	४	५	६	७	—योनिनि ७—अपूर्ण
								—पिण्डदः स्वसम्बन्धेषाम्
७	२८	२७	२५	२२	१८	१३	७	—सापिण्ड्य सामर्थ्यम्

तन्तुलक्षण श्राद्धकर्त्ता का स्वरूप परिचय—

जो भी श्राद्ध करेगा, वह 'पुत्र' नाम से व्यवहृत होगा, यह सामान्य परिभाषा लक्ष्य में रख कर ही विषय का समन्वय करना चाहिए। प्रजोत्पादन, सपिण्डीकरण, श्राद्ध, तीनों कर्मों की मूलोपनिषत् पृथक् पृथक् है। प्रजोत्पादन की मूलोपनिषत् ऋणरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित ५६ पितर पिण्ड की ८४ कला है। सपिण्डीकरण की मूलोपनिषत् ५६ में से शेष रहे हुए २१ सहांश हैं। एवं श्राद्धकर्म की मूलोपनिषत् २८ कल, अनन्तर लुप्त वृद्धातिवृद्धप्रपितामह (जो कि श्राद्धकर्त्ता से सम्बन्ध में ८ वां होगा) को छोड़कर शेष ६ पितर (जिनके अंश सतानरूप से श्राद्धकर्त्ता पुत्र के शुक्रस्थित महानात्मा में प्रतिष्ठित हैं, जो कि श्राद्धकर्त्ता मानवी पीढ़ी में प्रतिष्ठित है) हैं।

इस तालिका में श्रद्धालु पाठक देखेंगे कि, मानवी सन्तति के स्वप्रभवलोक (चन्द्रलोक) गमन करने पर इस में प्रतिष्ठित श्रद्धात्मक अपनी एक १ कला लेकर उसका सातवाँ पुरुष (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह) २८ कल बनता हुआ पूर्ण बन कर पार्थिव बन्धन से मुक्त हो जाता है। अब इस में आठवीं सन्तति में उस का कोई सहांभाग पृथिवी पर नहीं है। अतएव इसके लिए श्राद्ध करना व्यर्थ है। शेष ६ पुरुषों के अंश सन्तति के द्वारा पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में ऋणरूप से सन्तानों में प्रतिष्ठित तत्तत् पितृसहांशमात्र उसी चान्द्रश्रद्धासूत्र के द्वारा तत्तत् सह॰ प्रदाता सपितरों के पार्थिवाकर्षण बन्धन के कारण बनते हैं।

तालिकाप्रदर्शित ७ प्रेतात्माओं को '१-५-१' इन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' नामक सातवाँ परपुरुष 'कृत्स्नपिण्ड' है। मध्य के पाँच परपुरुष 'भिन्नपिण्ड-

संस्कार' है। एव सर्वान्त का परपुरुष 'अकृत्स्नपिण्ड' है। सातवाँ परपुरुष अपनी पूर्ण (२८) मात्रा से युक्त होता हुआ पूर्णपिण्ड है। मध्य के पाँचों यद्यपि पूर्णपिण्डात्मक नहीं हैं, तथापि अन्त के पितर की अपेक्षा इन में '२८-२४-२१-१८-१२' क्रम से मात्राधिक्य है, अतएव इन्हें 'सिद्धपिण्ड-संस्काराः' कहा जा सकता है। परन्तु वृद्धातिवृद्धप्रपितामह को १ कला दे कर उसे पूर्णपिण्डरूप में परिणत करने से 'पिण्डदः' नाम से प्रसिद्ध सर्वान्त का पितर केवल सात मात्राओं से युक्त रहता हुआ सर्वथा अपूर्ण बना रहता है। अतएव इसे 'अकृत्स्नपिण्ड' कहा जा सकता है। सप्तकल इस प्रेतात्मा के पास अपना जो २८ कल आत्मधन था, उस में से २१ भाग तो इस की सन्तानों में न्युप्त हो जाते हैं। फलतः आत्मधन में से केवल ७ भाग ही बच पाते हैं। एवं जो ५६ कला इसे पितृ-ऋणरूप से प्राप्त होती है, अतएव जो पितृऋण 'पित्र्यावाप' नाम से प्रसिद्ध है, इस की ३५ कला तो इस की जीवित दशा में अपने आत्मनीन २१ के साथ ही प्रजोत्पादन में न्युप्त हो जाती हैं। जो २१ रहते हैं, वे निधनान्तर तत्तत् परपितृपरम्पराओं में प्रत्यर्पित हो जाते हैं। फलतः सर्वान्त के प्रेतात्मा में केवल सात आत्मनीन कला ही रह जाती हैं।

वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, प्रपितामह, पितामह, पिता, इन ६ ओं प्रेतात्माओं में अपने समीप क्रमशः '२७-२४-२०-१८, १३, ७' इतने सहोभाग प्रतिष्ठित हैं। शेष १-३-६-१०-१५-२१-इतनी मात्रायें सन्तानरूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। इनके ये भाग जबतक इन्हें नहीं मिल जाते, तबतक ये ६ ओ अपूर्ण पिण्ड हैं, अकृत्स्न हैं, क्षीणकाय हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, इनके उक्त भागों से युक्त इनकी सन्तानें जब तक पाञ्चभौतिक शरीर के सम्बन्ध से पृथिवी पर जीवित हैं, तब तक इन कृत्स्नतासम्पादक कलाओं का प्रत्यर्पण असम्भव है। जीवित सन्तानों से प्रत्यर्पण सम्भव नहीं, बिना प्रत्यर्पण के पूर्णता सम्भव नहीं, बिना पूर्णता के क्षोभ की शान्ति सम्भव नहीं। परिणामतः स्व स्व पिण्डों की अपूर्णता से क्षुब्ध प्रेत-पितृपट्क प्रत्यर्पणकर्म्म से पहिले पहिले स्व स्व पिण्डों के इच्छुक बने रहते हैं। इसी स्वपिण्ड-प्रत्यर्पणेच्छा के सम्बन्ध से इन्हें 'पिण्डलिप्सू' नाम से व्यवहृत किया जाता है।

प्रेतपितरों की यह पिण्डप्राप्तिलिप्सा केवल लिप्सा पर ही विश्राम नहीं कर लेती। अपितु सजातीयाकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार वे पिण्डलिप्सू पितर तत्तत् सन्तानों के शुक्र में ऋणरूप से न्युप्त तत्तत्पिण्डरसों का आदान करते हुए इन्हें क्षीण बनाते रहते हैं। इस क्षीणता का दुष्परिणाम सन्तानों को भोगना पड़ता है। प्रेतपितरों के आकर्षण से सन्तानगत प्रजोत्पादक महानात्मा निर्बल हो जाता है। फलतः प्रजातन्तुवितानसूत्र निर्बल बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि, उन चान्द्रलोकस्थ पिण्डलिप्सू पितरों की पिण्डलिप्सा किसी भी उपायविशेष के द्वारा उसकी पुत्रादि सन्तान आमरणान्त पूरी करती । फल इस इच्छापूर्ति का यह होगा कि, पिण्डलिप्सू पितर तृप्त होते

रहेंगे, तृप्त पितर पुत्रादि के महानात्मा को आप्यायित करते रहेंगे, पारस्परिक आदान प्रदान से प्रजातन्तु वितान भी होता रहेगा, परम्परया प्रत्यर्पण के द्वारा प्रेतबन्धन विमोक भी होता रहेगा।

निष्कर्षतः —

"पिण्डलिप्सु चान्द्रलोकस्थ इस पितृपट्क की तृप्ति के लिए पुत्रादि के द्वारा पिण्ड दानात्मक जो वैज्ञानिक कर्म्म किया जाता है, वही 'श्राद्ध' नाम से व्यवहृत हुआ है"

द्वैतयज्ञस्वरूपमीमांसा—

प्रजोत्पादनकर्म्म जहाँ पितृऋण की २४ कलाओं से पुत्रोत्पादक को अनृणी बनाता है, वहाँ पिण्डदानलक्षण श्राद्धकर्म्म से श्राद्धकर्त्ता चान्द्रलोकस्थ क्षीणपिण्ड, अतएव पिण्डलिप्सु प्रेतपितृषट्क को तृप्त करता हुआ अपने एक आवश्यक कर्त्तव्य से अनृणी बन जाता है। तीनों में इस श्राद्धकर्म्म को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जायगा कि, इस कर्म्म से मत्र प्रेतात्मा तृप्त होते रहते हैं। तृप्त प्रेत पितर पुत्रादिगत पितृप्राण को आप्यायित करते रहते हैं। आप्यायित शुक्रस्थित पितृप्राण गोत्रवृद्धिलक्षण प्रजा तन्तुवितान में समर्थ बने रहते हैं। उनकी तृप्ति, हमारी वंशरक्षा, ही इस कर्म्म का सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रजोत्पादन एवं सपिण्डीकरण, दोनों आनृण्यकर्म्म वंशवितान पर अवलम्बित हैं। वंशवितान सबल पितृसह पर अवलम्बित है। पितृसावल्य प्रेतपितृतृप्ति पर अवलम्बित है। एवं प्रेतपितृतृप्ति एकमात्र श्राद्धकर्म्म पर ही अवलम्बित है। अतएव द्विजातिवर्ग के लिए यह पितृकर्म्म देवकर्म्म से भी उत्कृष्ट माना गया है, जो कि आवश्यकतम, सर्वोत्कृष्ट श्राद्धकर्म्म दुर्भाग्य से आज अश्रद्धा का विषय बनता हुआ 'लुप्तपिण्डोदकक्रिया' को अन्वर्थ बना रहा है।

"भूपिण्ड से चन्द्रलोक बड़ी दूर, पुत्रादि पृथिवी पर, प्रेतात्मा चन्द्रलोक में। ऐसी दशा में पुत्रादिद्वारा प्रदत्त पिण्ड से उनकी तृप्ति हो जाती है, इस कथन पर इसलिए विश्वास नहीं किया जा सकता कि, न तो पिण्ड को हम अपनी आँखों से चन्द्रलोक में जाता हुआ ही देखते, न प्रेतात्मा ही हमारी दृष्टि के विषय। कहना पड़ेगा कि पिण्डदानात्मक श्राद्धकर्म्म केवल ब्राह्मणों की स्वार्थलीला है।" ये हैं उन आस्तिकों के उद्‌गार, जो आज भारतवर्ष में 'वेदधर्म्मानुयायी' कहे सुने जाते हैं। अस्तु, कौन क्या कहता सुनता है?, इस अप्रियचर्चा को तूलरूप देना व्यर्थ है। हमारा इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य केवल यही है कि, वितण्डावाद में न पड कर श्रद्धालुप्रजावर्ग की अनुकूलजिज्ञासा, अनुकूल तर्क के समाधान के लिए दो शब्दों में यह स्पष्टीकरण कर दिया जाय कि, अमुकरूप से पुत्रादिद्वारा प्रदत्त पिण्ड अमुकमार्ग से चन्द्रलोक में जाता हुआ अमुकरूप से चन्द्रलोकस्थ प्रेतात्माओं की तृप्ति का कारण बन जाता है।

पार्थिवोपग्रहभूत चन्द्रमा तो फिर भी पृथिवी के सन्निकट है, परन्तु बृहतीमध्यस्थ

सूर्य्य तो भूपिण्डोपलक्षिता पृथिवी से २१ वे अहर्गण की दूरी पर अवस्थित है ❀। परन्तु आश्चर्य है कि, पृथिवी (भूपिण्ड) पर रहने वाले मनुष्य (द्विजाति) यज्ञकर्म्म मे आहवनीयकुण्ड मे सोमाहुति डालते हैं, पुरोडाश की आहुति देते हैं। और यह सोमरस, तथा पुरोडाशपिण्ड विदूरस्थित सूर्य्यसंस्था मे पहुँचता हुआ तत्रस्थ प्राणदेवताओं की तृप्ति का कारण बन जाता है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि, यहाँ दी हुई आहुति वहाँ रहने वाले प्राणदेवताओं की तृप्ति का कारण कैसे बनी ?। वेदरहस्यविश्लेषक भगवान् मनु इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

—मनु ३।७६।

अग्नीषोमात्मक यज्ञ से ही प्रजा उत्पन्न हुई है। यह यज्ञ 'नित्य, वैध,' भेद से दो भागो मे विभक्त माना गया है। नित्ययज्ञ से विश्व का सञ्चालन हो रहा है। वैधयज्ञ केवल वैय्यक्तिक संस्था का उपकारक है। जिस नियम से प्राकृतिक नित्ययज्ञ का वितान हो रहा है, यदि उसी नियम से वैधयज्ञ (पुरुषप्रयत्नसाध्ययज्ञ) का वितान किया जाता है, तो अवश्यमेव इस वैधयज्ञ से इष्टसिद्धि हो जाती है। प्राकृतिक यज्ञ मे सूर्य्य आहवनीय है, पृथिवी गार्हपत्य है, अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, सम्वत्सरप्रजापति यजमान है, पार्थिव उखा यजमानपत्नी है, दिक्सोम आहुतिद्रव्य है, ऋक्-यजु-सामतत्त्वत्रयी वेदमन्त्र है। इन सब के समन्वय से आधिदैविक यज्ञ का सञ्चालन हो रहा है। ठीक इसी यज्ञ के अनुरूप यज्ञवितान करना 'सम्यक्-यज्ञ' है। प्रकृतिविरुद्ध कल्पना के द्वारा वायुशुद्धि आदि काल्पनिक फलों की चर्वणा से यथेच्छ करना असम्यक्-यज्ञ है। और ऐसा अपौरुषेय—मानुषकल्पनातिरञ्जित वेदभक्तों का

❀ वैदिक सामीप्य-विदूर-व्यवस्था वाङ्मय ४८ अहर्गणो पर ही व्यवस्थित हुई है। कौन ग्रहोपग्रह किस ग्रहोपग्रह से कितना समीप, एवं कितना विदूर है ?, प्रश्नों का समाधान अहर्गण मण्डलात्मक वाङ्मय 'वषट्कार' पर ही अवलम्बित है। इस व्यवस्था के अनुपात से 'एकविंशो वा एष आदित्यः' (शत०) के अनुसार सूर्य्य भूपिण्ड से २१ वे अहर्गण पर प्रतिष्ठित है। वर्त्तमान वणिग्विज्ञानवादी प्रतीच्य जगत ने मीलों के अनुपात से जो सामीप्य-विदूर-व्यवस्था व्यवस्थित कर रक्खी है, वह अनन्ताकाशमाध्यम से अपूर्ण ही कही जायगी। उनका कहना है, 'सूर्य्य पृथिवी से ९ करोड मील दूर है'। यह ठीक है कि, अहर्गणानुगत परिमाण-समतुलन से तथाकथित मील-परिमाणानुपात समतुलित है। तथापि प्राकृतिक प्राणसमतुलनानुपात से मील, अथवा तो क्रोश (कोस) व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता।

यज्ञोद्घोष-'व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य, यन्मानुषम्' (शतपथब्रा०) के अनुसार समृद्धिनाश का ही कारण है। सम्यक् (यथाविधि) हुत आहुति ही प्राकृतिक आहुति-वहनकर्त्ता अग्निदेवता के द्वारा आदित्य में पहुँचती है।

मानुषयज्ञ में आहवनीय सूर्य्यस्थानीय है, गार्हपत्य पृथिवी स्थानीय है। इस आहवनीय समिद्ध अग्नि में मन्त्रद्वारा आहुति डाली जाती है। सामिधेनी मन्त्रों से समिद्ध आहवनीय अग्नि दिव्याग्नि है, सौराग्निसजातीय है। हुत आहुति का भूतभाग यहीं रह जाता है। प्राणभाग प्राणाग्निद्वारा द्युलोकस्थ सौर देवताओं की तृप्ति का कारण बन जाता है। तृप्त देवता यज्ञकर्त्ता के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं की तृप्ति का कारण बन जाते हैं। इस पारस्परिक आदान-प्रदान से प्राकृतिक मण्डल हमारे लिए अनुकूल बना रहता है। इसी स्वाभाविक यज्ञरहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए पूर्णपुरुष यज्ञेश्वर ने कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १ ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ २ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ ३ ॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥ ४ ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ० ।

पार्थिव प्राणाग्नि 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। यह अङ्गिरोऽग्नि भूपिण्ड से निकल कर रथन्तर साममार्ग से निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है। सौर प्राणाग्नि 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध है। यह सूर्य्य से निकल कर पृथिवी पर आता रहता है, पृथिवी पर प्रतिफलित होकर वापस द्युलोक की ओर लौट जाता है। द्यु से पृथिवी पर आने वाले सौर प्राणाग्नि का पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है। फलतः पार्थिव अङ्गिरा दिव्याग्निधर्म्मा बन जाता है। यही दिव्याग्निधर्म्मा पार्थिव अङ्गिरा पार्थिव त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमभेद से वसु-रुद्र-आदित्यरूप में परिणत हो जाता है। त्रिमूर्त्ति पार्थिव अङ्गिरा के इसी ऊर्ध्वगमन को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

—अथर्वसंहिता १८।१।१।

ऊर्ध्वगमन से पहले अङ्गिरोऽग्नि 'मृग' नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव काष्ठादि भूतों में सुप्त अङ्गिरा मृग्यमाण होने से 'मृग' है। जब मनुष्य अपने यज्ञ में इस सुप्त अङ्गिरा को इध्म-काष्ठ प्रज्वलन कर्म्म से इद्ध, एवं सामिधेनी मन्त्रद्वारा दिव्य सौराग्नि के प्रवेश से समिद्ध कर देते हैं, तो यही अतन्द्र बन कर अध्वर्यु के द्वारा हुत भूताहुति के प्राणरूप हव्य भाग का वहन करता हुआ द्यु-लोक में चला जाता है। इस प्रकार द्युलोक की ओर जाते हुए अङ्गिरा नामक प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रदत्त आहुति द्रव्य का प्राणांश द्युलोकस्थ देवताओं की तृप्ति का कारण बनता है। 'अग्नौ प्रास्ता-हुतिः सम्यक्–आदित्यमुपतिष्ठते' का यही तात्पर्य है, जिस का निम्न लिखित श्रुति से समर्थन हुआ है—

शेपे वनेषु मात्रोः सन्त्वा मर्त्तास इन्धते ।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसे ॥

—सामसंहिता पूर्व० १।१।

पार्थिव सम्वत्सरचक्र को आसुर-आक्रमण से निकालने के कारण 'दूत' नाम से प्रसिद्ध, ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक होने से 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध, देवताओं तथा पार्थिव मनुष्यों के भरण करने से 'भारत' नाम से प्रसिद्ध, प्रतिफलित 'अश्व' मूर्ति सौर तेज से युक्त होकर देवताओं के लिए हविर्वहन करने से 'अश्व' नाम से प्रसिद्ध इस प्राणाग्नि का—"अग्निं दूतं वृणीमहे"—"अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारत"—"अश्वो न देववाहनः" इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। हम आहुति देने वाले को देखते हैं, जिस भूताग्नि में आहुति दी जाती है, उसे देखते हैं, जो पुरोडाशादि द्रव्य इस भूताग्नि में आहुत किये जाते हैं, उन्हें देखते हैं। परन्तु आहुति ले जाने वाला प्राणाग्नि, प्राणा-ग्नि के द्वारा ले जाया गया आहुतिद्रव्य का प्राणात्मक अंश, प्राणतत्त्वाहुतिग्राहक सौरप्राणदेवता, देवताओं का प्रतिष्ठारूप प्राणात्मक द्युलोक, सभी हमारे लिए अप्रत्यक्ष हैं। कारण है एकमात्र 'प्राण' का प्राणत्व।

'दैवतानि च भूतानि च' (शतपथब्राह्मण) के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ 'प्राण, भूत' भेद से दो भागों में विभक्त है। विनश्वर क्षरभाग भूतभाग है, एवं यही हमारी दृष्टि का विषय बनता है। अविनश्वर अक्षरभाग प्राणभाग है, यह हमारे लिए सर्वथा अप्रत्यक्ष है। क्षर-कूटरूप दृश्य भूतभाग की प्रतिष्ठा अक्षररूप प्राणतत्त्व ही माना गया है, जैसा कि—'क्षरः सर्वाणि

भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यादि से प्रमाणित है। अदृश्य सुसूक्ष्म अक्षरप्राण ही दृश्य स्थूल-भूत की प्रतिष्ठा है। जब तक भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक भूत की स्वरूपरक्षा है। जर्ज्जरित वस्तुभूत के लिए किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि—'अब इसमें दम नहीं रहा'। यह 'दम' शब्द वाच्य तत्त्व वही प्राणतत्त्व है। क्या किसी प्रत्यक्षाभिमानी ने 'दम' को अपनी आँखों से देखा है?। शक्ति (फोर्स) ही दम है, दम ही प्राण है। शक्तिमान दृष्टि का विषय बनता है। स्वयं शक्ति स्वप्राणधर्म्म से इन्द्रियातीत है, परन्तु सर्वलोकानुभवसिद्ध सत्तात्मक तत्त्व है। 'रूप रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द' ये पाँचों भूत के धर्म्म हैं। अतएव रूपादि पञ्चतन्मात्रायुक्त इन्द्रियवर्ग तद्युक्त भूतभागों का ही प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। प्राणतत्त्व—'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्य', यथामच्छद.' लक्षण में पञ्चतन्मात्रा से भी अतीत है, साथ ही भूतवत् यह स्थान का अवरोध भी नहीं करता (जगह नहीं रोकता)। एतद्धर्म्मावच्छिन्न प्राणतत्त्व ही वैदिक परिभाषा में 'देवता' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके कि—ऋषि पितर, असुर, देव, गन्धर्व, पशु, आदि असंख्य विवर्त्त माने गए हैं।

आहुति का भूत भाग नहीं जाता, प्राणभाग जाता है। भूताग्नि आहुति नहीं ले जाता, प्राणाग्नि आहुति ले जाते हैं। सौर भूतभाग में आहुतिभाग प्रतिष्ठित नहीं होता, अपितु सौरप्राण (देवता) में प्रतिष्ठित होता है। इसी दशा में यह प्राणविवर्त्त क्योंकर दृष्टि का विषय बन सकता है। फिर भी इसके आदान-प्रदान-तृप्ति-आदि भावों पर श्रद्धा विश्वास करना पड़ता है, करना चाहिए। और उन लोगों को तो अवश्य ही करना चाहिए, जो वेदप्रामाण्य के प्रति अपना अनन्य स्नेह प्रकट किया करते हैं।

प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ पार्थिव प्राणदेवता सजातीयत्वेन बद्ध हैं। पार्थिव प्राणदेवता समिन्धन कर्म्म के द्वारा आहवनीयाग्नि से बद्ध हैं। आहवनीयाग्नि स्वप्रतिष्ठ आहुतिप्राण से सम्बद्ध है। आहुतिभूत के साथ-'यावद्वित्तं तावदात्मा' न्याय से यज्ञकर्त्ता का आध्यात्मिक प्राणतत्त्व आबद्ध है। इस पारस्परिक बन्धनसूत्र से यज्ञकर्त्ता यजमान का आत्मप्राण शरीर-विघनानन्तर स्वर्लोकस्थ देवमण्डली में प्रतिष्ठित हो जाता है। पार्थिव दितिमण्डलोपलक्षित तमोभाव से निकल कर सौर अदितिमण्डलोपलक्षित ज्योतिर्भाव से संयुक्त हो जाता है। यही यज्ञकर्म्म का प्रधान फल है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ज्योतिः॥

—यजु सं० ८।५२।

आहुतिद्रव्य भौतिक है। इस द्रव्य के साथ यज्ञकर्त्ता के प्राण का सम्बन्ध जब तक नहीं हो जाता, तब तक 'यावद्वित्तं तावदात्मा' चरितार्थ नहीं हो सकता। प्राण का प्राण के साथ सम्बन्ध

सुकर है। परन्तु विजातीय भूतों के साथ सम्बन्ध हो जाना दुष्कर है। पहिले इस विप्रतिपत्ति का समाधान उस प्राजापत्यसृष्टि से कराना चाहिए, जो प्राण-भूत के समन्वय से प्रजासर्गमयी बन रही है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, भूतसृष्टि मैथुनीसृष्टि है। एवं मैथुनीसृष्टि में आपोमय परमेष्ठी के आप्यतत्त्व का सहयोग है। सरिर-उदरूप सलिललक्षण आपोभूत ही भूतसृष्टि का प्रवर्त्तक है। आप्यप्राण ने स्वस्नेहधर्म्म से इतर प्राणों का इस भूतसर्ग के साथ समन्वय कर रक्खा है। आप्य प्राण ही एक वैसा मध्यस्थ द्वार है, जिसके द्वारा विजातीय भूतों में विजातीय प्राणों का सन्धान हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय धर्म्मशास्त्रविहित प्रत्येक कार्य्य में पानी ही सङ्कल्प के द्वारा मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'अपांप्रणयन' नामक प्रकरण में द्रष्टव्य है। प्राण का प्राण के साथ, किंवा प्राण का भूत के साथ अप्तत्त्व में ही सम्बन्ध सम्भव है, एकमात्र इसी दृष्टि से प्राण को आपोमय माना गया है, जैसा कि-'आपोमयः प्राणः' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। बिना पानी के प्राण नग्न है, अव्यवस्थित है, अपरिमित है, अतएव परिमित भूत-सम्बन्ध से वञ्चित है। प्राण कहता है—मैं नग्न हूँ। ऋषि पूछते हैं कि—'कातेऽनग्नता' प्राण उत्तर देता है—'आपो वा अनग्नता'। प्राणाग्नि का भूताग्नि के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध करने के लिए ही तो अन्नयज्ञ (भोजन) के उपक्रमोपसंहार में अमृतापिधान, अमृतोपस्तरण, रूप से द्विवार आचमन करने का विधान हुआ है।

भूतों में प्राणों का समन्वय एकमात्र आप्यतत्त्व द्वारा ही सम्भव है। इसी आप्यतत्त्व को वैज्ञानिकोंने— 'श्रद्धा वा आपः' रूप से 'श्रद्धा' नाम से व्यवहृत किया है, जिसका कि अनुपद में ही विश्लेषण होने वाला है। इस श्रद्धातत्त्व का आगमन अन्न के द्वारा होता है। अन्नद्वारा आगत आप्य श्रद्धातत्त्व अन्नमय मन में प्रतिष्ठित होता है। मनोमयी श्रद्धा ही 'प्राणबन्धनं हि सोम्य ! मनः' के अनुसार भूत के साथ प्राणबन्धन का कारण बनती है। इस प्रकार यज्ञकर्त्ता की मानस श्रद्धा ही इसके अग्निमयमूर्त्त भूतात्मानुगत देवताओं का आहुतिभूत के साथ सम्बन्ध कराती है। श्रद्धा से विहित आहुति बन्धन ही आध्यात्मिक स्वप्राण की प्रतिष्ठा का कारण है। यजमान के इस मन से आरम्भ कर सूर्य्यचन्द्र पर्य्यन्त श्रद्धासूत्र वितत है। इसी के आधार पर यजमान आहुति देता है, इसी के आधार से प्राणाग्नि आहुतिप्राण ले जाता है, इसी पर प्रतिष्ठित द्युलोकस्थ देवता आहुतिप्राण से तृप्त होते हैं, इसी सूत्र के द्वारा पार्थिव यजमान पर उनका अनुग्रह होता है। इस प्रकार यज्ञात्मक सम्पूर्ण भूतसर्ग श्रद्धामय बन रहा है। श्रद्धातत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

१—श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥ (ऋक् सं० १०।१५१।१)।

२—श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ (ऋक्सं० १०।१५१।४)।

३—श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापये ह नः ॥ (ऋक्सं० १०।१५१।५)।

४—प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वा स्विदं उ उदितं कृधि ॥ (ऋक्सं० १०।१५१।२)।

५—श्रद्धा देवानधि वस्ते श्रद्धा विश्वमिद जगत्' ।
श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥ (तै० ब्रा० २।८।८।६)।

जिस प्रकार आप्यप्राणात्मक, अतएव इन्द्रियातीत मनोमय श्रद्धासूत्र के द्वारा देवयज्ञकर्त्ता से प्रदत्त आहुति प्राणाग्नि के द्वारा सूर्य्यलोकस्थ देवप्राण की तृप्ति का कारण बन जाती है, एवमेव इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा पितृयज्ञकर्त्ता पुत्रादि के द्वारा प्रदत्त पिण्ड प्राणात्मना उसी प्राणाग्नि के द्वारा (वसु-रुद्र आदित्यात्मक आङ्गिराग्नि के द्वारा, जिसे पितृदेवता कहा गया है) चन्द्रलोकस्थ प्रेतपितृप्राण की तृप्ति का कारण बन जाता है, जिस प्राप्ति के आधार भूत श्रद्धातत्त्व का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया जा सकता है।

'श्रद्धा' का तात्त्विक स्वरूपविज्ञान—

'रेतः, श्रद्धा, यशः' नामक चन्द्रमा के तीन मनोताओं की ओर लक्ष्य देना आवश्यक है। चान्द्ररस की घनावस्था 'रेत' है, तरलावस्था 'श्रद्धा' है, विरलावस्था 'यश' है। तीनों तत्त्व 'सोम' सुबन्धी हैं। परमेष्ठी का मधर्ग्यांशरूप चन्द्रमा तद्रूप श्रद्धातत्त्व से नित्य युक्त है। चान्द्रमण्डल में अभिव्याप्त यही श्रद्धात्मिका 'आप' आदित्याग्नि के परिपाक से सोमरूप में परिणत हो जाती है। विशुद्ध प्रथमावस्था श्रद्धा है, आदित्याग्निगर्भिता द्वितीयावस्था सोम है। पर्जन्याग्नि सम्बन्ध से सोम वृष्टिरूप में परिणत होता है। पार्थिवाग्नि में हुत वृष्टि ओषधिरूप में परिणत होती है। पुरुषाग्नि में हुत ओषधि शुक्ररूप में परिणत होती है। योषिदग्नि में आहुत शुक्र पुरुष (अपत्य) रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार क्रमिकधारा से यही चान्द्र श्रद्धातत्त्व पाँचवी आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है।

श्रद्धा को पारमेष्ठ्य तत्त्व बतलाया गया है। साथ ही 'अक्षरस्वरूपपरिचय' में यह स्पष्ट किया गया है कि, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व भृगु-अङ्गिरा भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। भृगुमयी आप पितृसृष्टि का मूल है, अङ्गिरामयी आप देवसृष्टि की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार स्नेह लक्षण भृगु, तेजोलक्षण अङ्गिरा के भेद से पारमेष्ठ्य श्रद्धातत्त्व स्नेह-तेजो-नामक दो धाराओं में विभक्त हो जाता है। स्नेहमयी श्रद्धानाडी सजातीय सम्बन्धेन चान्द्रमण्डल से सम्बद्ध है, तेजोमयी

श्रद्धानाडी सजातीय सम्बन्ध से सौरमण्डल से सम्बद्ध है। सौरतेजोयुक्त तेजोमयी श्रद्धानाड़ी का मनोगर्भित बुद्धि के साथ सम्बन्ध है। चान्द्रस्नेहयुक्त स्नेहमयी श्रद्धानाड़ी का बुद्धिगर्भित मन के साथ सम्बन्ध है। सौर श्रद्धासूत्र देवयज्ञ की प्रतिष्ठा है, चान्द्र श्रद्धासूत्र पितृयज्ञ का प्रवर्त्तक है। इस प्रकार भृगु-अङ्गिरा के भेद से एक ही श्रद्धातत्त्व सूर्य्य चन्द्रमा को अपना अधिष्ठान बनाता हुआ दो सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। जिनमें से चान्द्रश्रद्धानुगता पितृसृष्टि ही प्रक्रान्त प्रकृत प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

चान्द्र सोममय यह श्रद्धातत्त्व परम्परया शुक्र में प्रतिष्ठित होता हुआ चान्द्र सोममय मन का आधार बन रहा है। हमारा अन्नमय प्रज्ञान मन 'श्रद्धा' रसमय है। यह श्रद्धारस यद्यपि स्वस्वरूप से निर्धर्म्मक है। तथापि आगे जाकर सात्त्विक-राजस-तामसादि गुणभेदभिन्न तत्तत् पार्थिवान्नरसों के समन्वय से यह अनेक धर्म्मों से आक्रान्त हो जाता है। श्रद्धातत्त्व को दिव्य स्वरूप से सुरक्षित रखने के लिए ही दिव्यभावोपेत सात्त्विक आहार-विहित हैं। सत्त्वगुणोपेता श्रद्धा ही वास्तव में श्रद्धा है। विपरीत श्रद्धा कुश्रद्धा, किंवा अश्रद्धा है। सत्यभावोपेत इस 'श्रद्धा' शब्द का निर्वचन है-'श्रतो हीदं धानम्' यह। सत्यतत्त्व ही 'श्रत्' है। विद्यमान वस्तुतत्त्व में जो एक अन्य पदार्थ आश्रितभाव से प्रतिष्ठित रहता है, वही आश्रित 'सत्य' है। अतएव 'तदन्यच्छ्रूयते' इस निर्वचन से यह 'श्रत्' कहलाया है। जिस आत्मप्रतिष्ठात्मक सत्तारस के आधार-पर आत्मगत सत्यभाव अन्यत्र (पदार्थों में) समन्वित होता है, श्रत् को धारण करने वाला वह रससूत्र ही 'श्रद्धा' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस श्रद्धासूत्र के प्रभाव से उस पुरुष का आत्मा 'इदमित्थमेव नान्यथा' इस भाव से श्रद्धेय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो जाता है। कहा गया है कि हमारा मन स्नेहगुणान्विता श्रद्धा से आप्लावित है। श्रद्धामय यह मन जिस के साथ संलग्न हो जाता है, तन्मय बन जाता है, जैसाकि श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (श्रीमद्भगवद्गीता) —'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति'' (छान्दोग्य उप०) इत्यादि प्रमाणों से प्रमाणित है। एक बार श्रद्धा के द्वारा श्रद्धालु का मन जिस के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, फिर उस श्रद्धेय में भले ही दोष रहे, श्रद्धालु उन पर प्रथम तो ध्यान ही नहीं देता, अथवा तो दोषों को भी गुण मान लेता है। इसी आधार पर दर्शनभाषा में श्रद्धा का निम्न लिखित लक्षण हुआ है—

"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा"

इतना स्मरण रखिये कि, यदि हमारा श्रद्धासूत्र अन्नदोष, सङ्गदोष, शिक्षा (परशिक्षा) दोष, अधर्म्मानुगमन, आदि से मलिन हो गया है, तो श्रद्धा पूर्वकथनानुसार अश्रद्धाभाव में परिणत हो जाती है। ऐसी अश्रद्धात्मिका श्रद्धा ही 'अन्धश्रद्धा' कहलाई है, जो हमें सत्यपथ से, सत्यदर्शन से वञ्चित रखती है, एवं असत्यपथ में हमें अभिनिविष्ट कर देती है। इसी अन्धश्रद्धा के कारण

हम अपने कल्पित सिद्धान्तों का अभिनिवेश पूर्वक अनुगमन करते हुए अपना भी सर्वनाश करा लेते हैं, साथ ही दूसरे मुग्ध–अज्ञ जनों को भी उत्पथोपासक बनाने का पाप करते रहते हैं। स्मरण रखिए, पलायित भी सम्पूर्ण विश्व वभव प्रयास के द्वारा फिर भी हमें मिल सकता है। परन्तु उत्क्रान्त श्रद्धा–विश्वास पुन नहीं लौटा करते, जिन के बिना हम सर्वथा इन्द्रियमात्रपरायण पशुभाव में परिणत हो जाया करते हैं। इसलिए–'श्रद्धा च मा नो व्यगमत्' यही हमारा जीवनव्रत होना चाहिए।

बतलाया जा चुका है कि, श्रद्धा की प्रतिष्ठा अन्न के द्वारा होती है। यह अन्न "पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, कर्म्म, ज्ञान" भेद से –"यत् सप्तान्नानि तपसाऽजनयत् पिता" इत्यादि औपनिषत्–सिद्धान्त के अनुसार सात भागों में विभक्त है। गुणत्रयभेदमूला योगमाया के अनुग्रह से सातों अन्न सत्त्व, रज, तमो भेद से तीन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। जिसे सामान्य मनुष्य अन्न (जौ, गेहूँ आदि) कहते हैं, वह पार्थिव अन्न है। मिट्टी ही जो–गेहूँ रूप में परिणत होती है। सात्त्विक वृत्त्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत सात्त्विक जौ–चाँवल–मूँग आदि पार्थिव अन्न सात्त्विक हैं। रजोवृत्त्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत राजस गेहूँ–तिल–मोठ–चणक आदि पार्थिव अन्न राजस हैं। तमोवृत्त्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत उर्द–लशुन–पलाण्डु–गृञ्जन–आदि पार्थिव अन्न तामस हैं। प्रवाहित–शुद्ध–पूत जल सात्त्विक है, कूपादि जल राजस है, अव्ययीभूत–पूतियुक्त जल तामस है। प्रात काल का सौरतेज सात्त्विक है मध्याह्न का सौरतेज सात्त्विक–राजस है। सायंकाल का राजस तामस है। एवं गतप्रकाश तामस है। इसी को असुरों का मुख्य अन्न माना गया है। (देखिए शत० १।६।३)। प्रात काल का वायु सात्त्विक, मध्याह्न का राजस, सायंकाल का तामस, रात्रि का घोर तामस है। शुद्ध–पूत–अनुद्वेगकर आकाश (शब्द) सात्त्विक है, शासनयुक्त शब्द राजस है, क्रूर शब्द तामस है। शास्त्रविहितकर्म्म सात्त्विक है, विकर्म्म (शास्त्रनिषिद्ध) राजस है, अकर्म्म (निरर्थक कर्म्म, अविहिताप्रतिषिद्ध कर्म्म) तामस है। परमार्थ ज्ञान सात्त्विक है, व्यावहारिक ज्ञान राजस है, मोहात्मक भ्रान्तिज्ञान तामस है। यदि गुणत्रय के अवान्तर तारतम्यों की मीमांसा की जाती है, तो इन के अवान्तर असंख्य भेद हो जाते हैं।

शैशव अवस्था से सात्त्विक–ज्ञान–कर्म्म–पञ्चान्न के अनुगामी की श्रद्धा का स्वरूप शुद्ध और ही होगा, राजस–तामस सप्तान्नों के अनुगामियों की श्रद्धा का उक्थ विभिन्न ही प्रकार का होगा। इसी अन्नदोष से, आलस्यदोष से, वेदानभ्यास से, आज भारतीय प्रजा का श्रद्धासूत्र मलिन हो रहा है। आज पातक कर्मों में हमारी अनन्य श्रद्धा है, अभ्युदय पथ अश्रद्धेय बन रहा है। शास्त्र की प्रत्येक आज्ञा का तिरस्कार, पातक प्रत्येक कार्य्य का ग्रहण ही जीवनव्रत बन रहा है। इसी श्रद्धासूत्रदोष से तत्प्रविष्ट आवश्यकतम श्राद्ध जैसा वैदिक कर्म्म भी वेदभक्तों के लिए भी अश्रद्धेय बन रहा है। मलिनप्राय श्रद्धासूत्र के पुन नैर्मल्य के लिए ही उक्त सत्यश्रद्धा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

तत्वत मनोऽवच्छिन्न यह चान्द्ररस ही श्रद्धा है, जो अन्य विषयों के साथ अध्यात्म का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध करा देता है। अपनी भोग्यवस्तुओं के साथ, समान शील-व्यसन-प्राणियों के साथ इसी सूत्र से सम्बन्ध हुआ करता है। 'अमुक व्यक्ति हमारा सम्बन्धी है' इस उभय-निष्ठ सम्बन्ध को सुरक्षित रखने वाला सूत्र यही श्रद्धा है, जो सापिण्ड्य-सोदक-सगोत्र-सजाति-आदि सम्बन्धों के तारतम्यों से प्रतिष्ठित रहता है। इन सर्वविध सम्बन्धों में सापिण्ड्यभाव-सरक्षक श्रद्धासम्बन्ध ही दृढतम माना गया है। गुहास्थ महानात्मा से युक्त इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा चान्द्रलोकस्थ पितृपिण्डों का तत् पुत्रादि के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। यही उभयनिष्ठ सम्बन्धसूत्र प्रक्रान्त इस श्राद्धकर्म्म की प्रतिष्ठा बनता है।

एकविंशतिकलात्मक शरीरारम्भक पितृपिण्ड भी सोममय है, इधर श्रद्धासूत्र भी चान्द्ररस प्रधान बनता हुआ सोममय ही है। इसी सजातीय श्रद्धासूत्र के आधार पर (जो कि श्रद्धासूत्र सन्तान के महानात्मपिण्ड से आरम्भ कर चन्द्रस्थ तत् प्रेतपिण्डपर्य्यन्त वितत है) उन प्रेतपिण्डों के कुछ सहोभाग आत्मधेयरूप से उन्हीं में प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं कुछ सहोभाग तन्यरूप से सन्तानों में न्युप्त रहते हैं। एक ही पितृपिण्ड के दो विभिन्न भाग (आत्मधेय, और तन्य) बिना किसी अभिन्न आधार के चन्द्रमा-पृथिवी, दोनों पर एक ही काल में प्रतिष्ठित रहें, यह असम्भव है। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही सर्वथा विदूरस्थित पिण्ड के दोनों भागों का कोई न कोई अभिन्न नियामकसूत्र है। चर्म्मचक्षुओं से सर्वथा परोक्ष यही सूत्र विज्ञानभाषा में 'श्रद्धा' नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

श्रद्धामय श्रद्धासूत्र—

परलोक में अनुधावन करना व्यर्थ है, जब कि इसी लोक में श्रद्धा का अनुमान द्वारा हमें साक्षात् हो रहा है। किसी व्यक्ति का कोई सम्बन्धी उस से कोसों दूर रहता है। वह किसी भयानक रोग से सहसा आक्रान्त हो जाता है। उस विदूरस्थ सम्बन्धी के रोगाक्रान्त होते ही तदव्यव हितोत्तरक्षण में ही यहाँ रहने वाले सम्बन्धी के हृदय पर आघात हो पड़ता है, चित्त व्याकुल हो जाता है, वामाङ्ग (पुरुष का, यदि स्त्री है तो दक्षिणाङ्ग) स्फुरण होने लगता है। ये सब उसी अदृष्ट श्रद्धासूत्र के व्यापार हैं। विदूर देशस्थ स्नेही यदि अन्यदेशस्थ अपने स्नेही का स्मरण (याद) करता है, तो वितत श्रद्धासूत्र कम्पित हो पड़ता है। इस कम्पन से स्मृत स्नेही के हृदय पर आघात होता है। आहत हृदय मन पर, मन कायाग्नि पर, कायाग्नि श्वास वायु पर आघात करता है। जिस प्रकार पानी में प्रविष्ट वायु बुद्बुद उत्पन्न कर देता है, तथैव कम्पित श्रद्धासूत्र लहर पैदा कर देता है। वह वायुमयी तरङ्ग ही 'हिक्का' (हिचकी) नाम से प्रसिद्ध है। यही कारण है कि, एक स्वस्थ-नीरोग व्यक्ति को यदि हिचकियाँ आने लगती हैं, तो कहा जाता है—'आज कोई हमें याद

मर रहा हूँ'। उस व्यक्ति का स्मरण करते ही, नाम लेते ही हिचकी अवरुद्ध हो जाती है। यही श्रद्धासूत्र का लौकिक निदर्शन है।

'आप अपने चर्मचक्षुओं से श्रद्धासूत्र का अवलोकन नहीं करते, इसलिए आप उसे नहीं मानते" यह तर्क नहीं कुतर्क है, विशुद्ध अभिनिवेश है, जो सर्वथा अविचारित्व्य माना गया है। आप का उपास्य ईश्वर भी तो निराकारत्वेन अप्रत्यक्ष है, आत्मा भी तो अमूर्त्त है, मुक्ति भी तो इन्द्रियातीत तत्त्व है। मत का परित्याग कीजिए। परिमितज्ञानानुगत मनुष्य क्या कभी सर्वज्ञ बन सकता है ?, फिर जिन्हें मनुष्य अल्पज्ञ-अल्पकाय समझता है, उन में भी वह ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित है, जिसकी तुलना में मनुष्य नहीं ठहर सकता। एक पिपीलिका (चिऊँटी) को देखिए। मनुष्य की अपेक्षा अत्यल्प चिन्मात्रा से युक्त यह सुदूरस्थान स्थित पदार्थ के जिस गन्ध का परिचय प्राप्त कर लेती है, ज्ञानाभिमानी मनुष्य उस शक्ति से वञ्चित है। पुरुष जिस मार्ग से निकलता है, उस मार्ग में चान्द्रसोममयी श्रद्धा में प्रतिष्ठित अथर्वा नामक गन्धर्व प्राण अनुशयरूप से मिट्टी में व्याप्त हो जाता है। 'सरमा' नामक जाति विशेष में उत्पन्न एक श्वान उस प्राण को पार्थिव गन्ध के तारतम्य से पहिचान कर गन्ता पुरुष का पता लगा लेता है। क्या आप हम भी ऐसा कर सकते हैं ?, श्रद्धासूत्र के सम्बन्ध में भी हमारी यही अवस्था है। दो सम्बन्धियों का, किंवा अनेक सम्बन्धियों का परस्पर सम्बन्ध बनाए रखने वाला श्रद्धासूत्र प्राणधर्म्मत्वेन इन्द्रियातीत होने से यद्यपि हमारी दृष्टि में नहीं आता, तथापि अतीतानागतज्ञ-विदितवेदितव्य-अधिगतयाथातथ्य महर्षियोंने अपनी आर्ष दृष्टि से उस का विज्ञानचक्षु से साक्षात्कार किया है। उन्हीं की ओर से शब्द (श्रुति) द्वारा यह तत्त्व हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। जैसा कि बतलाया गया है, ईश्वर, आत्मा, प्राण, आदि इन्द्रियातीत तत्त्वों के सम्बन्ध में आप्तवाक्य ही एकमात्र श्रेयःपन्था है।

• चिरायता कड़वा है, यह आँख से न देखने पर भी 'तत्रभवान' भिषग्वर के शब्दों पर विश्वास करना पड़ता है। यदि आप्तवाक्य-प्रामाण्य को आधार नहीं माना जायगा, तो पारलौकिक विषयों की कौन कहे, ऐहलौकिक व्यवहार भी सुरक्षित न रक्खे जा सकेंगे। अपने अन्तर्जगत में वस्तुस्थिति का अनुभव करते हुए भी, व्यावहारिक जगत में अनुभव में लाते हुए भी, कल्पित सिद्धान्त के अभिनिवेश में पड़ कर नित्यसिद्ध वैज्ञानिक कर्म्मों के प्रति उदासीनता रखना कौन सी बुद्धिमानी है ? 'इति तु एष प्रष्टव्याः'। पितृतत्त्व, तत्सम्बन्धी साम्पराय, पितृयज्ञ, ये सब तत्त्व दुरूह हैं। सामान्य पुरुष उस रहस्य को नहीं जानता। आप्तोपदेश ही इस की प्रवृत्ति का मुख्य आधार है। परीक्षक विद्वानों के द्वारा आदिष्ट उस आवश्यक पितृयज्ञ को कभी कुतर्क का अनुगामी नहीं बनाना चाहिए। यही आदेश करते हुए, साथ ही अभिनिविष्टों की दुर्गति का विश्लेषण करते हुए स्वयं 'यमराज' कहते हैं—

१—अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

२—न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥
अयं लोको, नास्ति पर, इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।

३—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

४—न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

५—नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ !
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥

—कठोपनिषत् १ । २।५–९ ।

श्रद्धासूत्रानुगत-श्राद्धकर्म्म—

पाञ्चभौतिक शरीर से आत्मा एक पृथक् तत्त्व है, पहिले तो इस प्रकार का आत्मावबोध ही कठिन। आत्मा स्थूलशरीर की विच्युति के अनन्तर अङ्गुष्ठमात्र आतिवाहिक शरीर धारण कर यामीयातना के भोगार्थ लोकान्तर में जाता है, इसके साथ चन्द्रलोक पर्य्यन्त उत्क्रान्त महानात्मा का समन्वय रहता है, चन्द्रलोक प्राप्त होने पर महानात्मा तो वहीं रह जाता है, भूतात्मा लोकान्तरानुगमन करता है, इन सब अतीन्द्रिय भावों का परिज्ञान प्राप्त कर लेना और भी कठिन। इन सब समस्याओं से सर्वसाधारण के बचने का एकमात्र उपाय है–'शास्त्र पर विश्वास', आप्तवचनों पर अनन्य श्रद्धा। हाँ, यदि धर्म्म करते हुए स्वजिज्ञासापूर्त्ति के नाते हम इन विषयों का स्वाध्याय-मनन करते रहेंगे, तो अवश्य ही कालान्तर में श्रद्धादार्ढ्य हो जायगा। प्रकृत सन्दर्भ से बतलाना यही अभीष्ट है कि, परोक्ष श्रद्धासूत्र ही श्राद्धात्मप्राप्ति का अन्यतम द्वार है। इसी श्रद्धासूत्र के आधार पर पिण्डगत प्राणों से चान्द्रलोकस्थ पितरों के अपूर्ण पिण्डों को तृप्त किया जाता है, अतएव यह कर्म्म 'श्राद्ध' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट होने वाला है।

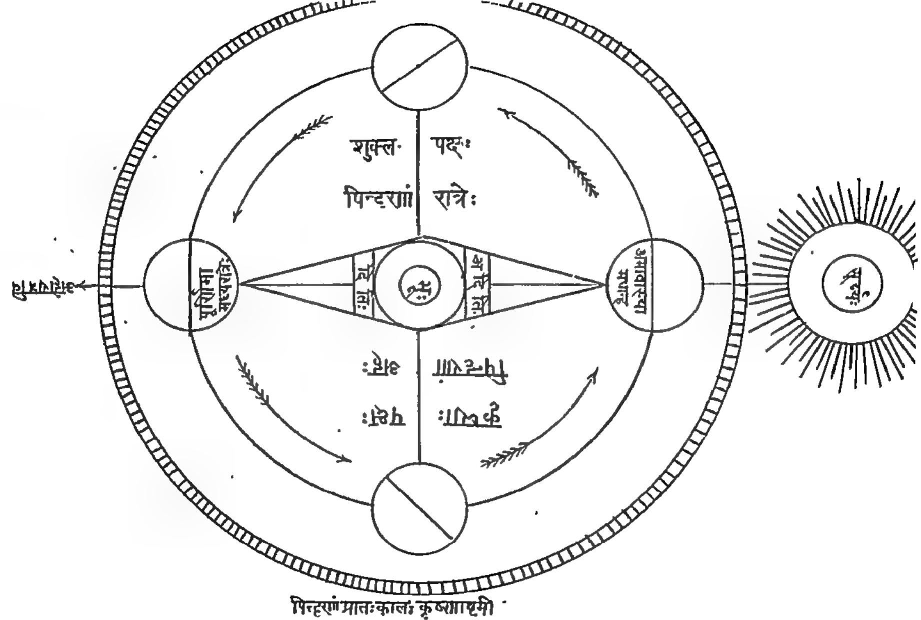
सन्ततिनिरोधक पितृदोष—

उस ओर चान्द्रलोकस्थ प्रेतपिण्डों से, इस ओर तद्वंशोत्पन्न पुत्र के पिण्ड से बद्ध श्रद्धासूत्र सदा एकरस रहता है, अथवा इसमें परिवर्त्तन भी सम्भव है ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रसङ्गोपात्त इस का भी निर्णय कर लीजिए। "चन्द्रलोकस्थ प्रेतपितर ही स्वसहोदान से स्व-

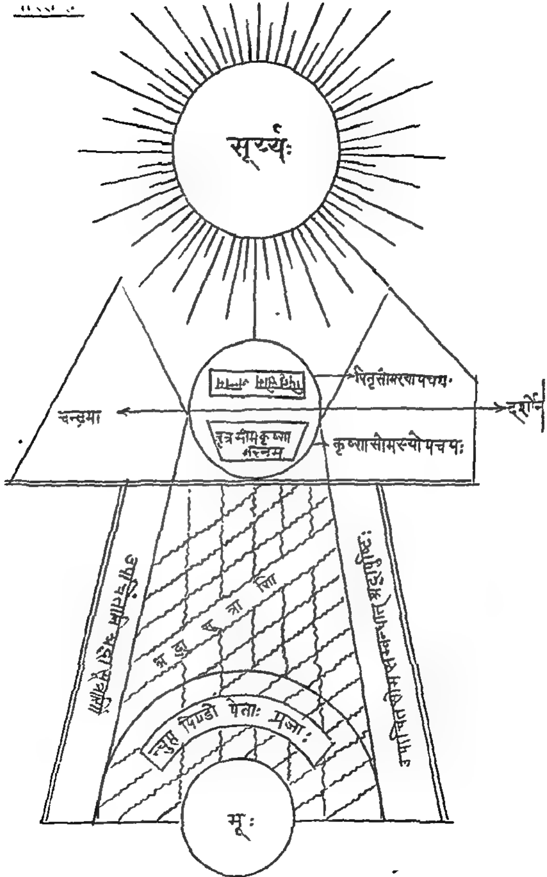
सन्तानों के आरम्भक (उपादान) बने हैं। उन प्रेतपितरों के शुक्र सहांश तो आत्मधेयरूप से उन्हीं में प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं शेषांश तन्यरूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इस आत्मधेय, तन्य, नामक दोनों पिण्डों को एक सूत्र में सम्बद्ध रखने वाला श्रद्धासूत्र दोनों का परस्पर उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध सुरक्षित रखता है" यह तात्पर्य है। यह सम्बन्धसूत्र इतर किसी आक्रमण से न नष्ट किया जा सकता, न क्षीण किया जा सकता। यह सदा स्वस्वरूप से अनुच्छिन्न विधया बना रहता है। केवल पिण्डद मानव पुरुष की उत्क्रान्ति (मृत्यु) ही एक पुरुष (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह) के श्रद्धासूत्रोत्क्रान्ति का कारण बनती है। यदि इससे बीच में (सपिण्ड सप्तक से) किसी अन्य से सूत्रोच्छेद हो जाता है, तो इससे प्रेतपितरों का तो अनिष्ट होता ही है, साथ ही उन का वंशज भी सन्तानतन्तु-वितान से वञ्चित हो जाता है। इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा चान्द्रपितर वंशज के शुक्र में प्रतिष्ठित स्वपिण्डभागों को सबल बनाए रखते हैं। सूत्रविच्छित्ति पर बलाधान अवरुद्ध हो जाता है। सन्तति अवरोध के आठ दोषों में से यही एक 'पितृदोष' है।

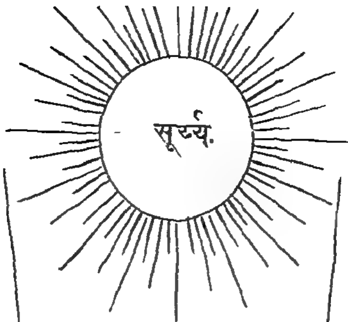
श्रद्धा के तारतम्य से श्रद्धासूत्र में तारतम्य—

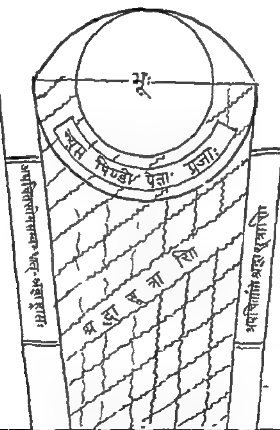
उक्त श्रद्धासूत्र का उच्छेद अन्य से तो सम्भव नहीं है। हाँ, यदि पुत्र महोदय यह पातक करना चाहें तो उन्हें अवश्य इस जघन्यकर्म्म में सफलता मिल सकती है। जिस पुत्र का मानस क्षेत्र परशिक्षा, कुसंग, काल, वातावरण, धर्मव्यतिक्रम, आदि दोषों के आवरण से आवृत हो जाता है, उसका क्षेत्र पितृ-अनुगत श्रद्धासूत्र से वञ्चित हो जाता है। विजातीय-घातक अन्तराय श्रद्धासूत्र को आत्यन्तिकरूप से अभिभव कर डालते हैं और यही अभिभव श्रद्धोच्छेद कहलाया है। परिणाम इस श्रद्धासूत्राभिभव का यह होता है कि, इसकी प्रेत पितर, परलोक स्वर्ग, आदि किसी पर श्रद्धा नहीं रह जाती। सत्यस्वरूपघातक श्रद्धान के तिरोभाव से श्रद्धासूत्र उच्छिन्न हो जाता है। ऐसे निच्छिन्न सूत्री, सूत्रविच्छेदक, भाग्यहीन, कुलकलङ्क, श्रद्धाशून्य पुत्रद्वारा प्रदत्त पिण्ड चान्द्र पितरों की कोई तृप्ति नहीं कर सकता। श्रद्धासूत्र ही तो पिण्डप्राण का अतिवहन करने वाला ऋजुमार्ग है। जब वह टूट गया, तो पिण्डप्राप्ति कैसी। बिना श्रद्धासूत्र-सहयोग का श्राद्ध श्राद्ध नहीं, अश्राद्ध है। ऐसा अश्राद्धलक्षण श्राद्ध गोत्रवर्द्धक नहीं, अपितु वंशविनाशक है। कहना न होगा कि, श्राद्ध की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कतिपय (विशेषत) सनातनधर्म्मावलम्बी महोदयों की वर्त्तमान दुरवस्था इसी अभिशाप का प्रतिफल है। जो नहीं करते, उनका अनिष्ट तो मर्य्यादित है। परन्तु जो करने का बहाना कर अश्रद्धा को गर्भ में रखते हैं, उनका अनिष्ट तो अमर्य्यादित है। अतिथि को न बुलाना वैसा हानिप्रद नहीं, किन्तु बुला कर उसे निराश लौटा देना अनर्थपरम्परा को सादर निमन्त्रित करना है। अस्तु, इस फलाफल का विचार आगे होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही वक्तव्य है कि, केवल पुत्र (कुपुत्र) के श्राद्ध न करने से, तथा अश्रद्धापूर्वक श्राद्ध करने से तो श्रद्धासूत्र उच्छिन्न हो जाता है, एवं यथाविधि श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करने से श्रद्धासूत्र अविच्छिन्न बना रहता है। इस प्रकार पुत्र की श्रद्धा के तारतम्य से श्रद्धासूत्र में तारतम्य हो जाता है।

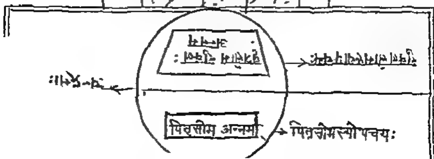


सूर्य्यः
अमावास्या मध्यान्ह
शुक्लः पक्षः
पितृणां रात्रिः
कृष्णः पक्षः
पितृणां अहः
पूर्णिमा मध्यरात्रः
अ दि तिः
दि तिः
भूः
पितृणां प्रातःकालः कृष्णाष्टमी


सूर्यः
पितृसोमस्यापचयः
चन्द्रमा
दर्शः
कृष्णासोमस्योपचयः
भूः


सूर्य्यः


भूः


पितृसोम अन्नम्
पितृसोमस्योपचयः

प्राकृतिक हेतु के द्वारा श्रद्धासूत्र की ह्रास-वृद्धि—

एक दूसरा हेतु और। प्रकृति भी आधिकल्प से इस श्रद्धासूत्र में उच्चावचभाव उत्पन्न करती रहती है। श्रद्धासूत्र चान्द्ररस-(सोम)-मय बतलाया गया है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा ही इसका प्रभव है। चान्द्रकेन्द्र ही इसकी मूलप्रतिष्ठा (खूँटा) है। श्रद्धाप्रभव चन्द्रमा यदि सदा एकरस रहता, तब तो तत्कार्य्यभूत श्रद्धारस भी सदा एकरस ही बना रहता। परन्तु देखते हैं कि, चन्द्रमा कभी समानस्थिति में नहीं रहता। अपने इसी परिणामीभाव से चन्द्रमा 'चन्द्रमा' कहलाता है। भूपिण्ड के चारों ओर 'दृग्वृत्त' नाम से प्रसिद्ध स्वकक्षा पर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है। अहर्गणों से सम्बद्ध '२२-२३-२४' इन 'स्तोम' नामक तीन अहर्गणों के सम्बन्ध से यह चान्द्रपरिभ्रमण अवर, मध्य, पर, भेद से तीन अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है। २२ वें स्तोम के सम्बन्ध से यह भूपिण्ड के नियत अवरस्थान में घूमता है, २३ वें स्तोम के सम्बन्ध से यह भूपिण्ड के नियत मध्यस्थान में घूमता है, एवं २४ वें स्तोम के सम्बन्ध से परस्थान में घूमता है। अवरस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से खग्रासात्मक सूर्य्यग्रहण होता है, मध्यस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से सर्वग्रास होता है, एवं परस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से कङ्कणग्रास होता है। त्रिस्थानात्मिका गतित्रयी ही चन्द्रमा का पहिला विपरिणामभाव है।

नक्षत्रों को साथ लिए हुए चन्द्रमा पृथिवी, सूर्य्य, अयन, तीनों की परिक्रमा लगाता है। पार्थिव परिभ्रमण २७ दिन ७ घन्टा ४३ मिनिट में समाप्त होता है। यही एक चान्द्रमास है। इस चान्द्रमास के सम्बन्ध से चान्द्रसम्वत्सर के ३२३ दिन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में नक्षत्रसम्बन्धेन चान्द्रसम्वत्सर ३२३ दिन का हो जाता है। गवामयनादि सत्रों का एतद्दिनसंख्याक चान्द्रसम्वत्सर से ही सम्बन्ध माना गया है। पृथिवीवत् पृथिवी के साथ साथ सूर्य्य के चारों ओर भी चन्द्रमा का परिभ्रमण स्वतःसिद्ध है। अश्विनीनक्षत्र से चला हुआ चन्द्रमा उसी अश्विनी पर ३५४ वें दिन आता है। इस प्रकार सूर्य्य-सम्बन्धेन चान्द्रसम्वत्सर ३५४ दिन का हो जाता है। तीसरी अयन परिक्रमा २५ हजार वर्षों में समाप्त होती है। यही गतित्रयरूप दूसरा विपरिणाम है।

पार्थिव परिभ्रमणात्मक मासिक परिभ्रमण में भी चन्द्रमा सम नहीं रहता। अमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर अमा पर्य्यन्त प्रत्येक तिथि में चान्द्रज्योत्स्ना का पार्थिव भोग सर्वथा विभिन्न है। इसी परिणाम भाव के कारण 'चन्द्रः सन् मस्यति' निर्वचन से इसे 'चन्द्रमाः' कहना अन्वर्थ बन रहा है। परिवर्त्तनशील तत्त्व 'मस्यति' निर्वचन से 'माः' है। चन्द्र बनता हुआ यह मस्यति है, अतएव यह चन्द्रमाः है। मान्त 'मास्' शब्द चन्द्रमा का पर्य्याय माना गया है। महीने का वाचक मास शब्द अकारान्त है। 'मासः (चन्द्रस्य) अयं भोगकालो मासः' में प्रथम 'मासः' षष्ठी का एक वचन है, द्वितीय 'मासः' प्रथमा का एक वचन है। वक्तव्य यही है कि तिथिरूप से इस के ३० विपरिणाम हो जाते हैं।

अब पक्षदृष्टि से विचार कीजिए। अमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर पूर्णिमा-पर्य्यन्त शुक्ल पक्ष है। एवं पूर्णिमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर अमापर्य्यन्त कृष्णपक्ष है। शुक्लपक्ष में इन्द्रगेय सौर प्राणदेवता चान्द्रसोम खाया करते हैं। यहाँ तक कि, पूर्णिमा को यह सर्वथा क्षीण हो जाता है। सम्पूर्ण चान्द्रसोम प्राणदेवताओं के अधिकार में चला जाता है। अतएव यह मन्यनारायण (सत्यात्मक सूर्य्यनारायण) की तिथि (देवतिथि) मानी गई है। जिसे लोक में पूर्णचन्द्र कहा जाता है, वह इस दृष्टि से क्षीणचन्द्रमा है। इसी पक्षसोम को लक्ष्य में रखते हुए 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः' (शतपथब्रा०) यह कहा गया है। कृष्णपक्ष में चान्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आता है। यहाँ तक कि, अमावास्या तिथि में तो सर्वतोऽधिकरूप से सोममात्रा का भूपिण्ड पर आगमन होजाता है।

पृथिवी, सूर्य्य, का जैसे स्वाक्षपरिभ्रमण पूर्वक भ्रमण सिद्ध है, वैसे चन्द्रमा का स्वाक्षभ्रमण न हो कर केवल वृत्तभ्रमण ही होता है। चन्द्रमा एकरूप से ही भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। जब चन्द्रमा घूमता हुआ पृथिवी, तथा सूर्य्य के मध्य में समसम्मुख आ जाता है, तो अमावास्या होती है। 'दर्शः सूर्य्येन्दुसङ्गमः' के अनुसार यही दर्शतिथि कहलाई है, जिस के आधार पर देवयज्ञाङ्गभूता दर्शेष्टि प्रतिष्ठित है। एवं जिस तिथि में चन्द्रमा, तथा सूर्य्य के मध्य में पृथिवी आ जाती है, वह तिथि 'पूर्णिमा' नाम से प्रसिद्ध है, जिस के आधार पर पौर्णमासेष्टि प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा का क्योंकि स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है, अतएव इस के ऊर्ध्व, अधः, भाग सर्वथा नियत रहते हैं। चन्द्रमा के इस नियत ऊर्ध्व भाग में पितर प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं नियत अधोभाग में असुर प्रतिष्ठित रहते हैं। संवरणशील तमोमय यही चान्द्र अधःप्राण 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से चन्द्रमा वृत्र नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए शत० ३।१।१)। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार, सोऽबलीयान् मन्यमानः पराः परावतो जगाम" (शत० १।६।४) इत्यादि आख्यान के अनुसार पूर्णिमातिथि को सौर इन्द्रद्वारा इस चान्द्रवृत्र का आत्यन्तिक रूप से वध हो जाता है। तमोमय वृत्रप्राण का साम्राज्य नष्ट हो जाता है, ज्योतिर्म्मय इन्द्र का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो जाता है। क्योंकि पूर्णिमा तिथि में अधोभाग प्रकाशित रहता है, ऊर्ध्वभाग अप्रकाशित रहता है, अतएव ऊर्ध्वभागस्थ पितर इस तिथि में सर्वथा अन्धकार में रहते हैं। अतएव यह पूर्णिमा पितरों की मध्यरात्रि मानी गई है। ठीक इस के विपरीत अमावास्या में सूर्य्यसङ्गम से चन्द्रमा का ऊर्ध्व भाग प्रकाशित रहता है, अतएव यह तिथि पितरों का मध्याह्न माना गया है। कृष्णपक्ष की अष्टमी पितरों का प्रातःकाल है, शुक्ल पक्ष की अष्टमी पितरों का सायंकाल है। इस प्रकार 'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः' के अनुसार पक्षद्वयात्मक एक मानुष मास शुक्ल-कृष्णपक्ष भेद से चन्द्रोर्ध्वभागावस्थित पितरों का एक अहोरात्र बन रहा है। प्रकाशोपलक्षित काल अहः है, तमोमय काल रात्रि है। हमारे लिए जो कृष्णपक्ष तमोमय है, वही पितरों के लिए प्रकाशोपलक्षित अहःकाल है। एवं हमारे लिए जो शुक्ल

पन ज्योतिर्मय है, वही पितरों के लिए तमोमयी रात्रि है। हमारे कृष्णपक्ष के १५ दिन पितरों का एक दिन है, हमारे शुक्लपक्ष के १५ दिन पितरों की एक रात है। कृष्ण-शुक्लाष्टमी-द्वयी इस पक्षद्वयात्मक पैत्र अहोरात्र की विभाजिका है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

पितर प्राण की सत्ता विधु के ऊर्ध्व भाग में बतलाई गई है। इस स्थिति के अनुसार अमावास्या तिथि में पितृप्राणमय चन्द्रोर्ध्वभाग सूर्य्य की ओर रहता है। इस तिथि में सौर अन्नादाग्नि (सावित्राग्नि) के मुख में प्रविष्ट ये चान्द्र पितर 'अन्न' बन रहे हैं। अतएव इसे पितृह्रासकाल माना गया है। पितृप्राण की इस क्षयावस्था को लक्ष्य में रख कर ही 'अपक्षयभाजो वै पितरः' (शत० १।४।४) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अमा तिथि में सूर्य्यसम्बन्ध से पितरप्राण यद्यपि क्षीणावस्थापन्न बन रहे हैं, परन्तु इन की सन्तति से सम्बन्ध रखने वाला अवारपारीण श्रद्धासूत्र पुष्ट है। कारण स्पष्ट है। अमावास्या में चन्द्रमा का अधोभागावस्थित सोम अतिशयमात्रा से पृथिवी की ओर आ रहा है। सौर देवताओं का अधिकार केवल उपरि भागस्थित पितृप्राणमय सोम पर ही है। फलतः कृष्णपक्ष में, विशेषतः अमावास्या में श्रद्धासूत्र का उपचय (वृद्धि-पुष्टि), तथा पितरप्राणों का अपचय (ह्रास-क्षय) दोनों भाव सिद्ध हो जाते हैं।

अब चलिये पूर्णिमा की ओर। अमावास्या में चन्द्रमा का जो अधोभाग विशुद्ध कृष्ण सोमात्मक था, वही अधोभाग चन्द्रमा के पृथिवी के इस ओर (सूर्य्यविरुद्ध दिक् में) आ जाने से सौररश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो जाता है, जैसा कि "अत्राह गोरमन्वत, इत्था चन्द्रमसो गृहे" (ऋक्संहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, अमावास्या में जो चान्द्र अधोभाग सौर देवाधिकार से पृथक् रहता है, पूर्णिमा में वही देवताओं के अधिकार में आ जाता है। पृथिवी की ओर आने वाली सोममात्रा इन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से अवरुद्ध हो जाता है। अमावास्या में जहाँ देवता पितृसोम को अन्न बनाते हैं, वहाँ पूर्णिमा में वृत्रसोम इन का अन्न बन जाता है। क्योंकि पूर्णिमा में पृथिवी की ओर आने वाले वृत्रसोम का क्षय है। अतएव तद्रूप श्रद्धासूत्र का शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में क्षयभाव रहता है। फलतः शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में पितर प्राण का उपचय, तथा श्रद्धासूत्र का अपचय सिद्ध हो जाता है। जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

अमा और पूर्णिमा—

दर्शेन्दु-परिलेख में पाठक देखेंगे कि, अमावास्या तिथि में विधूर्ध्वभाग सूर्य्य की ओर है, जिसमें कि पितर प्रतिष्ठित हैं, जिसे कि लोकपरिभाषा में * 'प्रद्यौः' कहा गया है। एवं विधु का अधःअर्द्ध प्रदेश पृथिवी की ओर है, जिस प्रदेश में सोमतत्त्व स्वस्वरूप से (कृष्णरूप से) प्रतिष्ठित है,

* "तृतीया ह प्रद्यौ यस्या पितर आसते" (अथर्व)

जो कि कृष्ण सोम 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है। पितरप्राणावच्छिन्न ऊर्ध्व भाग सममस्मुख स्थित सूर्य्य के रश्मिगत प्राण देवताओं से युक्त है। दूसरे शब्दों में पितृसोमपिण्ड सौराग्नि-देवताओं से मुक्त है। इस मुक्ति से पितृपिण्ड निर्बल हैं, क्षीण हैं। इसी पिण्डमात्राक्षय से इस तिथि में इन में अशनाया (भूख) जाग्रत रहती है। इस अशनाया का प्रभाव उक्त श्रद्धासूत्रद्वारा इन के उन पिण्डों पर पड़ता है, जो पिण्ड पृथिवी पर प्रतिष्ठित सन्तानों में ऋणरूप से न्युप्त हैं। विधु का अधो भाग क्योंकि देव प्राणभुक्ति से बहिर्भूत है, अतएव यह भाग (वृत्रसोम) पुष्ट है। इसी का पृथिवी पर, तत्रस्थ प्रजा पर अनुग्रह है। फलतः अमा तिथि में सन्ततिगत श्रद्धासूत्र पुष्ट है। ऐसी स्थिति में इस दिन जो पिण्ड दानलक्षण श्राद्धकर्म्म किया जायगा, वह अवश्यमेव पुष्ट श्रद्धासूत्र के द्वारा ऊर्ध्वस्थित आशामुख अशनायायुक्त पितरों के क्षीणपिण्डों को आप्यायित करता हुआ उन्हें तृप्त कर सकेगा।

पूर्णेन्दु परिलेख में पाठक ठीक इस से विपरीत स्थिति देखेंगे। पूर्णिमा तिथि में विधूर्ध्वभाग सूर्य्य से विरुद्ध दिक् में है, जिस प्रमी नामक ऊर्ध्व भाग में पितर प्राण की प्रतिष्ठा बतलाई गई है। एवं विधु का अधः अर्द्ध प्रदेश पृथिवी, तथा सूर्य, दोनों की ओर है। सूर्यसाम्मुख्य से यह अर्द्ध भाग सौराग्नि-देवता से संश्लिष्ट है। फलतः अमावास्या में कृष्ण रहने वाला यह वृत्रसोम शुक्लरूप में परिणत हो रहा है, जिस शुक्लरूप (चन्द्रिका) का सूर्य्य-चन्द्रमा के मध्य में प्रतिष्ठित पृथिवी पर आगमन हो रहा है। पार्थिव प्रजा इसी सोम से युक्त है, जो शुक्ल सोम देवभुक्ति से क्षीण हो रहा है। इसी से श्रद्धासत्र का पोषण होना था। वह आज क्योंकि क्षीण है, प्राणाग्निदेवता का अन्न बन रहा है। अतएव आज का श्रद्धासूत्र (स्नेहयुक्त चान्द्र श्रद्धासूत्र) भी क्षीण है। उधर ऊर्ध्वभागस्थ पितर आज सौरदेवभुक्ति से बहिर्भूत होते हुए तृप्त हैं। उन में अशनाया का अभाव है। इस प्रकार जिन प्रेत पितरों की तृप्ति के लिए पिण्डदान होता है, पूर्णिमा तिथि में वे भी तृप्त हैं, साथ ही जिस श्रद्धासूत्र के द्वारा पिण्डाहुति वहां पहुँचती है, वह श्रद्धासूत्र भी क्षयधर्म्म से इस प्राप्ति कर्म्म में असमर्थ है। अतएव यह तिथि श्राद्धकर्म्म के लिए अनुपयुक्त ही सिद्ध हो जाती है।

अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म्म—

प्रति अमावास्या को होने वाला श्राद्ध कर्म्म पितृपट्कतृप्ति का कारण बनता है। सर्वपितृ उद्देश्य से प्रत्येक मासपर्व में होने वाला यही अमाश्राद्ध 'पार्वणश्राद्ध' नाम से व्यवहृत हुआ है। श्रद्धालु पुत्रादि के द्वारा कृत इस शास्त्रीय कर्म्म से प्रति अमावास्या में, प्रतिमास में इस के पितर तृप्त होते रहते हैं। अमावास्या को ही क्यों सर्वपितृश्राद्ध किया जाता है?, अमावास्या में पितर क्यों अतृप्त रहते हैं?, इत्यादि प्रश्न अब तक के प्रकरण से गतार्थ हो जाते हैं। हमारा बुद्धिक्षेत्र सचमुच इस प्रश्न का समाधान करने में अपने आप को सर्वथा कुण्ठित समझ रहा है कि, विशुद्ध प्राकृतिक सत्य स्थिति से सम्बन्ध रखने वाला पिण्डदानलक्षण श्राद्धकर्म्म एक वेदभक्त की दृष्टि में 'जीवितपितृश्राद्ध'

ऐसे बन गया, जब कि स्वयं उसके मान्य वेद में विस्पष्ट शब्दों में 'मृतपितृश्राद्ध' विहित हुआ है, जो कि श्राद्धविधान 'पिण्डपितृयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। अमावास्या ही पितृतृप्ति की प्रधान तिथि क्यों है?, इस प्रश्न का मौलिक समाधान करने वाला निम्न लिखित श्रौत आख्यान हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

श्रौतआख्यानद्वारा 'श्राद्धविज्ञान' का स्पष्टीकरण—

कथानक की सन्दर्भसङ्गति लगाने के लिए मान लीजिए,—"प्रजाकामुक प्रजापति ने 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' अपने इस आदेश को व्यावहारिकरूप से प्रजा के सामने रखने के लिए स्वयं प्रजा उत्पन्न की। प्रजापति से उत्पन्न यह प्रजा देवप्रजा, पितृप्रजा, असुरप्रजा, मनुष्यप्रजा, पशुप्रजा, इन पाँच श्रेणियों में विभक्त हुई। दूसरे शब्दों में स्वयं प्रजापति से ही पाँच प्रजा उत्पन्न हुई।" इस आख्यान-सन्दर्भसङ्गति से आगे श्रौत आख्यान यों आरम्भ होता है—

(१) "उत्पन्न प्रजा उत्पादक पिता प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुई, और निवेदन करने लगी कि, भगवन्! आपने हमें उत्पन्न तो कर दिया। परन्तु अभी तक हमारी जीवनयात्रा-निर्वाह के लिए भोग्य सामग्री की व्यवस्था न हुई। हम आप से प्रार्थना करते हैं कि, हमारे लिए कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिसको आधार बना कर हम जीवित रह सकें। इस प्रकार भोग्यव्यवस्था के लिए सामूहिक निवेदन कर आगे जाकर प्रत्येक ने व्यक्तिगत रूप से अपने मनोभाव प्रकट करना आरम्भ किया। इसी सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, असुरप्रजा पाँचों में आयु, संख्या, दोनों में ज्येष्ठ थे। साथ ही ये सब से पहिले उपस्थित हुए थे। बार बार उपस्थित हुए थे। परन्तु प्रजापति 'सूचीकटाहन्याय' को आगे कर प्रत्येक बार इन्हें यह कह कर लौटा देते थे कि, तुम सब से बड़े हो, तुम्हें धैर्य्य रखना चाहिए। पहिले तुम से कनिष्ठप्रजा की व्यवस्था होगी, सर्वान्त में तुम्हारा सन्तोष किया जायगा। फलतः देवप्रजा का ही प्राथम्य सुरक्षित रहा।

यज्ञोपवीत धारण कर, अपने दहिने जानु※-को भूपृष्ठ पर संलग्न कर देवप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। प्रजापति ने इन सव्यजान्वान्योपविष्ट देवताओं के लिए यह व्यवस्था की कि, "यज्ञ तुम्हारा अन्न होगा, तुम सदा अमृतभावापन्न (सोमामृताहुति से अजर अमर) रहोगे। सदा ऊर्क्-बल से युक्त रहोगे। एवं सूर्य्य तुम्हारा प्रकाश होगा।" देवता सन्तुष्ट होकर लौट गए। अनन्तर—

प्राचीनावीती (यज्ञसूत्र को दक्षिणस्कन्ध पर डाल कर) बन कर बाएँ जानु को भूपृष्ठ पर संलग्न कर पितरप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। पितरों को सम्बोधन करते हुए

※ ऊरू-जङ्घयोर्मध्यभाग। हॉट्-गोडा-गोडी-ति भाषाया प्रसिद्ध

प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि, "महीने महीने में (प्रतिमास में एक बार अमावस्या को) तुम्हें अन्न मिलेगा, एवं तुम्हारे लिए 'स्वधा' अन्न तृप्ति का कारण बनेगा। मनोजव (श्रद्धामय मानस बल) तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी। चन्द्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा।" पितर भी सन्तुष्ट होकर लौट गए। अनन्तर—

(३) प्रावृत होकर (गले में माला की भाँति यज्ञसूत्र धारण कर) उपस्थमान से (आलथी पालथी मार कर) मनुष्यप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। इनके लिए प्रजापति ने यह व्यवस्था की कि, "एक अहोरात्र में दो बार साय-प्रात तुम्हें अन्न मिलेगा। मृत्यु तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी। अग्नि तुम्हारा प्रकाश रहेगा।" मनुष्यप्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई। अनन्तर—

(४) अपने यथाजात स्वरूप से ही पशुप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। प्रजापति ने इन्हें कोई सम्बोधन न कर अपने सङ्कल्प से ही इनके लिए यह व्यवस्था बना दी कि, "तुम्हें जब भी कभी समय-असमय में कुछ खाने के लिए मिल जाय, खा लिया करो। तुम्हारे लिए कोई नियत समय नहीं है।। (श्रुत्यन्तर के अनुसार) पार्थिव क्षारभाग तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी। मनुष्यप्रजा तुम्हारा प्रकाश होगा"। पशुप्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई। सर्वान्त में—

(५) उस सर्वज्येष्ठ—बहुमत्स्यक असुरप्रजा को अवसर मिला, जो उक्त चारों प्रजाओं से पहिले भी उपस्थित होने की धृष्टता कर चुकी थी, अनन्तर चारों के साथ भी जो उपस्थित होकर अपने आसुर धर्म्म को व्यक्त कर रही थी, प्रजापति ने इनके लिए 'माया' को तो अन्नस्थानीय बनाया, एवं तम (अन्धकार) को प्रकाशस्थानीय बनाया। अपनी 'मात्स्य' (अनैश्वर्य) वृत्ति के अनुग्रह से इन असुरोंने स्रष्टा प्रजापति से माया, तम, रूप जो भोग्य प्राप्त किया, उसका परिणाम यह हुआ कि, कालान्तर में इन्हीं भोग्यों से इस प्रजा का सर्वनाश हो गया। फलतः देवता, पितर, मनुष्य, पशु, यह प्रजाचतुष्टयी ही प्रजापति के यश को सुरक्षित रख सकी।

(६) प्रजापति ने आरम्भ में उक्त चार प्रजाओं के लिए उक्तरूप से जो भोग्य व्यवस्था की थी, आज पर्य्यन्त प्रजापति की उसी व्यवस्था का अनुगमन हो रहा है। देवता मर्य्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, पितर अतिक्रमण नहीं करते, पशु अतिक्रमण नहीं करते। हाँ, मनुष्यप्रजा अपने प्रज्ञापराध से अवश्य ही कभी कभी असुरप्रजा, तथा पशुप्रजा का अनुसरण करती हुई मर्य्यादा का अतिक्रमण कर जाती है। (अत एव चारों प्रजाओं में से एकमात्र मनुष्यप्रजा के लिए ही शास्त्रोपदेश प्रवृत्त हुआ है)। श्रुति कहती है कि, अपनी इसी आसुरवृत्ति, तथा पशुवृत्ति से मनुष्य आवश्यकता से अधिक तुन्दिल (स्थूलकाय-विपुलोदर) बन जाते हैं। मनुष्यप्रजा में जिसे तुन्दिल देखो, विश्वास करो, वह पाप कर्म्म से तुन्दिल हुआ है। कभी ऐसा अर्थपरायण तुन्दिल मनुष्य सद्गति का अधिकारी नहीं बन सकता। क्योंकि यह आसुर अनृतभाव (मिथ्याभाषण, छल, विश्वासघात, आदि असत्यमार्ग) के अनुगमन

से ही पीवरतनू बना है। इसलिए मैं आदेश करती हूँ कि, प्रत्येक मनुष्य को प्राजापत्यमर्य्यादा के अनुसार सन्मार्ग पर चलते हुए दिन रात के २४ घन्टों में केवल दो वार साय प्रातः ही अशन करना चाहिए। जो मनुष्य इस मर्य्यादारहस्य को समझता हुआ इस नियम का अनुगमन करता है, वह पूर्णायु का अधिकारी बनता है। साथ ही 'इदमित्थमेव करिष्ये, नान्यथा' इस सत्यपूत प्रतिज्ञात्मक नियमानुगमन से ऐसे मनुष्य की वाणी में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है। यह जिसके लिए अपने मुख से जो कुछ कह देता है, वही हो जाता है। यही वाग्वज्र ब्राह्मतेज है, (जिसके बल पर ब्राह्मण की वाणी में सत्यप्रतिष्ठित रहता है)। जो इस प्राजापत्यव्रत को निभाने में समर्थ है, वह भी इस ब्राह्मतेज से युक्त हो जाता है"। अब श्रुति के शब्दों में ही आख्यान पर दृष्टि डालिए—

(१)—"प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्। प्रजा वै भूतानि। वि नो धेहि, यथा जीवाम:-इति। ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा, दक्षिणं जान्वाच्य—उपासीदन्। तानब्रवीत्—यज्ञो वोऽन्नम्, अमृतत्वं वः, ऊर्ग्वः, सूर्यो वो ज्योतिः, इति।"

(२)—"अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः, सव्यं जान्वाच्य—उपासीदन्। तानब्रवीत्—मासि मासि वोऽशनम्, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः, इति।"

(३)—"अथैनं मनुष्याः प्रावृताः, उपस्थं कृत्वा—उपासीदन्। तानब्रवीत्—सायं प्रातर्वोऽशनम्, प्रजा वः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः, इति"।

(४)—"अथैनं पशव उपासीदन्। तेभ्यः स्वैरमेव चकार—यदैव यूयं कदाच लभध्वै, यदि काले यद्यनाकाले, अथैवाश्नथ, इति। तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते, यदि काले, यद्यनाकाले, अथैवाश्नन्ति"।

(५)—"अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुः, इत्याहुः। तेभ्यस्तमश्च, मायां च प्रददौ। अस्ति—हैवासुरमाया, इतीव। पराभूता ह त्वेव ताः प्रजाः"।

(६)—"ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, विह्र्छति हि। न ह्ययनाय चन भवति। अनृतं हि कृत्वा मेद्यति। तस्मादु सायं प्रातराश्येव स्यात्। स यो हैवं विद्वान् सायंप्रातराशी भवति, सर्वं हैवायुरेति। यदु ह किंच वाचा व्याहरति, तदु हैव भवति। एतद्धि देवसत्यं गोपायति। तद्वैतत् तेजो नाम ब्राह्मणं, (ब्राह्मणं— ब्राह्म—नाम तेजः), य एतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम्"।

—शत०ब्रा० २ का०। ४ अ०। २ ब्रा०। १ क० से ६ क० पर्य्यन्त।

पितरप्रजा के प्रसङ्ग में उपात्त प्रकृत ब्राह्मणश्रुति का समन्वय करने से पहिले 'प्रजापति' स्वरूप की ही दो शब्दों में मीमांसा कर लीजिए। तत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों ने प्रजापति का एक ऐसा सामान्य लक्षण किया है, जिस का षोडशीपुरुष, अव्यक्तपुरुष, व्यक्तपुरुष, सम्वत्सर, अग्नि, वायु, आदित्य, आदि व्यष्टिलक्षण यच्चयावत् प्राजापत्यसंस्थाओं के साथ समन्वय हो रहा है। और वह लक्षण यह है—

"आत्म–प्राण–पशु–समष्टिः प्रजापतिः"

पहिले षोडशीप्रजापति के साथ ही लक्षण समन्वय कीजिए। पञ्चकल अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष, पञ्चकल क्षरपुरुष, निष्कल परात्पर, इन १६ कलाओं की समष्टि ही षोडशीपुरुष है। षोडशीपुरुष का अव्यय भाग आत्मा है, यही वस्तुतः पुरुष है। अक्षर भाग 'प्राण' है, यह परामकृति नामक अन्तरङ्गप्रकृति है। क्षर भाग 'पशु' है, यही अपराप्रकृति नामक बहिरङ्गप्रकृति है। यही आत्म–प्राण–पशुसमष्टिलक्षण षोडशीप्रजापति है, जिस के लिए—'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' (शतपथ) यह निगम प्रसिद्ध है।

प्रजापति की आत्मकला (अव्यय) अमृतलक्षण रस, मृत्युलक्षण बल, के समन्वय से अमृत-मृत्युमयी है। इस की अमृतकला का अनुग्रह परामकृतिरूप अक्षर नामक प्राणकला पर होता है, एवं मृत्युकला का अनुग्रह अपराप्रकृतिरूप क्षरनामक पशुकला पर होता है। अमृतकला ज्ञानप्रधाना (रस प्रधाना) है, मृत्युकला कर्म्मप्रधाना (बलप्रधाना) है। फलतः अक्षर ज्ञानप्रधान बन रहा है, क्षर कर्म्म प्रधान बन रहा है। ज्ञान–कर्म्ममय अक्षराक्षराधारभूत उभयमूर्त्ति त्रिमूर्त्ति त्रिपुरुष–पुरुषात्मक षोडशी ही प्रजापति है। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' (शतपथ) के अनुसार यह अक्षररूप से अमृतभावापन्न है, एवं क्षररूप से मर्त्यभावापन्न है।

ज्ञानप्रधान अमृताक्षर अव्यक्त है, कर्म्मप्रधान मर्त्यक्षर व्यक्त है। अव्यक्त के आधार पर ही व्यक्त प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में अव्यक्त ही क्षर का आधार बन कर व्यक्तरूप में परिणत हो रहा है। अव्यय के ज्ञानभाग से उपकृत अव्यक्त ज्ञानसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं अव्यय के कर्म्मभाग से उपकृत व्यक्त क्षर कर्म्मसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। पुरुष से अव्यक्त, अव्यक्त से व्यक्त, व्यक्त से कर्म्मवितान, किंवा कर्म्मसृष्टि, यह परम्परा है। इस परम्परा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आत्मा से प्राण का, प्राण से पशु का, पशु से कर्म्म का विकास हुआ है। इसी दृष्टि से सृष्टि-धारा 'मानसी, गुणमयी, वैकारिकी' भेद से तीन प्रवाहों में प्रवाहित हो रही है, जिन्हें क्रमशः पुरुष प्रकृति–विकृति-सृष्टि भी कहा जा सकता है।

पुरुष से होने वाली अव्यक्तरूपा ज्ञानगर्भित–प्राणात्मिका सृष्टि ही 'ऋषिसृष्टि' है। यह सृष्टिस्वेन यद्यपि प्रजा है, परन्तु संसृष्टिलक्षण मिथुनभाव से अतिक्रान्त–भाव–प्राधान्य से ज्ञानैकतु

प्रवृत्तिधा इस ऋषिसृष्टि को असृष्टि ही मान लिया गया है। यही कारण है कि, अव्यक्तात्मक स्वयम्भू से सम्बन्ध रखने वाली इस ऋषिसृष्टि को ब्राह्मणश्रुति ने प्रजा-मर्य्यादा से पृथक् कर दिया है। आगे का देवादिप्रजापञ्चक, तथा व्यक्त लोक, सब का मूल यही ऋषिसर्ग है, जिसे स्मृति ने भी मानस सर्ग मानते हुए अव्ययसर्ग ही माना है। देखिए—

> महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
> मद्भावा मानसा जाता एषां लोक इमाः प्रजाः ॥ (गीता १० । ६।)

ज्ञानतन्तुप्रवर्त्तक अव्यक्त ऋषितत्त्व अग्नीरूप से व्यक्त आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, जैसा कि ऋणस्वरूपपरिचय में स्पष्ट किया जा चुका है। ऋषिप्राणगर्भित यह परमेष्ठी ही ब्राह्मणोक्त प्रजापञ्चक का उपादान बनता है। अतएव ब्राह्मणश्रुति के प्रजापति शब्द से अव्यक्त-ज्ञान-मूर्त्ति-ऋषितत्त्वगर्भित व्यक्त कर्म्ममूर्त्ति-आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का ही ग्रहण करना न्यायसङ्गत बनता है। आपोमय परमेष्ठी का भार्गव अप्तत्त्व असुरसृष्टि का प्रवर्त्तक है, भार्गव सोमतत्त्व पितृ-सृष्टि का प्रवर्त्तक है, आङ्गिरस वायु पशुसृष्टि का प्रवर्त्तक है, एवं आङ्गिरस अग्नि मनुष्यसृष्टि का प्रवर्त्तक है। इसमें सौम्या पितृसृष्टि का दूसरा अधिष्ठान (प्रवर्ग्य सम्बन्ध से) सोममय चन्द्रमा है। इस प्रकार पार्थिव विवर्त्त की दृष्टि से सूर्य्योपलक्षित द्युलोक, चन्द्रमोपलक्षित अन्तरिक्षलोक, वैश्वा-नराग्न्युपलक्षित पृथिवीलोक, इन तीनों को क्रमशः देवलोक, पितृलोक, मनुष्यलोक, कहा जा सकता है। सूर्य्यतः परमस्थान में स्थित, अतएव 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य पितृलोक, तथा परमेष्ठी से भी ऊपर प्रतिष्ठित स्वायम्भुव ऋषिलोक, इन दोनों लोकों की समष्टि चौथा 'ब्रह्मलोक' है, 'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते'। लोकत्रयी का एक विभाग है, ब्रह्मलोक का स्वतन्त्र विभाग है। इस प्रकार सम्भूय चार लोक हो जाते हैं। तीनों लोक मनुष्यप्रजा के लिए श्रद्धा (प्रकट) हैं, चौथा आपोमय पारमेष्ठ्य लोक अनद्धा है, जैसा कि—"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (शतपथब्रा०)—"को हि तद्वेद०" इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

प्रजासम्पत्ति के द्वारा मनुष्य मनुष्यलोक में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करता है, विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म (इष्ट-आपूर्त्त-दत्त) से पितृलोकावाप्ति होती है, एवं विद्यासापेक्षसत्कर्म्म (यज्ञ-तप-दान) से देवलोकावाप्ति होती है। एवं निष्कामकर्म्मलक्षण बुद्धियोगानुगमन से ब्रह्मलोकावाप्ति होती है, जैसाकि 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में इस सृष्टिप्रपञ्च से यही बतलाना है कि, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, भेद से तीनों लोक सम्वत्सरचक्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। एक ही सम्वत्सरचक्र में तीनों लोक भुक्त हैं। एवं उक्त ब्राह्मणाख्यान इन्हीं साम्वत्सरिक लोकों को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुआ है। निम्न लिखित वचन इसी लोकत्रयी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—"अथ त्रयो वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः, इति। सोऽयं

मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः, नान्येन कर्म्मणा । कर्म्मणा पितृलोकः । विद्यया देवलोकः । देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः, तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति"

—शत० १४ का० । ४ अ० । २ ब्रा० । २४ क० ।

२—"त्रयऽउ लोकाः सम्वत्सरः" (शत० ८ । ७ । १ । ७ ।)

३—"एतऽ उ वाव लोकाः–यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः सम्वत्सरः" इति ।

—शत० १० । २ । ६ । ५ ।

सम्वत्सरात्मिका लोकत्रयी में प्रतिष्ठित प्रजात्रयी की स्थिति के यथावत् समन्वय से यह ब्राह्मण–आख्यान का रहस्यार्थ गतार्थ बन जाता है। अतः उस स्थिति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, तीनों के क्रमशः अक्ष, दक्ष, क्रान्ति, नामक तीन वृत्त माने गए हैं। भूपिण्ड अक्ष पर परिक्रमा लगाता है, यही इस का 'स्वाक्षपरिभ्रमण' है, इसी से 'दैनन्दिनगति' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही स्वाक्षगति अहोरात्र की जननी है। स्वाक्ष पर एक अहोरात्र में पूरी परिक्रमा करता हुआ भूपिण्ड (आधुनिक ज्योतिर्विदों के मतानुसार सूर्य्य) के (पृथिवी के) चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है। जिस वृत्त पर यह पार्थिव, किंवा सौर परिभ्रमण होता है, वही 'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। इस परिभ्रमण से 'साम्वत्सरिकगति' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही क्रान्तिगति दक्षिणोत्तर अयनों की विभाजिका है। चन्द्रमा भूपिण्ड को केन्द्र बनाता हुआ एक मास में भूपिण्ड के चारों ओर अपने दक्षवृत्त पर परिक्रमा लगा लेता है। इस चान्द्रपरिभ्रमण से 'मासिकगति' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही दक्षगति शुक्लकृष्णपक्षों की विभाजिका है। निष्कर्षतः अहोरात्र का सम्बन्ध स्वाक्षपरिभ्रमणानुगता पृथिवी से है, शुक्लकृष्णपक्षों का सम्बन्ध दक्षभ्रमणानुगत चन्द्रमा से है, एवं उत्तर–दक्षिणायनों का सम्बन्ध क्रान्तिपरिभ्रमणानुगता पृथिवी (किंवा सूर्य्य) से है। तीनों गतियों में क्रमशः पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, की प्रधानता है। तीनों गतियों से तीनों क्रमशः अहः मास, वर्ष, के अधिष्ठाता बन रहे हैं।

अहोरात्र का तात्त्विक स्वरूप क्या ?। क्या द्वादश (१२) होरायुक्त काल अहः, एवं द्वादश होरायुक्त काल रात्रि है ?। नहीं। वैज्ञानिक जगत् में अहोरात्र की परिभाषा कुछ और ही मानी गई है। 'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः' (शत० १ ८।) के अनुसार सौरप्रकाश–लक्षण अग्नि का नाम ही 'अहः' है, सौरप्रकाशभावरूप सोम का ही नाम 'रात्रि' है, ज्योतिर्लक्षण सौर मघवेन्द्र से युक्त अग्नितत्त्व ही अहः है, इन्द्रवियुक्त विशुद्ध कृष्णसोम ही 'रात्रि' है। इस प्रकार अहः–रात्रि शब्द काल के वाचक न होकर तत्त्वों के ही वाचक हैं। इन्द्रगर्भित अग्नितत्त्वात्मक इस अहः का जितने काल में भोग होता है, उपलक्षणविधि से आगे जाकर वह अहर्भागात्मक काल भी 'अहः' कहलाने लग गया है। इसी दृष्टि को प्रधान मान कर अहोरात्र–विवर्त्त का समन्वय कीजिए।

भूपिण्ड का जो (अदिति) भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अहस्तत्त्व है। क्योंकि इसका भोग द्वादश होरा पर्य्यन्त होता है, अतएव द्वादश होरात्मक यह अहोरूप काल भी 'अहः' कहलाने लग गया है। एवमेव भूपिण्ड का जो (दिति) भाग सौरप्रकाश से वियुक्त रहता है, उसमें कृष्णसोमात्मक रात्रितत्त्व प्रतिष्ठित है। क्योंकि इसका भोग द्वादश होरापर्य्यन्त होता है, अतएव द्वादश होरात्मक यह रात्रिमय काल भी रात्रि कहलाने लग गया है। स्वात्मपरिभ्रमण के कारण १२ घन्टों पर्य्यन्त तो भूपिण्ड में ज्योतिर्लक्षण अग्निरूप अहः का भोग होता है, एवं १२ ही घन्टों पर्य्यन्त कृष्णलक्षण सोमात्मक रात्रितत्त्व का भोग होता है। अतएव पार्थिव अहोरात्रकाल १२-१२ होरा का मान लिया गया है।

जिस प्रकार भूपिण्ड परिभ्रमणाधार अक्षवृत्त का आधा भाग ज्योति, आधा भाग कृष्णसोम से युक्त रहता है, एवमेव चान्द्रपरिभ्रमणाधार दक्षवृत्त का आधा भाग तो सौरज्योति से युक्त रहता है, एवं आधा भाग कृष्णसोम से युक्त रहता है। ज्योतिर्लक्षण इस दक्षवृत्तावच्छिन्न अहस्तत्त्व का भोग क्योंकि १५ अहोरात्रों में होता है, अतएव यह अहस्तत्त्व पञ्चदश अहोरात्रात्मक माना गया है। कृष्ण-सोमलक्षण रात्रितत्त्व का भोग १५ अहोरात्रों में होता है, अतएव यह चान्द्र रात्रितत्त्व पञ्चदशाहोरा-त्रात्मक माना गया है। दूसरे शब्दों में पञ्चदशाहोरात्रावच्छिन्न चान्द्र ज्योतिर्भाग अहस्तत्त्व है, एवं पञ्चदशाहोरात्रावच्छिन्न चान्द्र कृष्णसोमभाग रात्रितत्त्व है। पार्थिव अहोरात्र की दृष्टि से चान्द्र अहोरात्र-तत्त्व १५-१५-अहोरात्र का है, यही तात्पर्य्य है। हमारे १५ अहोरात्र चन्द्रमा का एक अहः है, जिसे हम अपनी दृष्टि से पञ्चदश अहोरात्रात्मक शुक्लपक्ष कहा करते हैं। एवं १५ अहोरात्र चन्द्रमा की एक रात्रि है, जिसे पञ्चदश अहोरात्रात्मक कृष्णपक्ष कहा जाता है।

अब क्रमप्राप्त सौर सम्वत्सरचक्र पर दृष्टि डालिए। षण्मासोपलक्षित उत्तरायण काल में (पूरे ६ महीने पर्य्यन्त) सौर ज्योतिर्म्मय अहस्तत्त्व व्याप्त है, एवं षण्मासोपलक्षित दक्षिणायनकाल में कृष्णसोमात्मक रात्रितत्त्व व्याप्त है। इस प्रकार षण्मासावच्छिन्न उत्तरायणकाल अहस्तत्त्वभोग से एक रात्रि है। हमारी दृष्टि से ६ महीनों की समष्टि वहाँ एक दिन है, एवं ६ महीनों की समष्टि एक रात्रि है।

और आगे बढ़िए। जिस समय सूर्य्य उत्पन्न हुआ था, तब से आरम्भ कर जिस दिन सूर्य्य पुनः अव्यक्तावस्था में परिणत होगा, इतने समय पर्य्यन्त ज्योतिर्म्मय अहस्तत्त्व की सत्ता है। अनन्तर इतने ही समय पर्य्यन्त विशुद्ध कृष्ण (पारमेष्ठ्य) सोम की सत्ता रहेगी। यह सूर्य्यसत्तात्मक ज्योतिर्भाग ही अहः है, एवं सूर्य्याभावात्मक कृष्णसोमतत्त्व ही रात्रि है। इस अहः का सृष्टिकाल में भोग है, रात्रि का प्रलयकाल में भोग है। अहःकाल व्यक्तात्मक अहरागम है, रात्रिकाल अव्यक्तात्मक राज्यागम है। इसी महा-अहोरात्र को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (गीता)।

यही अहोरात्र ब्राह्म अहोरात्र है, जिस का पूर्वोक्त अर्थापसर्गानुगत ब्रह्मलोक से सम्बन्ध । जिसे अनद्धा चतुर्थ आपोलोक भी कहा गया है । ब्राह्म अहोरात्र का सृष्टिकालोपलक्षित यही अ 'पुण्याह' (पवित्र दिन) कहलाया है, जिस का अपने प्रत्येक कर्म्म-सकल्प में आस्तिक लोग स्मर किया करते हैं । ब्रह्मलोक 'ब्रह्मा' नामक ऋषिप्राणसमष्टि का लोक है, ब्राह्म अहोरात्र इसी ब्रह्मलो से सम्बद्ध है । सृष्टि ब्रह्मा का एक दिन है, प्रलय ब्रह्मा की एक रात्रि है । सौरसम्वत्सर देवलोक है उत्तरायण काल देवताओं का एक दिन है, दक्षिणायनकाल एक रात्रि है । चान्द्रमण्डल पितृलोक है कृष्णपक्ष पितरो का एक दिन है, शुक्लपक्ष पितरों की एक रात्रि है । चन्द्रिकानुगत देवप्राण में सम्ब से शुक्लपक्ष एक दिन है, कृष्णपक्ष एक रात्रि है । पृथिवी मनुष्यलोक है । द्वादश होरात्मक अ मनुष्यों का एक दिन है, द्वादशाहोरात्मिका रात्रि एक रात्रि है । इस प्रकार हमारा एक अहोरात्र मानु अहोरात्र है । हमारे ३० अहोरात्र पितरो का एक अहोरात्र है । हमारे ३६० अहोरात्र देवताओं का ए अहोरात्र है । सौरसृष्टिप्रलयकाल ब्रह्मा का एक अहोरात्र है । इस प्रकार ज्योतिर्म्मय अग्नि, तमोम सोमभेद से अहोरात्रतत्त्व चार भागों में विभक्त हो रहा है ।

अहोरात्रनिबन्धना कालचतुष्टयी—

१	१—आदित्यावच्छिन्नो ज्योतिर्म्मयोऽग्नि —अह —द्वादशाहोरात्मकम् २—दिग्यवच्छिन्नस्तमोमय सोम ——रात्रि —द्वादशाहोरात्मिका	—मानुष अहोरात्रम् (चतुर्विंशतिहोरात्मकम्)
२	१—शुक्लपक्षावच्छिन्न ज्योति —अह —पञ्चदशाहोरात्मकम् २—कृष्णपक्षावच्छिन्न सोम —रात्रि - पञ्चदशाहोरात्मिका	—पैत्र अहोरात्रम् (त्रिंशदहोरात्रात्मकम्-मासात्मकं वा)
३	१—उत्तरायणावच्छिन्न ज्योति —अह —षण्मासात्मकम् २—दक्षिणायनावच्छिन्न सोम —रात्रि —षण्मासात्मिका	—दैवमहोरात्रम् (३६० अहोरात्रात्मकं-वर्षात्मक वा)
४	१—सृष्ट्यवच्छिन्न ज्योति —अह —सृष्टिसत्तात्मकम् २—प्रलयावच्छिन्न सोम —रात्रि —सृष्टिलयात्मिका	—ब्राह्माहोरात्रम् (सृष्टि-लयात्मकम्)

उक्त चारों संस्थाओं में सौरज्योति, तथा पारमेष्ठ्य सोमरूप से ज्योतिर्म्मय देवता, तथा सोममय पितर, दोनों का विपर्य्यय से भोग हो रहा है। ज्योतिर्भाग ज्योतिर्म्मय देवताओं के लिए अहः है, यही सोममय पितरों के लिए रात्रि है। एवमेव सोमभाग सौम्य पितरों के लिए अहः है, यही ज्योतिर्म्मय देवताओं के लिए रात्रि है। और यह अहोरात्रभाग उदयास्त से सम्बन्ध न रख अद्यतन-अनद्यतन भावों से सम्बन्ध रख रहा है। पहिले मानुष अहोरात्र को ही लीजिए।

(१) रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे पर्य्यन्त ऐन्द्र मित्रप्राण का साम्राज्य है, यही मैत्र पूर्वकपाल है, यही अद्यतन-लक्षण अहः है, यही देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्य्यन्त आप्य वरुणप्राण का साम्राज्य है, यही वारुण पश्चिमकपाल है, यही अनद्यतन-लक्षणा रात्रि है, यही पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है। इसी आधार पर पूर्वाह्न देवकाल माना गया है, अपराह्न पितृकाल माना गया है। पूर्वाह्न में देवप्राण का उपचय है, अपराह्न में देवप्राण का अपचय है। देवापचय-लक्षण (अपक्षयलक्षण) इसी अपराह्न में पितर का उपचय है। अतएव पितर अपक्षयभाजः (देवापचयकाल में प्रतिष्ठित) कहलाए हैं।

(२) यही अवस्था पैत्र अहोरात्र की है। जिस प्रकार मानुष अहोरात्र की विभाजिका दक्षिणोत्तरवृत्तात्मिका उर्वशी है, जो कि मध्यरात्रि-मध्याह्न को काटती हुई पूर्व-पश्चिम कपाल के द्वारा अद्यतन अनद्यतन की अधिष्ठात्री बन रही है, एवमेव दक्षिणोत्तरदिक् से सम्बन्ध रखने वाली याम्योत्तर रेखा ही पैत्र अहोरात्र की विभाजिका बनी हुई है। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी पर्य्यन्त, जिस के मध्य में पूर्णिमा है, ऐन्द्र मित्रप्राण का साम्राज्य है, यही मैत्र पूर्वकपाल है, यही अद्यतन-लक्षण अहः है। शुक्लाष्टमी मैत्र देवताओं का प्रातःकाल है, पूर्णिमा मध्याह्न है, कृष्णाष्टमी सायंकाल है। त्रिपर्वात्मक यही अद्यतन देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। कृष्णाष्टमी से आरम्भ कर शुक्लाष्टमी पर्य्यन्त, जिसके मध्य में अमावास्या है, आप्य वारुणप्राण का साम्राज्य है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षणा रात्रि है। कृष्णाष्टमी पितरों का प्रातःकाल है, अमावास्या मध्याह्न है, शुक्लाष्टमी सायंकाल है। त्रिपर्वात्मक यही अनद्यतन पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है।

(३) तीसरा दैव अहोरात्र है। वही याम्योत्तर रेखा यहाँ भी कपालद्वय की विभाजिका बन रही है। उत्तरदिक्स्थ परमक्रान्तिबिन्दु से सम्बद्ध कर्कवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणदिक्स्थ परमक्रान्तिबिन्दु से सम्बद्ध मकरवृत्त पर्य्यन्त इस रेखा की व्याप्ति है। उत्तरगोल के मध्य से दक्षिणगोल के मध्य पर्य्यन्त व्याप्त इस रेखा से पूर्व-पश्चिम कपाल भेद हो रहा है। पूर्वादिक् से अनुगत आधा उत्तरगोल, आधा दक्षिण गोल, यह अर्द्धगोल ऐन्द्रमित्रप्राण से युक्त है, यही मैत्र पूर्वकपाल है यही अद्यतन लक्षण अहः है, यही देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। एवमेव पश्चिमादिक्

से अनुगत आधा दक्षिण गोल, आधा उत्तरगोल, यह अर्द्धगोल आप्य वारुण प्राण से युक्त है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षणा रात्रि है, यही पितरों का अह, तथा देवताओं की रात्रि है।

(४) चौथा ब्राह्म-अहोरात्र है। ब्राह्म अहोरात्र की मूलप्रतिष्ठारूप ऋपितरवगर्भित आपोमय परमेष्ठी से 'भृगु-अङ्गिरा' नाम की दो धाराओं का विनिर्गम बतलाया गया है। विशुद्ध भार्गव सोमधारा स्नेहधारा है, सोमगर्भिता, अतएव ज्योतिर्म्मयी अङ्गिराधारा 'तेजोधारा' है। तेजोधारालक्षण ज्योतिर्म्मय अग्नितत्त्व ही अह है, एवं इसका उपक्रम परमेष्ठी में ही हो जाता है। रात्रि में जिन १४ मन्वन्तरों का भोग होता है, उनमें से सातवें रात्रिमन्वन्तर के समाप्त होने पर, जो कि अर्द्धरात्रि की अवसान भूमि है, इस अह का उपक्रम हो जाता है, एवं अह कालोपलक्षित सृष्टि के १४ मन्वन्तरों में से सातवें वैवस्वत मन्वन्तर (जोकि वर्त्तमान में प्रक्रान्त है) के अवसान पर इस अहर्विकास का अवसान है। इस प्रकार लयोपलक्षिता रात्रि के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्यमावसान से आरम्भ कर सृष्ट्युपलक्षित अह के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्याह्नपर्य्यन्त ऐन्द्रमित्र का साम्राज्य सिद्ध हो जाता है, यही मैत्र पूर्वकपाल है, यही अद्यतनलक्षण अह है। पारमेष्ठ्य मित्रतत्त्वोदयलक्षण काल देवताओं का प्रातःकाल है, सूर्य्यास्तिलक्षण उदयकाल देवताओं का मध्याह्न है, वैवस्वतमन्वन्तरावसानोपलक्षित मध्याह्नकाल देवताओं का सायंकाल है। त्रिभावात्मक यही अद्यतन देवताओं का अह, तथा पितरों की रात्रि है।

(५) विशुद्ध भार्गव सोमधारालक्षण तमोमय सोमतत्त्व ही रात्रि है, एवं इस का उपक्रम भी सृष्टिकाल के मध्याह्न से ही हो जाता है। सृष्टिकालोपलक्षित सूर्य्यसत्ताकाल के १४ मन्वन्तरों में से सातवें वैवस्वत मन्वन्तर के समाप्त हो जाने पर, जो कि मध्याह्न की अवसानभूमि है, इस रात्रितत्त्व का उपक्रम हो जाता है, एवं रात्रिकालोपलक्षित लय के १४ मन्वन्तरों में से सातवें मन्वन्तर के अवसान पर इस रात्रिविकास का अवसान है। इस प्रकार सृष्ट्युपलक्षित अह के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्याह्नावसानसे आरम्भ कर लयोपलक्षित रात्रि के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्यरात्रिपर्य्यन्त अप्य्यवरुण का साम्राज्य सिद्ध हो जाता है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षण रात्रि है। सौर वरुणतत्त्वोदय लक्षण काल पितरों का प्रातःकाल है, सूर्य्यावसानलक्षण सूर्य्यास्तकाल पितरों का मध्याह्न है, एवं रात्रिगत १४ मन्वन्तरों में से सप्तम मन्वन्तरावसानोपलक्षित मध्यरात्रिकाल पितरों का सायंकाल है। त्रिभावात्मक यही अनद्यतन पितरों का अह, तथा देवताओं की रात्रि है।

विपर्य्ययात्मक उक्त भोग के अतिरिक्त उदयास्त लक्षण भोग सार्वजनीन है। सूर्य्योदय से सूर्य्यास्त पर्य्यन्त अह है, सूर्य्यास्त से सूर्य्योदय पर्य्यन्त रात्रि है यही मानुष अहोरात्र है। अह देवप्रधान है, रात्रि पितृप्रधाना है। अह पितरों की रात्रि है, रात्रि पितरों का अह है *। रात्रि देवताओं की रात्रि है, अह देवताओं का अह है। यही उदयास्तमनानुगत मानुष अहोरात्र है।

---

* इसी आधार पर पितरों के लिए रात्रिजागरण (रातीजगा) प्रधान माना गया है।

(२) अमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर पूर्णिमापर्य्यन्त अह है, पूर्णिमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर अमापर्य्यन्त रात्रि है, यही पैत्र अहोरात्र है। शुक्लपक्षात्मक यह अह देवताप्रधान है, कृष्णपक्षात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। शुक्लपक्षात्मक अह पितरों की रात्रि है, कृष्णपक्षात्मिका रात्रि पितरों का अह है। एवं कृष्णपक्षात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, शुक्लपक्षात्मक 'अह' देवताओं का अह है। यही उदयास्तमनानुगत पैत्र अहोरात्र है।

(३) वसन्तसम्पात से आरम्भ कर शरत्सम्पातारम्भ-पर्य्यन्त अह है, शरत्सम्पात से आरम्भ कर वसन्तसम्पातारम्भ-पर्य्यन्त रात्रि है, यही दैव अहोरात्र है। उत्तरगोलात्मक अह देवता प्रधान है, दक्षिणगोलात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। उत्तरगोलात्मक अह पितरों की रात्रि है, एवं दक्षिणगोलात्मिका रात्रि पितरों का अह है। दूसरे शब्दों में उत्तर गोलात्मक अह देवताओं का अह है, पितरों की रात्रि है। एवं दक्षिणगोलात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, पितरों का अह है। यही उदयास्तमनानुगत दैव अहोरात्र है।

(४) सृष्ट्युत्पत्ति से आरम्भ कर सृष्ट्यलय से पूर्वक्षण पर्य्यन्त अह है, सृष्ट्यलय से आरम्भ कर सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्वक्षण पर्य्यन्त रात्रि है। सृष्टिकालात्मक अह देवताप्रधान है लय कालात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। सृष्टिकालात्मक अह पितरों की रात्रि है, एवं लयकालात्मिका रात्रि पितरों का (परमेष्ठी का) अह है। दूसरे शब्दों में सृष्टिकालात्मक अह देवताओं का अह है, पितरों की रात्रि है। एवं लयकालात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, पितरों का अह है। यही उदयास्तमनानुगत ब्राह्म अहोरात्र है।

इस प्रकार शास्त्रीय परमार्थदृष्टि से युक्त अद्यतन-अनद्यतन कालभेद से, तथा लौकिक व्यवहारदृष्टि से युक्त उदय अस्तकाल भेद से मानुष पैत्र-दैव-ब्राह्म, चारों अहोरात्रों के दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वत्र ज्योतिर्म्मय अग्निभोगकाल 'अह' है, इस में ज्योतिर्म्मय देवप्राण का साम्राज्य है तमोमय सोमभोगकाल 'रात्रि' है, इस में सौम्य पितृप्राण का साम्राज्य है। दोनों विवर्त्तों में से अनद्यतनानद्यतनानुगता अहोरात्रचतुष्टयी में प्रकृत ब्राह्मणाख्यान के साथ मानुष-पैत्र-दैव-इन तीन अहोरात्रों का ही सम्बन्ध है। अहोरात्र परिभाषा के स्पष्टीकरण के बिना आख्यान रहस्य का विश्लेषण असम्भव था, अतएव अप्राकृत होने पर भी इस का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया। अब प्रकृतानुसरण से पहले सुविधा के लिए प्रतिपादित अहोरात्र-विवर्त्तों का परिलेखों से स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

१—अद्यतनानद्यतनानुगता—अहोरात्रचतुष्टयी—

१—मानुषमहोरात्रम्—

पार्थिव—स्वात्मपरिभ्रमणात्मकं—दैनंदिनगतौ प्रतिष्ठितम्—

१ अद्यतन—१—मध्यरात्रेरुत्तरक्षणात—मध्याह्नस्य पूर्वक्षणपर्यन्तम् १—१२—अहर्देवाना,रात्रि पितॄणाम्
अनद्यतन—२—मध्याह्नस्योत्तरक्षणात—मध्यरात्रे पूर्वक्षणपर्य्यन्तम्१—१२—रात्रिर्देवाना,अह पितॄणाम्

२—पैत्रमहोरात्रम्—

चान्द्रं—दक्षपरिभ्रमणात्मकं—मासिकगतौ प्रतिष्ठितम्—

२ अद्यतन—१—शुक्लाष्टम्या उत्तरक्षणात—कृष्णाष्टम्या पूर्वक्षणपर्यन्तम्८—८—अहर्देवाना,रात्रि पितॄणाम्
अनद्यतन—२—कृष्णाष्टम्या उत्तरक्षणात—शुक्लाष्टम्या पूर्वक्षणपर्य्यन्तम्८—८ रात्रिर्देवाना,अह पितॄणाम्

३—दैवमहोरात्रम्—

सौरं—क्रान्तिवृत्तपरिभ्रमणात्मकं—सम्वत्सरगतौ प्रतिष्ठितम्—

अद्यतन—१—चैत्रकृष्णामोत्तरप्रतिपदात—आश्विनपूर्णिमापर्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रात्रि पितॄणाम्।
अनद्यतन—२—आश्विनपूर्णिमोत्तरप्रतिपदत—चैत्रकृष्णामापर्यन्तम—रात्रिर्देवानाम्, अह पितॄणाम्।

अथवा—

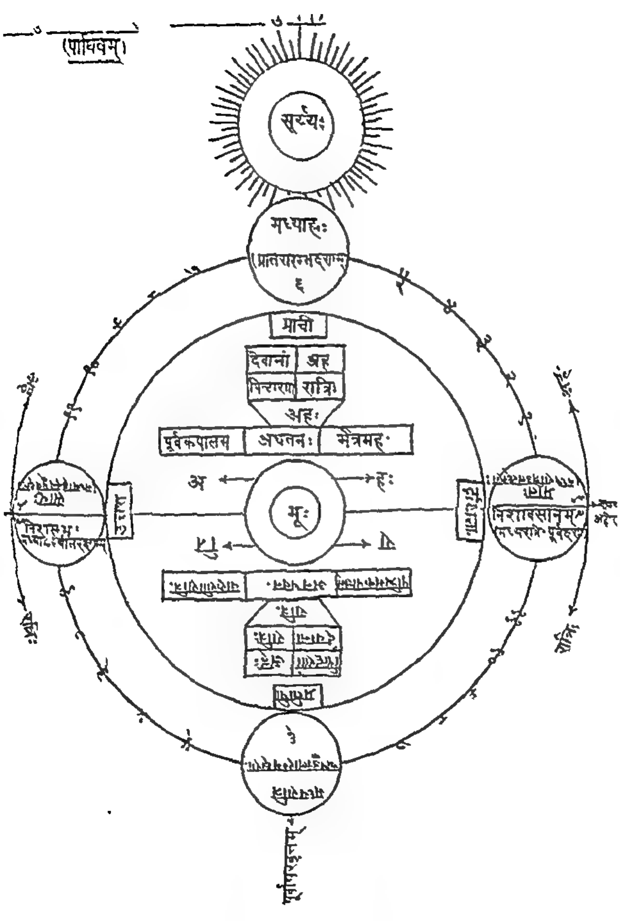
३ अद्यतन १—दक्षिणपरमक्रान्तेरुत्तरक्षणात उत्तरपरमक्रान्ते पूर्वक्षणपर्यन्तम्—अहर्देवाना, रात्रि पितॄणाम्
अनद्यतन २—उत्तरपरमक्रान्तेरुत्तरक्षणात—दक्षिणपरमक्रान्ते पूर्वक्षणपर्यन्तम्—रात्रिर्देवानाम्, अह पितॄणाम्

४—ब्राह्माहोरात्रम्—

पारमेष्ठ्यं—दर्शपूर्णमासपरिभ्रमणात्मकं—सञ्चरप्रतिसञ्चरगतौ प्रतिष्ठितम्—

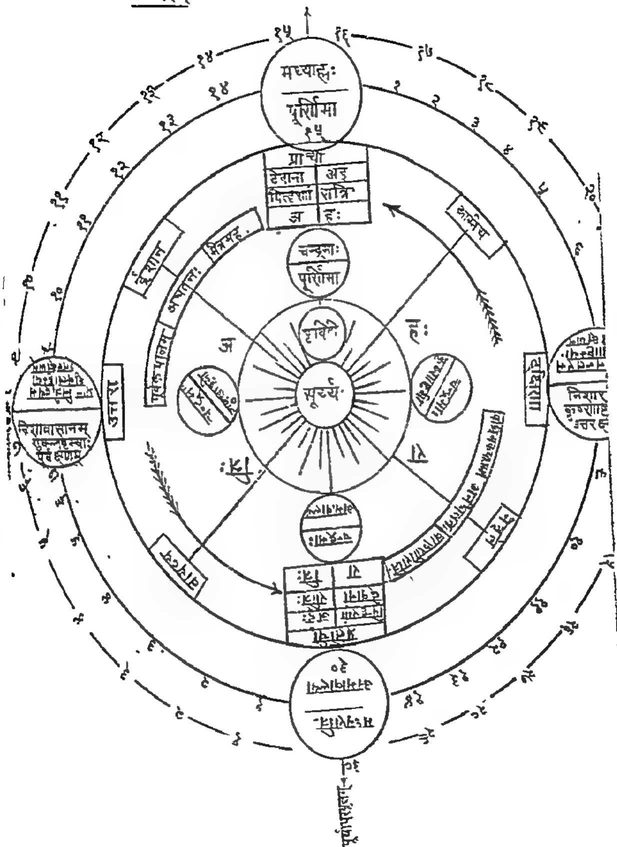
अद्यतन—१—शुक्लेन्द्रसावर्णेरारभ्य—शुक्लवैवस्वतमनुपर्यन्तम्—अहर्देवानाम, रात्रि पितॄणाम्
अनद्यतन—२—कृष्णेन्द्रसावर्णेरारभ्य—कृष्णवैवस्वतमनुपर्यन्तम्—रात्रिर्देवाना, अह पितॄणाम्

—×—

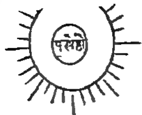


पार्थिवम्
सूर्यः
मध्याह्नः
देवानां
अह
रात्रि
अहः
पूर्वकपालम्
मैत्रमहः
अ
हः
भूः
निशावसानम्

चान्द्रम्

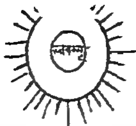


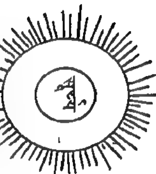
अद्यतनानद्यतनानुगतम्
सौरम्

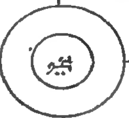


२-ग्रीष्मः
४
आषाढः
मध्याह्नः
आषाढ शुक्ल
पूर्णिमा
३
ज्येष्ठः
५
श्रावणः
३-वर्षाः
६
भाद्रपदः
देवानां
अहः
रात्रिः
पूर्वकपालः
पृथिवी
अ
हः
सूर्यः
२
वैशाखः
१ वसन्तः
१-चैत्रः
निशावसनाम
अमावास्या

अमृतानामपत्नानुगतम्
(पारमेष्ठ्यम्)

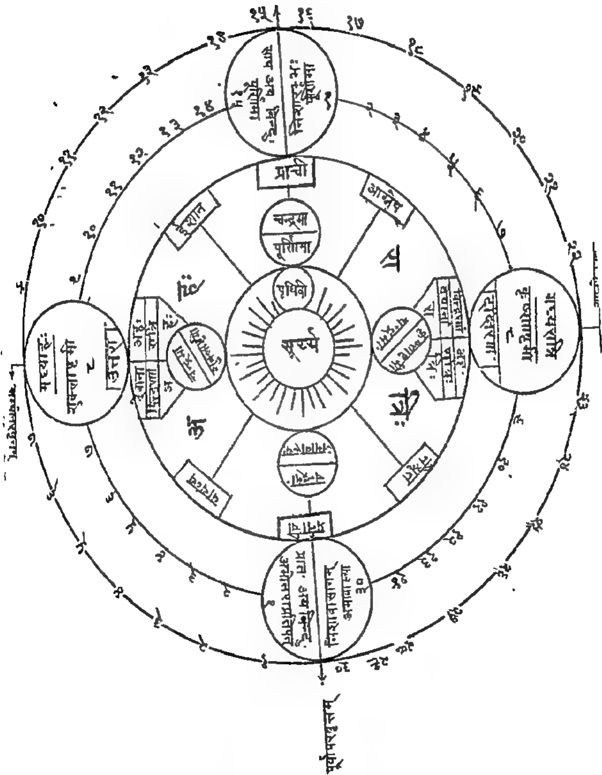


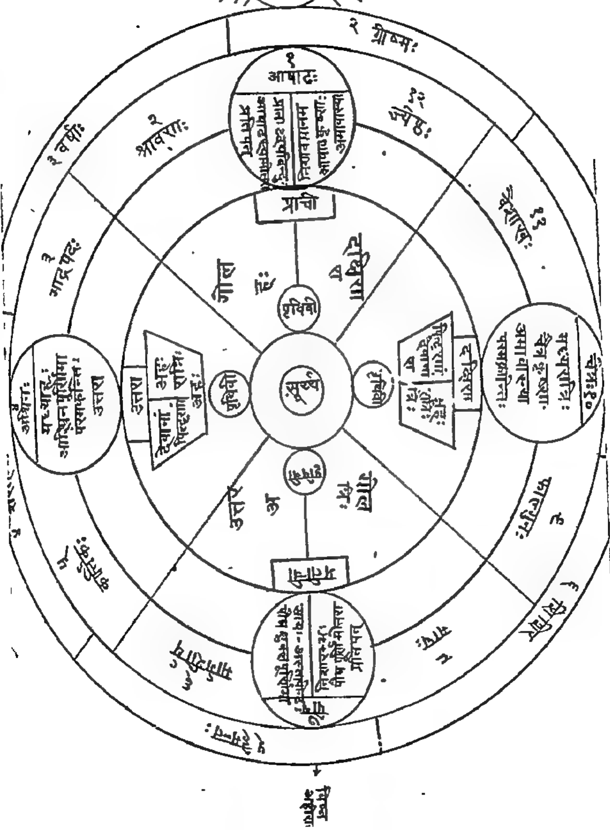


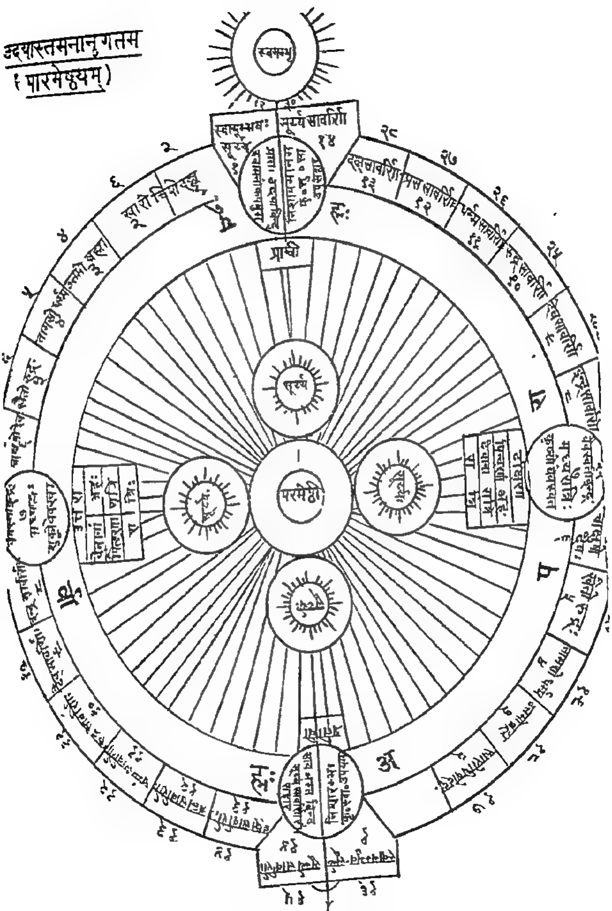


१२
मध्याह्न-
मध्यबिन्दुः
उत्तरा
देवनां अहः
पितृणां रात्रिः
अ हः
अ
हः
निशावसानम्
निशारम्भ
पूर्वापरवृत्तम्
(अहोरात्रविभाजकम्)

(चान्द्रम)




(सौरम्)
परमेष्ठी
२ ग्रीष्मः
१ आषाढः
२ श्रावणः
१२ ज्येष्ठः
११ वैशाखः
प्राची
२ वर्षा
३ भाद्रपदः
पृथिवी
सूर्य
उत्तरा
दक्षिणा



उदयास्तमनानुगतम
(पारमेष्ठ्यम्)
स्वयम्भू
सूर्य्यसावर्णि
प्राची
सूर्य्य
परमेष्ठी

१—अनानद्यतनानुगताहोरात्राणामवान्तरभोगकालाः—

१—मानुषे-अहोरात्रे

१ — मानुषाहोरात्रस्य दैवदृष्ट्या भोगकालाः

१-१-देवानां प्रातः—मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (उत्तररात्रेः १)
२-२- ,, मध्याह्नः-सूर्य्योदयक्षणम् (प्रातःकालस्य ६)
३-३- ,, सायम्—मध्याह्नस्य पूर्वक्षणम् (मध्याह्नस्य १२)
} १२ होरात्मकः-अद्यतनः (देवानां-अहः)

४-१- ,, निशारम्भः—मध्याह्नस्योत्तरक्षणम् (मध्याह्नस्य १)
५-२- ,, मध्यरात्रिः—सूर्य्यास्तक्षणम् (सायङ्कालस्य ६)
६-३- ,, निशावसानम्-मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (पूर्वरात्रेः १२)
} १२ होरात्मक -अनद्यतनः (देवानां-रात्रिः)

मानुषाहोरात्रस्य पितृदृष्ट्या भोगकालाः

१-१-पितृणां प्रातः—मध्याह्नस्योत्तरक्षणम् (मध्याह्नस्य १)
२-२- ,, मध्याह्नः-सूर्य्यास्तक्षणम् (सायङ्कालस्य ६)
३-३- ,, सायम्—मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (मध्यरात्रेः १२)
} १२ होरात्मकः-अनद्यतनः (पितृणां-अहः)

४-१- ,, निशारम्भः-मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (पूर्वरात्रेः १)
५-२- ,, मध्यरात्रिः—सूर्य्योदयक्षणम् (प्रातःकालस्य ६)
६-३- ,, निशावसानम्-मध्याह्नस्य पूर्वक्षणम् (मध्याह्नस्य १२)
} १२ होरात्रात्मकः-अद्यतनः (पितृणां-रात्रिः)

२—पैत्रे-अहोरात्रे

२ — पैत्राहोरात्रस्य दैवदृष्ट्या भोगकालाः

१-१-देवानां प्रातः—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (८)
२-२- ,, मध्याह्नः-मासस्य पूर्णिमा (१५)
३-३- ,, सायम्—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (८)
} १५ अहोरात्रात्मकः-अद्यतनः (देवानां-अहः)

४-१- ,, निशारम्भः—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (८)
५-२- ,, मध्यरात्रिः—मासस्य-अमावस्या (३०)
६-३- ,, निशावसानम्-शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेःपूर्वक्षणम्(८)
} १५ अहोरात्रात्मकः-अनद्यतनः (देवानां-रात्रिः)

पैत्राहोरात्रस्य पितृदृष्ट्या भोगकालाः

१-१-पितृणां प्रातः—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम्
२-२- ,, मध्याह्नः-मासस्य-अमावास्या
३-३- ,, सायम्—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम्
} १५ अहोरात्रात्मकः अनद्यतनः (पितृणां-अहः)

४-१- ,, निशारम्भः—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम्
५-२- ,, मध्यरात्रिः—मासस्य पूर्णिमा
६-३- ,, निशावसानम्-कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम्
} १५ अहोरात्रात्मकः-अद्यतनः (पितृणां-रात्रिः)

३—दैवे-अहोरात्रे—

देवाहोरात्रम्

१-१-देवाना प्रात —चैत्रकृष्णामोत्तराप्रतिपत्
२-२- „ मध्याह्न —आषाढशुक्लपूर्णिमा
३-३- „ सायम—आश्विनशुक्लपूर्णिमा

} ६ मासात्मक अद्यतन (देवाना अह)

४-१- „ निशारम्भ —आश्विनपूर्णिमोत्तरा प्रतिपत्
५-२- „ मध्यरात्रि —पौषकृष्णामावास्या
६-३- „ निशावसानम्-चैत्रकृष्णामावास्या

} ६ मासात्मक अनद्यतन (देवाना रात्रि)

३.

पित्र्याहोरात्रम्

१-१-पितृणा प्रात —आश्विनपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्
२-२- „ मध्याह्न —पौषकृष्णामावास्या
३-३- „ सायम —चैत्रकृष्णामावास्या

} ६ मासात्मक अनद्यतन (पितृणा अह)

४-१- „ निशारम्भ —चैत्रकृष्णामोत्तराप्रतिपत्
५-२- „ मध्यरात्रि —आषाढशुक्लपूर्णिमा
-३- „ निशावसानम्-आश्विनशुक्लपूर्णिमा

} ६ मासात्मक अद्यतन (पितृणा रात्रि)

४—ब्राह्मे-अहोरात्रे—

ब्राह्माहोरात्रम्

१-१-देवाना प्रात —शुक्लेन्द्रसावर्ण्युपक्रम
२-२- „ मध्याह्न —शुक्लसूर्य्यसावर्णिभोगकाल
३-३- „ सायम शुक्लवैवस्वतमनोरुपसंहार

} १४ मन्वन्तरात्मक—अद्यतन (देवाना अह)

४-१- „ निशारम्भ —कृष्णेन्द्रसावर्ण्युपक्रम
५-२- „ मध्यरात्रि —कृष्णसूर्य्यसावर्णिभोगकाल
६-३- „ निशावसानम्-कृष्णवैवस्वतमनोरुपसंहार

} १४ मन्वन्तरात्मक अनद्यतन (देवाना रात्रि)

४

ब्राह्माहोरात्रम्

१-१-पितृणा प्रात —कृष्णेन्द्रसावर्ण्युपक्रम
२-२- „ मध्याह्न —कृष्णसूर्य्यसावर्णिभोगकाल
३-३- „ सायम—कृष्णवैवस्वतमनोरुपसंहार

} १४ मन्वन्तरात्मक अनद्यतन (पितृणा-अह)

४-१- „ निशारम्भ —शुक्लेन्द्रसावर्ण्युपक्रम
५-२- „ मध्यरात्रि —शुक्लसूर्य्यसावर्णिभोगकाल
६-३- „ निशावसानम्-शुक्लवैवस्वतमनोरुपसंहार

} १४ मन्वन्तरात्मक—अद्यतन (पितृणा-रात्रि)

२–उदयास्तमनानुगता–अहोरात्रचतुष्टयी—

१—मानुषमहोरात्रम्—

पार्थिवं–स्वात्परिभ्रमणात्मकं–दैनंदिनगतौ प्रतिष्ठितम्—

१ दर्शन रवेः—१—सूर्य्योदयोत्तरक्षणतः—सूर्य्यास्तपूर्वक्षणपर्य्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रात्रिः पितृणाम्
अदर्शनं रवेः–२—सूर्य्यास्तोत्तरक्षणतः—सूर्य्योदयतःपूर्वक्षणपर्य्यन्तम् रात्रिर्देवानाम्, अहः पितृणाम्

२—पैत्रमहोरात्रम्—

चान्द्रं–दक्षपरिभ्रमणात्मकं–मासिकगतौ प्रतिष्ठितम्—

२ दर्शनं चन्द्रमसः—–अमोत्तरप्रतिपदातः—–शुक्लपूर्णिमापर्य्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रात्रिः पितृणाम्
अदर्शनं चन्द्रमसः—पूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः—कृष्णामावास्यापर्य्यन्तम्- रात्रिर्देवानां, अहः पितृणाम्

३—दैवमहोरात्रम्—

सौरं–क्रान्तिवृत्तपरिभ्रमणात्मकं–सम्वत्सरगतौ प्रतिष्ठितम्—

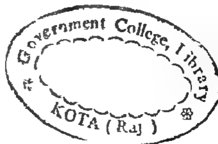
उत्तरगोले सूर्य्यः—१–आषाढशुक्लपूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः–पौषशुक्लपूर्णिमापर्य्यन्तम् अहर्देवानाम्,रा॰पि॰
दक्षिणगोलेसूर्य्यः–२–पौषशुक्लपूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः—–आषाढकृष्णामावास्यापर्य्य॰-रात्रिर्देवानाम्,अ॰पि॰

४—ब्राह्माहोरात्रम्—

पारमेष्ठ्यं–दर्शपूर्णमासपरिभ्रमणात्मकं–सञ्चरप्रतिसञ्चरगतौ प्रतिष्ठितम्—

सृष्टिकालः–१—शुक्लस्वायम्भुवमन्वन्तरादारभ्य—शुक्लसूर्य्यसावर्णिमनुपर्य्यन्तम्–अहर्देवानाम् रा॰पि॰
लयकालः—२—कृष्णस्वायम्भुवमन्वन्तरादारभ्य—कृष्णसूर्यसावर्णिमनुपर्यन्तम—–रात्रिर्देवानां,अ॰पि॰

—×—



१—उदयास्तमनानुगताहोरात्राणा—अवान्तरसौम्यकालाः

१—मानुषे अहोरात्रे

मानुषाहोरात्रम् — देवप्राणानां सौम्यकालः (१)

१-१-देवाना प्रातः—सूर्योदयादुत्तरक्षणम्	१२ होरात्मक-अहःकाल (देवाना-अहः)
२-२- „ मध्याह्न-मध्याह्नक्षणम्	
३-३- „ सायम्—सूर्यास्तात् पूर्वक्षणम्	
४-१- „ निशारम्भ—सूर्यास्तादुत्तरक्षणम्	१२ होरात्मक-रात्रिकाल (देवाना-रात्रि)
५-२- „ मध्यरात्रि—मध्यरात्रिक्षणम्	
६-३- „ निशावसानम्-सूर्योदयात् पूर्वक्षणम्	

मानुषाहोरात्रम् — पितृप्राणानां सौम्यकालः (२)

१-१ पितृणा प्रातः—सूर्यास्तादुत्तरक्षणम्	१२ होरात्मक-रात्रिकाल (पितृणा अहः)
२-२- „ मध्याह्न-मध्यरात्रिक्षणम्	
३-३- „ सायम्-सूर्योदयात् पूर्वक्षणम्	
४-१- „ निशारम्भ—सूर्योदयादुत्तरक्षणम्	१२ होरात्मक-अहःकाल (पितृणा-रात्रि)
५-२- „ मध्यरात्रि—मध्याह्नक्षणम्	
६-३- „ निशावसानम्-सूर्यास्तात् पूर्वक्षणम्	

२—पैत्रे-अहोरात्रे—

पैत्राहोरात्रम् — देवप्राणानां सौम्यकालः (१)

१-१-देवाना प्रातः—अमोत्तराप्रतिपत्	१५ अहोरात्रात्मक अहःकाल (देवाना-अहः)
२-२- „ मध्याह्न-शुक्लाष्टमी	
३-३- „ सायम्-पूर्णिमा	
४-१- „ निशारम्भ—पूर्णिमोत्तराप्रतिपत्	१५ अहोरात्रात्मक रात्रिकाल (देवाना रात्रि)
५-२- „ मध्यरात्रि—कृष्णाष्टमी	
६-३- „ निशावसानम् अमावस्या	

पैत्राहोरात्रम् — पितृप्राणानां सौम्यकालः (२)

१-१-पितृणा प्रातः—पूर्णिमोत्तराप्रतिपत्	१५ अहोरात्रात्मक रात्रिकाल (पितृणा-अहः)
२-२- „ मध्याह्न-कृष्णाष्टमी	
३-३- „ सायम्-अमावास्या	
४-१- „ निशारम्भ—अमोत्तराप्रतिपत्	१५ अहोरात्रात्मक अहःकाल (पितृणा-रात्रि)
५-२- „ मध्यरात्रि—शुक्लाष्टमी	
६-३- „ निशावसानम्-पूर्णिमा	

३—दैवे-अहोरात्रे—

३ — दैवाहोरात्रम्

देवदृष्टया भोगकालाः

१-१-देवानां प्रातः—आषाढस्यामोत्तराप्रतिपत्
२-२- „ मध्याह्नः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा
३-३- „ सायम्—पौषशुक्लपूर्णिमा
— ६ मासात्मकं-उत्तरगोलम् (देवानां-अहः)

४-१- „ निशारम्भः—पौषपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्
५-२- „ मध्यरात्रिः—चैत्रकृष्णामावस्या
६-३- „ निशावसानम्-अषाढकृष्णामावस्या
— ६ मासात्मकं-दक्षिणगोलम् (देवानां-रात्रिः)

पितृदृष्टया भोगकालाः

१-१-पितृणां प्रातः - पौषपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्
२-२- „ मध्याह्नः—चैत्रकृष्णामावास्या
३-३- „ सायम्—आषाढकृष्णामावास्या
— ६ मासात्मकं-दक्षिणगोलम् (पितृणां-अहः)

४-१- „ निशारम्भः—आषाढस्यामोत्तराप्रतिपत्
५-२- „ मध्यरात्रिः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा
६-३- „ निशावसानम्-पौषशुक्लपूर्णिमा
— ६ मासात्मकं-उत्तरगोलम् (पितृणां-रात्रिः)

४—ब्राह्मे-अहोरात्रे—

४ — ब्राह्माहोरात्रम्

देवदृष्टया भोगकालाः

१-१-देवानां प्रातः—शुक्लस्वायम्भुवमनोरुपक्रमः
२-२- „ मध्याह्नः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा
३-३- „ सायम् शुक्लसूर्य्यसावर्णोरुपसंहारः
— सूर्य्यसत्ताभावः (देवानां-अहः)

४-१- „ निशारम्भः—कृष्णस्वायम्भुवमनोरुपक्रमः
५-२- „ मध्यरात्रिः—कृष्णवैवस्वतमनोर्भोगकालः
६-३- „ निशावसानम्-कृष्णसूर्य्यसावर्णोरुपसंहारः
— सूर्य्याभावः (देवानां-रात्रिः)

पितृदृष्टया भोगकालाः

१-१-पितृणां प्रातः—कृष्णस्वायम्भुवमनोरुपक्रमः
२-२- „ मध्याह्नः कृष्णवैवस्वतमनोर्भोगकालः
३-३- „ सायम्—कृष्णसूर्य्यसावर्णोरुपसंहारः
— सूर्य्याभावः (पितृणां-अहः)

४- - „ निशारम्भः—शुक्लस्वायम्भुवमनोरुपक्रमः
५-२- „ मध्यरात्रिः—शुक्लवैवस्वतमनोर्भोगकालः
६-३- „ निशावसानम्-शुक्लसूर्य्यसावर्णोरुपसंहारः
— सूर्य्यसत्ताभावः (पितृणां-रात्रिः)

प्रतिपादित सपरिलेख 'अहोरात्रस्वरूप' परिचय से इसी निष्कर्ष की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, 'अह-रात्रि' शब्द तत्त्वतः ज्योतिर्मय अग्नि, तथा तमोमय सोमतत्त्व के वाचक हैं। आगे जाकर इन अह (अग्नि)-रात्रि (सोम) तत्त्वों के भोगकाल भी 'ताच्छब्द्य' न्याय से अह-रात्रि, शब्द से व्यवहृत होने लगे हैं। ये तत्त्वात्मक अहोरात्र चार भोगकालों के सम्बन्ध से चार संस्थाओं में विभक्त हैं। उदयास्त, अद्यतन-अनद्यतन भेद से चारों के प्रत्येक के दो दो विवर्त्त हैं, एवं दोनों विवर्त्तों में से अद्यतन-अनद्यतनात्मक ऐन्द्रवारुण, किंवा मित्रावरुणविवर्त्त ही शास्त्रीय विवर्त्त हैं। यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, उदयानुगत अह आग्नेय है, अस्तानुगता रात्रि सौम्या है। एवं अद्यतनानुगत अह पूर्वकपालस्थ मित्रप्राण सम्बन्ध से मैत्र है, तथा अनद्यतनानुगता रात्रि पश्चिमकपालस्थ वरुणप्राण के सम्बन्ध से वारुणी है। श्रुति में दोनों व्यवहार होते हैं। परन्तु प्रकरणानुसार दोनों को विभक्त करके ही विषय का समन्वय करना चाहिए।

अहोरात्र	अद्यतनानद्यतनानुगत	अहः	१—"ऐन्द्रमह" (तै० ब्रा० १।१।४।१)	अद्यतनानुगत-पूर्वकपाला-वच्छिन्न—"अहः"
			२—"मैत्र वा अहः" (तै० ब्रा० १।७।१०।१)	
		रात्रिः	१—"रात्रिर्वरुणः" (ऐ० ब्रा० ४।१०)	अनद्यतनानुगता-पश्चिमक-पालावच्छिन्ना—"रात्रिः"
			२—"वारुणी रात्रिः" (तै० ब्रा० १।७।१०।१)	
अहोरात्र	उदयास्तमयानुगत	अहः	१—"अहरेवाग्नेय" (शत० ब्रा० १का० ६।३।२४)	उदयानुगत—'अहः'
			२—"यच्छुक्लं तदाग्नेयम्" (शत० १का०।, अ०।३ब्रा०४।१५)	
		रात्रिः	१—"सौम्या रात्रिः" (शत० १।६।३।२४)	अस्तानुगता—"रात्रिः"
			२—"यत् कृष्णं तत् सौम्यम्" (शत० १।६।३।४१)	

प्रकृत अहोरात्र-चतुष्टयी में ब्राह्मणाख्यान के साथ मानुष, पैत्र, दैव, इन तीन अहोरात्रों का सम्बन्ध है। तीनों स्वतन्त्ररूप से जहाँ 'अहोरात्र' शब्दवाच्य हैं, वहाँ मानुष अहोरात्र की दृष्टिसे तीनों क्रमशः अह, मास, वर्ष हैं। अह के गर्भ में अह, रात्रि दोनों हैं, मास के गर्भ में शुक्ल, कृष्णपक्ष हैं, एवं वर्ष के गर्भ में उत्तरायण-दक्षिणायन है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना

चाहिए कि, अह रूप अहोरात्र का देवता, पितर सम्बन्ध से तो अद्यतन-अनद्यतनानुगत अहोरात्र से सम्बन्ध है। परन्तु मानवप्रजा के सम्बन्ध से उदयास्तमनानुगत अहोरात्र से सम्बन्ध है, जैसा कि— 'सायं प्रातर्वोऽशनम्' इत्यादि से प्रमाणित है।

जिस प्रकार 'अह' शब्द की व्याप्ति अह-मास-वर्ष, तीनो स्थानों में है, एवमेव वर्ष शब्द भी तीनों के साथ समन्वित है। किसी एक नियत बिन्दु से अपनी गति आरम्भ कर जो पिण्ड नियत वृत्त के चारों ओर घूम कर उसी नियत बिन्दु पर जितने समय में वापस आ जाता है, तदवच्छिन्न परिभ्रमण काल ही 'वर्ष' कहलाया है। इसी प्रकार स्वमण्डलावच्छिन्न विभक्ति (रात्रि) युक्त ज्योतिर्मय अग्निरूप अह तत्त्व का भोग जिस बिन्दु से आरम्भ कर जितने समय में वापस उसी बिन्दु पर आ जाता है, तदवच्छिन्न काल ही अह कहलाया है। इस परिभाषा के अनुसार अह, वर्ष, दोनों शब्द विचाली बन रहे हैं। पृथिवी की स्वात्मपरिक्रमा २४ घन्टों में पूरी हो जाती है, अतएव 'वर्ष' शब्द की उक्त परिभाषानुसार चतुर्विंशति-होरात्मक पार्थिव अह को 'वर्ष' भी कहा जा सकता है। फलत अह काल अह भी है वर्ष भी है।

चन्द्रमा का अह मानुष अहोरात्र की दृष्टि से जहाँ मास है, वहां स्वभ्रमणवृत्तावच्छिन्न अहर्भोग सम्बन्ध से अह भी है, एवं पूर्ण परिक्रमा सम्बन्ध से वर्ष भी है। फलत मास अह भी है, वर्ष भी है। सूर्य्य का अह मानुष अहोरात्र से जहाँ एक वर्ष (३६० अहोरात्र) का है, वहाँ अपनी क्रान्ति-परिपरिक्रमा से यह अपने स्वरूप से भी वर्ष है। साथ ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न अहर्भोग-सम्बन्ध से अह भी है। फलत वर्ष अह भी है, वर्ष भी है।

१—मानुषमहोरात्रम् (अहः)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन——अह (२४ होरात्मकम्)
२-स्वात्मभ्रमणसम्बन्धेन— वर्षम् (२४ होरात्मकम्)
—मानुषमह, वर्षञ्च।

२—पैत्रमहोरात्रम्—(मासः)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन-अह (३० अहोरात्रात्मकम्)
२—दलभ्रमणसम्बन्धेन-वर्षम् (३० अहोरात्रात्मकम्)
—पैत्रमह, वर्षञ्च।

३—दैवमहोरात्रम्—(वर्षम्)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन——अह (३६० अहोरात्रात्मकम्)
२-क्रान्तिभ्रमणसम्बन्धेन-वर्षम् (३६० अहोरात्रात्मकम्)
—दैवमह, वर्षञ्च।

मनुष्यप्रजा अपने एक वर्ष में 'नमः' (अन्न)ग्रहण करती हुई प्रतिदिन भोजन कर रही है, पितर-प्रजा अपने एक वर्ष में 'स्वधा' ग्रहण करती हुई प्रतिदिन अशन कर रही है, एवं देवप्रजा एक वर्ष में 'स्वाहा' ग्रहण करती हुई प्रतिदिन यज्ञान्न से अनुगत हो रही है। मनुष्य का २४ होरात्मक एक अहोरात्र इस की अपनी पार्थिव स्वात्मपरिभ्रमण की दृष्टि से सचमुच एक वर्ष है। इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि के द्वारा सिद्धान्तित राद्धान्त ही प्रमाण है। विविध कालभेदभिन्न यज्ञों में एक 'सहस्रवर्षात्मक' सत्रयज्ञ का विधान हुआ है। शब्दार्थतः यह यज्ञ एक सहस्र वर्ष में पूर्ण होता है। भगवान् जैमिनि "सहस्रसम्वत्सरशब्दस्य सहस्रदिनपरताधिकरणम्" (१२) नामक अधिकरण (६ ठे अध्याय, ७ वें पाद, एवं १२ वें अधिकरण) में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष उठाते हुए कहते हैं

"सहस्रसम्वत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु"

—जैमिनीयमीमांसादर्शन ६ अ० । ७ पा० । १२ अधि० । ३१ सू० ।

अभिप्राय पूर्वपक्ष का यही है कि, जब कि मनुष्य की आयु एक सहस्र वर्ष की असम्भव है, तो ऐसी दशा में ऐसे सत्र का विधान किस आधार पर हुआ ? आगे जाकर खण्डनीय समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, सम्भवतः यजमान, तत्पुत्र-पौत्रादि परम्परा से १ हजार वर्षों में यज्ञानुष्ठान पूरा कर देना, यही तात्पर्य्य होगा। परन्तु-यह इसलिए सम्भव नहीं है कि, पुरुषार्थसम्बद्ध यज्ञकुल-कल्प से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। कर्म्मफल एक कर्म्मकर्त्ता से ही सम्बन्ध रखता है। फिर सहस्र वर्षात्मक सत्रोद्देश-विधि के समन्वय का क्या उपाय ?, सूत्रकार सिद्धान्त स्थापित करते हैं—

"सम्वत्सरो विचालित्वात् । सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ।
अहानि वाऽभिसंख्यात्वात् । -(जै० सूत्राणि ३६।४०।४१)।

सत्रयज्ञानुबन्धी सम्वत्सर (वर्ष) शब्द विचाली है। यज्ञविधान मनुष्य के लिए है। मानुष वर्ष पार्थिव स्वात्मपरिभ्रमण के अनुसार एक अहोरात्र में सम्पन्न हो जाता है। फलतः सहस्रवर्ष का निष्कर्ष सहस्रदिन निकल आता है। यही व्यवस्था पुराणोक्त मानुष आयुर्भोगकाल के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। 'अमुक ऋषि ने ३६००० वर्षपर्य्यन्त तपश्चर्य्या की' इस वाक्य का अर्थ है-"३६०० दिन" (१०० वर्ष पर्य्यन्त) तपश्चर्य्या की"। अहोरात्र की इन समस्याओं को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मणाख्यान की उपपत्ति पर दृष्टि डालिए

"प्रजापति के समीप देवता-पितर-मनुष्य पहुँचे। देवता यज्ञोपवीती बनकर, साथ ही में दक्षिण जानु को भू पृष्ठ पर लगा कर बैठे। इन्हें प्रजापति की ओर से यज्ञान्न नामक अन्न मिला, अमृत सम्पत्ति मिली, ऊर्क् रस मिला, सूर्य्य का प्रकाश मिला"। इस आख्यानांश में देवता, यज्ञोपवीत, दक्षिण जानु का अधः स्थापन, यज्ञान्न, अमृतसम्पत्ति, ऊर्क् रस, सूर्य्यज्योति, इतने तत्त्व अन्वेष्टव्य हैं,

चिन का शतपथादि भाष्यों में यत्र तत्र विस्तार से निरूपण हो चुका है। यहाँ आख्यान-सङ्गति के लिए दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

सम्वत्सर यज्ञाधिष्ठाता सौर प्रजापति की महिमा (सम्वत्सर मण्डल) में प्रतिष्ठित सौर ज्योतिर्मय-सावित्राग्निगर्भित-इन्द्रप्राणप्रमुख प्राण ही देवता हैं। षण्मासात्मक उत्तरायणकाल में ही इन देवप्राणों का साम्राज्य है। अतएव यह काल देवताओं का अह माना गया है। इस काल में देवता यज्ञसूत्र से युक्त रहते हैं, अतएव इन्हें 'यज्ञोपवीती' माना गया है। "यज्ञसूत्र को वाम स्कन्ध पर डाले हुए अपने दक्षिण जानू को भूपृष्ठ से सलग्न कर वाम जानु को उन्नत कर एक द्विजाति बैठा है," इस स्थिति के साथ उत्तरायणात्मक देवसम्वत्सर-स्थिति का समन्वय करने से स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। दक्षिणगोलस्थ परमक्रान्तिविन्दु से मकरवृत्त (गायत्रीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वापरवृत्त) सलग्न है। यहाँ पर जब पृथिवी रहती है, तो सूर्य का दक्षिणायन आरम्भ होता है। एव उत्तरगोलस्थित परमक्रान्तिविन्दु से कर्कवृत्त (जगतीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वपरवृत्त) सलग्न है। यहाँ पर जब पृथिवी रहती है, तो सूर्य्य का उत्तरायण आरम्भ होता है। पृथिवी के दक्षिणायन से सूर्य्य का उत्तरायण होता है, पृथिवी के उत्तरायण से सूर्य्य का दक्षिणायन होता है, यही तात्पर्य्य है।

सूर्य्य भगवान् मध्यस्थ बृहती छन्द पर (विष्वद्वृत्त नामक मध्यस्थ अहोरात्र के ठीक केन्द्र में) स्थिर रूप से प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि—

"अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य-नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता।
तदेष श्लोकः-'न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाह
सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा' इति। न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति।
सकृदिवा हैवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" (छान्दोग्योपनिषत् ३।११।१।)

"सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति"—"बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः"।

इत्यादि श्रौत वचनों से प्रमाणित है। बृहती मध्यस्थ सूर्य्य के चारों ओर पृथिवी परिक्रमा लगा रही है। जिस वृत्त पर पृथिवी परिक्रमा लगा रही है, वह क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी की परिक्रमा दक्षिणावर्त्त है। दक्षिणावर्त्ता पृथिवी के परिभ्रमण से सौरप्राणावच्छिन्न सम्वत्सर प्रजापति की यज्ञोपवीती, प्राचीनावीती, निवीती, भेद से तीन अवस्था हो जाती है। पृथिवी की इस परिक्रमा को दक्षिण-परमक्रान्ति, शरत् क्रान्तिसम्पात, उत्तरपरमक्रान्ति, वसन्त क्रान्तिसम्पात, भेद से चार भागों में विभक्त कर दीजिए। दक्षिण परमक्रान्ति पर जब पृथिवी पहुँचती है, तो सूर्य्य उत्तरपरमक्रान्ति पर दिखलाई देने लगता है, यह स्थिति देवस्थिति है इस दिन अह सब से छोटा है, रात्रि सब से बडी है। दक्षिणपरमक्रान्ति से हट कर पृथिवी शरत् सम्पात् पर आती है, यही क्रान्तिपतनलक्षण विषुवसम्पात है। जब पृथिवी शरत्सम्पात पर आती है, तो सूर्य्य वसन्तसम्पात पर दिखलाई देने

लगता है, यह स्थिति मनुष्यस्थिति है। इस दिन अहोरात्र समान है। शारत्सम्पात से हट कर पृथिवी जब उत्तरपरमक्रान्ति पर पहुँचती है, तो सूर्य्य दक्षिण परमक्रान्ति पर दिखलाई देने लगता है, यही स्थिति पितृस्थिति है। इस दिन अह सब से बडा है, रात्रि सब से छोटी है। उत्तर परम-क्रान्ति से हट कर पृथिवी जब वसन्त सम्पात पर आती है, तो सूर्य्य शारद सम्पात पर दिखलाई देने लगता है, यह स्थिति मनुष्य स्थिति है, एव इस दिन भी वसन्तसम्पातवत् अहोरात्र समान है।

१—पार्थिवदक्षिणपरमक्रान्ति ——सूर्य्यस्य उत्तरपरमक्रान्ति ——देवस्थिति

२—पार्थिववसन्तसम्पात —सूर्य्यस्य शारदसम्पात —मनुष्यस्थिति

३—पार्थिवोत्तरपरमक्रान्ति —सूर्य्यस्य दक्षिणपरमक्रान्ति —पितृस्थिति

४—पार्थिवशारदसम्पात —सूर्य्यस्य वसन्तसम्पात —मनुष्यस्थिति

१-पृथिव्या -उत्तरायण-दक्षिणपरमक्रान्तौ दक्षिणगोलस्थितमकरवृत्त

तदेव सूर्य्यस्य दक्षिणायन-उत्तरपरमक्रान्तौ-उत्तरगोलस्थितकर्कवृत्त

२-पृथिव्या वसन्तसम्पात, विषुवत पूर्वबिन्दौ पृथिवी प्रतिष्ठिता

स एव सूर्य्यस्य शारदसम्पात, विषुवत -पश्चिमबिन्दौ सूर्य्य प्रतिष्ठित

३-पृथिव्या दक्षिणायन-उत्तरपरमक्रान्तौ-उत्तरगोलस्थितकर्कवृत्त

तदेव सूर्य्यस्योत्तरायण-दक्षिणपरमक्रान्तौ-दक्षिणगोलस्थितमकरवृत्त

४-पृथिव्या शारदसम्पात, विषुवत पश्चिमबिन्दौ पृथिवी प्रतिष्ठिता

स एव सूर्य्यस्य वसन्तसम्पात, विषुवत पूर्वबिन्दौ सूर्य्य प्रतिष्ठित।

'षण्मासा उत्तरायणम्' देवस्थिति है, षण्मासा दक्षिणायनम्' पितृस्थिति है, एव उभय सम्पातबिन्दु मनुष्यस्थिति है। कारण इस का यही है कि, देवता सौरप्राणप्रधान है, पितर चान्द्रप्राण प्रधान हैं, मनुष्य पार्थिवप्राण प्रधान हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य पार्थिवाग्निप्रधान है, पितर चान्द्र

सोमप्रधान है, देवता सौर ज्योतिर्लक्षण इन्द्रात्मक बनते हुए इन्द्रप्रधान हैं। षण्मासात्मक उत्तरायण काल में सौर ज्योतिर्मय इन्द्रप्रमुख देवताओं का साम्राज्य है, इस काल में पार्थिव विवर्त्त देवप्राण का भोग्य बना रहता है। षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल में चान्द्र सोममय पितरों का साम्राज्य है, इस काल में पार्थिव विवर्त्त पितृप्राण का भोग्य बना रहता है। उभय सम्पात स्थिता पृथिवी न देवभोग्या है, न पितृभोग्या है। अपि तु इस समय यह अपने आग्नेयरूप से पार्थिवप्रजा की भोग्या बनी रहती है। एकमात्र इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर उत्तरायण, दक्षिणायन, विषुव, तीनों को क्रमश देव-पितर-मनुष्य-प्रजा में मुक्त माना गया है।

उत्तरायणकाल में सौर आग्नेय देवताओं का उपचय है, सौम्य पितरों का अपचय है। दक्षिणायनकाल में पितरों का उपचय है, देवताओं का अपचय है। सौरप्राण का उत्तरायण में विकास है, पितर का सकोच है। पितरप्राण का दक्षिण में विकास है, सौर प्राण का सकोच है। उत्तर से दक्षिण की ओर आरोहण करना पितृप्राण का स्वभाव है, दक्षिण से उत्तर की ओर आरोहण करना देवप्राणका स्वभाव है। मध्य-समस्थिति पार्थिव 'मनु' नामक अग्नि का स्वभाव है। स्वय सम्वत्सरप्रजापति ही इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहे हैं। इन की देवस्थिति 'दक्षिणं जान्वाच्य' है, पितृस्थिति 'सव्यं जान्वाच्य' है, मानवस्थिति 'उपस्थ कृत्वा' है।

सम्वत्सरप्रजापति को 'महासुपर्ण' माना गया है। दक्षिणगोल इन का दक्षिण हस्त-पक्षात्मक दक्षिणपक्ष है, उत्तरगोल इन का वाम हस्त-पक्षात्मक वामपक्ष है, मध्यस्थ विषुवद्वृत्त मध्याङ्ग है। दक्षिणगोलस्थ मध्यम बिन्दु ही सूर्य्योत्तरायणकाल का उपक्रम है। यहीं इस देवप्राण की उपक्रमरूपा मूलप्रतिष्ठा है। क्योंकि दक्षिणस्थ सौरप्राण दक्षिण जानु है, वह यहाँ (दक्षिणपरमक्रान्ति) पर प्रतिष्ठित है, अतएव इस देवस्थिति के लिए 'दक्षिण जान्वाच्य' कहना अन्वर्थ बन रहा है। ९६ अङ्गुल परिमाणात्मक, ८७ अन्तरतमसूत्रात्मक, ६ अवान्तरतरसूत्रात्मक, ३ अवान्तरसूत्रात्मक यज्ञसूत्र इस स्थिति में प्रजापति के वामस्कन्धोपलक्षित उत्तरपरमक्रान्ति से सम्बद्ध हैं। दक्षिण परमक्रान्तिस्थ, अतएव 'दक्षिण जान्वाच्य' वाला देवप्राण इस स्थिति में उत्तरायण का अनुगामी बनता हुआ अवश्य ही उत्तर (वाम) सूत्र से युक्त है, यही इस की यज्ञोपवीतता है जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीता विज्ञानभाष्यभूमिका-अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के 'ग' विभाग में 'संस्कारविज्ञान' प्रकरण से निरूपना गतार्थ है।

दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हुए इन देवताओं में उत्तर से दक्षिण की ओर आते हुए सोम की आहुति होती रहती है। इसी अग्निसोमसमन्वय का नाम 'यज्ञ' है, यही इनका अन्न है। सोम अमृत है। इस अमृतसोमाहुतिरूप यज्ञात्मक अन्न से ही देवता अमृतसम्पत्ति के अनुगामी बने हैं। वृष्टि होने पर वृक्षों के पत्तों में जो एक प्रकार का उल्लास (विकास) आ जाता है, भोजनोत्तर

मनुष्य में जो एक प्रकार की स्फूर्त्ति आ जाती है, वही 'ऊर्क्' रस है। इट् (अन्न) ही 'ऊर्क्' रस है। इट् (अन्न) ही ऊर्क् का प्रवर्त्तक है। भूतबल पशुबल है, प्राणबल ऊर्क् बल है। सोमाहुति से देवता इसी ऊर्ग्बललक्षण ज्योतिर्म्मय विकास से युक्त हो रहे हैं। इस विकास का एकमात्र कारण है— 'यज्ञान्न'।

जिस प्रकार पितरों का अन्न 'स्वधा' कहलाया है, तथैव देवताओं का यह यज्ञान्न 'स्वाहा' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्न का अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्राण में प्रतिष्ठित हो जाना 'स्वधा' भाव है, एवं बहिर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होना 'स्वाहा' भाव है, जैसाकि इन शब्द-निर्वचनों से ही स्पष्ट हो रहा है। देवता सावित्राग्निप्रधान हैं। अग्नि का तेजोमय आङ्गिरा से सम्बन्ध है, आगत आहुत अन्न का विशकलन कर देना इसका स्वभाव है। अग्नि में आहुत सोम अग्नि के इसी विशकलन स्वभाव से अग्नि में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित न होकर केवल बहिर्य्याम सम्बन्ध से चारों ओर व्याप्त हो जाता है। इसी आधार पर देवताओं के सम्बन्ध में निगम प्रसिद्ध है कि—"न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" (ब्राह्मणश्रुति)। इसी आधार लोक में भी यह किंवदन्ती प्रचलित है कि—"देवता खाते पीते नहीं हैं, अपितु वे तो वासना के भूखे हैं"।

देवान्न की इसी उक्त बहिरङ्गव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषियोंने इसे 'स्वाहा' शब्द से व्यवहृत किया है। 'स्वमात्मानमन्नादं—आह्नोति, बहिर्व्याप्नोति, न तु तत्रात्मरूपेणान्तर्य्यामसम्बन्धेन प्रविशति' निर्वचन ही स्वाहा शब्द का तत्त्वार्थ है। अन्न में एक प्रकार का मृत्युलक्षण बल है। उस बल से देवता इसी स्वाहा सम्बन्ध से पृथक् रहते हैं, अतएव इनके लिए 'अमृतत्त्व वः, ऊर्ग्वः' कहना चरितार्थ होता है। अपिच असङ्ग तत्त्व अमृत है, ससंग तत्त्व मृत्यु है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, तदनुगत विज्ञान (बुद्धि), दोनों असङ्ग होने से अमृत हैं। एवं—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'—'धियो यो नः प्रचोदयात्' से आत्मा-बुद्धि-दोनों सूर्य्यांश हैं। इस आध्यात्मिक सौरप्राणदृष्टि से भी 'अमृतत्त्व वः' कहना अन्वर्थ बनता है। प्रचतनलक्षण षण्मासात्मक सौर उत्तरायणकाल ही 'अहः' है, इस ज्योतिर्म्मय अहोमण्डल में ही देवता प्रतिष्ठित हैं। अतएव 'सूर्य्यो वो ज्योतिः' कहा गया है। इस प्रकार चान्द्रनाडीप्रसारात्मक यज्ञोपवीत से युक्त, दक्षिणजान्विप्रतिष्ठा से युक्त सौरदेवता यज्ञान्न, अमृतत्त्व, ऊर्क्,सूर्य्यज्योति, इन भोगसम्पत्तियों से युक्त हो रहे हैं। इसि प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

१—"ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्य उपासीदन्। तानब्रवीत्—
यज्ञो वोऽन्नं, अमृतत्त्वं वः, सूर्य्यो वो ज्योतिः"। इति।

षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल में सौम्य पितरप्राण का साम्राज्य है। इस पितृस्थिति से सम्बद्ध सम्वत्सरप्रजापति का यज्ञसूत्र उत्तरगोलस्थ दक्षिणायन बिन्दु से उपलक्षित जगतीछन्द की ओर

नत रहता हुआ प्रजापति के दक्षिणस्कन्ध पर प्रतिष्ठित है। यही पितरप्राण की प्राचीनावीतिता है। इसी आधार पर दक्षिणायनकालावच्छिन्न, अतएव पितृमूर्त्ति इस प्रजापति को अवश्य ही प्राचीनावीती कहा जा सकता है। दक्षिणायनभागोपलक्षित सौम्य पितरों की सोमप्रतिष्ठा (उपक्रमरूपा) उत्तरपरमक्रान्ति है। इसी आधार पर 'सव्य जान्वान्य' कहा गया है। इस प्राचीनावीती–सव्य जान्वाच्यावस्थायुक्त पितर का सजातीय चान्द्रकक्षा से सम्बन्ध है। चान्द्रकक्षा का शुक्ल-कृष्णपक्षात्मक मास इनका अहोरात्र है। प्रत्येक मास की अमावास्या इनका मध्याह्न है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। अमावास्या में विधूर्ध्वभागस्थ सौम्य पितर सौरदेवताओं से भुक्त होते हुए क्षीणपिण्ड हैं। उधर अधोभागावस्थित अक्षीणसोम के पार्थिव सम्बन्ध से तदनुगता श्रद्धानाडी भी पुष्ट है। इसी के द्वारा सन्तति में प्रतिष्ठित रसपिण्डरसों का स्वधारूप से पितर ग्रहण किया करते हैं। इसी स्वाभाविक स्थिति को लक्ष्य में रख कर '**मासि मासि वोऽशनम्**' कहा गया है।

जिस प्रकार वहिरङ्गसम्बन्धानुगत देवान्न स्वाहा कहलाया है, तथैव अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से पितरों का अन्न 'स्वधा' कहलाया है। पितर सौम्य होने से सकोचधर्म्मा हैं, स्नेहधर्म्मा हैं। इनमें जो पिण्डसोम आहुत होता है, वह स्वय भी स्नेहधर्म्मा है। इसी स्नेहगुण के कारण यह आहुतिगृहीता में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ आत्मधारक बनता है। '**स्वमात्मानं धत्ते**' से ही यह अन्न 'स्वधा' कहलाया है। मनोमय श्रद्धासूत्र ही स्वधारूप पिण्डरस का गमन मार्ग है, अतएव इनके लिए '**मनोजवो वः**' कहना अन्वर्थ बनता है। चान्द्रज्योति ही इनका अन्नभोगकाल है, अतएव इनके लिए '**चन्द्रमा वो ज्योतिः**' कहा गया है। चान्द्रपितरप्राण की इसी स्वाभाविक स्थिति का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

२—"अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्य उपासीदन्। तानब्रवीत्–
मासि मासि वो अशनं, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः"।

सम्वत्सरप्रजापति का षण्मासात्मक उत्तरायणभाग देवसृष्टि की, षण्मासात्मक दक्षिणायन भाग पितृसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता है। एव मध्यस्थ विषुवभाग पार्थिवसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता है। देवसृष्टि का मूलाधार सूर्य्य है, पितृसृष्टि का मूलाधार चन्द्रमा है, एव अस्मदादि पार्थिवसृष्टि की मूलाधिष्ठात्री पृथिवी है। पृथिवी का मध्यस्थ विषुव से सम्बन्ध है, चन्द्रमा का सौम्य दक्षिणायनरूप दक्षिण पक्ष से सम्बन्ध है, एव सूर्य्य का ऐन्द्र उत्तरायणरूप वामपक्ष से सम्बन्ध है। उत्तरायणानुगत देवदृष्ट्या प्रजापतिसूत्र उपवीत है, दक्षिणायनानुगत पितृदृष्टि से प्रजापतिसूत्र अवीत है। एव मध्यस्थ विषुवत् दृष्टि से यही प्रजापतिसूत्र निवीत, किंवा 'प्रावृत' है। वामस्कन्ध स्थित सूत्र उपवीत है, दक्षिणस्कन्धस्थित सूत्र अवीत है, एव मध्य मे माला की भाँति स्थित सूत्र निवीत, किंवा प्रावृत है। प्रावृतस्थित्यवच्छिन्न प्रजापति ही पार्थिवसृष्टि के प्रवर्त्तक बनते हैं। यही मध्यस्थ विषुव हमारा मेरुदण्ड बनता

है, जिसका दक्षिण पार्श्व दक्षिण गोल है, उत्तर पार्श्व उत्तरगोल है। वामस्कन्ध से दक्षिण कटिपर्य्यन्त उत्तरायण भाग है, दक्षिण स्कन्ध से वामकटिपर्य्यन्त दक्षिणायन भाग है। अर्द्ध विष्वद्वृत्तात्मक अर्द्धांकाश पुरुषसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं अर्द्ध वृत्तात्मक अर्द्धांकाश स्त्रीसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। दोनों के दाम्पत्य से ही पूर्णप्राजापत्य विभूति होती है, जिसका फल प्रजासम्पत्ति माना गया है, जोकि प्रजा इसका आतिरिक बल है।

सौरप्राण की उत्तर दक्षिण क्रान्ति २४-२४ अंशों तक व्याप्त है। इस प्रकार क्रान्तिभाग गायत्री सम्बन्ध से २४ पर विश्रान्त है। अतएव तदनुरूप पुरुष की पर्शु (पँसलियाँ) भी २४ ही होती हैं। क्रान्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर सूर्य्य इत-उत मुड़ जाता है। ठीक यही स्थिति पर्शु की है। इस प्रकार विष्वद्वृत्तावच्छिन्न खगोलीय सम्वत्सरप्रजापति की जैसी स्थिति है, ठीक वैसी ही स्थिति मनुष्यप्रजा की है। पृथिवी सम्बन्ध से, किंवा पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण सम्बन्ध से इस का अशनकाल चतुर्विंशति होरात्मक अहोरात्र है। विषुवद् दृष्ट्या ये प्रावृत हैं। दाम्पत्य दृष्ट्या प्रजा इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। 'यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' (शत० १०।५।६।) से मृत्यु इन का स्वाभाविक धर्म्म है। पार्थिवप्रजात्त्वेन अग्नि इन का ज्योतिर्मण्डल है। मानवप्रजा की इस स्वाभाविक स्थिति का ही स्पष्टीकरण करते हुए आख्यानश्रुति ने कहा है—

३—"अथैनं मनुष्याः प्रावृताः (समस्त्रयुक्ताः) उपस्थं कृत्वा उपासीदन्। तान-ब्रवीत्—सायं प्रातर्वोऽशनं, प्रजा वः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः"।

आख्यान का '४-५-६' एतत् सख्याक उत्तरांश पूर्वोक्त अर्थ से ही गतार्थ है। इस आख्यान रहस्य से हमारी कितनी एक ऐसी शङ्काओं का निराकरण हो जाता है, जिन्हें आगे कर 'श्राद्ध' जैसे आवश्यक कर्म्म पर अनेक कुशङ्काओं को अवसर मिल जाना आज सम्भव बन गया है।

प्राणविद्यामूलक श्राद्धकर्म्म—

ब्राह्मणग्रन्थोक्त पिण्डपितृयज्ञ कुछ एक ऐसी परिभाषाओं का स्पष्टीकरण कर रहा है, जिनसे परिचय प्राप्त करने के अनन्तर श्रद्धालुवर्ग को यह दृढ विश्वास हो जाता है कि, अवश्य ही पितृप्राण चान्द्रसंस्था से सम्बन्ध रखने वाला प्राणविशेष है, एवं यही प्रजोत्पादन कर्म्म की (महानात्माद्वारा) प्रतिष्ठा बनता है। प्राकृतिक पितृप्राणतत्त्व के साथ सहयोगसम्बन्ध से प्रतिष्ठित पुत्रादि के प्रेतपितर प्रति अमावास्या को क्षीणकाय रहते हैं। साथ ही इस तिथि में चान्द्र अधोभाग के सोमानुगमन से पुत्रादि का श्रद्धासूत्र पुष्ट रहता है, जिस का चान्द्रोर्ध्वभागस्थ स्वप्रेतपिण्डों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस श्रद्धासूत्रद्वारा भौतिक पिण्डदान से अवश्यमेव उन्हें तृप्त किया जाता है। यह तृप्ति 'पिता-पितामह-प्रपितामह' इन तीन पिण्डभाक् पितरों से सम्बन्ध रखती है। शेष वृद्ध-अतिवृद्ध-वृद्धातिवृद्ध, नामक तीनों लेपभाक् पितर इन के साथ ही पिण्डगत लेपांश से तृप्त हो जाते हैं। यथाविधि पिण्डदान करने

वाला पुत्र—'अथ अवजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्' (शतपथब्राह्मण) के अनुसार परम श्रद्धा से पिण्डों को सूँघता है। इस के इस व्यापार से पिण्डप्राण इस के आध्यात्मिक श्रद्धासूत्र में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रद्धासूत्र में प्रतिष्ठित पिण्डप्राण तद्वीभूत चान्द्रलोकस्थ प्रेतपितरों की तृप्ति का अवश्यमेव स्वधान्न बन जाता है। पुत्र के सूँघने के अनन्तर पिण्डतत्त्व शून्य हो जाता है। इसे गौपशु को खिला दिया जाता है। अवश्यमेव इस प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रक्रिया से पिण्डगत सौम्यप्राण, जो कि सौम्य पितरों की, किंवा सौम्य पितृपिण्डों की सजातीय सम्बन्धेन तृप्ति का साधन है, पुत्र के श्रद्धासूत्र में प्रतिष्ठित हो जाता है, एवं तद्द्वारा उन की स्वधा बन जाता है। यह निर्विवाद है कि, प्राणतत्त्व भारशून्य है, साथ ही इन्द्रियातीत भी। इस के निकल जाने से भूतभार कम नहीं होता, आजाने से भूतभार बढ़ नहीं जाता। साथ ही इस का आगमन-विनिर्गमन भी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रा युक्त इन्द्रियों से अतीत है। क्योंकि प्राण स्वयं तन्मात्रातीत है।

लौकिक दृष्टान्त लीजिए। बासी भोजन में वह स्वाद नहीं रहता, जो सद्योभोजन में होता है। कारण—अमृतमात्रा का विनिर्गमन। प्रत्येक अन्न में दधि, मधु, घृत, अमृत, ये चार रस रहते हैं। दधि पार्थिवरस है, घृत आन्तरिक्ष्यरस है, मधु सौररस है, अमृत पारमेष्ठ्य सौम्यरस है। आद्य रसत्रयी भूतप्रधाना है, अतएव इस का अनुभव इन्द्रियों से हो जाता है। सौम्य अमृतरस प्राणात्मक है, अतएव इस का अनुभव केवल इन्द्रियातीत-अतीन्द्रिय प्रज्ञान मन को ही होता है। प्राणात्मक इसी रस का हम 'स्वाद' (जायका) शब्द से अभिनय किया करते हैं। इन्द्रप्राण का यह सौम्य रस प्रिय अन्न है। 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' (शत० ४।६।३।३) न्याय से प्रत्येक वायुक्षेत्र में एक चतुर्थांश इन्द्र की प्रतिष्ठा रहती है। इसी वायु के सम्पर्क से तद्गत इन्द्र अन्नगत सौम्य रस का शोषण कर लेता है। तप्त (उष्ण) भोजन में जो स्वाद है, वह ठंडे में नहीं। ज्यों ज्यों कालातिक्रमण होता जाता है, अन्नगत सौम्य रस इन्द्रद्वारा निकलता जाता है, त्यों त्यों ही अन्न अस्वादु बनता जाता है। सगरा रात्रि के धारण शिव के समावेश से तो यह सर्वथा ही नीरस बन जाता है। अतएव यातयाम (गतरस) अन्न तो सर्वथा ही अग्राह्य माना गया है। विशुद्ध घृत-तैल से पक्व पदार्थों में कुछ समय पर्य्यन्त (जबतक घृत-तैलमात्रा सुरक्षित रहती है) रस का विनिर्गमन नहीं होता। अतएव तत् समय पर्य्यन्त (अन्नजाति के अनुसार २-४-६-८ दिनों पर्य्यन्त) खाद्य सामग्री दूषित नहीं होने पाती। वक्तव्यांश यही है कि, सौम्य प्राण के निकल जाने से भोजन अस्वादु हो जाता है। धारोष्ण दुग्ध में जो रसमात्रा है, वह कालान्तर में नहीं रहती। क्या इस स्वादु-पाकरस-ओजस्य-धातुवर्द्धक-सौम्य-प्राणका निर्गमन आँखों से देखा जा सकता है ?, क्या इसके निकल जाने से खाद्यभार कम होता देखा गया है ? नहीं, तो पिण्डप्राण के सम्बन्धमें ही यह कुशङ्का क्यों ? । मधुमक्षिका पुष्पगत प्राणात्मक मधुरस का शोषण कर लेती है। परन्तु न आप देखते, न हम। न पुष्पों का भार ही कम होता। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। 'अतीन्द्रियानसंवेद्यान्—न तर्केण योजयेत्' ही श्रेयःपन्था है।

श्राद्धकर्म्मानुगत श्रौतपरिभाषाविज्ञान—

वस्तुस्थिति वास्तव में यह है कि, आज वेदों की प्राणविद्या सर्वथा विलुप्त है। दर्शनानुगता भूतदृष्टि के निग्रह से, एवं प्रचलित जड भूतवाद के अनुग्रह से प्राणदृष्टि सर्वथा विस्मृत है। अतएव कभी 'पितर' का अर्थ जीवित पितरादि किया जाता है, और जब प्रेत-पितरों के समर्थक वचन उपलब्ध होते हैं, तो या तो पोढाम्नाभवृत्ति की उपेक्षा कर उन प्रकरणों का अनर्थ किया जाता है, अथवा तो सुलभसाधनभूत प्रक्षेप-शब्द का आश्रय ले लिया जाता है। कभी 'देव' का अर्थ विद्वान् किया जाता है, जब-कि-'देवा अहैव देवाः' इससे श्रुति ने प्राणात्मक देवतत्त्व, तथा-'अथ ये शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते ब्राह्मणा देवाः' इत्यादिरूप से विद्वान् देवताओं का सर्वथा पार्थक्य प्रमाणित किया है। वेदमन्त्र स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर रहे हैं कि, आहवनीयाग्नि में हुत आहुति प्राणरूप से द्युलोक में जाती है, एवं इसके आकर्षण से यजमान का भूतात्मा मानुष आयुर्भोगानन्तर देवस्वरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऋत्विजों के द्वारा प्रयुक्त ऋक्-यजु-साममन्त्रों से तत्त्वात्मिका ऋक्-यजु-सामत्रयीद्वारा यजमान का एक अपूर्व ऋक्-यजु-साममय देवमूर्त्ति दिव्यसंस्कार उत्पन्न होता है, जिसे यज्ञपरिभाषा में 'देवात्मा' कहा जाता है जैसा कि—"दैवोऽस्यात्मा,मानुषोऽन्यः" इत्यादि से प्रमाणित है। त्रयीसंस्कार से संस्कृत आहुतिमय यह दैवात्मा यजमान के मानुषात्मा (भूतात्मा) से अन्तर्याम सम्बन्ध से बद्ध होता हुआ द्युलोक में प्रतिष्ठित होता है। क्योंकि ऋत्विजों के कर्म्म से इस नवीन आत्मा का उदय होता है, अतएव उनका आत्मानुशय भी इसमें प्रतिष्ठित रहता है। इनके इस अनुशय को इस दैवात्मा से पृथक् कर इसे केवल अपना सम्पत्ति बनाने के लिए ही ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है। बिना दक्षिणा का यज्ञ परानुशय से हत (अपूर्ण) रहता है। इसीलिए अन्त में दक्षिणा होम होता है। मुझे परलोक में पूर्ण फल मिले, इस उद्देश्य से होने वाला दक्षिणा-होम अवश्य ही दक्षिणप्राण से इस देवात्मा के साथ युक्त हो जाता है। इस प्रकार आगे आगे यज्ञातिशयरूप दैवात्मप्राण स्वर्ग में जाता है, इसके साथ दक्षिणाप्राण जाता है, तदनुगत यजमानात्मा स्वर्ग में जाता है। निम्न लिखित श्रुति विस्पष्ट शब्दों में इस स्थिति का स्पष्टीकरण करती हुई यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण बन रही है कि, पार्थिव भौतिक माध्यमों के द्वारा इन्द्रियातीत प्राणों का एक लोक से दूसरे लोक के साथ सम्बन्ध हो जाना सर्वथा प्राकृतिक है, युक्ति-तर्क-विज्ञान-प्रमाणानुमोदित है, अतएव सर्वथा आस्थेय, एवं श्रद्धेय है।

"ता वाऽएताः-ऋत्विजामेव दक्षिणाः। अन्यं वाऽएतऽएतस्यात्मानं-संस्कुर्वन्ति-एतं-यज्ञं-ऋङ्मयं, यजुर्म्मयं, साममयं, आहुतिमयम्। सोऽस्यामुष्मिँल्लोक ऽआत्मा भवति। तद्ये मामजीजनन्त इति, तस्मादृत्विग्भ्य एव दक्षिणा दद्यात्, नानृत्विग्भ्यः। अथ प्रतिपरेत्य गार्ह-

पत्यं दक्षिणानि जुहोति। 'देवलोके मेऽप्यसत्' इति वै यजते, या यजते। सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रै ति, तदनूची दक्षिणा—यां ददाति—सैति, दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः" (यजमानस्य भूतात्मा दैवात्मना यज्ञरूपेणाकर्षितः) (शत॰ ४ कां॰१।३।४।५,६,)।

जिस प्रकार आङ्गिरस तेजोमय श्रद्धासूत्र के द्वारा दैवात्मा, दक्षिणाप्राण, आहुति, आदि द्युलोक में प्रतिष्ठित होते हुए देवतृप्ति के कारण बनते हैं, एवमेव भार्गव स्नेहमय श्रद्धासूत्र के द्वारा पितरप्राण अवश्य ही पिण्डप्राण से तृप्त होते हैं। पिण्डप्रधानलक्षण, पितृप्राणपूरक यही पितृकर्म्म ब्राह्मणग्रन्थों में 'पिण्डपितृयज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसे आधार बना कर हमारा स्मार्त्त पार्वणश्राद्धकर्म्म प्रतिष्ठित है। पिण्डपितृयज्ञ में जिन पितरों का पिण्डदान से यजन बतलाया गया है, वे पितर जीवित पिता-पितामहादि नहीं हैं। अपितु चान्द्रलोकस्थ सौम्यप्राणात्मक पितर हैं, जिनके लिए— 'मासि-मासि वो ऽशनम्' यह व्यवस्था हुई है। इसी सौम्यभाव के कारण अमावास्या तिथि में ही इनका यजन होता है। पूर्व-अपरविद्धा अमावास्या में नहीं, अपितु 'दर्श' नाम की सूर्य्येन्दुसङ्गमरूपा अमावास्या में। इस की जो उपपत्ति बतलाई गई है, वह प्रमाणित कर रही है कि, यह पिण्डपितृयजन प्राणपितर से ही सम्बद्ध है।

सूर्य्येन्दुसङ्गमरूपा अपराह्णद्वयव्यापिनी अमा दर्श है। अर्थात् तिथिक्षय न होने पर पूर्व (चतुर्दशी), उत्तर (प्रतिपत्) से अविद्धा पूर्णा अमा ही दर्श नाम की अमावास्या है। चतुर्दशीविद्धा अमावास्या 'सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली' के अनुसार 'सिनीवाली' कहलाई है। चान्द्रकिरण-सम्बन्ध में बालमात्र प्रमाण से यह प्रकाशित है। अतएव 'बालमात्राद् श्वेता' निर्वचन से इसे सिनीवाली कहना अन्वर्थ बनता है। प्रतिपद्विद्धा अमावास्या 'सा नष्टेन्दुकला कुहूः' के अनुसार 'कुहू' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्दशी-अमा के एक हो जाने से चन्द्रकिरण का दर्शन है, एवं अमा-प्रतिपत् के एक हो जाने से एक चन्द्रकला का क्षय है। ऐसी तिथिद्वयरूपा पूर्वोत्तरविद्धा दोनों अमावास्या प्रकाशयुक्त बनती हुई अक्षीण (प्रकाशयुक्त) हैं। इसी प्रकाश सम्बन्ध से इन्हें देवपत्नी माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित निरुक्त वचन से प्रमाणित है—

"सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। या पूर्वा (चतुर्दशीविद्धा) अमावास्या, सा सिनीवाली। या उत्तरा (प्रतिपद्विद्धा), सा कुहूः" इति विज्ञायते"

—या॰ नि॰ दै॰ का॰ ११। ३०।

सिनीवाली, कुहू, दोनों में देवप्राण का सम्बन्ध है। अतएव इन अमावास्याओं में यदि पिण्डपितृयज्ञ किया जायगा, तो आग्नेय देवप्राण, तथा सौम्य पितरप्राण, दोनों में क्षोभलक्षण

समद (कलह) हो जायगा, पिण्डयज्ञ अपूर्ण रह जायगा। अत पूर्णमासाम्यालक्षणा उभयथा अविद्य सूर्य्येन्दुसङ्गमरूपा दर्श नाम की अमा में ही यह कर्म होना चाहिए। इस प्रकार पिण्डपितृयज्ञ के लिए दर्श की व्यवस्था करती हुई ब्राह्मणश्रुति प्राणात्मक पितरों की ओर ही-हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है। देखिए—

"तद्वा एतत् मासि मास्येव पितृभ्यो ददतः। यदैवेष (चन्द्रमा) न पुरस्तान्न पश्चाद् ददृशे, अथैभ्यो ददाति। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स एतां रात्रिं क्षीयते। तस्मिन्न क्षीणे ददाति, तथैभ्योऽसमदं करोति। यदक्षीणे दद्यात्—समदं ह कुर्याद्देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च। तस्माद्यदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे, अथैभ्यो ददाति" (शतपथब्राह्मण)

दर्श अमावास्या में सौर प्राणदेवताओं के सम्बन्ध से पितरप्राण आत्यन्तिकरूप से क्षीण हैं, उधर श्रद्धासूत्र अक्षीण है। सिनीवाली, कुहू में पितरप्राण आंशिकरूप से क्षीण हैं, फलत श्रद्धासूत्र क्षीण है। क्षीण पितरों को अक्षीण श्रद्धासूत्र से पिण्डद्वारा तृप्त करने के लिए क्षीणपितृप्राणात्मिका-अक्षीणश्रद्धाभावप्रवर्त्तिका दर्श-अमा ही उपयुक्त है, यही तात्पर्य है। तीनों अमाओं में से दर्श अमा का ही ग्रहण क्यों किया गया?, इस प्रश्न की यही उपपत्ति है। दर्श अमा को पिण्डपितृयज्ञ करना, इस निश्चय के अनन्तर काल का प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण, भेद से अहःकाल तीन भागों में विभक्त है। पूर्वाह्ण का अग्नितत्त्वलक्षण देवप्राणमय अग्नि से सम्बन्ध है, अपराह्ण का अग्नितत्त्वलक्षणा पितृप्राणमयी रात्रि से सम्बन्ध है, मध्याह्न का विषुवत्—से सम्बन्ध है। पूर्वाह्णकाल सौरप्राणप्रधान बनता हुआ उत्तरायण से अनुगत है, अतएव यह देवयजनकाल है। अपराह्णकाल चान्द्रप्राणप्रधान बनता हुआ दक्षिणायन से अनुगत है, अतएव यह पितृयजनकाल है। एवं मध्याह्नकाल पार्थिव प्राणप्रधान बनता हुआ मध्यस्थ विषुवद् वृत्त से युक्त है, अतएव यह मनुष्ययजनकाल है। इस कालव्यवस्था के अनुसार पितरप्राणतृप्ति के लिए अपराह्णकाल ही उपयुक्त माना गया है। इसी कालत्रयी की व्यवस्था करते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स वा *अपराह्णे ददाति। पूर्वाह्णो वै देवानां, मध्यन्दिनो मनुष्याणां, अपराह्णः पितॄणाम्। तस्मादपराह्णे ददाति।"

पहिले से नियत 'हविर्धानशकट' में से पिण्डार्थ हविर्द्रव्य का आहरण होता है। यह शकट गार्हपत्यागार से पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित रहता है। पिण्डार्थ हविर्द्रव्य लेने के लिए यह प्राचीनावीती बन कर दक्षिण दिशा की ओर बैठता है। कारण स्पष्ट है। पितरप्राण दक्षिणसम्बन्ध ही बतलाया गया है।

६—"अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञ, चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायाम्" (का० श्रौ० सू० ४।१।१।)

देवयज्ञ में गृहीत हविर्द्रव्य का जहाँ तीन बार फलीकरण (त्रिफलीकरण) होता है, वहाँ इस पितृयज्ञमें एक बार ही फलीकरण होता है। सौर देवप्राण की गति प्राणन-अपानन भाव से सम्बन्ध रखती है। आगे बढ़ना प्राणन है, पीछे हटना अपानन है, दोनों गतियों का नियमन केन्द्रबिन्दुलक्षणा स्थितिरूपा व्यानगति से होता है। इस प्रकार प्राणन-अपानन-व्यानन रूप से देवप्राण तीन गतिभावों से युक्त है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः ।
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानती व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥

—यजुःसंहिता ३। ६, ७।

अपि च—गति-प्रेतिभावात्मिका गायत्री के सम्बन्ध से भी देवप्राण त्रिसत्य माना गया है। इधर सौम्य पितरप्राण, जो कि 'प्रेतभाव' से ही युक्त है, केवल अपानन व्यापार का ही अनुगामी है। जो पितर एक बार चन्द्रलोक में चला जाता है, वह इसी प्रेति-भाव से वापस नहीं लौटता। यही इस का सकृत्-भाव है। यहाँ से पराक्-चला जाना ही इन का सकृत्-व्यापार है। ऐसे सकृत्-धर्म्मा पितरों के लिए गृहीत हविर्द्रव्य का (अनुरूपता के लिए) सकृत् (एकवार) ही फलीकरण अपेक्षित है। प्राचीनावीती बन कर, दक्षिणसंस्थ हो कर हविर्ग्रहण करना, एवं गृहीत हविर्द्रव्य का सकृत्-फलीकरण करना प्राणपितर की ओर ही हमारा ध्यान करा रहा है—

"स जघनेन गार्हपत्यं-प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति। सकृत् फलीकरोति। सकृदुह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात् सकृत् फलीकरोति"।

पिण्डप्रदान काल में प्रदाता एक श्वास-प्रश्वास काल पर्य्यन्त अपना मुख (दृष्टि) दूसरी ओर कर लेता है। कारण स्पष्ट है। प्राणात्मक पितर मनुष्यों के लिए 'तिर-इव' है। पितरप्राण की इसी स्वरूपरक्षा के नाते यह क्रिया विहित है। कर्म्म समाप्त्यनन्तर प्रदाता अपनी नीवी (अधोवस्त्रबन्धन) का स्पर्श करता हुआ ६ बार नमस्कार करता है। नीवी में पितर प्राण रहता है, अतएव नीवीबन्धन पितृदेवत्य कहलाया है। पिण्डप्राण प्रथम षड्ऋतुरूप आन्तरिक्ष्य पितरों में प्रतिष्ठित रहता है, ऋतु-द्वारा चन्द्रलोकस्थ पितरों की तृप्ति का कारण बनता है। इसी प्राकृतिक पितृप्राण-स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति कहती है—

"अथ पराङ् पर्य्यावर्त्तते। तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः। तिर इवैतद् भवति।
अथ नीवीमुद्वृह्य नमस्करोति। पितृदेवत्या वै नीविः। षट् कृत्वो नमस्करोति।
षड् वाऽऋतवः। ऋतवः पितरः। तस्मात् षट् कृत्वो नमस्करोति"।

इस पिण्डपितृयज्ञ की आशी (फल) क्या ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है कि, श्रद्धासूत्रद्वारा प्रदत्त पिण्डप्राण पिता–पितामहादि के पिण्डप्राणों को तृप्त करता है, यही उन का इस सन्तति के प्रति आनृण्य है, यही इस श्राद्धकर्म्म का एक फल है। श्रद्धान्न से तृप्त पितर उसी श्रद्धासूत्रद्वारा स्वसन्तानगत पितृपिण्डों को सबल बनाते हुए इन के गृहस्थाश्रम को सुरक्षित रखते हैं, प्रजातन्तुवितान के कारण बनते हैं। अतएव यह नित्यकर्म्म 'काम्यनित्यकर्म्म' माना गया है–

"गृहान्नः पितरो दत्त" इति। गृहाणां ह पितर ईशते। एषा उ एतस्य आशीः कर्म्मणः। अथ–अवजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान् (स यजमानभागः)। अग्नौ सह दाक्षिणान्यभ्यादधाति, पुनरुन्मुख्भपिसृजति" (शत० २।४।२ ब्रा०)।

दर्श अमावास्या ही श्राद्धकाल है, पितर सद्दन हैं, तिर इव हैं, नीवीबन्धन पितृ देवत्य है, इन सब विधानों का मूलाधार पितरप्राणस्वरूप–परिचय है, जिसे न जानने के कारण ये शास्त्रीय कर्म्म भ्रान्त जनों की उपहास सामग्री बने हुए हैं। निबन्ध के द्वितीय खण्ड में पितर प्राण का विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ उस श्रौत–वचन समन्वय की दृष्टि से दो शब्दों में इस का सिंहावलोकन कर प्रकृत परिच्छेद समाप्त किया जाता है।

ज्योतिर्म्मय इन्द्रप्रमुख त्रयस्त्रिंशत् (३३) विध प्राण 'देव' है। तमोमय वृत्रप्रमुख नवतीनव (९९) विध आप्यप्राण 'असुर' है। एवं छायामय अग्निष्वात्तप्रमुख अष्टविध सौम्य प्राण पितर है। सौम्य पितरप्राण आप्य प्राण होने से छायाप्रधान है। यही कारण है कि, श्राद्धादि पितृकर्म्म निरावरण प्रान्त में न कर सावरण प्रान्त में ही किया जाता है। पितृकर्म्म में उल्मुक ग्रहण भी इसी आशय से हुआ है। पितरप्राण के मार्गप्रदर्शन की भावना से ही उल्मुक विधान हुआ है। बन्धन विमोक देव प्राण का धर्म्म है, दृढबन्धन आसुरप्राण का धर्म्म है, एवं श्लथ बन्धन पितृप्राण का धर्म्म है। नीवी बन्धन क्योंकि श्लथबन्धन है। एकमात्र इसी आधार पर नीवी पितृदेवत्या मान ली गई है। प्राण त्रयी के इस स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों से स्पष्टीकरण हो जाता है—

'ज्योति, छाया, तम' ये तीन स्थान क्रमश देवता, पितर असुर, प्राणों की आयामभूमि हैं। सूर्य्यप्रकाश (धूप) में देवप्राण प्रतिष्ठित है, रात्रि के निबिडान्धकार में असुरप्राण प्रतिष्ठित है। एवं प्रकाश–तम की सन्धिरूपा छाया में पितर प्राण प्रतिष्ठित है। दूसरा उदाहरण लीजिए। भूगर्भ मह घोर अन्धकार है, कुछ नहीं दिखलाई पड़ता, वहाँ असुरप्राण का साम्राज्य है। भूपृष्ठ पर देवप्राण का साम्राज्य है। एवं कूप–गर्त्तादि में जहाँ छायामय प्रकाश है, जिस की सत्ता से तत्रस्थ वस्तु दिखलाई पडती है, पितर प्राण का साम्राज्य है। देवता सर्वथा अद्धा (प्रकट) हैं, असुर सर्वथा अनद्धा हैं, पितर उभय-धर्म्मा होने से 'तिर इव' हैं। निम्न लिखित वचन तीनों के इसी ज्योति, तम, तिर, धर्म्मों का समर्थन कर रहे हैं—

देव–पितर–असुरभाव–समर्थकनिगमाः—

देवाः (ज्योति) — प्रकाशः (सिनीवाली)

१—"तद्वै देवाना देवत्त्व, यदस्मै सम्सृजानाय दिवेवास" (शत० ११।१।६।७)।

२—"अहरेव देवा" (शत० २ १।३।११)

३—"अहर्देवा सूर्य्य" (शत० १।१।२।११)।

४—"अहर्वै देवा अश्रयन्त" (ऐ० ब्रा० ४ ५)

५—"स ज्योतिषा भूमेति, स देवैरमूमेत्येवैतदाह" (शत० १।६।२।१४)।

६—"अमृता देवा"

———— ❀

पितर (छाया) — छाया (दर्श)

१—"तिर इव वै पितर" (शत० २।६।१।१६)

२—"अथ इव हि पितृलोक" (शत० १४।६।१।१०)।

३—"पितृदेवत्यो वै कूप खात" (शत० ३।६।१।१३)।

४—"ह्रीका हि पितर" (तै० ब्रा० १।३।१०।६)

५—"मृत्युर्वै तमश्छाया" (ऐ० ब्रा० ७।१२।)

६—"मर्त्या पितर" (शत० २।१।३।४।)

———— ❀

असुरा (तम) — अन्धकार (कुहू)

१—"नक्तमसुरानसृजत" (ष० ब्रा० ४।५।)

२—"रात्रीमसुरा अश्रयन्त" (ऐ० ब्रा० ५।५।)

३—"अन्धो रात्रि" (ता० ब्रा० ६।१।७।११

४—"तम पाप्मा रात्रि" (गो० ब्रा० उ० ५।३।)

५—"पराभूता असुरा" (शत०

—— x ——

श्राद्धोपकरणों की सोमान्मक्ता—

मृतात्मा (महानात्मा) की तृप्ति के लिए पुत्रादि के द्वारा पिण्डदान–ब्राह्मणभोजनादिरूप से होने वाला वैज्ञानिक कर्म्म ही श्राद्ध है। इस श्राद्धकर्म्म में काल, द्रव्य, मार्ग, प्राप्तिस्थान, प्राप्तिपात्र,

आदि सभी सौम्य हैं। यही सजातीय सोमानुबन्ध इस श्राद्धकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। चान्द्रलोकस्थ प्रेतपितर अनुयोगी है, भूलोकस्थ सन्ततिवर्ग प्रतियोगी है, कालादि आतिवाहिक हैं, प्रदत्त पिण्डादि स्वधान्न हैं, एवं ये चारों ही श्राद्धोपकरण सौम्य हैं। विधूर्ध्वभागस्थ पितर सौम्य हैं, इन पितरों में प्रतिष्ठित आत्मधेयरूप पितृपिण्ड सौम्य हैं, जिस (शरद्ऋतु में) ये प्रतिष्ठित हैं, वह ऋतु सौम्या है। इस प्रकार पितर-पितृपिण्ड (आत्मधेयपिण्ड), ऋतु, तीनों अनुयोगी सौम्य हैं। पिता के २१ तन्य सौम्य-पिण्डों को ऋण लेकर उत्पन्न होने वाली अपत्य (सतान) सौम्य है, इसका अन्नमय मन सौम्य है, मन में प्रतिष्ठित श्रद्धारस सौम्य है। इस प्रकार अपत्य, सन्मन, तच्छ्रद्धा, तीनों प्रतियोगी भी सौम्य हैं। वारुण जलातिशय में उत्पन्न चावलों का पिण्ड सौम्य है, अन्नपिण्डगत वह प्राणात्मक रस, जो वायु से उद्भूत होकर चान्द्रनाडी के द्वारा चन्द्रलोक में पहुँच कर श्रद्धानुगत प्रेतपितरों की तृप्ति का कारण बनता है, सौम्य है। इस दृष्टि से अक्षत, तत्पिण्ड, पिण्डरस, तीनों स्वधान्नसम्पत्तियाँ भी सौम्य ही हैं। सूर्येन्दुसङ्गमरूपा दर्शात्मिका अमावास्या (पार्थिव अधोभागात्मक चान्द्रमहष्ट्या) सौम्या है, चन्द्रमा से पृथिवी पर्य्यन्त व्याप्त चान्द्ररश्मियाँ सौम्या हैं। भूपृष्ठ से सूर्य्यपर्य्यन्त एति-प्रेति भावरूपेण व्याप्त गायत्रीछन्द द्वारा चान्द्रलोकस्थ पितृसहों में, 'एति' व्यापार से, चान्द्रपितृसहों से आरम्भ कर सन्ततिगत महानात्मा के तन्य सहों में 'प्रेति' व्यापार से व्याप्त चान्द्ररश्मियाँ सौम्य हैं। इस प्रकार अमातिथि, चान्द्ररश्मि, सहांशानुगता चान्द्ररश्मि, तीनों की समष्टिरूप आतिवाहिक सम्पत्ति भी सौम्या है। फलतः प्रतियोगित, अनुयोगित, आतिवाहिकत., निवापत., चारों दृष्टियों से श्राद्धोपकरण सौम्य बन रहे हैं।

१ १—अपत्यसन्तानः सौम्य.
२—तस्येद मन सौम्यम्
३—मनोऽनुगता श्रद्धा सौम्या
} —इति-प्रतियोगित' सौम्यभावा ।

---

२ १ तण्डुलानि सौम्यानि
२—पिण्डा. सौम्या
३—चन्द्ररश्मिगतोऽन्नरस सौम्य
} —इति-निवापतः सौम्यभावा. ।

---

३ १—पितरः सौम्याः
२—आत्मधेयपिण्डाः सौम्याः
३—ऋतु सौम्या
} —इति-अनुयोगित. सौम्यभावा ।

	१—दर्शतिथि सौम्या	
४	२—चान्द्ररश्मय सौम्या	—इति—आतिवाहिक्त सौम्यभावा
	३—सहोऽनुगता रश्मय सौम्या	

प्रेतात्मतृप्तिप्रवर्त्तक श्राद्धकर्म्म—

जिस प्रकार आङ्गिरस आग्नेय भावों का तेजोमयी मानसी श्रद्धा के द्वारा आदान होता है, एवमेव इन चारों भार्गव सौम्य भावों का स्नेहमयी मानसी श्रद्धा के द्वारा पितरों में प्रदान हो जाता है। विद्या मिश्र वशदीक्षा से दीक्षित सच्छिष्य मनोगर्भिता बुद्धिदृष्टि से आग्नेय है, इस की मनोगर्भिता बुद्धि आग्नेयी है, मनोगर्भिता बुद्धिमें प्रतिष्ठित तेजोमयी श्रद्धा आग्नेयी है। तीनों की समष्टि प्रतियोगिनी आग्नेयी सम्पत् है। त्रयीविद्याराशि आग्नेयी है, तदभिन्न वेदशास्त्र आग्नेय है, वेदशास्त्राधारेण—उत्पन्न संस्कार आग्नेय है। तीनों की समष्टि निवापत आग्नेयी सम्पद् है। शुक्लद्वितीया तिथि आग्नेयी है, गुरू से शिष्य पर्य्यन्त—शिष्य से गुरुपर्य्यन्त व्याप्त बुद्धिसूत्र आग्नेय है, गुरु की तेजोमयी आग्नेयी गायत्री से सम्बद्ध बुद्धिरश्मियाँ आग्नेयी हैं। तीनों की समष्टि आतिवाहिक्त आग्नेयी सम्पत् है। प्रवृद्ध विज्ञानदृष्ट्या गुरू आग्नेय है, गुरुगत विद्यात्मक संस्कार आग्नेय है, वेदाध्ययनानुकूला पूर्वाह्णकालोपलक्षिता ऋतु आग्नेयी है। तीनों की समष्टि अनुयोगित आग्नेयी सम्पत् है। इन चारों आग्नेय परिग्रहों के प्रचय से मनोयोगद्वारा गुरुप्रदत्ता विद्या का जिस प्रकार शिष्य में आधान हो जाता है, तथैव पूर्वोक्त चारों सौम्य भावों के प्रचय से निष्पन्न सोऽन्तस्य पुत्र के श्रद्धामय मनोयोग से अवश्य ही प्रेतात्मतृप्ति का कारण बन जाता है।

श्राद्धकर्म्मभेदमीमांसा—

यह श्राद्धकर्म्म पार्वण, एकोद्दिष्ट, महालय, आदि भेद से विविध श्रेणियों में विभक्त है। प्रतिमास की पर्वात्मिका अमावास्या तिथि के अपराह्णकाल में पिता पितामह—प्रपितामह आदि के लिए होने वाला पर्वात्मक मासिक श्राद्ध 'पार्वणश्राद्ध' है+। प्रेतपितर की निधन वार्षिक तिथि में होने वाला श्राद्ध 'एकोद्दिष्ट श्राद्ध' है, जिसे कि वृद्धिनिमित्तकश्राद्ध भी कहा गया है*। महालयरूप सौम्य

+ "अमावस्या यत् क्रियते तत् पार्वणमुदाहृतम्।
क्रियते पर्वणि वा यत्तत् पार्वणमुदाहृतम्॥"
—भविष्यपुराण

* पूर्वाह्णे मातृकं श्राद्धमपराह्णे तु पैतृकम् (पार्वणम्)।
एकोद्दिष्टं तु मध्याह्णे प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् (काम्यमिदम्)॥"
— ब्रह्मपुराण

पितरों की आवासभूमिरूप चान्द्रमण्डल ही 'महालय' (महानात्मरूप पितरों का आलयस्थान) है। सौर आश्विनीयकृष्णपक्ष में (गजच्छायानुगत कालात्मक इन १५ दिनों में) महालयस्थ सौम्यपितर क्षीणकायरूप से तत्तद्वंशधरों के श्रद्धात्मक मन में (चान्द्रश्रद्धानाड़ी के द्वारा) प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस गजच्छाया से सम्बन्ध रखने वाला कन्यागत महालय श्राद्धपक्षीय श्राद्ध 'महालय' श्राद्ध है ×। वर्ष में १५ दिन के लिए चान्द्रलोकस्थ पितरप्राण गजच्छाया के द्वारा स्वस्वरूप से क्षीण रहते हैं। इस पक्ष में इन के लिए अवश्यमेव श्राद्धानुगमन अपेक्षित है। पञ्चाङ्गुलिस्वरूप हस्त नक्षत्र से भिन्न एक बाहु के आकार का पञ्च नक्षत्रात्मक हस्त नक्षत्र और है। इस का आकार हाथी की सूंड जैसा है। इसीलिए यह 'गज' भी कहलाया है। भाद्रपदशुक्ल त्रयोदशी से इस गजच्छाययोग का आरम्भ माना गया है ÷। इसी योग में श्रद्धासूत्र के मूलप्रभव 'श्रत्' तत्त्व का पूर्ण रूप से हमारे मनोराज्य में आधान होता है। कैसे ?, और क्यों ?, के समाधान के लिए निम्न लिखित आप्त प्रमाण ही शरणीकरणीय है—

> "सविता वा अकामयत—'श्रत्' मे देवा दधीरन् सविता स्याम्' इति। स एतं सवित्रे हस्ताय पुरोडाशं द्वादशकपालं निरवपत्—आशूनां व्रीहीणाम्। ततो वै तस्मै 'श्रत्' देवा अदधत, सविताऽभवत्। 'श्रत्' ह वा अस्मै मनुष्या दधते, सविता समानानां भवति, य एतेन हविषा यजते"।

श्राद्धकर्म्मानुगता—कालमीमांसा—

जिस दिन से उक्त गजच्छाया-लक्षण योग आरम्भ होता है, उस दिन से पितरप्राण (सौम्यप्राण) भूमण्डल की ओर आने लगता है। कार्त्तिक कृष्ण अमावास्या को ये पितर पराङ्मुख होते हैं। इस

× "येयं दीपान्विता राजन् ! ख्याता पञ्चदशी भुवि।
तस्यां दद्यान्नचेद्दत्तं पितृणां वै महालये॥"
—भविष्यपुराण

÷ "यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः।
याम्या तिथिर्भवेत् सा हि गजच्छाया प्रकीर्त्तिता॥
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां मघास्विन्दुः करे रविः।
यदा, तदा गजच्छाया श्राद्धे पुण्यैरवाप्यते॥
योगो मघात्रयोदश्यां कुञ्जरच्छायसंज्ञितः।
भवेन्मघायां संस्थे च शशिन्यर्के करे स्थितः॥
अमावास्यां गते सोमे छाया या प्राङ्मुखी भवेत्।
गजच्छाया तु सा प्रोक्ता तत्र श्राद्धं प्रकल्पयेत्॥"
—समहः

सौम्य पितृ-प्राण के विकास से पूरे आश्विनमास में, विशेषतः कन्याछाया-भोगकाल में आरासाविय दृष्टव्य होता है। सर्वत्र उल्का, नक्षत्रादि पात के दृश्य अतिशय रूप से उपलब्ध होते हैं। इन्हीं सब प्राकृतिक पितृ-स्थितियों के आधार पर इस कन्याराशिगत महालयश्राद्ध का विधान हुआ है। मरणानन्तर होने वाले षोडश श्राद्ध, प्रतिमास में होने वाला पार्वणश्राद्ध, निधनतिथि को होने वाला क्षयाहश्राद्ध, महालयश्राद्धपक्ष में होने वाला एकोद्दिष्ट श्राद्ध, आदि सब श्राद्ध कर्मों का एकमात्र तात्पर्य है—मरणानन्तर चन्द्रलोक में जाते हुए प्रेतात्मा के महत पिण्ड में बलाधान करते हुए उसे सुखपूर्वक गमनानुगत बनाना, एवं चन्द्रलोक में पहुँचे हुए सन्तान तिथि-समय-विशेषों में क्षीणपिण्ड बने हुए महत पिण्ड को तृप्त करते रहना। फल है—पितृतृप्ति, गोत्रवृद्धि, जैसा कि प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट होने वाला है। यही 'श्राद्ध' नामक तीसरा आनृण्य कर्म है जिस के आधार पर प्रथम-द्वितीय आनृण्यकर्म प्रतिष्ठित हैं।

गजच्छायोपलक्षित इस नक्षत्र मघा-पूर्वफल्गुनी-उत्तरफल्गुनी हस्त, चित्रा, स्वाती, इन ६ नक्षत्रों के साथ भी पितर प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। इन में भी मघानक्षत्र पितरप्राण का प्रधान प्रवर्त्तक माना गया है। इन सब परोक्ष विषयों के लिए आर्षपरम्परानुगता श्रुति ही हमारे लिए अन्यप्रमाणानपेक्ष स्वतः प्रमाण है। महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

१—उपहूताः पितरो ये मघासु मनोजवसः सुकृतः सुकृत्याः।
ते नो नक्षत्रे हवमागमिष्ठाः स्वधाभिर्यज्ञं प्रयतं जुषन्ताम्॥

२—ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा येऽमुं लोकं पितरः क्षियन्ति।
यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म मघासु यज्ञं सुकृतं जुषन्ताम्॥

३—पितरो वा अकामयन्त-पितृलोके ऋध्नुयामेति। त एतं पितृभ्यो मघाभ्यः पुरोडाशं षट्कपालं निरवपत॥ —तैत्तिरीयब्राह्मण

सर्वान्त में—

श्राद्धकर्म्म, और ब्राह्मणभोजन—

कुछ एक ऐसे कुतर्क शेष रह जाते हैं, जिनका समाधान करना सर्वथा अप्राकृत है। क्यों कि—जिन की ओर से इस वैज्ञानिक-वेदशास्त्रसिद्ध-श्राद्धकर्म के प्रति जैसे कुतर्क उपस्थित होते हैं, उन व्यक्तियों का, तथा उनके कुतर्कों का लोक-वेदोभयदृष्टि से उभयथा कुछ भी महत्त्व नहीं है। हमें तो आश्चर्य केवल यह देख-सुन कर होता है कि, अतीन्द्रियप्राणविद्या का आविष्कार करने वाले इस देश का ऐसा बौद्धिक-पतन कैसे, और क्यों होगया। जिस देशने पिण्ड में ब्रह्माण्ड के दर्शन किए, जिस देशने विश्वातीत परात्पर जैसे असीम तत्त्व का स्पर्श कर डाला, जिस देशने प्राण-समन्वयमूला यज्ञ-

विद्या के आधार पर 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' यह उद्घोष किया, उसी—देश की, उसी ऋषिसन्तति की कृपा से आज उसी देश का तत्त्ववाद इस प्रकार उपहासास्पद बन जायगा, यह कौन जानता था। महाश्चर्य उस वेदनिष्ठा पर, महा आश्चर्य उन वेदभक्तों की निष्ठा पर, जो वेदतत्त्ववाद से असंस्पृष्ट रहते हुए भी एकहेलया वैदिक कर्म्मों को अवैदिक कह-कर प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं।

वेदविद् ब्राह्मण के शरीर में सर्वदेवमूर्त्ति सान्तपन अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। जिस प्रकार-आहवनीयकुण्डसमिद्ध अग्नि सामिधेनी-मन्त्रप्रभाव से अलौकिक बनता हुआ द्युलोक-में हव्यवहन करने में समर्थ है, एवमेव ब्राह्मण का अग्नि भी इस कर्म्म मे पूर्ण समर्थ है। पुत्रद्वारा श्रद्धा से दत्त स्वधान्न ब्राह्मण के द्वारा पितृतृप्ति का अवश्यमेव कारण बनता है, इस अलौकिक रहस्य को किसी भी कुतर्क से आवृत नहीं किया जासकता, जबकि साक्षात् वेदमन्त्र इस का समर्थन कर रहे हैं। देखिए—

१—"इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥" (अथर्वसं० ४।३४।८)।

२—"न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥" (अथर्व० ५।१८।६)।

३—"इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥" (अथर्व ११।१।२८)।

४—"ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः॥" (अथर्व १०।१०।३३।)।

श्वान, काक, आदि भी श्राद्धकर्म्म में बलि के पात्र बनते हैं। परलोक जाते हुए पितरप्राण पर याम्य श्याव-शबल नामक श्वा-प्राणों का आक्रमण होता है। इन्हीं प्राणों की श्वानप्राणी में प्रधानता है। इस भूतात्मक श्वानतृप्ति से वह प्राणात्मक श्वान तृप्त होता हुआ पितर के लिए अहिंसक बन जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रौत स्मार्त्त प्रमाणों से प्रमाणित है।

१—अतिद्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।

२—यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा।
ताभ्यां राजन् परिधेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि। (अथर्व १८।२।११।१२)।

३—श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा विदीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ (अथर्व ८ । १ । ९)।

४—द्वौ श्वानौ श्याव-शबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यामन्नं प्रयच्छामि स्यातावेतावहिंसकौ ॥ (स्मृतिः)

पितृपिण्डमूर्त्ति चान्द्रसोमात्मक महानात्मा, सौम्य पितरप्राण, सौम्या श्रद्धा, सोममय स्वधा अन्न, इत्यादि सम्पत्तियों का स्वयं वेद में बड़े आटोप के साथ प्रतिपादन हुआ है। प्रमाणनिष्ठा के नाते उनमें से कुछ एक वचन यहाँ भी उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

महान्—१—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धियो वाजाय हिन्वतु" (ऋक् संहिता १ । २७ । ११)।

२—"क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः ।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्
—ऋक्सं० १ । ६ । ५ । ४ ।

३—"नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महाँश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभिनो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥" (ऋक्सं० ३ । ५५ । ६)

४—"पवमान स्वर्विदो जायमानोऽभवो महान् ।
इन्दो विश्वाँ अभीदसि" (ऋक्सं० ६ । ५६ । ५)।

५—"महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द् ओजिष्ठः ।
युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ" (ऋक्सं० ६ । ६६ १६)।

६—"भद्रा वस्त्रा समन्यावसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ॥"
(ऋक्सं० ६ । ९७ । २ ।)।

७—"पवस्व सोम महान् समुद्रः पिता ।
देवानां विश्वाभि धाम" (ऋक् सं० १ । १०१ । ४१)।

८—"तद्ध स प्राणोऽभवत्-महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि" ॥ (शत० ५-४-१-२१)।

——×——

पितर —१—"स्वधया परिहिता, श्रद्धया पर्यूढा, दीक्षया गुप्ता,
यज्ञे प्रतिष्ठिता, लोको निधनम्" (अथर्व १२।५।३)।

२—"चन्द्रमाः—नक्षत्राणि—पितरः—श्मशानिधनम्" (जै० उ० ब्रा० १।१६।२।)

३—"प्रजापतिर्निधनम्पितृभ्यः प्रायच्छन्" (जै० उ० ब्रा० १।१३।२)

४—"अमावास्या निधनम्" (षड्विं० ब्रा० ३।१।)।

५—"मा उदकामन्, मा पितॄनागच्छन्, तां पितरोऽघ्नन, मा मासि समभवन्। तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति। प्र पितृयाणं पन्थां जानाति, य एवं वेद" (अथर्व ८।३।४)।

६—"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः, पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ (ऋक्० १०।१५।१)।

७—"ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यॉं उ च प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥(ऋक् म०१०।१५।१३)।

८—"ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व" ॥ (ऋक्म० १०।१५।१४)।

९—"आसीनो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ (ऋक्स० १०।१५।७)।

१०—"यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ" ॥ (ऋक्म० १०।१६।११)।

११—"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्" (यजु स० २।३३।)

१२—"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय। नमो- वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वः। गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त" (यजु म०२।३२)।

—x—

त एते–पितृनिगमा भवन्ति, पितृप्राणस्वरूपपरिचायकाः—

१—"मनुष्या वै जागरितं, पितरः सुप्तम्" (शत० १२।९।४।२)।

२—"तचमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिष्मावन्ति" (शत० १३।८।२।७)।

३—"तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः" (शत० २।४।२।२१)।

४—"अन्तर्हितो हि पितृलोको, मनुष्यलोकात्" (तै० ब्रा० १।३।१०।३)।

५—"अथ इव हि पितृलोकः" (शत० १२।७।३।१०)।

६—"पितृणां वा एषा दिक्, यत्–दक्षिणा" (ष० ब्रा० ३।१))।

७—"दक्षिणसंस्थो वै पितृयज्ञः" (कौ० ब्रा० ५।७)।

८—"अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति, पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति" (शत०२।१।३।३)

९—"मासि पितृभ्यः क्रियते" (तै० ब्रा० १।४।९।१)।

१०—"तृतीये वा इतो लोके पितरः" (तै० ब्रा० १।३।१०।५))।

११—"इन्द्व इव हि पितरः, मन इव" (ता० ब्रा० ६।९।१९–२०))।

१२—"ओषधिलोको वै पितरः" (शत० १३।८।१।२०)।

१३—"शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः" (शत० २।१।३।१)।

१४—"क्षत्रं वै यमः, विशः पितरः" (शत० ७।१।१।४))।

१५—"अन्तभाजो वै पितरः" (कौ० ब्रा० १६।८)।

१६—"पितृणां मघाः" (तै० ब्रा० १।५।१।८)।

१७—"गृहाणां पितर ईशते" (शत० २।४।२।२४)।

१८—"हरणभागा हि पितरः" (तै० ब्रा० १।३।१०।७)।

१९—"एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोके आभक्ता भवन्ति, यदेषां प्रजा भवति"
(शत० १३।८।१।६)।

२०—"यत् पीतत्वं, तत् पितृणाम्" (ष० ब्रा० ४।१))।

२१—"स्वधा वै पितृणामन्नम्" (तै०ब्रा० १।६।९।५)।

२२—"पितरो नमस्याः" (शत० १।५।२।२))।

—×—

निष्कर्षतः—१—"ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः" (अथर्व० १०।७।११)

२—"शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः" (अथर्व ४।३४।७) *

३—"यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा" (अथर्व ५। ७। ५)—इत्यादि मन्त्र-

वर्णन के अनुसार ऋत-श्रद्धा-आपोमय परमेष्ठीब्रह्म से सम्बद्ध,—

१—"सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ (अथर्व १८। १। ४२)।

के अनुसार पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक् से युक्त-निधन सामात्मक चन्द्रमा के ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित पितरों को श्रद्धासूत्रद्वारा—

१—"आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः" (अथर्व १८।१।४५)।

के अनुसार पिण्डसोम से तृप्त करना ही श्राद्धकर्म्म है। मनोमयी भार्गव श्रद्धा ही क्योंकि इस कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है, अतएव यह तृतीय आनृण्य कर्म्म 'श्रद्धा' नाम से व्यवहृत हुआ है। श्रद्धातत्त्व की इसी मूलाधारता का विश्लेषण करते हुए स्मार्त्त आचार्यों ने कहा है—

१—श्राद्धे श्रद्धा यतो मूलं तेन श्राद्धं प्रकीर्त्तितम्।
तस्मिन् प्रक्रियमाणे तु न किञ्चिद् व्यर्थतां व्रजेत्॥ (नागरखण्डे)।

२—देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्यात् श्रद्धयान्वितम्॥ (बृहस्पतिः)।

३—यद्ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत् पितॄणाञ्च भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥ (मनु)

४—श्रद्धा पवित्रं सर्वेषां पवित्राणां प्रकीर्त्तितम्।
श्रद्धैव धर्म्मं परमं पावनञ्चैव मर्त्यदा॥

---

* "देवा पितर, पितरो देवा" (अथर्व० ६।१।१२३।३)

५–श्रद्धाभूतानि भूतानि पवित्राणि सदैव तु ।।
श्रद्धा तु माता भूतानां श्रद्धा श्राद्धेषु शस्यते ।। (नन्दिपुराणम्)

६–विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तद्धि रक्षांसि भुञ्जते ।। (यम)

७–श्रद्धया शोध्यते बुद्धिः श्रद्धया शोध्यते मनः ।
श्रद्धया प्राप्यते ब्रह्म श्रद्धा पापविमोचनी ।
तस्मादश्रद्दधानस्य हविर्नाश्नन्ति देवताः ।। (बौधायन)

८–श्रद्धान्वितेन मनसा यद्यत् किञ्चित् समाचरेत् ।
तत्तद् बहुफलं तस्य जायते लोकयोर्द्वयोः ।।

९–श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।
देवश्रद्धानरा देवाः कथिता देवभाजिनः ।।

१०–पितृश्रद्धाश्च पितरो दैत्यश्रद्धा दितेः सुताः ।
पापश्रद्धास्तथा पापा विज्ञेया नरकङ्गमाः ।।

११–तस्माच्छ्रद्धां समास्थाय धर्म्मं धर्म्मी समाचरेत् ।
पुण्यं बहुफलं तस्य श्रद्धामास्थाय यत् कृतम् ।। (विष्णुधर्म्मोत्तर)

१२–प्रेतान् पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः ।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकल्पितम् ।। (श्राद्धकल्प)

१३–संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्मात्–श्राद्धं तेन निगद्यते ।। (बृहस्पतिः) ।

इति–श्राद्धकर्म्मात्मकं तृतीयमानृण्यं कर्म्म

—३—

—x—

४—अथ गयाश्राद्धात्मकं चतुर्थमानृण्यं कर्म्म—

गयाश्राद्धानुगत आनृण्यविज्ञानोपक्रम—

प्रेतोत्पादनकर्म्म से स्वमहानात्मानुगत ४६ पितृऋणकलाओं की २५ कलाओं से आनृण्य प्राप्त हुआ, सपिण्डीकरण से शेष २१ कलाओं से आनृण्य प्राप्त हुआ, एवं पार्वणादि श्राद्धों से क्षीणपिण्ड-तृप्ति द्वारा आनृण्य प्राप्त हुआ। इस प्रकार चान्द्रलोकस्थ महानात्मा का जो ऋण पुत्रादि पर था, इन तीन कर्म्मों से पुत्रादि सर्वथा अनृणी बन गए। अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक है कि, स्थानविशेष (गया-गयाजी) में जा कर पितृपक्ष में, अथवा तो उपलब्ध अन्य अनुकूल मुहूर्त्त में जो 'गयाश्राद्ध' नामक एक कर्म्मविशेष धर्म्मशास्त्रों में विहित है, उस का किस आत्ममुक्ति से सम्बन्ध है ?, प्रकृत परिच्छेद इस प्रश्नसमाधि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

खण्डात्माओं का यथास्थान विलयन—

स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र महानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, इन्द्रियवर्ग, आदि की समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है। 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति-(गच्छति) सम्परिष्वक्तः (भूतसूक्ष्मैः) प्रश्ननिरूपणाभ्याम्'' (व्याससू० ३।१।१) के अनुसार भूतसूक्ष्मों से अङ्गुष्ठ-मात्र आतिवाहिक शरीर धारण कर पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर से जब भूतात्मा उत्क्रान्त होता है, तो अव्यक्तादि कलाएँ स्व-स्वप्रभव स्थानों में लीन हो जाती हैं। अव्यक्तांश स्वयम्भू में अर्पित हो जाता है, यज्ञांश परमेष्ठी में विलीन हो जाता है, विज्ञानात्मा परज्योति (सूर्य्यज्योति) में उपसङ्गत हो जाता है, महानात्मा पूर्वकथनानुसार क्रम से चन्द्रोर्ध्वभाग में चला जाता है, वागिन्द्रिय त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव अग्नि में, प्राणेन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य वायु में, चक्षुरिन्द्रिय एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदित्य में, सङ्कल्पविकल्पात्मक भास्वरसोमात्मक इन्द्रियमन त्रिणव-स्तोमावच्छिन्न भास्वरसोमात्मक चान्द्रतेज में, श्रोत्रेन्द्रिय त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न दिक्सोम में अर्पित हो जाते हैं। वायव्य हंसात्मा (जो कि वस्तोत्पत्ति-सहकाल में छायापुरुषरूप से शरीर में प्रविष्ट होता है) अपने वायुधरातल में चला जाता है। रह जाता है एकाकी भूतात्मा, जिसे कर्म्मभोगार्थ लोकान्तर में शुभा-शुभकर्म्मभोग के लिए चला जाना है, जैसा कि आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। कर्म्मभोक्ता, किंवा शुभाशुभफलभोक्ता भूतात्मा की इसी अवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

> "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य-अग्निं (प्रति) वागप्येति, वातं प्राणः,
> चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरं, आकाशमात्मा
> (अव्यक्तात्मा), ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः, अप्सु लोहितं
> च रेतश्च निधीयते। क्वायं तदा पुरुषो भवति" ?, इति। आहर सोम्य

हस्तं, आर्त्तभागाऽऽगामैवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते । तौ ह यदूचतुः–कर्म्म हैव तदूचतुः । यत् प्रशशंसतुः,–कर्म्म हैव तत् प्रशशंसतुः–पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा-भवति, पापः पापेन–इति । ततो ह जारत्कारव–आर्त्तभाग उपरराम"।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ३।२।१३ ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौ० ब्रा० उप० १।२।) के अनुसार चन्द्रलोक में जाते हुए सौम्य सहोमूर्त्ति महानात्मा के साथ एक बार कर्म्मात्मा को भी अवश्य ही चन्द्रलोक में जाना पडता है, चाहे वह पुण्यातिशय से युक्त हो, अथवा तो पापातिशय से । दोनों के चन्द्रलोक मे (१३ मासात्मक एक चान्द्र सम्वत्सरकाल में) पहुचने के अनन्तर महानात्मा तो चन्द्रमा में ही रह जाता है, एव आतिवाहिक शरीरावच्छिन्न कर्म्मात्मा स्वकर्म्मानुसार उत्तर–दक्षिण, दोनों अयनों में से किसी एक मार्ग का (कर्म्म भोग के लिए) आश्रय ले लेता है । चन्द्रमा ही कर्म्मगति का विभाजक बनता है, अतएव इसे 'द्वार' कहना अन्वर्थ बनता है ।

'गया' प्राणस्वरूपविज्ञान—

'असङ्गोऽह्ययं पुरुषः, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति' के अनुसार सौर विज्ञानात्मा सर्वथा असङ्ग है । मानसग्रन्थिविमोक के अव्यवहितोत्तरक्षण में यह एक निमेषमात्र में सौरविज्ञानघन में विलीन हो जाता है । इसके सम्बन्ध में प्रेतात्मा के पुत्रादि के लिए कोई कर्त्तव्यकर्म्म शेष नहीं रह जाता । चन्द्रलोकस्थ महानात्मा से आनृण्य प्राप्त करने के लिए, तथा उसे बन्धन विमुक्त करने के लिए प्रेतोत्पादन–सपिण्डीकरण, तथा श्राद्ध करना पडता है । इस कर्म्मत्रयी से चान्द्र महानात्मा मुक्त हो जाता है । अब शेष रह जाता है–कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, जिसे कर्म्मभोग–सामर्थ्य के लिए कुछ एक नवीन साधन जुटाने पडते हैं ।

भोगायतन, भोगसाधन, आदि के विना भोक्तात्मा कर्म्मभोग में सर्वथा असमर्थ है । शरीर भोगायतन है । स्थूलशरीररूप भोगायतन–'पृथिवीं शरीरम्'–'भस्मान्तं शरीरम्' इत्यादि के अनुसार यहीं भस्मीभूत हो जाता है । इस क्षतिपूर्ति के लिए इसे अपूर्व भूतसूक्ष्मों से अपूर्व प्रेतशरीर धारण करना पडता है, जोकि भूतसूक्ष्मात्मक प्रेतशरीर–'आतिवाहिकशरीर' नाम से भी व्यवहृत हुआ है । इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञान (इन्द्रियसञ्चालक मन), विज्ञान (प्रज्ञानसञ्चालिका बुद्धि), ये भोगसाधन हैं । महानात्मा चित्–प्रतिष्ठारूप होने से कर्म्मात्मा की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार जब तक शरीर, इन्द्रियवर्ग, मन, बुद्धि महान्, इन पाँचों सम्पत्तियों का वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा को सहयोग प्राप्त नहीं हो

जाता, तब तक यह भोग करने में सर्वथा असमर्थ है। उधर पूर्वोक्त बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार स्थूल शरीर के निधन के साथ साथ ही ये सम्पूर्ण साधन स्व-स्वप्रभवों में विलीन हो जाते हैं। इसे भोगानुगत बनाने के लिए ही अपूर्व भूतसूक्ष्मरूप सूक्ष्मशरीर का, अपूर्व सौरतेनो द्वारा विज्ञान (चेतन-बुद्धि) का, अपूर्व चान्द्र सोमद्वारा प्रज्ञान का, एवं चान्द्र पितृसोमद्वारा अपूर्व महान् का, इन्द्रिय भागों का आगमन और होता है। इस प्रकार आगन्तुक महान, चेतन, मन, इन्द्रिय, शरीर, इन पाँचों से युक्त हो कर ही यह भूतात्मा भोक्तात्मा रूप में परिणत होता है। भूतसम्पृक्त महान्-चेतन दोनों इसे व्याप्त कर लेते हैं। आत्मा की प्राज्ञकला के आकर्षण से प्रज्ञानमन, तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार निधनानन्तर शुद्ध स्वर्णों के लिए, किंवा तनुकाल ही कर्म्मात्मा अन्य महान् चेतन प्रज्ञान इन्द्रिय, इन चार भोगसाधनों से, तथा भूतसूक्ष्मात्मक भोगायतन से युक्त होता हुआ 'भोक्तात्मा' बन जाता है। भोक्तात्मा के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति-स्मृति ने कहा है—

१—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
"आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्तं 'भोक्ते'त्याहुर्मनीषिणः ॥

—कठोपनिषत् १।३।३,४।

२—"तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः"

—मनुस्मृति १२।१४।

मन, इन्द्रिय, बुद्धि, ये तीनों भोगसाधन, तथा भूतसूक्ष्मात्मक भोगायतन, ये चारों विवर्त्त एकमात्र चान्द्रसमूर्त्ति आगन्तुक महानात्मा पर अवलम्बित हैं। आगन्तुक यही अपूर्व महत्-प्राण 'गयाः' नाम से व्यवहृत हुआ है। यदि कर्म्मात्मा केवल वैश्वानर-तैजस-मूर्त्ति ही होता, तो अन्त सज्ञ वृक्षादि मूलजीवों की भाँति स्थूलप्रपञ्चोपशमानन्तर यह भी कर्म्मबन्धन का अनुगामी न बनता। परन्तु इस के स्वरूप में 'प्राज्ञ' भाग का भी समावेश है। प्राज्ञ में प्रज्ञा-प्राण, ये दो तत्त्व हैं। प्रज्ञाभाग सौम्य है। इसी के आकर्षण से आगन्तुक महान्-प्राण का इस के साथ ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। महान प्राण के आते ही चान्द्रमन-सौरीबुद्धि-इन्द्रियवर्ग-भूतसूक्ष्मों का औपपातिक रूप से आगमन हो जाता है। इस प्रकार गयप्राणात्मक इस आगन्तुक महान के अनुग्रह से ही भूतात्मा इतर भोगसाधन, एवं भोगायतन से युक्त होता हुआ भोक्तात्मा बन रहा है, यही इसके कर्म्मबन्धनात्मक कर्म्मभोग का बीज है। जिस प्रकार पुत्रादि पूर्वोक्त प्रजोत्पादनादि तीन कर्म्मों से प्रेत चान्द्र महानात्मा की मुक्ति के कारण बनते हैं, तथैव क्या पुत्रादि इस कर्म्मात्मा को भी कर्म्मबन्धन से विमुक्त कर सकते हैं?, यह प्रश्न है।

शुभ-अशुभ-जैसे कर्म्मसंस्कार इस कर्म्मात्मा में प्रतिष्ठित हैं, उन का परिणाम कर्म्मात्मा को अवश्य भोगना पड़ेगा। **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि'** के अनुसार कर्म्मात्मत्व का पर्व बनने वाला कर्म्मात्मा ही अपने शुभाशुभ कर्म्मों का उत्तरदायी है। पुत्रादि कर्म्मसम्बन्धेन स्वप्रेत कर्म्मात्मा श्रों का कोई अपकार-उपकार नहीं कर सकते। हाँ, एक उपाय अवश्य है। यदि किसी प्रक्रियाविशेष से पुत्रादि इस आगन्तुक महान् प्राण के बन्धन से कर्म्मात्मा को मुक्त कर दें, तो अवश्य ही कर्म्मात्मा मुक्त हो सकता है। महान-बन्धन के विच्छेद से इतर सब भोगसाधन-भोगायतन विलीन हो जायँगे, विशुद्ध आत्मा परज्योति में लीन हो जायगा।

सञ्चित कर्म्म भस्मीभूत हो जायँगे प्रारब्धकर्म्म भोगारम्भद्वारा तत्क्षण भुक्त हो जायँगे फलतः कर्म्मात्मा मुक्त हो जायगा। आगन्तुक महान पुत्रगत महान का सजातीय है। जिस श्रद्धासूत्रद्वारा पुत्र चान्द्रमहान की मुक्ति का कारण बनता है, उसी श्रद्धासूत्र के द्वारा तत् सजातीय इस आगन्तुक महान को भी पिण्डदान से पूर्ण बना कर इस से कर्म्मात्मा को पृथक् कर सकता है। पिण्डदानादिलक्षण जिस वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से गयाप्राणात्मक इस आगन्तुक महान के बन्धन से कर्म्मात्मा को पृथक् किया जाता है, वही प्रक्रिया 'गयाश्राद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। आगन्तुक महान का चान्द्रप्राण क्योंकि 'गया' है, यह श्राद्धकर्म्म क्योंकि श्रद्धा के द्वारा इसी के लिए किया जाता है, अतएव यह कर्म्म 'गयाश्राद्ध' कहलाया है। पिण्डदानादि लक्षण गयाश्राद्ध के अतिरिक्त गायत्री (पितृगायत्री) में भी इस बन्धन विमोक का धर्म्म विद्यमान है। अतएव श्राद्ध में गायत्री जप भी विहित है। आगन्तुक महान् के प्रवर्त्तक होने से, इसी अपेक्षा से चन्द्रमा 'गय' कहलाया है। गयात्मक यही आगन्तुक चान्द्रसोम महानात्मरूप से कर्म्मात्मा की प्रतिष्ठा बनता हुआ इस की तत्तल्लोकगतियों का, शुभाशुभ कर्मगति का कारण बनता है। इसी गति भाव से यह आगन्तुक सौम्य महान् 'गय' कहलाया है, यही गय का गयत्व है, यही गय गयाश्राद्ध की मूलोपनिषत् है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—"क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने वाजी न कृत्व्यः।
परिज्मेव स्वधा गयोऽत्यो न ह्वार्यः शिशुः॥" (ऋक् ६।२।८)।

२—"एना मन्दानो जहि शूर शत्रूञ्जामिमजामिं मघवन्नमित्रान् ।" ...

३—"आ पवमान नो भरार्यो अदाशुषो गयम्।
कृधि प्रजावतीरिषः" (ऋक् ९।२३।३)।

४—"आ नः सोम पवमानः किरा वस्विन्दो भव मघवा राधसो महः।
शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना मा नो गयमारे अस्मत् परासिचः॥"
(ऋक् ९।८१।३)।

५—"गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव" (ऋक्० १।९१।१२)।

६—"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्॥" (ऋक्० १।९१।१९)।

उक्त ऋङ्मन्त्र सोम को, किंवा सौम्य चान्द्रप्राण को विस्पष्ट शब्दों में 'गय' गयस्फान, आदि नामों से व्यवहृत करते हुए आगन्तुक चान्द्र महान् का गयत्व प्रमाणित कर रहे हैं। मन्त्रश्रुति के अतिरिक्त ब्राह्मणश्रुति ने भी चन्द्रमा के इसी गयत्व का समर्थन करते हुए इसे लोकगति की प्रतिष्ठा बतलाया है। निधनान्तर चन्द्रलोक में जाते हुए महानात्मा के साथ कर्म्मात्मा को एक बार चन्द्रलोक में क्यों जाना पड़ता है ?, इस प्रश्न की उपनिषत् गयाप्राणात्मक यही आगन्तुक चान्द्र महान् है। इसके साथ उस महान् का सजातीयाकर्षण है। इस आगन्तुक महान् से कर्म्मात्मा बद्ध है। अतएव इसे वहां जाना ही पड़ता है। वहाँ से यही गयमहान् इसे लोकान्तर में ले जाता है। शुभ-दिव्यकर्म्मातिशय के प्रभाव से यही चान्द्रमहान् स्वगत निधनात्मक स्वरसामाकर्षण से कर्म्मात्मा के दिव्य सौरगति (उत्तरायणानुगत देवस्वर्गगति) का अनुगामी बनाता है, यही अपने प्रातिस्विक सौम्यगयप्राणाकर्षण से इसे सौम्यपितृलोकों का अनुगामी बनता है। इसी चान्द्र आगन्तुक महान् के गयत्व का, तथा स्वरत्व का समर्थन करती हुई गोपथश्रुति कहती है—

१—"अथाग्नेे पवमाने वाचयति–"स्वरोऽसि, गयोऽसि, जगच्छन्दा, अनुत्वारभे, स्वस्ति मा सम्पारय" इति। स यदाह–स्वरोऽसि इति–सोमं वा एतदाह। एष ह सूर्य्यो भूत्वाऽमुष्मिंल्लोके स्वरति। तद्यत्–स्वरति, तस्मात् स्वरः, तत् स्वरस्य स्वरत्वम्"।

२—"स यदाह–गयोऽसि, इति–सोमं वा एतदाह। एष ह वै चन्द्रमा (महान्) भूत्वा सर्वांल्लोकान् गच्छति (गमयति च कर्म्मात्मानं)। तद् यद् गच्छति, तस्माद्गयः, तद् गयस्य गयत्वम्"

—गो० ब्रा० पू० ५।१४।

३—"प्राणा वै गयाः" (महत्प्राणा वै गयाः)–(शत० १४।८।१५।७)।

४—"सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयाः। तत् प्राणांस्तत्रे। तद् यद्–गयांस्तत्रे, तस्माद् गायत्री नाम" (शत० १४।८।१५।७)।

गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा—

निष्कर्ष यही हुआ कि, गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा के (जिसका आगमन प्रकृत सिद्ध है) सम्बन्ध से कर्म्मबन्धन में बद्ध कर्म्मात्मा को गया-बन्धन से पृथक कर परम्परया कर्म्मात्मा को मुक्त करने के लिए विहित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म ही गयाप्राणों के सम्बन्ध से 'गयाश्राद्ध' कहलाया है। गयाश्राद्ध का लक्ष्य आगन्तुक महान् है। अतएव यह महान् भी तत कर्म्मात्मवंशजों पर परम्परया अपना स्वत्त्व रखता है, यही स्वत्त्व इनका ऋण है। इस ऋण का आनृण्य एकमात्र गयाश्राद्ध पर ही अवलम्बित है। इस दृष्टिकोण को विशेषरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए कि, गयाश्राद्ध केवल कर्म्मात्मानुगत-तत्-सम्बद्ध आगन्तुक महत्पितरों से आनृण्यप्राप्ति के लिए होता ही है। इससे स्वयं यह महानात्मा भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि कर्म्मात्मपार्थक्य से इसका भी भूतादि बन्धन से पृथक् हो जाना स्वाभाविक है। साथ ही महान् का सम्बन्धविच्छेद होते ही तत्सत्तानुगत भोगायतन-भोगसाधनों के विलीन हो जाने से कर्म्मात्मा भी बन्धन विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार गयाश्राद्धकर्त्ता आगन्तुक महत्पितरों से तो आनृण्य प्राप्त करता ही है, महन्मुक्ति का कारण तो बनता ही है, साथ ही परम्परया कर्म्मात्मबन्धन विमोक का भी कारण बन जाता है। अतएव पार्वणश्राद्धादि नामक नित्यकाम्यश्राद्ध की अपेक्षा गयाश्राद्ध का विशेष माहात्म्य माना गया है। गयाश्राद्ध के बिना कर्म्मात्मानुगत पितर उसी श्रद्धासूत्र के द्वारा तद्वंशधरों के महत्-पिण्डों पर आघात किया करते हैं। फलत. पिण्डमहान् की भाँति (गयाश्राद्धाभाव में) ये पितर भी सन्तति के निरोधक माने गए हैं। अतएव गयाश्राद्ध भी गोत्रवृद्धि का कारण माना गया है।

गयाप्राणात्मक आत्मा का क्लान्तिभाव—

अतृप्तदशा में, साथ ही तदनुगत कर्म्मात्मा के आत्यन्तिकरूप से पापातिशय से युक्त रहने से यह आगन्तुक पितर हीन-योनियों में प्रविष्ट रहते हुए क्लान्त बने रहते हैं। सर्पयोनि विशेषत. इनके लिए उपयुक्त बनती है। जब तक गयाश्राद्ध नहीं हो जाता, तब तक इन्हें ऐसी हीन योनियों में ही रहना पड़ता है। स्वप्न द्वारा ये योनियाँ कातरभाव से वंशधरों से श्राद्धान्न की लालसा व्यक्त किया करती हैं। न मिलने पर शान्तस्वभाव वाली योनियाँ तो वंशधरों का साक्षात्रूप से कोई अनिष्ट नहीं करतीं, किन्तु क्रूरस्वभावा योनियाँ समय समय पर उद्बोधन के नाते कष्ट पहुँचाती रहती हैं। यही कष्ट 'पितरदोष' किंवा 'पितृदोष' नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष की वे अशिक्षित कुलदेवियाँ, जिन्हें अशिक्षित कह कर ज्ञानाभिमानी पुरुष इनका उपहास किया करता है, पितृदोषनिवृत्ति के लिए चतुर्दशी की रात्रि में रात्रि-जागरण द्वारा पितृप्रसाद से कुलरक्षा किया करती हैं। सचमुच आज के इस अश्रद्धायुग में इन देवियों की अविच्छिन्ना श्रद्धाधारा के अनन्य अनुग्रह से ही हमारी आर्षसंस्कृति का शेष सुरक्षित है। इन देवियों के महासङ्गीतों में हमें वे तत्त्व उपलब्ध हैं, जिनकी मूलधारा साक्षात्रूपेण वेदशास्त्र से प्रवाहित है। दिग्दर्शन कराने का लोभ संवरण करना आर्षसंस्कृतिसंरक्षिका महामङ्गलपरायणा गृहदेवियों की आम्नायसिद्धा (वेदसिद्धा) मान्यता के साथ अन्याय ही माना जायगा।

मुग्ध प्रेतपितरों की भोग्यसामग्री—

पितरप्राण पारमेष्ठ्य हैं, यह कई बार विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया जा चुका है। पारमेष्ठ्यमण्डल में सोमरक्षक गन्धर्वप्राण अवस्थित हैं। यहीं अप्सु-सरणशील अप्सरा-प्राण का साम्राज्य है। गन्ध-रूप, दोनों इन्हीं गन्धर्वाप्सरा प्राणों से सम्बद्ध हैं, जैसा कि 'गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' (शत ६।४।१४) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। गन्ध का गन्धर्व से सम्बन्ध है, यह पारमेष्ठ्य पितृसोम का अनुगामी है तदभिन्न है। अतएव 'सोमो-गन्धाय' (तां० ब्रा० १।३।६।) इत्यादि रूप से दोनों का अभिन्न सम्बन्ध मान लिया गया है। गन्ध का पितृप्राण के साथ विशेष आकर्षण क्यों है?, सुगन्धिद्रव्यानुगामी सौम्य बालकों पर पितृदोप क्यों विशेषत आक्रमण करता है?, इस की यही उपनिषत् है। इसी आधार पर इन अशिक्षित देवियां के पावन मुख से इनकी प्रान्तीय लोकभाषा में यह किंवदन्ती व्यक्त होती रहती है कि—"अरे लाल निरात अतर फुलेल लगार कोड फिरतो फिरे छे। देख क्यूं हो गयो, तो लेणा से देणा पड जायला" ("सुगन्धिद्रव्या से युक्त होकर रात्रि में इतस्तत कहाँ भटक रहा है। यदि कुद्ध (पितृदोष) हो गया, तो हमें बहुत बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा")—सूक्ति रात्रिव्याप्त चान्द्र गन्धर्व-अप्सरा-पितृप्राण की महद्व्याप्ति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

सौम्य पितर प्राण की इसी गन्धर्वप्रियता को सूचित करने के लिए इन के महामङ्गीत (लोकगीत) में सर्व प्रथम गन्ध द्रव्य से ही पितरों की स्तुति आरम्भ होती है। बालक, तथा स्त्री, इन दो पर ही पितर प्राण का विशेष आक्रमण होता है। कारण स्पष्ट है। १६ वर्ष पर्यन्त चान्द्रकला की अपूर्णता से बालक सोमप्रधान रहता है, एवं स्त्रीसृष्टि तो प्रकृत्या सौम्या है। अहर्गत सौर अग्नि जहाँ पुरुषसृष्टि का आरम्भक बनता है, वहाँ रात्रिगत चान्द्रसोम स्त्रीसृष्टि का अधिष्ठाता बनता है। गन्ध सम्बन्ध से, सौम्य पितर गन्धर्वजाति में प्रविष्ट हैं 'योषित्कामा व गन्धर्वाः' (शत० ६ ? ४ ३) 'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः' (ऐ० ब्रा० १।२७) इत्यादि के अनुसार स्त्रीगत सौम्य प्राण की ओर इन का विशेष आकर्षण है, जैसा कि—'पतञ्चलस्य काप्यस्य आसीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता' (शत० १४। ६।३।१) इत्यादि ब्राह्मण आख्यान द्वारा विस्तार से प्रतिपादित है। अपने इसी सौम्य भाव से इनके लोकगीतों में पितर प्राण 'पिंचर धाला भोला (सौम्या)' रूप से उपवर्णित है। पारमेष्ठ्य गोतत्त्व ही गौपशु का उपादान है, इन में भी विशेषत श्वेत धूम्रा गौ में पारमेष्ठ्य पितृतत्त्व का विशेषत प्राधान्य है। यही अथर्ववेद में उपवर्णिता 'वशा' नाम की गौ है, जिस के साथ पितरप्राण का सजातीय सम्बन्ध है। इसी गोदुग्ध से अमृत द्वारा (क्षीरान्न) रात्रिजागरण में पितरों को तृप्त किया जाता है। पितरों का मन से सम्बन्ध है, मानस श्रद्धासूत्र ही इन का गमनागमन द्वार है। अतएव—'था जीम्यां से म्हारो मन भर जाय' सूक्ति विनिगत है। जलाञ्जलि सम्बन्ध से 'भर' का उल्लेख

६। इस प्रकार इन कुलदेवियों के महासङ्गीतमय (लोकगीतमय) कुलाचार की आम्नाय (परम्परा) ने ही आगन्तुक भीम गृह्य पितरों के पितृदोषात्मक आक्रमण से हमारे पारिवारिक स्वस्तिभाव का संरक्षण कर रक्खा है। प्रसङ्गोपात्त दृष्टि डालिए इस प्रामङ्गिक महासङ्गीत पर, महासङ्गीत के शब्द शब्द पर, प्रत्येक अक्षर पर। धन्य बन जायँगे आप इस प्रासङ्गिक महासङ्गीत के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

कुलस्त्रियों के प्रासङ्गिक महासङ्गीत की पावनस्मृति—

श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणानुमोदित प्राकृतिक तत्त्वव्याख्यान का सम्बन्ध माना गया है-निगम-संस्कारानुगता विद्याबुद्धि के साथ। अब तक 'आनृण्यविज्ञानोपनिषत्' के सम्बन्ध में प्रजोत्पादनात्मक आनृण्यकर्म्म, सपिण्डीकरणात्मक आनृण्यकर्म्म, श्राद्धात्मक आनृण्यकर्म्म, एवं गयाश्राद्धात्मक आनृण्य-कर्म्म, जिन इन चार प्रकार के आनृण्यकर्म्मों का स्वरूप परिचय श्रद्धालु-पाठकों के सम्मुख विद्या-बुद्धिसमन्वित जिस नैगमिक-व्याख्या के माध्यम से समुपस्थित हुआ है, उन्हीं के सम्मुख सर्वथा शरीरानुबन्धी मनोराज्य से समतुलित प्रासङ्गिक उस आम्नायसिद्ध महासङ्गीत के सम्बन्ध में, उस की पावनस्मृति के सम्बन्ध में निवेदन करने का लोभसंवरण करना महासङ्गीत-श्रवण-मनन-निदिध्या-सन से सर्वात्मना प्रभावित इस गृहमेधी के मनस्तन्त्र के लिए कठिन ही प्रमाणित हो रहा है, जिसे महद्भाग्य से गृहस्थानुबन्धी स्मार्त्त मङ्गलाचार-मङ्गलमहोत्सवों (पुत्रजनन-पुत्रविवाह-कन्याविवाह-अमाश्राद्ध-अमाजागरण-रात्रिजागरण-रतजगा-रातीजगा-आदि महोत्सवों) से सम्बन्ध रखने वाले महासङ्गीतों (लोकगीतों) के प्रासङ्गिक श्रवण के द्वारा अपने मानस संस्कारों को पावन करने का सु-अवसर यदा कदा उपलब्ध होता रहता है। उसी पावनस्मृति के आधार पर उस महासङ्गीत के सम्ब-न्ध में जैसा जो कुछ स्वल्परूप से प्रासङ्गिकधिया स्मृत हो पड़ा है, उन वर्त्तमान गृहमेधियों के सामयिक उद्बोधन व्याज से यहाँ (जिन्होंने युगधर्म्मानुगत झञ्झावात के निग्रहानुग्रह से स्वस्त्ययन-संरक्षक, महामङ्गलविधायक लोकगीतनिबन्धन महासङ्गीतों की उपेक्षा कर अपने आप को, अपने गृहस्थ को, पारिवारिक जीवन को सर्वात्मना दीनहीन-सा, हतश्री-सा, भाग्यहीन-सा, अमङ्गल-सा, रूक्ष कर्कश-सा, अमङ्गल वेशभूषायुक्त-सा बना लिया है)-दो शब्दों में संस्मरण कर लिया जाता है। ऐसी मान्यता है इस पावनस्मृति के संस्मरण के सम्बन्ध में हमारी कि, अवश्य ही यह संस्मरण स्वस्त्ययन-कर्म्म की सर्वात्मना उपेक्षा कर देने वाले हमारे वर्त्तमान पारिवारिक जीवन को इस सामयिक उद्-बोधन के द्वारा हमें महामाङ्गलिक स्वस्त्ययन की ओर आकर्षित कर सकेगा, निश्चयेन कर सकेगा।

प्रसङ्गप्रक्रान्त है केवल पितृकर्म्मानुबन्धी गयाश्राद्ध का, जिसकी मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित हुआ हुआ है पूर्वपरिच्छेदों में कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा से अनुप्राणित औपपातिक महानात्मा। धर्म्मसम्मत वृषा-योषाप्राणात्मक शुक्र-शोणित के सहज दाम्पत्य सम्बन्ध से औपपातिकरूप से ही व्यक्त होने वाला

कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा जिस प्रकार औपपातिक है, तथैव इस कर्म्मात्मा के साथ अन्य आतिवाहिक सम्पत्तियों की भाँति (शरीरनिधनान्तर) औपपातिकरूप से ही पार्थिव अत्रिप्राणानुबन्धी प्रवर्ग्य पार्थिव (भौम) महत्सोम के द्वारा एक स्वतन्त्र महानात्मा का सम्बन्ध भी समन्वित हो जाता है, जो यह औपपातिक भौम महानात्मा उस चान्द्र महानात्मा से सर्वथा पृथक् तत्त्व है; जिस चान्द्र महानात्मा का कर्म्मात्मा के शरीरत्यागानन्तर ही चन्द्रलोक में प्रतिष्ठापन हो जाता है, जैसा कि पूर्व की सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् में स्पष्ट किया जा चुका है। यह महानात्मा पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्य सोम से क्रूररूप बनता हुआ 'भौम' है, और इस दृष्टिकोण से दोनों के स्वरूप में महान् विभेद है। इस मौलिक विभेद को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें महासङ्कीतानुबन्धनी पावनस्मृति का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना है।

पुत्र-पौत्रादि के द्वारा सहजभाव से स्व स्व निधनान्तर प्रत्यर्पित पिण्डद्वारा निष्पन्न सापिण्ड्य, तथा एकोद्दिष्ट-महालयादि श्राद्धकर्म्मों का आधार बनता है—चन्द्रलोकस्थित 'चान्द्र सहज महानात्मा'। एवं गयाश्राद्ध का लक्ष्य बनता है इसी पार्थिव चन्द्र में इतस्ततः दन्द्रम्यमाण कर्म्मात्मानुगत 'पार्थिवकक्षास्थित 'भौम औपपातिक महानात्मा'। अमुक मुहूर्त्त में, किंवा अमुक विशेषमुहूर्त्त (आश्विनपक्षानुगत) में स्थानविशेष में (गयातीर्थ में) श्रद्धापूर्वक विहित गयाश्राद्धकर्म्म ही इस भौम महानात्मा के बन्धनविमोक का कारण बनता है, जिस गयाश्राद्धकर्म्म का उत्तरदायित्व औपपातिक कर्म्मात्मा को व्यक्त करने वाले 'दाम्पत्यभाव' माध्यम से व्यक्तीभूत कर्म्मात्मा से सम्बद्ध पुत्र और पुत्रवधूरूप दाम्पत्य भाव पर ही अवलम्बित माना गया है। श्रद्धालु पुत्र अपनी श्रद्धाशीला पत्नी के साथ सर्वप्रथम पिता-पितामह-प्रपितामहादि के शरीरदाहस्थान (श्मशान) की अमुक नियत विधिविधान के साथ परिक्रमा करता है, एवं यहाँ से गयाधाम की ओर प्रस्थान कर तत्र विधिपूर्वक गयाश्राद्ध की इतिकर्त्तव्यता पूरी करता है, जिस इतिकर्त्तव्यता की साङ्गोपाङ्गपूर्त्ति का विशेष फल माना गया है, औपपातिक "महानात्मा का बन्धनविमोक, एवं तत्सम्बद्ध औपपातिक कर्म्मात्मा के प्रारब्ध बन्धन का शैथिल्य"।

औपपातिक कर्म्मात्मानुगत सद्यः व्यक्त यह औपपातिक भौम महानात्मा ही 'गृहपितर' नाम से व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि चान्द्रलोकस्थ सापिण्ड्यभावानुगत पिता-पितामहादिरूप चान्द्र महानात्मलक्षण प्रेतपितर भी चान्द्र श्रद्धानाड़ी के द्वारा तद्वंशधर पुत्र-पौत्रादि के शुक्रस्थित चान्द्र महानात्मा के साथ (सप्तपुरुषनिबन्धना सापिण्डता से पूर्व पूर्व) सहज सम्बन्ध स्थापित रखते हुए 'गृहपितर' ही माने जायँगे। किन्तु इन चान्द्र पितरों का वास्तविक गृह चान्द्रमण्डल ही माना जायगा। पुत्रादि के पार्थिव गृहों में इनका आगमन क्षयाहतिथि, महालयतिथि, आदि विशेष तिथियों में ही हुआ करता है। श्राद्धान्न से तृप्त ये चान्द्रपितर पुनः स्वगृहभूत चान्द्रलोक में ही परावर्त्तित हो जाते हैं; जिस परावर्त्तन प्रक्रिया का नैदानिकरूप 'उल्मुक प्रदर्शन' माना गया है। इधर कर्म्मात्मानुबन्धी औपपातिक महानात्म-

रूप सद्य:पितर पार्थिवकक्षाकर्षण से ही सदा आकर्षित रहते हुए गृह्योपलक्षित पार्थिव तत्त्व बनते हुए वास्तव में 'गृह्यपितर' अभिधा के अधिकारी बने रहते हैं। यद्यपि अमावास्यादि पर्वतिथियों से सम्बन्ध रखने वाली रात्रिजागरणरूपा इतिकर्त्तव्यता से, तथा पुत्रोत्पत्तिप्रसङ्ग-विवाहप्रसङ्ग-आदि आदि तत्तद्-स्मार्त गृह्य मङ्गलाचारपर्वों पर विहिता रात्रिजागरणानुगता इतिकर्त्तव्यता से संतुष्ट होते हुए ये भौम पितर भी स्वनियत स्थानों में ही परावर्तित हो जाते हैं। किन्तु इन भौम पितरों का यह परावर्त्तन पार्थिव कक्षा से ही सम्बन्धित रहता है। उधर "गृहा वै गार्हपत्यः" (शतपथब्रा० १।२।१।१६) - "अयं वै (पृथिवी-) लोको गृहपतिः" (शत० २।३।४।३६।) इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार पृथिवी 'गृह-स्थान' माना गया है। एव इस दृष्टिकोण से पार्थिवकक्षानुगत इन औपपातिक-भौम-महानात्मरूप सौम्य पितरों को ही प्रधानरूप से 'गृह्यपितर' कहना अन्वर्थ बनता है। अतएव इन भौम गृह्यपितरों को महासंगीत की आम्नायभाषा में 'घर के देवता—घर के पितर' अभिधा से व्यवहृत किया गया है। इसी आधार पर इन्हीं भौम गृह्य पितरों के लक्ष्य से यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः चान्द्र-पितरों का गृहत्त्व जहाँ तात्कालिक है, वहाँ भौम पार्थिव पितरों का गृहत्त्व (पृथिवीनिवास) निश्चित है। इन दोनों पितरों की गृह्यानुगता इसी सुसूक्ष्म व्यञ्जना को लक्ष्य बना कर ब्राह्मणश्रुति ने दोनों के लिए क्रमशः 'ह'—'हि' भाव अभिव्यक्त किए हैं। 'ह' सामान्य (आगन्तुक निवास) का सूचक है, एवं 'हि' विशेष (निश्चित निवास) का सूचक है, जैसा कि निम्न लिखिता वचनद्वयी से यह विभेद स्पष्ट हो रहा है—

(१)—गृहाणां 'ह' पितर ईशते (शत० २।४।२।२४)।

(२)—गृहाणां 'हि' पितर ईशते (२।६।१।४२)।

जिस प्रकार सौर देवप्राण के आनृण्य के लिए अग्निष्टोमादि सप्तसंस्थ 'देवयज्ञ' विहित है, तथैव चान्द्र पितरप्राण के आनृण्य के लिए 'पिण्डपितृयज्ञ' विहित हुआ है। दोनों श्रौतयज्ञ हैं, ऋत्विग्विशेषों की सहायता से सम्पन्न होने वाले दोनों ही महारम्भ श्रौतयज्ञ त्रैवर्णिक द्विजाति-पुरुष के उत्तरदायित्व से सम्बद्ध हैं। यह उत्तरदायित्व पुरुषद्वारा देवयज्ञवत् अह:काल में ही निष्ठा-पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। पिण्डपितृयज्ञ में आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-अन्वाहार्यपचन-वेदि-फलीकरण-हविर्द्रव्यसम्पादन-आहुतिप्रदान-आदि आदि सम्पूर्ण वे सब यज्ञानुबन्धिनी इतिकर्त्तव्य-ताएँ, पितृप्राणधर्म्मानुगता विशेषप्रक्रिया के साथ विहित हैं, जिन इतिकर्त्तव्यताओं का देवयज्ञ के साथ सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि—"अन्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन् वहति। सकृत्फलीकरोति-सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तं श्रपयति। आज्यं प्रत्यानयति। स जुहोति-अग्नये कव्यवाह-नाय, सोमाय पितृमते। पुरस्तादुल्मुकं निदधाति। तत्र जपति-'अत्र पितरो मादयध्वम्'।। पट:

कृत्वो नमस्करोति। गृहानः पितरो दत्तेति। गृहाण हे पितरः (चान्द्राः) ईशाते" इत्यादि रूप से ब्राह्मणग्रन्थप्रतिपादित पिण्डपितृयज्ञ में विस्तार से प्रतिपादित है (देखिए शतपथब्राह्मण २ काण्ड ४ अध्याय, 'पिण्डपितृयज्ञ' नामक द्वितीय ब्राह्मण)। स्पष्ट ही चान्द्रमहानात्मानुबन्धी पितरों से सम्बन्धित पिण्डपितृयज्ञ का देवयज्ञ से समतुलन प्रमाणित हो रहा है। देवयज्ञवत् सर्वात्मना श्रौतधर्मात्मक यह पितृयज्ञ मन्त्रविधिपूर्वक द्विजातिपुरुषवर्ग रूप से ही अनुप्रमाणित है। यहाँ भावनामूला भावुकता का यत्किञ्चित् भी समावेश नहीं है। 'दुष्टः शब्दः-स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह' के अनुसार देवयज्ञवत् इस पितृयज्ञ में भी मन्त्रोच्चारण प्रकार का अणुमात्र भी स्खलन इष्ट के स्थान में अनिष्ट का जनक बन जाया करता है।

क्रव्यादाग्नि से विधिपूर्वक (द्विजातिप्रजा का), अथवा तो शमशान (शमशान्न-शव न) रूप से श्मशानाग्नि के द्वारा अविधिपूर्वक यथाजात (शूद्रादि) प्रजा का क्रमशः दाहसंस्कार एवं दाहकर्म्म सम्पन्न होता है, जिस का निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति के द्वारा स्वरूप विश्लेषण हुआ है। अवधानपूर्वक दृष्टि डालिए श्रुति के शब्दों पर, जिन के द्वारा एक विशेष प्रासङ्गिक 'पितृतत्त्व' की ओर हमें आप का ध्यान आकर्षित करना है—

> "अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति। यो वै कश्च म्रियते, स शवः। तस्माऽ (तस्मै) एतदन्नं करोति। तस्माच्छवान्नम्। 'शवान्नम्' ह वै तत्-'शमशानम्' इत्याचक्षते परोक्षम्। 'श्मशा' उ हैव नाम पितृणामत्तारः। ते ह-अमुष्मिँल्लोकेऽकृतश्मशानस्य साधुकृत्यामुपदम्भयन्ति। तेभ्य एतदन्नं करोति। तस्मात्-'श्मशान्नम्'। श्मशान्नं ह वै तत्-'श्मशानम्' इत्याचक्षते परोक्षम्" (शत० १३। ८। १। १)।

तात्पर्य्य उक्त ब्राह्मण वचन का स्पष्ट है। लोक में शवदाहस्थान 'शमशान' (श्मशान) नाम से प्रसिद्ध है। श्रुति ने दो प्रकार से इस नाम का तात्त्विक निर्वचन किया है। श्रुति कहती है कि, इस कर्म्मात्मशून्य शव (मुर्दे) के लिए (इस के सम्बन्धी) 'श्मशान' कर्म्म का अनुगमन करते हैं। जो व्यक्ति मर जाता है, औपपातिक कर्म्मात्मा जिस व्यक्ति के पाञ्चभौतिक शरीर का जीर्णवस्त्रवत् परित्याग कर देता है, उस व्यक्ति के कर्म्मात्मा का वह आत्मशून्य शरीर ही) शव' कह लाया है। इस दाहकर्म्म से तत्सम्बन्धी इस शव के लिए ही अन्नव्यवस्था का अनुगमन करते हैं, अर्थात् इस शव को दाहाग्निरूप क्रव्यादाग्नि का अन्न बनाते हैं, अतएव यह दाहकर्म्म 'शवान्न' (शव को क्रव्यादाग्नि का अन्न बनाने वाला कर्म्म) कहलाया है। 'शवान्न' शब्द ही देवताओं की सहज परोक्षभाषा में 'शमशान' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। और यही 'शमशान' शब्द का एक निर्वचन है।

"दूसरा नाम 'श्मशान' नाम से भी प्रसिद्ध है। अपठित यथाजात लोग बोला करते हैं 'मसान', एवं पठित संस्कारी मानव कहा करते हैं 'श्मशान'। यथाजात नामोच्चारण का निर्वचन है— 'शवान', जिसका उपर्युक्त रूप से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अब संस्कृतप्रजा के द्वारा व्यवहृत 'श्मशान' शब्द का निर्वचन करती हुई श्रुति कहती है—'श्मशा नामक प्राणविशेष (प्रेत भौम पार्थिव) पितरों को अपना भोग्य अन्न बनाते रहते हैं। जिनके शरीर में से अभी पार्थिव कर्मात्मा निकल जाता है, उसका शवशरीर (जबतक कि न दग्ध कर दिया जाने की अवधि पर्यन्त औपपातिक कर्मात्मा के साथ सम समुत्पन्न भौम पार्थिव पितरों से संयुक्त रहता है) उन 'श्मशा' नामक प्राणदेवों का भोग्य बना रहता है। यदि शरीर को जला नहीं दिया जाता है, तो शरीरारूढ़ से आकर्षित यह औपपातिक भौम पितर तबतक उन 'श्मशाप्राणों' के द्वारा क्षीण बनते हुए बन्धनवेदना से आक्रान्त रहते हैं, जब तक कि शवशरीर चिर अवधि में स्वप्रभव प्राकृतिक पञ्चमहाभूतों में (प्रतिसर्गविधि से) विलीन नहीं हो जाते। इस पितरबन्ध (शवानुगत दुःखभोगात्मक बन्ध) से पितरों को (भौम हंसात्मानुगत भौम महान् को) उन्मुक्त करने के लिए ही शव को अग्नि में भस्मसात् कर दिया जाता है, जिसका तात्पर्य है शवशरीर सत्ता में 'श्मशा' नामक प्राणदेवों के शवभोगानुगत दुःखबन्धन से हंसात्माभिन्न भौम महानात्मा को बन्धन से निर्मुक्त कर देना। क्योंकि इस शवदाहरूप कर्म में तत्सम्बन्धी 'दाहकर्मकर्त्ता' 'शव' को ही 'श्मशा' का भक्ष्य धारा ही अग्निद्वारा अन्न बना डालते हैं, अतएव यह कर्म 'श्मशान' कहलाया है, जो परोक्षभाषा में 'श्मशान' नाम से प्रसिद्ध हुआ है; जिसका तात्त्विक अर्थ है—"श्मशाप्राण का अन्नस्थान-शव"। श्रुति के इन अक्षरों पर अवधान कीजिये, भारतीय अन्त्येष्टिप्रक्रिया की वैज्ञानिकता का रहस्यात्मक स्वरूप विज्ञात बन जायगा—"श्मशा उ है नाम पितॄणामत्तारः। ते हामुष्मिँल्लोके-अकृतश्मशानस्य (अकृतशवदाहस्य) साधुकृत्यामुपदयन्ति" इति।

मसान, और श्मशान, इन दोनों प्राकृत-संस्कृत शब्दों के निर्वचन के द्वारा-ब्राह्मण श्रुति के तत्त्वार्थ का समन्वय पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इसी सम्बन्ध में अब एक विशेष प्रासङ्गिक रहस्यात्मक भावान्तर की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है। श्राद्धविज्ञान-ग्रन्थ के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड की विज्ञान-भाष्य खण्डशाखाओं का प्रतिपादन करते हुए 'कर्मात्मा' नामक एक पार्थिव उस आत्मा का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिसे पार्थिव वायव्य प्राणात्मा बतलाया गया है। वहीं विस्तार से स्पष्ट हुआ है, नवजात शिशु के त्रि पार्थिवसत्त्वस्वरूप पहिला प्राकृतिक आत्मा तो से शिशु में घनतावर्त्तक और हिरण्मयतेजपरिपत्रस्वरूप से अन्तर्गर्भसम्बन्ध में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो इसी अवसर में इस वायव्य (मातरिश्वा नामक नलता-पिण्डमैथुनात्मक प्राण वायुविशेष) पार्थिव हंसात्मा की भौमसत्तिरूप में औपपातिक-कर्मात्मा (निर्मम मोक्ता जीवात्मा-भूतात्मा) के साथ सम्बन्ध हो जाता है। पार्थिव आपोमयप्राण अपने सहज स्वाभाविक तत्-पिण्डगत-आकार-आवरण-

अस्नाविर-रूप से सँ
गई है। पार्थिव यह

कारण ही इसके लिए 'अदन्तकः पूषा' (शत०१।७।४।७) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। जबतक शिशुशरीर अदन्तक (बिना दाँत का) रहता है, तबतक इसमें घनतानुबन्धी हंसात्मा व्यक्त नहीं हो पाता। दन्तोत्पत्ति सहकाल में इसका व्यक्तीभाव आरम्भ होता है, एवं दन्तनिर्माण समाप्ति पर हंसात्मा सर्वात्मना व्यक्त हो जाता है। शरीरनिधनान्तर यह हंसात्मा पार्थिव शवशरीर की सत्तापर्य्यन्त इसी शवशरीर को केन्द्र बनाए रहता है तबतक, जबतक कि इसे भस्मसात् नहीं कर दिया जाता। शवदाह के अभाव में हंसात्मा जीवनसंलग्न सर्वत्र वायव्य वातावरण में पक्षीवत् विचरण करता हुआ इसी शरीर में विश्राम लिया करता है, जैसे कि पक्षी प्रातः अपने कुलाय (घोंसले) से निकल कर कणलोभ-शान्ति के लिए अहःकाल में इतस्ततः विचरण करता रहता हुआ साय पुनः अपने उसी कुलाय में प्रविष्ट हो जाता है। पक्षी थक कर स्वकुलाय में विश्राममात्र ग्रहण करता है, मानव की भाँति स्वपोतिलक्षणा सुषुप्ति अवस्था (घोरनिद्रा) की अनुगति पक्षी में नहीं होती। ठीक यही अवस्था पक्षिस्वरूप समतुलित हंसात्मा की मानी गई है। अतएव पुराणपुरुष ने इसे 'गरुड़' (पक्षिविशेष) नाम से व्यवहृत किया है, जिसके प्राकृतिक गतिभावों का 'गरुडपुराण' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिन प्रेतात्मानुगता गरुड़गतियों का विशद वैज्ञानिक स्वरूप इसी ग्रन्थ की अन्तिम 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' में होने वाला है। मूलसंहिता में यही गरुड़ात्मा 'भोक्ता सुपर्ण' कहलाया है। तद्व्याख्यानभूत ब्राह्मणग्रन्थों ने इसी का 'सौपर्णक आख्यान' रूप से सुपर्णचितिप्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया है। उपनिषदों में यही सुपर्णात्मा 'हंसात्मा' नाम से उपवर्णित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक 'कद्रू विनताख्यान' इसी सुपर्णविज्ञान पर अवलम्बित है, जिस की घोषणा हुई है ब्राह्मणग्रन्थों में 'सोमापहरणविज्ञान' प्रसङ्ग में इस रूप से कि—

"एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते"

—शतपथब्राह्मण (३।६।२ ब्रा०) तथा ऐतरेयब्राह्मण

जो हंसात्मा दन्तोद्भवानन्तर व्यक्त होता है, जो कर्म्मात्मा के सो जानेपर जाग्रत रहता हुआ अपने इस शरीरकुलाय का संरक्षण किया करता है, जिस जाग्रत हंसात्मा के अनुग्रह से प्रेरणा से यमुकामुक अज्ञात भयाशङ्काओं से मानवीय कर्म्मात्मा जाग्रत बनता हुआ भय से स्वत्राण करने में समर्थ बन जाता है, इसी एवंविध हंसात्मा का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए उपनुपनिषच्छ्रुतिने कहा है—

तदेते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्य—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' ॥
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥ १ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ॥
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः २ ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६ । ३ । ११ । १२ ।

'हंसात्मा' नामक पार्थिव वायव्य सुपर्णभावापन्न (गायत्रीभावापन्न–अतएव हिरण्मयरूपेण उपनिषदों में उपवर्णित) औपपातिक प्राणात्मा एक वैसा विशेष विलक्षण तत्त्व है, जिस की अतिमुक्ति एकमात्र प्राकृतिक प्रतिसञ्चरभाव पर ही अवलम्बित है। सौर सर्गान्तकाल ही इस हंसात्ममुक्ति का प्रवर्त्तक बना करता है। तदवधिपर्य्यन्त आकल्पान्त यह पार्थिव वायव्यधरातल में उच्चावचभावानुगति से सुख–दुःखानुभूति तारतम्य से विचरण किया करता है। यही अथर्ववेदव्याख्यात 'अथर्वासूत्रानुबन्धी आशौचप्रवर्त्तक आथर्वण आत्मा है, जिसे लक्ष्य बना कर विविध आथर्वण प्रयोग आविष्कृत हुए हैं, जिन्हें ब्राह्मणग्रन्थों में—'कृत्यावलगा' नाम से व्यवहृत किया गया है। यही 'वल्गा' तन्त्रशास्त्र की कृत्याप्रयोगाधिष्ठात्री 'बगुलामुखी' है। यदि शवदाह कर दिया जाता है, तो हंसात्मा कृत्याप्रयोग का साधन कथमपि नहीं बन सकता। शव का दाह न करने से 'श्मशा' नामक प्राणविशेष के आक्रमण से हंसात्मा बाल–स्त्री लक्षण सोमप्रधान शरीरों के माध्यम से कृत्याप्रयोगात्मक आथर्वण उन जघन्य प्रेतकर्म्मों–प्रेतसिद्धियों का परम्परया निमित्त बन जाता है, जो कृत्यात्मक आथर्वण प्रयोग तमोगुणप्रधान बनते हुए परउत्पीड़क बनते हुए सर्वथा निन्द्य ही घोषित हुए हैं + । तमोगुणानुगत–परउत्पीड़क निन्द्यकर्म्मानुगामी आथर्वणों की स्वार्थसिद्धि सम्भव न बन सके, इस सामान्यलोकसंप्रहारक लोकसंरक्षण फल की दृष्टि से, स्वयं हंसात्मा 'श्मशा' प्राण का यावत् शवशरीरसत्तावधिपर्य्यन्त भोक्ता बनता हुआ अप्राकृतिक बन्धन दुःख से आर्त्त न बना रहे, इस विशेष फलसिद्धि के लिए, और शवानुगत मलीमस पूतिगन्ध से पूतिभावापन्न वातावरण लोक–ग्राम–नागरिक वातावरण को पूतियुक्त बनाता हुआ प्राकृतिक स्वास्थ्यविघातक न बन जाय, इस लौकिक फलदृष्टि से, अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात अनेक फलों की दृष्टि से शवशरीर को अग्नि से संस्कृत करते हुए इसे भस्मावशेष बना देना ही विज्ञानसम्मत माना जायगा, जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का—"श्मशा उ हैव नाम पितृणां अत्तारः। ते ह्यमुष्मिँल्लोके–अकृतश्मशानस्य कृत्यामुपदम्भयन्ति । तेभ्य एतदन्नं करोति०" इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है।

शवशरीर के अन्यान्य भूत–भौतिक द्रव्य भस्मान्त बन गए, हंसात्मा बन्धन से विमुक्त हो गया, परन्तु ' '' । परन्तु इसलिए कहना पड़ रहा है कि, क्रव्यादग्नि स्नायु दन्त–दंष्ट्रा–आदि अस्थिलोममय घनतम–निबिडतम–शवभूतों को भस्मसात् करने में असमर्थ बना रहता है। फलतः इन शवशरीर

+ "प्रेतान् भूतगणाँश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः" (गीता १७।४)।

गयभन दत्तादि भागों के आकर्षण से इमाला का यश से आयत्तिक विमोक नहीं माना जा सकता। इस आर्पा [illegible] दूसरे का एक मात्र उपाय है इन श्वरेपों के साथ 'अम्म' [illegible] सोम का सम्बन्ध करा देना। यद्यपि तुलसी चन्दन हिरण्यशकल आदि भौतिक द्रव्य इमा पावन सोम के आशिक प्रतीक माने गए हैं। अतएव आस्तिक श्रद्धालु यथाशक्ति यथाश्रद्धा शवशरीर को निर्गत प्रेत आत्मा पितर हुए इन द्रव्यों को दहकर्म में समाविष्ट कर देते हैं। तथापि इनी प्रधानतः सामग्रीक ये सार्थकता आशिकी पूर्ण तया हो पाती। वेदसम्पादित भाग रथ सालहायप्रवाह ऐसा पारमेष्ठ्य अम्भ चान्द्रमुख प्रतीक है। इसी तम्पानुगता श्रद्धा के माध्यम से यर चादि को इसी पवनेवारी में प्रेतपर्याप्तए माना गया है। क्या तब औपपातिक इस आत्मा, तन्मिन तो महदर्न पूर्वापरागित अविवानिक भौम धर्मपितर, तथ निष [illegible] संस्कारों से भूत लभा बन्धन से विमुक्त हो गये? नात होया। अनुशय नष्ट हो जाया हा नहीं, इदमायामलता॥ 'जातस्य सारगधायोगात्' न्याय से इस लिये तो क्या ही नहीं जा सकता, अपितु निकत बनाने के लिए भी अन्यान्य पुण्यकर्मों का श्रद्धापूर्वक अनुगमन करना आवश्यक बना रहता है। [illegible]

॥ इमा श्रा की यत्नसुसिद्ध औपपातिक भौम गृहपितरों का यह मनु निम्नान्, एवं इन पितरों की पारिवारिक मङ्गल-कल्याण-श्रेयकामना से, अन्नप्रद-वृष्ट बताए गए, इन कर्मों की सिद्धि के लिए शास्त्र ने पुरुष और कुलस्त्रियों, ये दो क्षेत्र निर्णीत किए। धर्मपत्नी को साथ लेकर अमुक विशेषमुहूर्त में इमानुगत भौम पितर के औपयातिक स्थानरूप, श्मशानक्षेत्र (दाहक्षेत्र) की यात्रा कर गया नामक पावन स्थान-तपःक्षेत्र-विशेष में स्मार्तविधिपूर्वक गयाश्राद्ध का श्रद्धापूर्वक अनुगमन करे, यह एक क्षेत्र की मीमांसा है। इस गयाश्राद्ध से हेतुना निश्चयेन तत्त्वतः विमुक्त (सत्ता सम भावों से नियुक्त-शतानुगत तमोभाव से निर्मुक्त) हो जाता है, सहयोग औपपातिक भौम गृहपितर बन्धनविमुक्त (अनुशय धन) बनते हुए वहभिन्न कर्मभोक्ता-भूतात्मा-धम्म को कर्मित धन से निमुक्त (कर्मबन्धनमुक्त) बनाने के निमित्त बन जाता है। अब शेष रह जाता है इन गृहपितरों का सामयिक पर तृप्ति से समन्वित सामयिक तुष्टि-तृप्ति का प्रश्न, जिससे तुष्ट-तृप्त बने रहते हुए [illegible]

गुन [illegible]

किया गया मङ्गलाचारपरायणा सोमप्रधाना 'स्त्रियों को' तथा सौमप्रधान आवसान्त साम्य पारवार हुनारी का स्त्री और अविवाहित बालक, यन्न ही इस उत्तरदायित्व से सम्बन्धित किए गए। क्यों, और किस लिए ?, का उत्तर देने में हम इसलिये असमर्थ हैं कि, यह जैसे भावनाजगत् का विषय है। यहाँ वचनों भावुकतापूर्ण श्रद्धा का ही साम्राज्य है। बुद्धिमूलक्यानुगता आस्था विश्वासानुगता निष्ठा का प्रवेश यहाँ आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध है, रहेगा, रहना चाहिए। भावुकतापूर्ण गतानुगतिक अम्म। सहज भावुक के लिए यह समाधान ही यद्यपि पर्याप्त है, किन्तु [illegible]

किन्तु एकओर आस्थायुक्त श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाला धर्म्मानुगत कारणतावाद *, एवं दूसरी ओर केवल भावनापूर्ण श्रद्धाभास के द्वारा समाधान की पर्य्याप्तता की अन्धघोषणा, दोनों का समन्वय भारतीय प्राङ्गण में तो कथमपि सम्भव नहीं माना जा सक्ता। यहाँ की तो एकमात्र निकषा यही मानी जायगी, मानी जाती रही है कि—

प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ॥
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १ ॥
आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना ॥
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः ॥ २ ॥

—मनु. १२।१०५,१०६,।

एतद्देशीय, किंवा इतरदेशीय मतवादों की भाँति भारतीय धर्म्म केवल मान्यता (अन्धविश्वास-अन्धश्रद्धा) का क्षेत्र नहीं है। वहाँ जैसे मतवाद के सम्बन्ध में कारणता की जिज्ञासा की भ्रान्ति भी दण्डविधान का कारण बन जाती है, यहाँ वैसी परम्परा अणुमात्र भी मान्य नहीं है। यहाँ की प्रत्येक आस्था, प्रत्येक श्रद्धा वही मान्य मानी और कही जायगी, जिसके मूल में निगमशास्त्रानुमोदित (प्राकृतिक सर्गानुमोदित) कारण-तात्त्विककारणानुगत तर्कवाद मूल में प्रतिष्ठित होगा। यही सहजसिद्ध भारतीय धर्म्मानुगत (प्राकृतिक सनातनधर्म्मानुगत) कारणतावाद भौम गृहपितरों की पर्वानुगता तुष्टि तृप्ति की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले उस लोकानुबन्ध विशुद्ध भावना-श्रद्धानुगत उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भी समुपस्थित हो रहा है, जिसे केवल 'आम्नायसिद्ध मान्यता' कह कर पूर्व में हम कारणतावाद से असंस्पृष्ट बनाए रखने के लिए अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त कर चुके हैं। इसी दिशा में सर्वात्मना आम्नायसिद्ध ,मानवधर्म्मशास्त्रसम्मत पूर्वोपात्त हेतुवाद 'किन्तु' का जन्मदाता बनता हुआ इस दिशा में भी अपनी नैगमिक आम्नाय से कारणतावाद की जिज्ञासा सर्वथा प्रणतभाव से अभिव्यक्त करने की धृष्टता करा रहा है। इस जिज्ञासा के समाधान पर ही स्त्री वर्ग, तथा अविवाहित कुमारवर्ग से सम्बन्धित भौम गृह्य पितर तुष्टि-तृप्तिलक्षण उत्तरदायित्व 'धर्म्मसीमा' का अनुगामी बन सकता है, एवं तभी इसकी मान्यता सुरक्षित रह सकती है। ओमित्येतत्।

क्या नैगमिक मूल है तथाकथित मान्यता के समर्थन के लिए भी ?। है, और अवश्य है। हमें तो वह मूल उपलब्ध हुआ नहीं ?। आपने उपलब्धि के लिए अपने देशानुगत अभिनिवेश के

---

* नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !
कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ॥

—जाजलि के प्रति आर्षपुरुष भगवान् राम की उक्ति।

कारण कोई यत्न न करते हुए उसी प्रकार 'नोपलभ्यते' कहने का दुःसाहस कर डाला, जैसे कि महान् शब्दप्रयोग का आलोडन-विलोडन किए बिना ही यदृच्छाशब्दों के सम्बन्ध में प्राचीनों ने— 'न सन्ति यदृच्छाः शब्दाः' घोषणा कर डाली थी, एवं उसी समय भगवान् पतञ्जलि (महाभाष्यकार) ने नैगमिक उदाहरणों के द्वारा ही 'उप'-'तेर' आदि रूप से समाधान किया था। हाँ, तो आस्था श्रद्धापूर्वक आप भी इस सम्बन्ध में— 'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्'। अवश्य ही आपको भी नैगमिक कारणधान लक्ष करने वाले नैगमिक उपलब्ध हो ही जायेंगे। इस पर भी यदि आप अपना अभिनिवेश सुरक्षित रखना चाहेंगे, तो इस दशा में भी हम तो अपनी ओर से निराशा का लेश भी समावेश न होने देते हुए इस विधिभाव का ही अनुगमन करेंगे आपके कालानुगत अभ्युदय के लिए कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते।
येषां नास्पदमादधासि हृदये, ते शैलसाराशयाः॥
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः।
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

—श्रीउदयनाचार्य्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलि
अन्तिम (५) स्तबक

प्रकृतमनुसरामः। मारुमेधयाग-महेन्द्रयाग आदि विविध नामों से प्रसिद्ध एक विशेष फलात्मक याग ब्राह्मणग्रन्थों में 'महाहविर्याग' नाम से उपवर्णित हुआ है। शतपथ में तो तीन ब्राह्मणों में ७८ कण्डिकाओं से इस यागरहस्य का प्रतिपादन हुआ है। वृत्रासुर (प्राकृतिक असुर) का वध करते हुए इन्द्र को महेन्द्रपद से समलङ्कृत कराने वाली प्राकृतिक यज्ञप्रक्रिया ही इस ब्राह्मणत्रयी में प्रतिपादित हुई है, जैसा कि—"महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नुः, तेनो एव व्यजयन्त-येयमेषां विजितिः" (शत० २।५।४।१) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। जो द्विजाति अपने आध्यात्मिक आवरक वृत्रभावों को, तथा आधिदैविक वृत्रसमुदाय को परास्त कर सर्वविजयलाभ की कामना रखता हो, उसी के लिए 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' रूप से यह अनुष्ठेययज्ञ ब्राह्मणोक्तिकर्त्तव्यता से समाविष्ट हुआ है।

इस यागकर्म्म में आग्नेय अष्टाकपालपुरोडाश, सावित्र द्वादशकपालपुरोडाश, सारस्वतचरु, पौष्णचरु, ऐन्द्राग्न द्वादशकपालपुरोडाश, माहेन्द्रचरु, वैश्वकर्म्मण एककपालपुरोडाश, पैत्र षट्कपालपुरोडाश, रौद्र एककपालपुरोडाश, आदि अनेक अवान्तर यागों की इतिकर्त्तव्यता उपपत्तिपूर्वक बड़े आटोप के साथ प्रतिपादित हुई है, जिन में से अन्त की पैत्र रौद्र, इन दो इतिकर्त्तव्यताओं की ओर ही हमें कारण जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित करना है। अनुसम्बन्ध से महाहविर्याग में विहित पुरोडाश (आहुतिद्रव्य) षट्कपाल होता है, अतएव इसे 'पैत्रषट्कपालपुरोडाश' कहा गया है। अवाद, अन्न, अनुभय, भेद से

पितर का त्रेधा वर्गीकरण प्राकृतिक माना गया है, जैसा कि श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपित है। पुत्रादि वंशजों की श्रद्धानाड़ी (चान्द्रनाड़ी) के द्वारा जिन चान्द्र महानात्मस्वरूप पितरों को एकोद्दिष्टादि-महालयादि श्राद्धकर्म्म द्वारा तुष्ट तृप्त किया जाता है, उन चान्द्र पितरों की यजनप्रक्रिया का, इतिकर्त्तव्यता का प्रधानरूप से 'पिण्डपितृयज्ञ' ब्राह्मण में निरूपण हुआ है। चन्द्रलोकस्थ महानात्मलक्षण परलोकगत चान्द्रपितर का अर्थ है—पिण्डपितृयज्ञाधिष्ठाता यजमान के चन्द्रलोकगत पिता-पितामह-प्रपितामहादि षट्पितर। इनके निमित्त ही 'मासि मासि-वोऽशनम्' रूप से प्रति अमावास्या को, क्षयाहतिथि को एवं महालयश्राद्धपक्षानुगत गजच्छायायोग में यजमान (पुत्र) श्रद्धापूर्वक ऋत्विजों के सहयोग से आहुतिरन्न प्रदान करता है। ये चान्द्रपितर इस दृष्टिकोण से 'अन्नादपितर' माने गए हैं। घनद्रव्यात्मक आहुतिरन्न के भोक्ता पितर 'हविर्भुक्' हैं, तरलद्रव्यात्मक आहुतिद्रव्य के भोक्ता पितर 'आज्यपा' हैं, एवं विरलद्रव्यात्मक आहुतिद्रव्य के भोक्ता पितर 'सोमपा' हैं। हवि खाया जाता है, आज्य (घृत) और सोम का पान किया जाता है। हविर्द्रव्यात्मक नियत पैत्र आहुतिद्रव्य में हवि, घृत, और अन्नगत सोम, तीनों द्रव्य समाविष्ट हैं। इस प्रकार सोम-घृत-हविर्लक्षण एक ही हविर्द्रव्याहुति से तीनों अन्नादपितरों की तृप्ति हो जाती है। ६ पितरों में से आदि के तीन पितर 'हविर्भुक्' (हविर्द्रव्य की घन आहुति लेने वाले) नामक अन्नादपितर हैं, ये ही तत्त्वतः मुख्य हैं। हविःप्राधान्य से ही इन्हें श्राद्धकर्म्मपरिभाषा में 'पिण्डभाजः' कहा गया है। इनके सन्तर्पण से ही हविर्द्रव्यभुक्त आज्य-सोमरूप लेपद्रव्य से शेष तीनों वृद्धप्रपितामहादि पितर तृप्त हो जाते हैं। इनमें वृद्धप्रपितामह-अतिवृद्धप्रपितामह को तो 'आज्यपा' नामक अन्नादपितर कहा जायगा। एवं वृद्धातिवृद्धप्रपितामह को 'सोमपा' नामक अन्नादपितर माना जायगा। पिण्डपितृयज्ञ में ऋतुकाल में प्रतिष्ठित षड्विध इन चान्द्र सौम्य महानात्मानुगत नित्य-सपिण्डताप्रवर्त्तक पितरों को ही आहुतिद्वारा तृप्त किया जाता है, और यह अन्नप्रदान कर्म्म सप्तमवंशज पर्य्यन्त नियमित रूप से प्रक्रान्त रहता है। आदि के तीन जहाँ 'पिण्डभाजः' हैं, वहाँ अन्त के तीन लेपानुशय के भोग के कारण 'लेपभाजः' कहलाए हैं। आज्य-सोमाहुति ग्रहणता ही इस अन्तत्रयी की लेपभाजनता है। पिण्डपितृयज्ञ में ऋतुमात्तीभूत इसी चान्द्र प्रेतपितृषट्क की इतिकर्त्तव्यता प्रधान मानी गई है, जैसा कि निम्न लिखित कतिपय तद्ब्राह्मणवचनों से स्पष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। देखिए !

"स जुहोति—अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहा। सकृदेव पराञ्चः पितरः। तस्मात् सकृदुल्लिखति। परस्तादुल्मुकं निदधाति। ओदपात्रमादाय—अवनेजयति—असाववनेनिक्ष्वेति—यजमानस्य पितरं—पितामहं—प्रपितामहम्। (अवनेजनं—जलाञ्जलिसमर्पणम्)। अत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्वमिति। यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह (अन्नादा भवन्तः, तस्मात् हविर्द्रव्यमश्नीत—इत्येवैतदाह)।

पट्कृत्वो नमस्करोति। गृहाणां ह पितर ईशते। एषा उ एतस्य आशीः कर्म्म ।
अथ अवजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्। स यजमानभागः"

—शत० २।४।२ द्वितीयब्राह्मण।

दूसरा विभाग 'अन्नपितर' का है। जो पितर अन्य प्राणविशेषों के भोग्यान्न बना करते हैं, वे ही 'अन्नपितर' कहलाए हैं, जिनके 'अग्निष्वात्ता, सोमपत्, बर्हिषत्' ये तीन श्रेणिविभाग प्रसिद्ध हैं। ये तीनों ही पार्थिव पितर हैं। पार्थिव भूतप्राण ही 'श्मशा' प्राणविशेष माना गया है, जिसका पूर्व के 'शमशान' तथा 'श्मशान' शब्द निर्वचनों के द्वारा स्पष्टीकरण किया जा चुका है। श्मशा नामक पार्थिव भूतप्राण भूतों की 'उष्ण–शीत–अनुष्णाशीत' इन तीन अवस्थाओं (जातियों) के सम्बन्ध से तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। भूतभेदत्रयी ही श्मशाप्राणभेदत्रयी का कारण बनती है। अतएव श्मशाप्राण के लिए श्रुति में 'श्मशा उ वै नाम पितृणामत्तारः' (शत० १३।८।१।१) इत्यादिरूप से बहुवचन प्रयुक्त हुआ है। उष्णभूतानुगत श्मशा नामक पार्थिव भूतप्राण सङ्केतपरिभाषापेक्षया 'अग्नि' कहलाया है, शीतभूतानुगत श्मशाप्राण 'सोम' कहलाया है, एवं अनुष्णाशीतानुगत श्मशाप्राण 'बर्हि' कहलाया है। अग्निश्मशा के द्वारा भुक्त पार्थिव पितर 'अग्निष्वात्ता' कहलाए हैं, सोमश्मशा के द्वारा भुक्त पितर 'सोमपत्' कहलाए हैं, एवं बर्हिश्मशा के द्वारा भुक्त पितर 'बर्हिषत्' कहलाए हैं। श्मशाप्राणानुबन्धी ये तीनों अन्नपितर भौम पितर हैं, औपपातिक पितर हैं, जिनका श्मशाप्राणावासरूप श्मशानस्थल में ही व्यक्तीभाव होता है। अतएव इन्हें 'श्मशानवासीभूत' (भौतिक पितर) कहा जा सकता है, जो इन व्यक्तीभावाधारभूत शवदाहसंस्कार के न होने से श्मशा के भोग्य से बचे रहते हुए इत्यात्मक आथर्वण प्रयोगों की सफलता (श्मशानानुगता भूत–प्रेतसिद्धि) के निमित्त बन जाया करते हैं, जैसा कि पूर्व में तन्नामनिर्वचनप्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है।

यह अनिवार्य्यरूप से ध्यान में रखना है कि, चान्द्र अन्नादपितर हों, अथवा तो पार्थिव पूर्वोपवर्णित अन्नपितर हों, ऋतुलक्षण (ऋतुसमष्टिरूप) चान्द्रसम्वत्सर का मूलाधारत्व दोनों क्षेत्रों में समान है। साथ ही शवानुगत महदनुशयभोग–सम्बन्ध से चान्द्रपितर भी पिता पितामहादिरूपेण पट्सस्थ हैं, एव भौम पितर भी तदनुशयानुगति से पट्सस्थ ही हैं। चान्द्र महानात्मानुगता अनुशय सम्बद्धा पट्सस्थता दोनों में समान है। किन्तु अन्नात्मक पट्सस्थ पितर जहाँ चन्द्रमण्डलानुगत बनते हुए प्राकृतिक हैं, नित्य हैं, वहाँ अन्नात्मक पट्सस्थ पितर पार्थिवमण्डल में ही (किन्तु रात्रि में ही, अथवा तो चन्द्रिका में ही) विचरण करते हुए वैकारिक हैं, औपपातिक हैं, क्षणे तुष्टा–क्षणे रुष्टा हैं। इसलिए कि इन भौम पितरों के पार्थिव परिवारों के साक्षी–नियन्ता इनके स्वरूप के आन्वितम क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा पार्थिव रुद्र हो बने रहते हैं, जिनका तन्त्रशास्त्र ने श्मशानवासी भूतप्रेतगणोपसेवित भूतेश–भूतनाथरूप से यशोगान कर अपने को पावन बनाया है। भूताधिपति पार्थिवाग्नेय प्राण ही तो

यह 'श्मशानप्राणदेवता' (श्मशानदेवता) है, जिसे पितरों का (अन्नरूप भौम पितरों का) 'अत्ता' कहा गया है। यही क्रव्यादाग्निरूप से अन्नपितरों को स्वभोगसीमा में अन्तर्मुक्त करता हुआ अपना एक, स्वतन्त्र 'पितृपरिवार' सम्पादित कर लेता है। भौमपितृपरिवार रुद्र के नियन्त्रण से ही नियन्त्रित रहते हैं, मर्य्यादित बने रहते हैं। अतएव पितरों के साथ साथ इनके सञ्चालक-अधिपति-अग्नितम-रुद्र देवता का भी सम्मान करना अनिवार्य्य बन जाता है। न केवल पार्थिवाग्निरूप रुद्रदेवता का ही* सम्मान, अपितु इनके साथ साथ इनकी अवान्तर शक्तियों का भी सम्मान अनिवार्य बन जाता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में वक्तव्य केवल यही है कि, त्रिविध अन्नपितर भी अन्नादपितरवत् ऋतुमर्य्यादा से, तथा षट्पितृप्राणमूर्त्ति चान्द्रपितरानुशयसम्बन्ध से पिता-पितामह-प्रपितामहादिरूप से षट्संस्थ ही हैं। षट्संस्थता दोनों में समान है। विशेषता दोनों में चन्द्रलोकानुगता, भूलोकानुगता दोनों की पृथक् पृथक् प्रातिस्विक है। गृह्य वे भी हैं, गृह्य ये भी हैं। किन्तु वे तत्तन्नियत कालों में ही तद्वंशधरों के गृहों में श्रद्धानाडी के द्वारा सर्वथा नियतमार्ग से नियत समय से आते हैं, अनन्तर उस अवधि के भीतर भीतर स्वलोकात्मक चन्द्रलोक में परावर्त्तित हो जाते हैं, अतएव वे 'नित्यपितर' कहलाए हैं, जिन से सम्बन्ध रखने वाले पार्वणादि श्राद्ध भी 'नित्यश्राद्ध' कहलाए हैं। इधर ये भौम पितर अनियमित कालों में तद्वंशधरों के गृहों में श्रद्धा-अश्रद्धा से उभयथा सर्वथा अनियतमार्ग से अनियमित समय पर आते रहते हैं, इसी पार्थिव गृहस्थान में अनियमितरूप से उभयतः-अमूल-आसुर-राक्षस-प्राणवत् वायव्यशरीर से विचरण किया करते हैं÷, इस अनियमितता के कारण ही ये औपपातिक पार्थिव पितर 'अनित्यपितर' हैं, जिन से सम्बन्ध रखने वाला पारिवारिक अनियमित काम्यमंगलाचारानुबन्धी अनियमित श्राद्ध भी 'अनित्यश्राद्ध' ही कहलाया है। ये ही 'काम्यपितर' हैं, तदनुगत श्राद्ध ही 'काम्यश्राद्ध' है, जिसे निबन्धग्रन्थों ने 'वृद्धिश्राद्ध' भी कहा है। महाहविर्य्याग एक काम्ययाग है, माहेन्द्रपदप्राप्तिपूर्व्वक शत्रुपराभव ही इस काम्ययाग का फल है। अतएव काम्य महाहविर्य्याग में ही इन अग्निष्वात्तादिलक्षण अन्नपितरों के (काम्यपितरों के) यजन का समावेश हुआ है। इन सब पारस्परिक विशेषताओं को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही इन उभयविध (अन्नाद, तथा अन्न) पितरों का स्वरूप समन्वय करना चाहिए। तीसरा विभाग 'अनुभयपितृवर्ग' का है, जिसे 'सुकालीपितर' कहा गया है, एवं जिन्हें 'शूद्रपितर' माना गया है। द्विजातिप्रजातिरिक्त शूद्रप्रजा, किंवा शूद्रसधर्म्मा द्विजातिप्रजानुगत पारिवारिक व्यक्तियाँ ही इनका अवैधविधि से यजन कर इन्हें यद्वातद्वारूपेण सन्तुष्ट करती रहती हैं। और यही त्रिविध पितरों का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है, जैसाकि तालिकाओं से स्पष्ट है—

---

* "यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" (शत० १४।९।४।२१)।
"अग्निर्वै रुद्रः। तस्यैते द्वे तन्वौ घोरान्या च, शिवान्या च" (शत० ९।१।१।१८)।

÷ "अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति" (शत० ३।१।३।१३)।

(१) अन्नादपितरः–(भोक्तारः)–पिण्डपितृयज्ञानुगता नित्याश्चान्द्राः–शान्ताः

षड्पितरः–चान्द्राः–नित्याः–अन्नादाः

(३) (६)–वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः— सोमपाः } सोमपाः (१)
(२) (५)–अतिवृद्धप्रपितामहः— —आज्यपाः
(१) (४)–वृद्धप्रपितामहः— —आज्यपाः } आज्यपाः (२)
} —लेपभाजश्चतुर्थाद्या (सोमाय पितृमते स्वाहा)

(३) (३)–प्रपितामहः —हविर्भुजः
(२)(२)-पितामहः —हविर्भुजः
(१) (१)-पिता —हविर्भुजः
} हविर्भुजः (३) } —पिण्डभाजः (अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा)

—पिण्डदस्तु सप्तमः–एषां यजमानः (पुत्रः पिण्डपितृयज्ञानुष्ठाता)
(शतपथब्राह्मणान्तर्गत–पिण्डपितृयज्ञानुष्ठाता)

—×—

(२)–अन्नपितरः–(भोग्याः)–महाहविर्य्यागानुगता औपपातिकाः पार्थिवाः रौद्राः

षड्पितरः–पार्थिवाः–आग्नेयाः–अन्नसदाः

(३)–(६)–अनुशयात्मकः–वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः— बर्हिषदः } –बर्हिषदः (१)
(२)–(५)– " –अतिवृद्धप्रपितामहः —सोमसदः
(१)–(४)– " –वृद्धप्रपितामहः — —सोमसदः } –सोमसदः (२)
} –(सोमायपितृमते निर्वपति:)

(३)-(३)– " –प्रपितामहः —अग्निष्वात्ताः
(२)–(२)- " –पितामहः —अग्निष्वात्ताः
(१)–(१)– " –पिता अग्निष्वात्ताः
} —अग्निष्वात्ताः (३) (पितृभ्यः सोमवद्भ्यो निर्वपति)

—श्राद्धकर्त्ता सप्तमः–एषां–यजमानः (पुत्रः–महाहविर्य्यागानुष्ठाता)
(शतपथब्राह्मणान्तर्गते महाहविर्य्यागे निरूपिताः)

—×—

(३)-अनुभयपितरः-अनुभयविधाः-सुकालिनः-शूद्रपितरः-अवैधकर्म्मानुगता लौकिकाः ।

—×—

* सर्वसमष्टिः—

(१)-१-सोमपाः १-(२)-२-आज्यपाः (३)-३-हविर्भुजः	—अन्नादपितरः-श्रौताः-चान्द्राः-नित्याः-शान्ताः	—सप्त वै पितरः सर्वे
(४)-१-बर्हिषदः २-(५)-२-सोमसदः (६)-३-अग्निष्वात्ताः	—अन्नपितरः-श्रौतस्मार्त्ताः-पार्थिवाः-औपपातिकाः रौद्राः	
३-(७)-१-सुकालिनः	—अनुभयपितरः-लौकिकाः-विमूढाः-उत्पातरूपाः घोराः	

—×—

(१) पूर्वपरिलेखों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं तीनों पितृसंस्थाओं का यथावत् समन्वय कीजिए, तभी प्रतिज्ञात महासङ्गीत का यथानुरूप समन्वय हो सकेगा। नित्य-चान्द्र-शान्त-अन्नादपितरों से आनृण्य प्राप्त करने के लिए प्रजोत्पादन, सपिण्डीकरण, एवं पिण्डपितृयज्ञेतिकर्त्तव्यतानुगत पार्वण, क्षयाह, महालयादि नित्य श्राद्धकर्म्म, इन तीन ऋणमोचनोपायों का अनुगमन करना पड़ता है।

(२) अनित्य-पार्थिव-रौद्र अन्नपितरों से आत्मत्राण प्राप्त करने के लिए गयास्थान में स्मार्त्तविधिपूर्वक (जो कि स्मार्त्तविधि महाहविर्योगात्मिका काम्या श्रौतविधिके आधार पर सुव्यवस्थित है) श्मशानपरिक्रमापूर्वक श्रद्धापूर्वक गयाश्राद्ध, तत्तद्विशेष कामनाओं की पूर्त्ति-के लिए विहित वृद्धिश्राद्ध, तदात् विशेष-विवाहादिमाङ्गलिकावसरों पर गृहदेवियों के द्वारा अनुष्ठेय रात्रिजागरणात्मक वागाहुतिप्रधान * (लोकगीतप्रधान) क्षीरान्नादियुत अन्न-वस्त्रादिद्वारा युक्त श्रद्धात्मककर्म्म, इन तीन ऋणमोचनोपायों का अनुगमन आम्नायानुमोदित माना गया है।

---

* "पितरो वाक्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः" ।

(२)–लौकिक–विमूढ–पार्थिव–घोर अनुभयपितरों से परित्राण प्राप्त करने के लिए तत्पितरों के प्रतीकभूत चतुष्पथानुगत ग्रामदेवता–भूतदेवता––भूतसत्त्वों को मान्यतापूर्वक सम्मानित किया जाता है ।

(१) अत्रादपितरा के विरुद्धप्रधान के लिए वेदवित् ब्राह्मण को श्राद्धान्न से सन्तर्पित किया–जाता है। (२)–अत्रपितरों की सन्तुष्टि के लिए तत्प्रतीकरूप अविवाहित पारिवारिक कुमार को पट्टारोहणसम्मान (पाटे बैठाना)–श्वेतवस्त्रप्रदान–क्षीरान्नादि श्वेतभोजनप्रदान आदि से सत्–कृत किया जाता है। तथ कृष्णरात्रिगत इन अनित्य तमोगुणप्रधान पितरों की अवान्तर मलीमस शक्तियों के सन्तर्पण के लिए रात्रिजागरण (रातीजगा) के दूसरे दिन विधवा स्त्री को वस्त्र–भोजनादि से सम्मानित किया जाता है । तथैव शुक्लरात्रिगत–चन्द्रिकायुक्त सत्त्वगुणप्रधान पितरों की अवान्तर निर्म्मल शक्तियों के सन्तर्पण के लिए रात्रिजागरणान्तर सधवा पुत्रवती स्त्री को तदनुरूप वस्त्र भोजनादि से सत्कृत किया जाता है। (३)–अनुभय घोरपितरलक्षण भूतसत्त्वों के सन्तर्पण के लिए तत्प्रतीक स्थानस्थित (चतुष्पथ–चौराहा–स्थित) ग्रामदेवताओं के लिए, घोररूपानुगत श्वान–काकों के लिए, चिल्हों के लिए माषद्रव्य (उर्द के बड़े आदि) का बलिविधान–दीपचतुष्टयी विधान (चौमुखा दीया) विहित है। इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को श्रद्धापूर्वक मूलाधार बनाते हुए—अब दो शब्दों में प्रक्रान्त मध्यस्थ (२) अत्रपितरों के इस परिवार के स्वरूप का भी उपवर्णन कर लीजिए, जिसका मूल स्रोत महाहविर्योग बन रहा है ।

प्रथम अत्राद पितरों (चान्द्रपितरों) का भी परिवार है, सामान्य परिवार ही नहीं, बहुत बड़ा परिवार है, इतना बड़ा परिवार कि, जिस का विस्तार देख कर आप आश्चर्यविभोर हो जायँगे । तभी तो चान्द्रपितर को 'महान्' कहा गया है लोकमत है कि, 'सो बड़ा जिस का परिवार बड़ा' । चान्द्रपितर स्वमहद्योनिरूप से लोकसृष्टि में जहाँ चतुरशीतिलक्ष (८४००००) योनिरूप परिवार का अधिष्ठाता है, वहाँ दाम्पत्यानुगत पारिवारिक सपिण्डता के अनुबन्ध से इस सापिण्ड्यभावप्रवर्त्तक चान्द्रपितर का द्वन्द्वात्मक (दाम्पत्यभावात्मक) परिवार शत–सहस्र परिवारों में फैला हुआ है, जिस का संक्षिप्त स्वरूप परिचय आशौचमोचनोपायोपनिषत् नामक प्रक्रान्त प्रकरण से आगे आने वाले 'आशौच निदानोपनिषत्' नामक प्रकरण में कराया जाने वाला है। यही तो इस चान्द्रपितरमहान् की महत्ता का आपना है। प्रकृत के गयाश्राद्ध परिच्छेद में तो हमें द्वितीय मध्यस्थ अत्रपितरों (पार्थिव पितरों) के परिवार की ओर ही पारिवारिक मङ्गलकामनेच्छु श्रद्धालुओं का ध्यान आकर्षित करना है, जिस पार्थिव पितरपरिवार के आधार पर पूर्वकथित 'गयाश्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध, श्रद्धात्मकर्म्म', ये तीन आत्मत्राणानुबन्धी श्रद्धानुबन्धी कर्म्म व्यवस्थित हुए हैं।

'पितरों का परिवार' इस वाक्य में–'पितर' और 'परिवार' ये दो शब्द अपना स्वतन्त्र मौलिक इतिहास रखते हैं। 'पितर' शब्देतिहास जहां 'कारणेतिहास' है, वहां परिवार' शब्दे

विहास 'कार्य्येतिहास' है। मूलेतिहास प्रथमेतिहास है, तूलेतिहास द्वितीयेतिहास है। कार्य्य का मूल ही 'पितर' है, मूल का तूलरूप ही 'परिवार' है। जिस तूलरूप से मूलदम्पती (मातापिता) चारों ओर से वेष्टित होते हुए केन्द्रभाव में परिणत हो जाते हैं, वही तूलभाव 'परिव्रियते अनेन' निर्वचन से 'परिवार' कहलाया है। इस परिवार के मूलपितर कौन, अन्नात्मक (सोमात्मक) पितरों का परिवार कौन, जिस से मूलपितर केन्द्रीभूत बन कर अपनी 'पितर' अभिधा को अन्वर्थ बना रहा है ?, प्रश्न है। समाधान कीजिए सख्यात. सिद्ध अव्यक्तज्ञान (सांख्यज्ञान) परम्परा का आश्रय लेते हुए।

जिस प्रकार भारतीय वैशेषिकदर्शन पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत पञ्च महाभूतों की विशेषता को मूल बनाता हुआ वैकारिक-भौतिकसर्ग की तत्त्वमीमांसा अपना मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाता है, तथैव भारतीय सांख्यदर्शन चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगत त्रिगुणभावापन्न कम्मात्मभावों को मूल बनाता हुआ प्राकृतिक अव्यक्त सर्ग की तत्त्वमीमांसा अपना मुख्य प्रतिपाद्य मान रहा है। इस तत्त्वगणनात्मक सख्यानभाव से अनुप्राणित, अतएव 'संख्यातः सिद्धं ज्ञानं सांख्यम्' निर्वचनानुसार 'साख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध कपिलदर्शन ने जिस प्राकृतिक सर्ग की तत्त्वमीमांसा (आचरणात्मिका आचारमीमांसा नहीं) की है, साख्यसम्मत वह प्राकृतसर्ग ही 'पितरपरिवार' की मूलभूमिका मानी जायगी, एव इसी तत्त्वमीमांसादृष्टि से इस परिवार का स्वरूप दिग्दर्शन मीमांस्य माना जायगा।

"सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तैत्तिरीयब्राह्मण १। ६। ८। २) "पितृलोकः सोमः" (कौषीतकिब्राह्मण १६। ५।) "पितृदेवत्यो वै सोमः" (शत० २। ४। २। १२) "सोमप्रयाजा हि पितरः" (तै० ब्रा० । ६। ६। ५) इत्यादि निगम वचनों के अनुसार भास्वरसोममय (तेजोमय-सोममूर्त्ति) चान्द्रसम्वत्सरप्रजापति ही स्वसोमभाव से प्राकृतसर्ग का मूलप्रभव बनता हुआ 'पितर' (मूलपितर) है, जिस के परिवार का हमें श्रद्धापूर्वक अन्वेषण करना है। चान्द्राकाश यहाँ पिता है, चान्द्राकाशसलग्ना पार्थिव महिमा यहाँ माता है। यही वह प्राकृतिक दाम्पत्यभाव है, जिस के द्वारा चान्द्रसम्वत्सरात्मक द्यावापृथिव्यमण्डल में साख्यसम्मत चतुर्दशविध-भूतसर्ग प्रतिष्ठित है। 'स्तम्ब-सर्ग' (वृक्षादिसर्ग) से आरम्भ कर 'ब्रह्मसर्ग' (देवयोनिसर्ग के अन्तिमसर्ग) पर्य्यन्त पार्थिवधरातल से चान्द्रमण्डल पर्य्यन्त व्याप्त (१४ चौदह प्रकार का) भूतसर्ग ही तथाकथित मूल चान्द्रपितर (द्यावापृथिव्य मूलदम्पतीलक्षण पितर) की प्रजा, किंवा 'पितरों का परिवार' है, जिस परिवार का सत्त्वविशालसर्ग, रजोविशालसर्ग, तमोविशालसर्ग, भेद से तीन भागों में वर्गीकरण हुआ है। चान्द्र महानात्मनिबन्धन त्रिगुणतत्त्वमीमासक साख्य ने निरिन्द्रिय (जड-अचेतन-ओषधिवनस्पति-धातूपधातु आदि लक्षण) जड-अचेतन सर्ग को 'तमोविशालसर्ग' कहा है, वही वहाँ का 'स्तम्ब' (मूलसर्ग-आदिसर्ग) है। पार्थिव धरातल पर इतस्ततः विचरणशील सेन्द्रियसर्ग (चेतनसर्ग) ही वहाँ 'रजोविशालसर्ग' है, जिसे 'मध्यसर्ग' भी कहा गया है, जिस के अवान्तर मुख्य क्रमसिद्ध 'कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य' ये पाँच

। ।ग प्रसिद्ध है। च द्रमानुगत पार्थिवधरातल से आरम्भ कर महन्मात्र चन्द्र ... ... मानरूप से व्याप्त २८ इन्द्रियों से युक्त देवयोनिसर्ग ही 'सत्त्वविशालसर्ग' है, जिसे 'ऊर्ध्वसर्ग' भी कहा गया है, जिस के अवान्तर मुख्य विभाग क्रमसंस्थानरूप से 'यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–पितर–इन्द्र–प्रजापति–ब्रह्म' इन आठ अभिधाओं से तत्र संगृहीत हैं। रात्रि, एवं चन्द्रिका ही इन की आवास भूमि है। यही ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त'–चतुर्दशविधो भूतसर्गः' है। यहाँ यह सर्वात्मना अवधेय है कि, सांख्याभिमत चन्द्रानुगत इस प्राकृतसर्ग में संगृहीत पितर–इन्द्र–प्रजापति–ब्रह्म–चारों केवल चन्द्रानुबन्धी ही हैं। चान्द्र भास्वर प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितर, आत्मानुगत इन्द्रतत्त्व, पारमेष्ठ्य प्रजापतितत्त्व, स्वायम्भुव ब्रह्मतत्त्व आदि अन्य सौरादि सर्ग नवन्धन सर्गाधिष्ठाता उन पितर इन्द्रादि से सांख्यानुगत पितर–इन्द्रादि का सर्वथा पार्थक्य है। चान्द्रसर्गानुगत पितर–इन्द्रादि भूतसर्गप्रवर्त्तक भूतप्रधान बनते हुए जहाँ मर्त्य है, वहाँ सौरादि अन्नाद पितर–इन्द्रादि प्राणसर्गात्मक देवसर्गप्रधान बनते हुए अमृत हैं, जिन का भूतवादी-त्रिगुणवादी सांख्य ने अपनी तत्त्वमीमांसा में स्पर्श भी नहीं किया है। एक प्रासङ्गिक नितान्त अवधेय दृष्टिकोण और मीमांस्य—

सांख्य ने मनुष्य को मध्यसर्ग मानते हुए इसे रजोविशालसर्ग (रजोगुणप्रधान) कहा है। एव इस मान्यता के साथ उसने कृमि कीटादि की गणना में मनुष्यसर्ग का परिगणन माना है। सांख्य की इस मान्यता का हम समादर करेंगे—मनुष्य की 'शरीरदृष्टिप्रधान भूतदृष्टि' के आधार पर। शरीरात्माधिकरण-आत्मवादी यथाचान आत्मबोधवञ्चित मनुष्य वास्तव में पशुवत् भूतसर्गात्मक ही है। आत्मबोधानुगता वेदान्तनिष्ठा (वेदान्तदर्शन–उपनिषन्निष्ठा) की दृष्टि से आत्मबोधानुगत मनुष्य का स्थान न केवल चान्द्रभूतसर्ग से ही श्रेष्ठ है, अपितु स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर्य्यन्त के समस्त विश्वसर्ग के समतुलन में मानव श्रेष्ठ है, श्रेष्ठतर है, श्रेष्ठतम है, जैसा कि पुराणपुरुष की निम्नलिखित रहस्यवाणी से प्रतिध्वनित है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—
न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" —महाभारत

मान्यता है सिद्धिवादी तान्त्रिकों की ऐसी कि, मानव अमुकामुक दीक्षानुगत तन्त्र-प्रकारों के अनुगमन से देवसर्गवत् सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, जिन सिद्धियों का योगात्मक प्रकार योगदर्शन में बड़े आटोप से उपवर्णित माना गया है योगाभ्यासक्त समाधिपरायण सिद्धों की मान्यता में। अष्टसिद्धि, नवतुष्टि, ये १७ ऋद्धियाँ पूर्वोक्त अष्टविध यक्षराक्षसपिशाचादि देवयोनियों में सहज हैं, जिन्हें मानव तन्त्रपद्धति के द्वारा, किंवा योगमार्गद्वारा प्राप्त कर यक्ष–राक्षस–पिशाचादिवत् सिद्ध बन सकता है, जिस सिद्धि के अन्वेषण में आज का मानव यत्र तत्र अन्वेषण-परायण बनता हुआ स्वात्मबोधपथ से

एकान्ततः लक्ष्यच्युत हो गया है। सिद्धियाँ नगण्य हैं परिपूर्ण मानव के आत्मबोध-समतुलन से, जो कि मानव प्रजापति विश्वेश्वर के निर्दिष्ट बनता हुआ—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' को अन्वर्थ बना रहा है। ब्रह्मविद्यात्मिका देवविद्या के प्रवर्त्तक भारतीय नैगमिक मानव (महर्षि) के "ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मनुष्याः" इस नैगमिक उद्घोष के सम्मुख, सहज सिद्धियों के सम्मुख, निगमानुगता आम्नायमूला सिद्धियों के समतुलन में सांख्यसर्गाभिनिविष्ट–कृमि कीटादिसर्ग समतुलित–रजोगुणासक्त्यासक्तमना यथाजात मनुष्य की सिद्धि कामना, सिद्धिप्रदाता असुर–राक्षसादि भावापन्न चान्द्र-देवता, तद्व्यामोहक सिद्धिमार्ग के उपदेशक, सब तुच्छ सर्वात्मना हतप्रभ हैं, जैसा कि 'भारतीय हिन्दू-मानव की भावुकता' नाम स्वतन्त्र निबन्धान्तर्गत 'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक परिच्छेद में विस्तार से प्रतिपादित है। अभिनन्दन कर रहे हैं हम भी उन सिद्धिकामुकों की मान्यता का निम्न लिखित शब्दों में—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु।
नानकृत्स्नविदो मन्दान्–कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ —गीता ३। २९।

प्रकृतमनुसराम। 'आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनः' (गीता ८। १६) से लोकसंग्रह-धिया संगृहीत पूर्वदिग्दर्शित चतुर्दशविध भूतसर्ग ही चान्द्रदाम्पत्यात्मक मूल पितर का चान्द्रपरिवार है, यही अन्नात्मक पितरों का १४ प्रकार का परिवार है, जिस की मध्यस्थता से ही हम प्रतिज्ञात महा-सङ्गीत का समन्वय करने के लिए समुत्सुक हैं।

सांख्यदर्शनानुगतश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः (चतुर्दशविधाः-अन्नपितरः-मर्त्याः)

१	(१४) ब्रह्मा (१)	—देवसर्गः (सत्त्वविशालः) ऊर्ध्वसर्गः-अष्टविधः
	(१३) प्रजापतिः (२)	
	(१२) इन्द्रः (३)	
	(११) पितरः (४)	
	(१०) गन्धर्वाः (५)	
	(९) पिशाचः (६)	
	(८) राक्षसः (७)	
	(७) यक्षः (८)	
२	(६) मनुष्यः (१)	—तिर्य्यक्सर्गः (रजोविशालः) मध्यसर्गः-पञ्चविधः
	(५) पशुः (२)	
	(४) पक्षी (३)	
	(३) कीटः (४)	
	(२) कृमिः (५)	
३	(१) स्तम्बः (ओषधिवनस्पतयः) (१)	—भूतसर्गः (तमोविशालः)-मूलसर्गः-अनेकविधोऽप्येकविधः

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः-चतुर्दशविधो भूतसर्गः चान्द्रसर्गः-द्यावापृथिव्यः-(मर्त्याः)

चान्द्रसर्गानुगत देवसर्गानुबन्धी ब्रह्म-प्रजापति-आदि देवसर्गानुगत प्राणसर्गानुबन्धी-ब्रह्म-प्रजापति आदि प्राणदेवों से पृथक् तत्त्व है, यह कहा जा चुका है। निम्न लिखित कतिपय निगमवचन इसी कथन को प्रमाणित कर रहे हैं। देखिए!

(८) सत्त्वविशालसर्गः–अष्टविध

(१)– चन्द्रमा वै 'ब्रह्म' (ऐत० ब्रा० २।४१)।	—ब्रह्म (८)
(२)—असौ वै चन्द्र 'प्रजापतिः' (शत० ६।२।२।१६)।	—प्रजापति (७)
(३)—यन्मनः स 'इन्द्रः' (गोपथ ब्रा० ७।४।११)। तद्यन्मनश्चन्द्रमा स (जै० उ० ब्रा० १।२८।५)।	—इन्द्रः (६)
(४)—सोमप्रयाजा हि 'पितरः' (तै० ब्रा० ७।६ ६।५)।	—पितरः (५)
(५)—चन्द्रमा 'गन्धर्वः' (शत० ६।४।१।६)।	—गन्धर्वः (४)
(६)—यातुधानेभ्य कण्डकाकार–'* पिशाचेभ्यः' विदलाकारम् (तै० ब्रा० ३।७।५)। —अथ य कामयेत पिशाचान्–गुणीभूतान्। (सा० वि० ३ ७।३)।	—पिशाच (३)
(७)—'रक्षांसि' वै पाप्मा अग्निः (ऐत० ब्रा० ।६।२) (–आग्नेयश्चन्द्रमा)।	—राक्षसः (२)
(८)—अन्न वै रूपम् (नाम च) (शत० ६।२।१।१२)। —सोमो राजा अन्न चन्द्रमा —(शत० ८।३।३।११) —नामरूपे वै 'यक्षे' (शत० ११।२।३।३)। —यक्ष भवति रूपमेव (शत० ११।८।३।५)।	—यक्ष (१)

(५) रजोविशालसर्गः–पञ्चविध

(९) – चन्द्रमा 'मनुष्यलोकः' (जै० उ० ३।१३।१२) ।	—मनुष्य (५)
(१०)–असौ वै चन्द्र 'पशुः' (शत० ६।२।२।१७)।	—पशुः (४)
(११)–वयो (पक्षी) वै 'सुपर्णः' (कौ० १।८।४)। –चन्द्रमा सुपर्णो धावते दिवि—(यजु स०)।	—पक्षी (३)
(१२)-चन्द्र प्राप्य—'कीटाः–पतङ्गाः' (शत० १४।६।१।१६)	—कीट (२)
(१३)-मन (चन्द्रमा) प्रजापति । श्रा 'कृमिभ्यः'–तत्तेऽन्नम् (बृ० आ० ६।१।१४)।	—कृमि (१)

(१) तमःसर्गः

(१४)–तदेतन्निदानेन यत् 'स्तम्ब' यजु । (शत० १।८।४।१२)।	—स्तम्ब (१)

चतुर्दशविधः–ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त–भूतसर्गः–चान्द्रः–"चन्द्रमा वै सर्व्वम्" (गोपथब्राह्मण पू० ५।१५)।

* "नैन रक्षो, न पिशाचो हिनस्ति, न जम्भको, नाप्सरो, न यक्ष । न सूचिका तस्य कुलेऽस्य जायते, इरामेण चैल्व यो विभर्त्ति"।

—शाङ्खायनारण्यक १२।५।

प्रकार के भूत ही (भूतप्रजा—"प्रजा वै भूतानि" (शत० ७।३।१।१) प्रजा पति के चौदह पुत्र हैं। सभी दाम्पत्यभाव से युक्त बनते हुए अपने अपने प्रातिस्विक ब्राह्म-प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्रादि परिवारों के अधिष्ठाता बन रहे हैं, जिन सब का स्वरूप परिचय स्वतन्त्रनिबन्ध-सापेक्ष ही है। पितरों के इस महा महनीय भूतपरिवार की सामान्यसंज्ञा चान्द्रसोम के सम्बन्ध से होगी 'पितर'। तभी तो इस भूतसर्ग-समष्टि को 'पितरपरिवार' कहना अन्वर्थ बनता है। परिवार ध्यक्ष चान्द्रपितर पार्थिवाग्निसमतुलन-दृष्ट्या 'रुद्र' कहलाया है। 'रुद्र' नामक पार्थिवाग्न्यनुगत चन्द्रमा, किंवा चान्द्रमहान्पितर इसी महत् भाव से 'महादेव' कहलाया है जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

"प्रजापतिरेतं रुद्र मब्रवीत्—'महान् देवोसी'ति। तद्यदस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमा-स्तद्रूपमभवत्। प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः। प्रजापतिर्वै महान् देवः"।

—शतपथ ६।१।३।१६।

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में—जिसमें कि नैगमिक वचनों का बड़ा ही रहस्यात्मक स्वरूप विश्लेषण हुआ है—इस पितरमूर्त्ति चान्द्र महान् का आध्यात्मिक स्वरूप विश्लेषण हुआ है, जिसे आत्मबोधानुशीलनपरायण परिपूर्णपथारूढ सहज मानव के लक्ष्य से यहाँ प्रसङ्गधिया उद्धृत कर दिया जाता है, जिस की रहस्यपूर्ण व्याख्या अध्यात्मजगत् में ही अन्वेष्टव्य है—

"तद्ध शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणञ्च (काक्षसेनिम्) ब्राह्मणः परिवेविष्यमाणा-उपावव्राज। तौ ह बिभिक्षे। तं ह नाऽऽददाते को वा को वेति मन्यमानौ। तौ होपजगौ—

"महात्मनश्चतुरो देव एकः कस्य जगार भुवनस्य गोपाः।
तं कापेय न विजानन्त्येकेऽभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टम्॥"

स होवाचाऽभिप्रतारीमं वाव प्रपद्य प्रतिब्रूहीति। इति। त्वया वा अयम्प्रत्युच्य इति। तं प्रत्युवाच—

"आत्मा देवानामुत मर्त्यानां हिरण्यदन्तो रपसो न सूनुः।
महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यददन्तमत्ति॥" इति।

महात्मनश्चतुरो देव एक इति। वाग्वा अग्निः (पार्थिवः)। स महात्मा देवः। स यत्र स्वपिति-तद्वाचं प्राणो गिरति। मनश्चन्द्रमास्स महात्मा (महाना-

त्मा) देवः । स यत्र स्वपिति, तन्मनः प्राणो गिरति । चक्षुरादित्यस्स महात्मा देवः । स यत्र स्वपिति, तच्चक्षुः प्राणो गिरति । श्रोत्रं दिशस्ता महात्मानो देवाः । स यत्र स्वपिति, तच्छ्रोत्रं प्राणो गिरति । तद्यन्महात्मानश्चतुरो देव एक इत्येतद्ध तत् । कस्स जगारेति । प्रजापतिर्वै कः (अनिरुक्तः) स हैतज्जगार । भुवनस्य गोपा इति । स उ वाव भुवनस्य गोपाः । तं कापेय विजानन्त्येके–इति । न ह्येतमेके विजानन्ति । अभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टमिति । बहुधा ह्येवैष निविष्टः–यत्प्राणः । आत्मा देवानामुत मर्त्यानामिति । आत्मा ह्येष देवानामुत मर्त्यानाम् । हिरण्यदन्तो रपसो न सूनुरिति । न ह्येष सूनुः । सूनुरूपो ह्येष सन्न सूनुः । महान्तमस्य महिमानमाहुरिति । महान्तं ह्येतस्य महिमानमाहुः । अनद्यमानो यददन्नमत्तीति । अनद्यमानो ह्येषोऽदन्नमत्ति । (इति न्वध्यात्मम्) ।

देवो देव्या समधत्त (दाम्पत्यभावे परिणतः) । तासां वा एतासां देवतानां द्वयोर्द्वयोर्देवतयोर्मिथुनान्यक्षराणि सम्पद्यन्ते । इत्योऽधिदैवतम् । एवं हैतस्मिन् सर्वमिदं समोतं गन्धर्वाप्सरसः पशवो मनुष्याः" इति । (जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण) ।

ऋ, से उपलक्षित चान्द्रसोमात्मक महत्पितर (मर्त्यपितरश्च) पिता है, पार्थिव धरातल माता है, द्यौ पिता है, पृथिवी माता है, दोनों के दाम्पत्य से प्रसूत ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त १४ रौद्र चान्द्र प्रजासर्ग हैं, यही 'भ्रातृसर्ग' है, एवं इन से समतुलित द्यावापृथिव्य प्राणशक्तियाँ 'स्वसृसर्ग' (भगिनीसर्ग) हैं । १४ भ्राता, १४ भगिनियाँ, सम्भूय २८ सन्ततियाँ (भाईबहिन) द्यावापृथिव्य चान्द्रसम्वत्सराकाश में (इसी से उत्पन्न होकर) विचरण कर रही हैं । सापिण्ड्यपितृवंश की भाँति इन भाई-बहनों के भी स्वतन्त्र वंश वितत होते हैं, जो भूतसर्ग का एक कौतूहलपूर्ण रहस्यात्मक विषय माना गया है । ब्रह्मादिभ्रातृवर्ग से दाम्पत्यभावयुक्ता सर्गपत्नियाँ 'साम्राज्ञी' कहलाई हैं, जिन्हें लोकानुबन्धी महासंगीत में 'महाराणी' कहा गया है । ब्रह्मादि भ्राताओं की प्राणशक्तिरूपा बहिनों में से कुछ एक तो दाम्पत्यभाव से युक्त होकर भूतसर्ग में सहयोग प्रदान करती हैं, एवं कुछ एक दाम्पत्यभाव से असम्पृक्त बनी रह कर भूतसर्ग में विघ्नपरम्परा का सर्जन किया करती हैं । चौदह भ्राताओं की चौदह बहिनों के इस दृष्टिकोण से ७–७–के दो श्रेणिविभाग हो जाते हैं । ब्रह्म–प्रजापति–इन्द्र–पितर–गन्धर्व–यक्ष–मनुष्य, इन सात भूतसर्गों की (भ्राताओं की) सात बहिनें तो शुक्लचन्द्रानुगता रात्रि को (शुक्लपक्ष को) अपना आवास बनाती हुई दाम्पत्यभाव से युक्त हैं, यही सप्तधमा-समष्टि 'शुक्लस्वसा' कहलाई है । एवं पिशाच राक्षस-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब–इन सात भूतसर्गों की (भ्राताओं की) सात बहिनें कृष्णचन्द्रानुगता रात्रि (कृष्णपक्ष) को अपना आवास बनाती हुई दाम्पत्यभाव से वञ्चित हैं, सर्गस्वरूपविघातिका निर्ऋति

देवता-(दरिद्राताप्रवर्त्तक नैऋत्यकोणस्थित विध्वंसक सर्वस्वापहारक घोरतम याम्यप्राणदेवता)-सम तुलिता हैं, यही सप्त स्वसासमष्टि "कृष्णस्वस्रा" कहलाई हैं। महासङ्गीतात्मिका लोकभाषा में ब्रह्माद्य नुगता शुक्लस्वस्राओं को 'ऊजली सात भैंणाँ' (शुक्लसप्तस्वसा) कहा जाता है, एवं पिशाचाद्य नुगता कृष्णस्वसाओं को 'मैली सात भैंणाँ' (कृष्णसप्तस्वसा) कहा जाता है। यही स्थिति ब्रह्मादि स्तम्वपर्य्यन्त वितत चतुर्दश भ्रातृवर्ग के साथ समतुलित है, जो 'ज्येष्ठभ्राता' कहे जायँगे। प्राकृतिकसर्ग में चान्द्रद्यावापृथिव्य पितर ही सर्वप्रथम ब्रह्मादि चतुर्दशभाव व्यक्त होते हैं, तदनन्तर इनकी स्वस्वरूप समतुलिता चतुर्दश प्राणशक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। अतएव चतुर्दश भ्रातृवर्ग को 'ज्येष्ठ' कहा जायगा, एवं चतुर्दश स्वसृवर्ग को 'कनिष्ठ' माना जायगा। छोटी भगिनी के लिए ही 'स्वसा' शब्द नियत है, जो लोक में अपने ज्येष्ठभ्राता की पत्नी (भावज-भोजाई भाभी) की ननान्द्री। (ननद नणद नणदोली-नणदल) कहलाई है। सङ्गीतभाषा में इसी ज्येष्ठ-कनिष्ठ भावानुबन्ध से ब्रह्मादि चतुर्दश तूलपितरों को 'दादाभाई' (बडाभाई-ज्येष्ठभ्राता) कहा जाता है, और इस सम्बन्ध में एसा मान्यता है कुलदेवियों की कि, जब किसी पारिवारिक बालक, अथवा तो स्त्री पर पितृदोष का आक्रमण हो जाता है, तन्निराकरणार्थ जब ये देवियाँ रात्रिजागरणादि लोकानुष्ठानों के द्वारा सर्वप्रथम भगिनीवर्ग (जोकि इनकी प्रान्तीयभाषा में—'मावली' नाम से प्रसिद्ध हैं) को सन्तुष्ट कर इन से यह जानने का मान सिक सकल्प इनके सम्मुख परोक्षरूप से श्रद्धापूर्वक अभिव्यक्त करतीं हैं, तो कबन्ध अथर्वा की भाँति पर कायप्रवेश-द्वारा यह स्वसृवर्ग पितृदोषाक्रमण (मूलदोषाक्रमण) का कारण स्वय बतला देतीं हैं। यदि यह कारण स्वरूप इनको अपनी सीमित प्राणशक्ति से बहिर्भूत रहता है, तो ये परकायप्रवेश द्वारा उस समय यह आश्वासन प्रदान कर अन्तर्हित हो जातीं हैं कि—"हम दादाभाई-(ज्येष्ठभ्रातृवर्गात्मक ब्रह्मादि पितरों) से पूछ कर तुम्हें इस दोषाक्रमण का कारण बतला सकेंगी"—"दादाभाई से पूछर थानें पाछे बतरॉला"—आदि प्रान्तीय प्रचलित व्यवहार वास्तव में बडा ही रहस्यपूर्ण माना जायगा, जिस केवल पोथी का पण्डित व्याख्यासहस्रों से भी तबतक इस लोकश्रद्धात्मक व्यवहारकाण्ड का श्रद्धापूर्वक समन्वय नहीं कर सकता, जब तक कि वह स्वय इस महासगीतभाषा का अनुगामी नहीं बन जाता।

जैसा कि कहा गया है, ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त चतुर्दशविध ज्येष्ठभ्रातृवर्ग में भी ७-७-के दो ही सप्तक प्रधान हैं। ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र-पितर-गान्धर्व-यक्ष-मनुष्य, यह प्रथमसप्तक तो शुक्लचन्द्रा नुगता रात्रि (शुक्लपक्ष) को अपना आवास बनाते हुए दाम्पत्यभावानुगति से विश्वसर्ग के संरक्षक बना रहता है, एवं पिशाच राक्षस-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब, यह द्वितीय सप्तक कृष्णचन्द्रानुगता रात्रि (कृष्णपक्ष) को अपना आवास बनाते हुए नियत वैध दाम्पत्यभावानुगति से वञ्चित रहता हुआ अनियमित स्खलन प्रक्रियाओं को चरितार्थ करता हुआ विश्वसर्ग का विध्वंसक बना रहता हैं। दोनों भ्रातृसर्गसप्तक दोनों स्वसृसर्गसप्तक से समतुलित हैं। ठीक यही समतुलनभाव भ्रातृसप्तक द्वय की

वैध-अवैध चतुर्दश पत्नियों में समन्वित समझना चाहिये, जिन्हें पूर्व में 'साम्राज्ञी' कहा गया है, जो संगीतभाषा में 'महाराणी' कहलाई हैं। ब्रह्मादि-मानवान्त प्रथम सप्तक का सप्त वैध पत्नीवर्ग 'साम्राज्ञी' कहलाएगा, एवं पिशाचादि स्तम्बान्त द्वितीय सप्तक का अवैध उपपत्नीवर्ग निगमभाषा में 'निर्ऋति' कहलाएगा, तन्त्रभाषा में 'धूमावती' कहलाएगा, लोकभाषा में 'विधवा' कहलाएगा। इन लोकमान्यताओं का मूल सर्वात्मना निगमशास्त्र ही बना हुआ है। कहाँ, कैसे ?, अन्वेष्टव्यम्। अन्वेषण कीजिए श्रद्धापूर्वक, आस्थानुगता विधि को मूल बना कर, अश्रद्धानुगता 'निषेधभाषा' (नहीं है, नहीं मानते) को सर्वात्मना विस्मृत करते हुए। तदैव महती सम्भूतिः। अन्यथा तु महती विनष्टिः।

तथोपवर्णित चान्द्र-द्यावापृथिव्य-पितरपरिवार की सामान्य संज्ञा है—'पितर', जिनका पूर्वविश्लेषणानुसार सप्त-सप्त भेद से शुक्ल-कृष्णरात्रियों (शुक्लकृष्णपक्षात्मक चान्द्रमासमण्डल) में ही आवास निवास है, जैसा कि निम्नलिखित निगमवचनों से प्रमाणित है—

(१)—तत्तमम: पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति (शत० १३।८।४।६।)।

(२)—रात्रिः पितरः (शत० २।१।३।१।)।

(३)—तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः (परोक्षाः) (शत० २।४।२।२।)।

(४)—स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः (शत० २।४।२।२।)।

*(५)—ये ऽयज्वानो गृहमेधिनो पितरोऽग्निष्वात्ताः (तै० ब्रा० १।६।६।६।)।

*(६)—मर्त्याः पितरः (गृहमेधिनोऽयज्वानः)—(शत० २ १।३।४।)।

(७)—सर्वतः पितरः (शत० २।६।१।११।)।

*(८) गृहाणां हि पितर ईशते (शत० २।६।१।४१।)।

औपपातिक सौम्य पितर का प्रतीक जहाँ पारिवारिक अविवाहित असंस्कृत (यज्ञोपवीत संस्कार जिस का नहीं हो गया हो, वैसा) कुमार है, वहाँ पितृस्वमा की प्रतीक सधवा पुत्रवती स्त्री,

---

* *उक्त निगमानुबन्धी 'पितर' वे औपपातिक मर्त्य-अयज्वान* (जिनके लिए पिण्डपितृयज्ञधन् आहुति नहीं दी जाती) पितर हैं, जो चतुर्दशविध चान्द्र मर्त्य भूतसर्ग से सम्बन्धित हैं। सापिण्ड्यानुगत पितर यज्वान हैं, अहरनुगत हैं, अमृतभावापन्न हैं, जो मर्त्य रात्रिपितरों से सर्वथा विभिन्न हैं, जैसा कि—"तृतीये हि लोके पितरः" (तां० ब्रा० ६।८।४।)—"गृहाणां ह पितर ईशते" (शत०-२४.२।२४—"देवा वा एते पितरः" (कौ ५।६।)—"एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोकेऽन्वाभक्ता भवन्ति यदेषां प्रजा भवति" (शत० १३।८।१।६।) "तद्यदमृतं सोमः सः (सोमः पितरः)" (शत० ६।४। १।८) इत्यादि निगम वचनों से प्रमाणित है।

तथा विधवा अपुत्रवती स्त्री मानी गई है। रात्रिजागरणानन्तर दूसरे दिन चीराश्रादि से उस कुमार का, एवं इन दोनों स्त्रियों का वस्त्र-भोजनादि द्वारा सम्मान किया जाता है। प्रान्तीय लोकगीत परिभाषानुसार तथाविध कुमार 'कँवारा छोरा' है, तथाविध दोनों स्त्रियाँ 'गोरणी' (गोरथानीया शुक्लस्वसा सप्तक-प्रतीकभूता पुत्रवती सधवा, कृष्णस्वसासप्तक-प्रतीकभूता अपुत्रा विधवा) क्रमशः 'उजली, मेली' कहलाई हैं। इस लोकाम्नाय को आप तब मान्यता प्रदान करेंगे, जब कि निगमशास्त्र में भी कहीं ऐसा विधान विहित हुआ हो। ठीक है। निगममहर्षि आप की यह जिज्ञासा पूरी करें, यही कामना है। हमने तो इस सम्बन्ध में यह आम्नायमूल सुन रक्खा है निगमतत्त्व याख्याता आचार्यों से कि—

'राज' पद प्राप्तिसम्पादक 'राजसूयब्राह्मण' की इतिकर्तव्यता का अनुगमन करता हुआ शास्ता क्षत्रिय राष्ट्रतन्त्रसञ्चालक सेनानी-पुरोहित-सूयमान-राजमहिषी (पट्टराज्ञी)-सूत-आदि १४ रत्नों को अपने अनुगत बनाने के लिए इनके आवास स्थानों में स्वयं ऋत्विजों के साथ जा जा कर क्रमशः 'अग्नये अनीकवते अष्टाकपालं पुरोडाशम्'—'बार्हस्पत्यं चरुम्' इत्यादि विभिन्न होमों का अनुष्ठान करता है। इस रत्नहोमानन्तर दूसरे दिन राज्यलक्ष्मी-राज्यश्री की महती प्रतिबन्धिका कृष्णभावापन्ना निर्ऋति से राज्यश्री को सुरक्षित रखने के लिए 'नैर्ऋतं चरुं निर्वपति'। इस नैर्ऋत चरुनिर्वापकर्म की प्रतीक मानी गई है-'परिवृत्ती'। अपुत्रा स्त्री ही परिवृत्ती है। वास्तव में यह कर्म्म में, अभ्युदयसाधक कर्म्म में प्रवृत्त कराने की अपेक्षा निवृत्त कराती हुई 'परिवृत्ती' है। यही इस का नैर्ऋतभाव है। इस प्रतीक के अतिरिक्त कृष्णवर्णप्रधान व्रीही, कृष्णा गौ, नखप्रद्वारा कृष्णव्रीही का वितुषीकरण आदि सब कृष्णभाव-मलीमसभाव निर्ऋति के ही प्रतीक हैं। क्या श्रुति का एवंविध प्रतीकभाव पूर्वोक्त लोकाम्नाय का मूल नहीं बन सकता ?, मनन कीजिए श्रुति के लोकाम्नायमूलक निम्नलिखित अक्षरों का—

> 'अथ श्वोभूते परिवृत्त्यै गृहान् परेत्य नैर्ऋतं चरुं निर्वपति। या वा अपुत्रा- सा परिवृत्ती। स कृष्णानां व्रीहीणां नखैर्निर्भिद्य तण्डुलान्नैर्ऋतं चरुं श्रपयति। या वा अपुत्रा, सा निर्ऋतिगृहीता। तदेवैतच्छमयति। तथो हैनं सूयमानं (राजानं) निर्ऋतिर्न गृह्णाति। तस्य दक्षिणा कृष्णा गौः परिमूर्णी पर्यारिणी। सा ह्यपि निर्ऋतिगृहीता" इत्यादि।
>
> —शतपथ राजसूयब्राह्मण ५।३।१।१३।

मलीमसभाग-प्रवर्ग्यभाग-उच्छिष्टभाग-परित्यक्तभाग-ऊसरभाग—रूक्षभाग-आदि आदि समृद्धिविरोधी सम्पूर्णभाव निर्ऋति के ही प्रतीक माने गए हैं। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्रानुगता

निर्ऋति-प्रतीकभूता धूमावती नाम की महाविद्या का यशोगान हुआ है इन शब्दों में—"विधवा-विरल-द्विजा-धूतहस्ता-शूर्पहस्ता-उन्मुक्तकेशा-काकध्वजरथारूढा-इत्यादि (वह विधवा है, दाँत उसके छितरे हैं, हस्त उसके अशुभ मुद्रा से कम्पित हैं, छाजला उसके हाथ में है, रथ उस का भग्न है, काक उस के रथ की ध्वजा है—इत्यादि)। नक्षत्रों में मूलनक्षत्र निर्ऋति का प्रतीक है (तै० ब्रा० १।५।१४)। पृथिवी का ऊसरप्रदेश (जहाँ कृषि नहीं हो सकती), बड़ी बड़ी दरारें, बंजड़ भूप्रदेश, आदि पार्थिवप्रदेश निर्ऋति के प्रतीक हैं। श्वान-काक-गृद्ध-आदि अशुभ प्राणी इसी के प्रतीक हैं। रिक्तघट-घ्राण-छिक्का-आदि इसी के प्रतीक हैं। उष्णीशशून्य मस्तक, मलयुक्त शरीर, जीर्णवस्त्रादि इसी के प्रतीक हैं। निष्कर्षतः पिशाच-राक्षसादि-निबन्धन सम्पूर्ण मलीमसभाव 'निर्ऋति' के ही प्रतीक हैं—'पाप्मा वै निर्ऋतिः' (शत० ७।२।१।११)। उन आम्नायप्रमाणाभिनिविष्टों को सन्तुष्ट होना ही चाहिए इस निर्ऋतिस्वरूपातिथ्य से।

पिशाचादि-रक्षोन्त सप्त मलीमस भ्रातृवर्ग की सप्त मलीमस स्वसृवर्ग की प्रतीक निर्ऋति-लक्षणा (दरिद्रा-ज्येष्ठा-मूलानुगता-धूमावती-अलक्ष्मीभावापन्ना) विधवा नारी (मैली गोरणी) के नैगमिक आम्नायप्रामाण्य के सम्बन्ध में निर्ऋतिचरु-यागानुगता अपुत्रा परिवृत्ती का स्वरूप विश्लेषण किया गया। अब प्रश्न उपस्थित हुआ ब्रह्मादि मनुष्यान्त सप्त सात्त्विक भ्रातृवर्ग की सप्त सत्त्व-भावापन्ना स्वसाओं की प्रतीकभूता सधवा नारी (उजली गोरणी) के नैगमिक आम्नाय प्रामाण्य के सम्बन्ध में। पतिपुत्रयुक्ता सधवा-सौभाग्यवती वीरा पत्नी ही इस आम्नाय का आधार है। चिह्नप्रतीक-रूप से दरिद्रा की प्रतिद्वन्द्विनी लक्ष्मी, नक्षत्र प्रतीकरूप से ज्येष्ठा नक्षत्र की प्रतिद्वन्द्विनी रोहिणी, तन्त्रानुगता धूमावती की प्रतिद्वन्द्विनी कमला, इन सब मङ्गलभावों की प्रतीकभूता नारी-सधवानारी वास्तव में सत्त्वभावापन्ना सप्त स्वसाओं की प्रतीक बन रही है, जो पैत्रसर्ग से सर्वात्मना समतुलित है। लक्ष्य बनाइए निम्न लिखित श्रौत वचनों को इस आम्नाय-प्रामाण्य के समर्थन के लिए—

(१) श्रिया वा एतद्रूपं-यत् पत्न्यः (तै० ३।६।४।७-८।

(*) श्रीर्वै सोमः (शत० ४।१।३।६।)

(२) गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा (शत० ३।३।१।१०।)

(*) गृहाणां हि पितर ईशते (शत० २।६।१।४२।)

(३) अन्तभाजो वै पत्न्यः (कौ० १६।७)।

(*) अन्तभाजो वै पितरः (कौ० १६।८)।

अब क्रमप्राप्त 'कुमार' से सम्बन्धित आम्नाय-प्रामाण्य का भी नैगमिक समर्थन प्राप्त कर लीजिए। सधवापत्नी, विधवानारी, कुमार, तीनों इस रात्रिजागरणानुगत औपपातिक पितर के प्रतीक

बनते हुए भोजनवस्त्रादि द्वारा सम्मान्य हैं, यह कहा जा चुका है। उभयविध स्त्रियाँ जहाँ उभयविध स्वसृवर्ग की आम्नायानुमोदिता प्रतीक हैं, वहाँ उभयविध भ्रातृवर्ग का प्रतीक माना गया है पारिवारिक अविवाहित कुमार (घर का कँवारा लड़का)। इसलिए कि चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक भ्रातृवर्ग रुद्रात्मक है। एवं रुद्रभाव का साक्षात् प्रतिमा मानी गई है 'कुमार'। बालक जैसे क्षणे तुष्ट क्षणे रुष्ट है, तथैव रुद्र भी। तभी तो यजु संहिता में इसके लिए 'उभयतो नमस्कार' विहित हुआ है। अग्निचयनविद्या में जहाँ प्रजासर्ग का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, वहाँ रुद्ररूप से ही उत्पन्न शिशु का स्वरूपविश्लेषण हुआ है (देखिए–शत० ६।१।१। प्रथमब्राह्मण)। इसी आधार पर रुद्र का नवमरूपात्मक कुमार 'रुद्रपुत्र' माना गया है (ऋक् सं० २।३३।१)। 'यदरोदीत्–तस्मात्–स कुमारः–रुद्रः' (शत० ६।१।३।८।१०।) श्रुति स्पष्ट ही कुमार का रुद्रत्व प्रमाणित कर रही है। नक्षत्रों में रुद्र का प्रतीक कृत्तिका नक्षत्र है, जिसके षट्तारका 'षट्कुमार' कहलाए हैं। ऋतुओं में षड्ऋतुसमष्टि रुद्र का प्रतीक है। अतएव षड् ऋतु समष्टि को 'षट्कुमार' माना गया है—(महाभारत–आदिपर्व–१।१४४।)। "तानीमानि भूतानि–(षडृतवः) च भूतानाञ्च पतिः (रुद्रः) सम्वत्सरे उषसि रेतोऽसिञ्चत्। स सम्वत्सरे कुमारोऽजायत। सोऽरोदीत्। तस्मात्–रुद्रः (कुमारः)" (शत० ६।१।३।१०।) स्पष्ट है। रुद्र पितृसमष्टि रूप (चतुर्दशविधपितृसर्गसमष्टिरूप) है,× पितर षड्ऋतुरूप है, मनोमय है, सोमप्रधान है। कुमार इन सब पैत्रसर्गों का समष्ट्यात्मक प्रतीक है। अतएव इसे प्रतीकविधा से सम्मानित करना आम्नायानुमोदित बन रहा है।

"चान्द्ररुद्रात्मक चतुर्दशविध भ्रातृवर्ग 'भ्रातृवर्ग' है, तत्पत्नियाँ साम्राज्ञी है, तत् अवान्तर प्राणशक्तियाँ १४ भागों में विभक्त है, और ये 'स्वसा (बहिनें) हैं' इस भ्रातृभगिनी–सम्बन्ध का सर्वथा विस्पष्टरूप से नैगमिक मूल अभी तक समुपस्थित नहीं कर सके हम। करते भी कहाँ से, जब कि यह केवल हमारे श्रद्धान का क्षेत्र है। मान्यता ही तो है ऐसी हमारी। किन्तु श्रद्धाशून्य अभिनिविष्ट तो ऐसी 'अन्ध' मान्यताओं के समर्थक नहीं बन सकते। वस्तुगत्यातु पितृकर्म्म लोकानुबन्ध मान्यतानुगामी रात्रिजागरणात्मक–महासङ्गीतात्मक (लोकगीतात्मक) बनता हुआ न श्रोत्र रखता, न चक्षु रखता। न हम इस अन्धश्रद्धाक्षेत्र में (पितृश्रद्धाक्षेत्र में) कुछ तर्क वितर्क सुनना चाहते, न ऐसी व्याख्यात्मिका बुद्धिदृष्टि का ही अनुगमन करना चाहते। यही नहीं, हम तो इस दिशा में साभिनिवेश यह मान्यता अभिव्यक्त करने में भी अपना श्रद्धा–किंवा अन्धश्रद्धा को गौरवान्वित ही अनुभूत कर रहे हैं कि, जैसे

× 'षड्वा ऋतवः पितरः' (शत० ६।४।३।८)—'मनः पितरः' (शत० १४।४।३।१३)–'सोमप्रधाना हि पितरः' (तै० ब्रा० १।६।६।४।) 'पितृदेवत्यो हि सोमः' (शत० ७।४।७।१२)—'यद्रुद्रश्चन्द्रमास्तेन' (गौ– ६।७) 'तस्मात् स कुमारो रुद्रः' (शत० ६।१।३।१०।) इत्यादि।

हम हैं, वैसे ही हमारे पितर हैं। यदि हमारे कान-आँख नहीं हैं, हम यदि बधिर और अन्ध हैं, तो हमारे पितर भी तथाविध ही होंगे। रात्रिजागरणात्मक यह भौतिक पितृकर्म्म शरीरानुबन्धप्रधान है। यहाँ मनोऽनुवर्त्तिनी श्रोत्रेन्द्रिय, तथा चक्षुरिन्द्रिय से अनुगत श्रुति-दृष्टि का समावेश करना सहज मूल-स्वरूप का विरोध ही करना है। वे आजाँय, उन्हें हम तृप्त करदें, इससे हमारा मन भर जाय, बस भूतनिबन्धना पितृकर्म्मेतिकर्त्तव्यता यहीं समाप्त है। 'शृण्वन्तः-पश्यन्तः' भावानुगता बुद्धिगम्य व्याख्या का प्रवेश इस पितृश्रद्धाक्षेत्र में एकान्ततः वर्ज्य उपेक्षणीय ही माना जायगा। तभी तो महासङ्गीत की भाषा में-'भोमियाजी आँधा छानें दीखोजी, बहरा छानें दीखोजी' (हे भौम पार्थिव पितरो! हम उपास्याओं के लिए तो आप भी हमारी भाँति श्रुति-दृष्टि से कोई सम्बन्ध न रखते हुए केवल श्रद्धा के ही अनुगामी हैं) यह भाव अभिव्यक्त हुआ है, जिसकी मीमांसा तत्रैव षष्ठ महासङ्गीत की पावनस्मृति के अवान्तर विकल्पात्मक महासङ्गीत में समन्वित होगी।

किन्तु आप तो-'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः' जो हैं। आप तो सुनना भी चाहेंगे, सुन कर देखना भी चाहेंगे। तदन्तर भी श्रद्धाक्षेत्र से आप अभिनिवेशानुग्रह से सर्वथा बहिष्कृत ही रहेंगे। सुन लेंगे, देख लेंगे, समझ भी लेंगे, अपने अन्तःकरण में। किन्तु सर्वथा घातक-नितान्त कल्पित-व्यक्तिप्रतिष्ठा के व्यामोहन से न तो कुछ मानेंगे ही, और न कुछ करेंगे ही। अस्तु इस दिशा में भी इच्छा न रखते हुए हम तो अपना कर्त्तव्यपालन कर ही लेते हैं। आप-'यथेच्छसि, तथा कुरु'।

कथनमात्र के लिए 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः' भक्त, घोषणामात्र के लिए वेदानुगामी, परम्परामात्र के लिए यज्ञस्थानुसारी उन अभिनिविष्ट निगमभक्तों का ध्यान इस दिशा में हम पूर्वप्रतिज्ञात 'महाहविर्य्याग'त्मक काम्ययाग के कुछ एक प्रासङ्गिक विशेष स्थलों की ओर आकर्षित कर देना ही पर्य्याप्त मान रहे हैं। जो संग्राम में शवशरीर का परित्याग कर प्रेतभाव (प्रेतयोनि-भौमयोनि) में परिणत हो गए हैं, वे ही 'पितर' महाहविर्य्याग में संगृहीत हैं (शत० २।५।६।१।)। इस महाहविर्यागाङ्गभूत इस प्रेतपितृयजनकर्म्म [काम्यकर्म] से यजनकर्त्ता के नृशंशधर्म्म से, अथवा तो प्रकृत्या मारे जाकर-मरकर प्रेतपितर बनते हुए इसे उत्पीडित किया करते हैं, वह क्षतिपूर्त्ति हो जाती है। यही इस काम्य पितृकर्म्म का फल है (शत० २।५।६।३।)। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस कर्म्म में (अन्नात्मक) 'सोमवन्' नामक पितरों के लिए षड्ऋतु के सम्बन्ध से (तथा षट्पितृपरम्पराके षट् अनुशय के सम्बन्ध से) 'षट्कपालपुरोडाश' का निर्वाप होता है। 'बर्हिषन्' नामक अन्नपितरों के लिए आधे पिसे हुए 'धान' का सम्पादन होता है। एवं 'अग्निष्वात्ता' नामक अन्नपितरों के लिए नूतनप्रसूता (प्रथमप्रसूता पहलून) 'नियानी' गौ के दुग्ध में सकृदुपमथित एकशलाका से सम्पन्न 'मन्थः'÷ द्रव्य

÷ इस 'मन्थ शब्द के इतिहास में पुराणपुरुषद्वारा (भगवान् व्यास) प्रतिपादित 'समुद्रमन्थनात्मक' रहस्यपूर्ण 'सृष्टि-इतिहास' गर्भीभूत है। समुद्रमन्थन से उत्पन्न चतुर्दश रत्नों में से

सम्पन्न किया जाता है। जिन पितरों को (शवदाह के समय) क्रव्यमूर्ति 'रमशा' नामक क्रव्यादाग्नि स्वाद पूर्वक अपना अन्न बनाता है, वे अन्नपितर ही 'अग्निष्वात्ता' कहलाए हैं। यही इन पितरों का स्वरूप-परिचय है (शत० २।६।१।४, ५, ६, ७, ८,)। पितर अपने सहज सौम्यरूप से (सोमधर्म्म से) दक्षिणदिशा का ही अनुगमन किया करते हैं। अतएव षट्कपालोपधानकर्म्म दक्षिणदिगनुगत ही किया जाता है। ये प्रेतपितर हैं, मर्त्य हैं, मृत्युमय हैं। सोम उत्तरदिशा से दक्षिणदिशा की ओर आया करता है। अतएव 'नोदीचीनशिराः शयीत' इत्यादि रूप से श्रुति ने उत्तरदिशा की ओर मस्तक रख कर शयन करना सर्वथा निषिद्ध माना है। (ये प्रेतपितर अमर्य्यादित हैं, सर्वथा च्युतभावापन्न हैं, अत एव इन की निश्चित दिशा-पूर्व-पश्चिमादि नहीं है। अपितु) अवान्तर दिशाएँ-इतस्ततः के कोण-हीं इन का विचरण प्रदेश है। अत इनके लिए अवान्तर दिशाओं को ही सीमा बनाया जाता है। इत्यादि प्रकारों से अन्त में षट्नमस्कारपूर्वक यह महाहविर्यागाङ्गभूत काम्य पितृकर्म्म समाप्त होता है (ब्राह्मण-शेष प्रकरण २।६।१।

उक्त ब्राह्मण से आगे के पञ्च अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में 'रुद्रयागात्मक' काम्यकर्म्म का विधान हुआ है जो पितृकर्म्म का अङ्गभूत माना गया है। उत्पन्न-अनुत्पन्न पारिवारिक प्रजा इस पितृ कर्म्म से पितृ-अधिष्ठाता रुद्र के कारण उत्पीडित न बन जाय, इस काम्यभाव की समिद्धि के लिए ही रुद्रयाग विहित हुआ है। इसी के सम्बन्ध में प्रक्रान्त महाहविर्यागानुबन्धी पितृकर्म्माङ्गभूत रुद्रयाग की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि—"रुद्रयाग से यजमानप्रजा अनमीवा (शरीरदोषरहित), एवं अकिल्बिष (मनोदोषरहित) बन जाती है। जिन असंख्यात रुद्रों का—'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (यजु स०) इत्यादि असंख्य-रुद्रसंख्यानुगतिपूर्वक उपवर्णन आता है, वह असंख्य मात्र रुद्र के महिमारूप हैं। मूलरूप तो रुद्र का एक ही है, जैसा कि-'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। अतएव रुद्र के लिए 'एककपालपुरोडाश' का ही निर्वाप होता है।

'चन्द्रमा' भी अपना एक विशेषस्थान रखता है। 'चन्द्रमा' उस आपोमय-पार्थिव-अत्रिप्राणप्रधान समुद्र के मन्थन से उत्पन्न आत्रेय सोम का वह पिण्ड है, जिसे हम इस पयोरूप (दुग्धरूप) अर्णव का 'नवनीत' (मक्खन) कह सकते हैं। मन्थनादुत्पन्न होने से ही चन्द्रमा नवनीत समतुलित बनता हुआ 'मन्थ' है, जिसे परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'मन्थी' कहा गया है, जैसा कि—"चन्द्रमा वै मन्थी" (शत० ४।१।१।१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। चान्द्रसोम 'मन्थ' है, इधर प्रेतपितर पार्थिव अर्णवसमुद्रात्मक पार्थिव अन्तरिक्ष में विचरण करते हुए चान्द्रसोममय ही हैं। अतएव गोरूप धरा पृथिवी की प्रतीकभूता 'निजानी' गाय के दुग्ध से मन्थनप्रक्रिया के द्वारा निर्मित नवनीतरूप द्रव्य भी 'मन्थ' ही कहलाया है।

रुद्र आग्नेय तत्त्व है। अग्नि दक्षिण से चल कर उत्तर में प्रतिष्ठित होता है। अतएव यह पुरोडाशद्रव्य उत्तर भाग में ही रक्खा जाता है। इस द्रव्य का प्रदान चतुष्पथ (चौराहे) में होता है। 'एतद्ध वाऽस्य जाष्टितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथम्' रूप से) चतुष्पथकेन्द्र रुद्र का विश्रामात्मक अवसान स्थान है। इसलिए यह कर्म चतुष्पथ में ही होता है *। रुद्राहुति-प्रदान के मन्त्र पर ध्यान दीजिये—

स जुहोति—'एष ते रुद्रभागः सह स्वस्रा अम्बिकया तं जुषस्व'। मन्त्रव्याख्या करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा। तया अस्यैष सहभागः। तद्यदस्यैष स्त्रिया सहभागः, तस्मात् 'त्र्यम्बक'नाम"। समन्वय कीजिये इस नैगमिक व्याख्या का। रुद्र आग्नेय तत्त्व, किन्तु चन्द्रसहयोग से 'अम्बा युक्त'। 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार, एवं 'तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डः, दिनकृद्दिशि चकास्ति चन्द्रिकाभिश्चकास्ते' इत्यादि तन्त्र अथ च ज्योतिष सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा आपोमय अर्णवसमुद्र में भी तो विवर्तरूप से विचरण करता है एवं यह स्वयं भी आपोमय (सोममय-भार्गव) पिण्ड ही है। यह चान्द्र-आप्य-शक्ति ही 'अम्बा', किंवा 'अम्बिका' है, जिसे सोमभाव के कारण 'स्त्री' भी कहा जा सकता है, जैसा कि "स्त्री वै सोमः" (शत० ...)—"स्त्रिया स्त्रियं समदधात्" (गोपथब्रा० पू० १।३।१) इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। चान्द्रस्वमहद्वासिनी यह अम्बिकाशक्ति (आपोमयीशक्ति) चन्द्रकन्या है, रुद्र स्वयं विवर्त (महिमा) भाव से चन्द्रपितर के पुत्र हैं। पुत्र रुद्र, कन्या अम्बिका, दोनों भ्रातृ स्वसा (भाई बहिन) सहचारी हैं। अतएव अम्बिकाशक्ती (कन्या) युक्त रुद्र को 'त्र्यम्बक' कहा जाता है, जो कि 'त्र्यम्बक' शब्द परोक्षभाषा में—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्' इत्यादि रूप से—'त्र्यम्बक' नाम से प्रसिद्ध है। यही मन्त्र महामृत्युञ्जयविधि का मूलाधार माना गया है। स्पष्ट ही यहाँ आकर—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा' रूप से रुद्रात्मक चतुर्दशविध भूतसर्ग, एवं अम्बिकामय (अप्शक्तिरूप) चतुर्दश ही स्वसृसर्ग की नैगमिकता उपोद्बलनेन प्रमाणित हो जाती है।

अन्य। इसी सन्दर्भ में प्रासङ्गिक समन्वय, जिसका अनुगम से ही प्रतिपाद्य महासङ्गीत के तत्त्वसमन्वय में उपयोग होने वाला है। चतुष्पथ में आहुति देने के अनन्तर जो शेष बच रहता है, उसे 'आखूत्कर' (मूषकबिल) में प्रक्षिप्त कर दिया जाता है इस मन्त्रोच्चारण के साथ कि—'एष ते रुद्रभाग-आखुस्ते पशुः' इति। यह शेषभाग उस देवता (रुद्र) का उच्छिष्ट है, जो संहारक है। यदि अन्य पशु इसे खा जाएँगे तो, उनका संहार हो जायगा। अतएव इस संहारक द्रव्य को 'आखु' के ही अनुगत बनाया जाता है, जो आखुप्राणी (मूषक) अपनी सर्वभक्षक दन्तावली से संहारक बनते हुए भूतसर्ग के विनाशक ही माने गए हैं। क्या आखु (मूषक) रुद्र का पशु है ?।

* रुद्रसहचारी भैरवगण-भैरव आदि का स्मार्तबलिविधान चतुष्पथस्थान में विहित है, जिसका मूल भी यही नैगमिक आम्नाय है।

आन्तरिक्ष्य मूलरुद्र के तूलरूपात्मक ११ विवर्त्त हो जाते हैं, जिसका कारण है एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, जो अन्तरिक्ष का छन्द माना गया है। इनमें प्रथम मूलस्थ रुद्र 'गणपति' हैं, अन्तिम उपसंहारस्थानीय रुद्र 'महावीर' हैं। जिनकी तृप्ति के लिए 'घर्म्मयाग' नामक 'प्रवर्ग्ययाग' किया जाता है, जिसे 'महावीरयाग' भी कहा गया है। प्रवर्ग्यसम्बन्ध से जिसे 'छिन्नशीर्षयाग' भी माना गया है। सुप्रसिद्ध पौराणिक हयग्रीवाख्यान का तात्त्विक रहस्य इस छिन्नशीर्षयागरहस्य पर ही अवलम्बित है। भगवान् मारुति (हनूमान) इसी रुद्रात्मक महावीर के अंशावतार हैं। अतएव इन्हें नैगमिक महावीरात्मक रुद्र का लौकिक प्रतीक मान लिया गया है, लोकानुगता महासंगीतनिबन्धना रात्रिजागरणरूपा पितृकर्म्मपरम्परा में। मूल गणपतिरुद्र इस लोकमान्यता में भूगर्भानुबन्ध से 'भौम' पितर हैं, महावीररुद्र लोकमान्यता में 'बालाजीपितर' हैं। भोमियाजी, और बालाजी, दोनों भी मङ्गलगीतों के द्वारा इसी आम्नायाधारपर उपस्तुत हुए हैं।

* क्षीरान्नभोजनद्रव्य-श्वेतवस्त्र-पीतवस्त्र-सुगन्धितद्रव्य-दीप-आदि सामग्री-सम्भारपूर्वक रात्रिजागरण के द्वारा तथाकथित निगमाम्नायानुमोदित भौम-पार्थिव-औपपातिक पितरों के (पिशाचादि गन्धर्वान्त सप्तक के) आक्रमण से परिवार संत्राण के लिए, एवं ब्रह्मादि-मानवान्त सप्तक के अनुग्रह से परिवार को सयुक्त करने के लिए ही कुलदेवियों के द्वारा महासंगीतात्मक महामन्त्रात्मक सामगान के माध्यम से लोककुलाचारानुबन्धी पितृपूजनकर्म विहित हुआ है, जिसकी पावनगाथा का स्मरण हुआ है इस भावुक को उन देवियों के महासंगीतश्रवण के आधार पर ही।

यह है उस 'पितरपरिवार' का संक्षिप्त नैगमिक स्वरूप परिचय, जिसके आधार पर कुल-देवियों के महासङ्गीत (लोकगीता) में अपनी उन की भाषा में उनकी प्रातिस्विक मान्यता के आधार पर पितरपरिवारानुबन्धी पारिवारिक भावों का नामकरण हुआ है। पार्थिव प्रेत भौमपितरों का आधारभूत पार्थिव धरातल का प्रतीक (जिस पर पार्थिव पितर प्रतिष्ठित रहते हैं)-'काष्ठपट्ट' (लकड़ी का पाटा) है। इसी आधार पर यह कर्म उनकी भाषा में 'पितरों को पाटे बैठाया है' रूप से प्रसिद्ध हुआ है। स्यूत श्वेतवस्त्र पितरों के चान्द्रश्वेतरूप के प्रतीक हैं, जिन्हें पट्ट पर भावना से आहूत भौम पितरों के नैदानिक वस्त्र माने गये हैं। इन श्वेत वस्त्रों से रात्रिजागरण के अनन्तर पारिवारिक अविवाहित

---

* (१)—'निग्रान्यायै दुग्धे सकृदुपमथिते एकशलाकया मन्थो भवति।' (शत० २।६।१।६।)

(२)—'सौम्यं हि देवतया वासः' तै० आ० १।६।१।११।)।

(३)—'यत्पीतत्त्वं, तत् पितृणाम्' (षड्विं० ब्रा० ४।१।)।

(४)—'सुगन्धि पतिवेदनम्'—गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति"

—शत० ६।४।१।४।

कुमार को सम्मानित किया जाता है। चन्द्रचन्द्रिका ही सौम्य पितर प्राणों के श्वेत वस्त्र हैं। श्वेतवस्त्र चन्द्रचन्द्रिका के ही प्रतीक हैं। पितरों का अपना शारीरिक भौतिक स्वरूप 'रक्त-पीत', इन वर्णों में विभक्त माना गया है। पितृशरीर का प्रारम्भिकरूप 'रक्त' (लाल) है, फलानुबन्धी अन्तिम रूप 'पीत' है, और इस सबन्ध में लोकानुगत वैवाहिक माङ्गलिक कर्म की मध्यस्थता अनुगमनीय है। विवाह में परिणयार्थ (विवाहार्थ) यज्ञमण्डप (विवाहमण्डप) में अमुक नियत स्थान पर आसीन कन्या 'श्वेत वस्त्र' धारण किये रहती है, जो इसी अवसर के लिए उसे अपने मातृभ्राता (मातुल-मामा) से कुला म्नायपरम्परा से प्राप्त हुआ है।

अतएव यह श्वेतदुकूल (१) 'वधूदुकूल' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ प्रान्तीयभाषा में 'मामाकॉबल' कहलाया है। मातुल ही अपनी भगिनी (कन्या की माता) के परिणयकाल की स्मृति का प्रतीक बनता हुआ अपनी इस भगिनी कन्या (भागिनेया-भानजी) को वधूदुकूल प्रदान करता हुआ सहज भावी दाम्पत्य का मानो लोकशिक्षण ही प्रदान करता हुआ कन्या को विवाहमण्डप में समासीन करता है (२)। सोमद्वारा गन्धर्वगृहीता, गन्धर्वद्वारा अग्निगृहीता कन्या अग्निद्वारा अग्नि (यज्ञाग्नि) साक्षी में मानवपति का सवरण करने के लिए विवाहमण्डप में समासीन कन्या (३) आज शुक्लचन्द्रात्मक सोममात्र की प्रतीक है (विवाह से पूर्व पूर्व)। अग्नि का वर्ण रक्तवर्णाविधाता मङ्गलग्रह से सम्बन्धित रक्त ही माना गया है। पुरुष (भावी पति) आग्नेय बनता हुआ रक्तवर्ण का प्रतीक है। विवाह से पूर्व अभी कन्या कन्या है, वधू नहीं। सप्तपदीन-कर्म (सात फेरों) के अनन्तर ही कन्या वर की सर्वात्मना वधू बनती हुई सुमङ्गली (४) बनती है। अतएव तत्पूर्व इसे श्वेतवस्त्रधारिणी-सर्वमाङ्गलिक-वेषभूषा-अलङ्कार-वर्जिता कन्यारूप से ही यहाँ आसीन बनाया जाता है। ये सब सौभाग्यपरिग्रह तो इसे प्राप्त होंगे अपने भावी पति से। दानकर्त्ता मातापिता केवल सहजभावापन्ना श्वेतवस्त्रा कन्या को वर के

---

(१) विवाहतः पूर्व—"अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते" (ऋक् सं० १०।८५।३०।)।

(२) दाक्षिणात्य आम्नाय में आशीर्वादात्मक मातुल-भागिनेया (मामा-भानजी) का इतिहासरहस्य तद्रहस्यवेत्ताओं से ही ज्ञातव्य है।

(३) सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये।
रयिंश्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ (ऋक् सं० १०।८५।४१।)।

(४) सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेत न। (ऋक् सं० १०।८५।३३।)।

सम्मुख समुपस्थित कर स्वसत्त्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वस्थापनकर्म्मात्मक कन्यादानकर्म्म से अपने उत्तर दायित्व से मुक्त हो जाते हैं। यही 'श्वेतवस्त्र' चान्द्र सौम्य पितरों का 'कन्याभावात्मक' प्रारम्भिक प्रतीक है, जिसके लिए पितृपट्टपर आरम्भ स्थानीय श्वेतवस्त्र ही बिछाया जाता है। कन्या-वरानुगत यह सम्पूर्ण दाम्पत्यरहस्य 'ऋग्वेदीयकतिपयसूक्तविज्ञानोपनिषत्' नामक स्वतन्त्रग्रन्थान्तर्गत 'सूर्य्यासावित्रीसूक्तविज्ञानोपनिषत्' (ऋक्संहिता १० मण्डल, ८५ सूक्त) में विस्तार से प्रतिपादित है। विशेष जिज्ञासुओं को वही ग्रन्थ देखना चाहिए। प्रकृत में केवल पितृकर्म्मनिबन्धना वस्त्रमीमांसा ही हमारा मुख्य लक्ष्य है।

पट्टासनात्मक आदिप्रतिष्ठारूप श्वेतवस्त्र वधूदुकूल का प्रतीक बनता हुआ चन्द्रचान्द्रिकारूपा सौम्या कन्या से सम्बन्धित भावी परिणयानुगत प्रजातन्तुवितानात्मक मूलपितर का प्रतीक है। श्वेतवस्त्रधारिणी कन्या विवाहमण्डप में समासीन हुई। विधिपूर्वक इस असमानार्षगोत्रजा कन्या के साथ विधिपूर्वक वर के साथ साप्तपदीन सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस से यह कन्याभाव से स्त्रीभाव में परिणत होती हुई पितृगृह से श्वसुरगृह की अधिष्ठात्री बन गई (१)। लोकाचार-पद्धति के अनुसार इस विवाहकर्म्म के सम्पन्न होते ही वरगृह की ज्येष्ठ-कनिष्ठ कुलनारियाँ कन्यागृह में आ जाती हैं, एवं अपने साथ लाये हुए सौभाग्यसाधन वस्त्र-आभूषणादि से महासङ्गीतपूर्वक इस वधू को इन सम्पूर्ण माङ्गलिक-सौभाग्य परिग्रहों से सयुक्त कर इसे 'सुमङ्गली' बना देतीं हैं। यह आगत वस्त्र सर्वथा 'रक्त' (लाल-लालसाड़ी, जिसे लोकभाषा में 'फेरों की साड़ी' कहा गया है) बनता हुआ रक्तवर्णात्मक मङ्गलग्रहसमन्वित आग्नेय पुरुषपति के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव का ही प्रतीक है (२)। यही दाम्पत्यभावारम्भक पितरों की मध्य स्थिति से सम्बन्ध रखने वाला रक्तवस्त्रात्मक द्वितीय प्रतीक है।

वधू ससम्मान श्वसुरगृह में आ जाती है। कालान्तर में पत्यनुगत दाम्पत्यभाव से पत्नी सत्त्वानुगता (गर्भवती) बनती है। यथासमय 'श्यामरूप' के अनुग्रह से गो वर्द्धक पुत्र को जन्म देती है,

---

(१) सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (ऋक्सं १०।८५।४६।)
हे वधू! श्वसुर-सास-ननद-देवर-सब के लिए तुम सम्मान्या बनो।

(२)-इस अवसर पर महासङ्गीत की भाषा में जो भाव व्यक्त हुआ है, वह बड़ा ही चमत्कृत है। मङ्गलगान करतीं हुई देवियाँ पितरों से यह कामना करतीं हैं कि—"एक लाडली को चीर वध ज्यो लाड़वर को सेवरो। वधज्यो वधज्यो हो लाडा गोत तुह्मारो०" इत्यादि का तात्पर्य्य स्पष्ट है। कन्या का चीर (सौभाग्यप्रतीकरूपा लालसाड़ी) सदा अक्षुण्ण रहे, वर का सेवरा (कुलप्रतिष्ठा) सदा सुरक्षित रहे। हे वर! तुह्मारी गोत्रवृद्धि हो (इस वधू के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव से)—'गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्' (आम्नायवचन) 'वधज्यो गोत तुह्मारा' अक्षरशः आम्नाय वचन का अनुवाद हुआ है।

और यहाँ आकर इस का सौभाग्य सफल माना जाता है, जिस की प्रामाणिकता के लिए षोडश स्मार्त्त-संस्कारों में प्रसिद्ध 'सीमन्तसंस्कार' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा (१)। सीमन्तिनी का अर्थ है 'केशपाशविन्यासिनी'। जिस सीमन्तभाव को प्रान्तीय भाषा में 'माँग' कहा गया है, जिस में सौभाग्य-कुंकुम भरा जाता है, मस्तकस्थ केशगुच्छ के शिरोभागानुगत वह दक्षिणोत्तरपार्श्व का मध्यस्थ भाग ही 'सीमन्तप्रदेश' है, जिस के आधार पर ही केशद्वयविभाजिका मध्यरेखा से संयुक्त विभाजक प्रदेश भी 'सीमान्त प्रदेश' कहलाया है। षोडश शृङ्गारों में इस केशपाशविन्यासात्मक सीमन्तशृङ्गार का सौभाग्य की अपेक्षा से एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। गर्भाष्टम मास में मातृहृदय से गर्भस्थ शिशुहृदय पर्य्यन्त गायत्रानुबन्धी अष्टाक्षरामय इन्द्रविद्युत प्रबलवेग से संचार करने लगता है। इस अवस्था में यदि सन्तति हो गई, तो वह जीवित नहीं रह सकती। यदि सन्तति जीवित रह गई, तो माता की मृत्यु निश्चित है। यदि महद्भाग्य से दोनों ही जीवित रह गए, तो वह अष्टममासप्रसूता इन्द्रविद्युत्प्रधाना सन्तति महाभाग्यशालिनी प्रमाणित होती है, जो सर्वथा अपवादात्मक क्षेत्र ही है। नियमतः दोनों में से एक का निधन निश्चित है, और यह आशङ्का प्रथमसन्तान से ही सम्बन्धित है। इस भय से सन्त्राण करने के लिए ही 'सीमन्तसंस्कार' विहित हुआ है। देवभावप्रधान इन्द्रविद्युत के निमोहनपूर्वक इसे उपशान्त करने के लिए त्रेण्याशलली (सेह का शूल)—वीरतरशङ्कु-सूत्र आदि आसुर भावप्रधान भूतमाध्यम से मन्त्रपूर्वक वीणावादन होते हुए भर्त्ता परोक्ष में पत्नी के केशपाश को द्विधा विभक्त करता है, और यही गृह्यसूत्रानुबन्धिनी सीमन्तसंस्कारानुगता इतिकर्त्तव्यता है। ('केशान् द्विधा करोति भर्त्ता'—पारस्करगृह्यसूत्र)। इसी दिन से यह 'सीमन्तिनी' (माँगवाली) कहलाने लगती है। 'माँग का सिंदूर' इसी दिन से प्रक्रान्त होता है, जो सौभाग्य का महान् प्रतीक माना गया है।

विवाह होने पर स्त्री का सौभाग्य लौकिक है, केवल शरीरानुगत है, जिस का प्रतीक है 'रक्तवस्त्र' (फेरों की लालसाड़ी)। वास्तविक सौभाग्य का उपक्रमकाल माना गया है सीमन्तसंस्कारकाल। यहीं से पत्नी 'जाया-गृहिणी' आदि सम्मानित पदों से अलंकृत की जाती है। पुत्रोत्पत्ति से पूर्व पूर्व पत्नी और पति, दोनों ही उपेक्षणीय माने जाते हैं। पति के शुक्र में महद्रूप से अवस्थित सापिण्ड्य-भाव-प्रवर्त्तक प्राणात्मक पितर इस पतिपत्नी के दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप 'पुत्र' उत्पन्न हो जाने पर *प्रजातन्तुवितानोद्देश्यरूप स्वोद्देश्य में सफल बनते हुए यहाँ उपरत बन जाते हैं*, कृतकृत्य हो जाते हैं, सौरहिरण्मयात्मक नाकस्वर्ग के अधिकारी बन जाते हैं (२), लोकविजय

---

(१)—२२ श्रौतसंस्कार, १६ स्मार्त्त संस्कार, सम्भूय द्विजातिमानव को सुसंस्कृत बनाने के लिए श्रौतस्मार्त्त ४८ संस्कार विहित हुए हैं, जिन का स्वरूप परिचय गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षात्मक—'कर्म्मयोगरहस्य' नामक 'ग' विभागानुगत ४ चतुर्थ खण्ड में हुआ है।

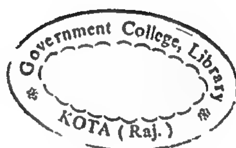
(२) पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ (स्मृतिः)।

प्राप्त कर लेते हैं। इसी सौरहिरण्मयभाव का प्रतीक है सर्वत्र का 'पीतवस्त्र', जिस से पुत्रवती सीमन्तिनी को पुत्रजननमहोत्सव के अवसर पर पितृप्राणप्रतीकभूत(१) कूपपूजन के समय सम्मानित किया जाता है। यही पीतवस्त्र पितरों की ओर से पुत्रजननिमित्त महापारितोषिक इसे प्राप्त हुआ है। यही पीतवस्त्र लोकभाषा में 'पीला' (विशेष प्रकार का पीतवस्त्र-जिसे राजपूताना की पुत्रवती स्त्री अपना महामहनीय वस्त्र-ओढना-मानती है) नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी मान्यता है इस पीतवस्त्र के सम्बन्ध में आम्नायपरायण राजपत्तन प्रान्त में कि, पतिपुत्रवती वीरा सौभाग्यवती ही इसे अपना परिधान (ओढना) बना सकती है (ओढ सकती है)। पतियुक्ता भी अपुत्रवती (जबतक पुत्रसन्तति न हो जाय) के लिए पीतवस्त्र धारण यहाँ की मान्यता में सर्वथा वर्ज्य है।

निष्कर्षेन कन्यावस्थानुगत प्रथमस्थानीय आधारभूत श्वेतवस्त्र (कन्यावस्त्र), वधुस्थानीय पत्यनुगत दाम्पत्यभावानुगत मध्यम स्थानीय रक्तवस्त्र (पत्नीवस्त्र), एवं जायास्थानीय पुत्रानुगत दाम्पत्यफलानुगत तृतीयस्थानीय पीतवस्त्र (पुत्रवतीवस्त्र) भेद से आम्नायानुमोदित पथानुसार पितृप्राणपरम्परानुगति से सम्बन्धित प्रारम्भिक चान्द्रचान्द्रिकात्मक श्वेतवर्ण, मध्यस्थ आग्न्यनुगत रक्तवर्ण, अन्तस्थ सौर हिरण्मयानुगत पीतवर्ण क्रमशः तीनों की प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं। अतएव रात्रिजागरणात्मक पितृ-स्थापना में श्वेतवस्त्र पट्ट पर बिछाया जाता है, रक्त और पीतवस्त्र पट्ट पर पितृसम्मान के लिए रक्खा जाता है। कहीं कहीं श्वेत और रक्त दो का प्राधान्य है। कहीं कहीं तीनों समुद्यत हैं। कहीं पितृध्वजारूप से सङ्गीतभाषा में 'रक्त-पीत'-दो का संग्रह हुआ है, जैसा कि— 'राती-(रक्त) पीली (पीत) धजा (ध्वजा) ए छडावेला (लगाएंगे) हरीचन्दरजी (हरिश्चन्द्रजी) मोकला (बहुत बडी) जी" इत्यादि सङ्गीतभाषा से स्पष्ट है। विषय विस्तृत बनता जारहा है। अतः अन्य सम्पूर्ण आम्नायों की मान्यता सहज श्रद्धा के प्रति समर्पित करते हुए तात्त्विकोद्धरण रूप से 'पितृपरिवार' का यह पावनगाथा उपरत हो रही है, जिसके माध्यम से रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्मानुबन्धी महासङ्गीत के सम्बन्ध में, उसकी पूर्वप्रतिज्ञात पावनस्मृति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करते हुए अपनी श्रद्धा को दृढमूल बनाने के लिए हम मनसा वाचा कर्मणा आतुर हैं। पर्याप्त है पितृपरिवार के, तथा तन्निबन्धन रात्रिजागरणात्मक पार्थिव भौम पितृकर्म्म के सम्बन्ध में वेदभक्त अभिनिविष्टों के परितोष के लिए पूर्वनिरूपित नैगमिक प्रामाण्यवाद। यदि इसके आधार पर 'स्थालीपुलाकन्याय' का मर्म्म समझते हुए इन्होंने आम्नाय-निगमविरुद्ध अपने अभिनिवेश - दुराग्रह (हठधर्मी) का परित्याग करते हुए इस पितृकर्म्म के सम्बन्ध में अंशतः भी आस्थानुगत श्रद्धा अभिव्यक्त करने का किञ्चित् अनुग्रह किया, तो जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर वेदविरोधी तर्कवाद के माध्यम से ही महासङ्गीतनिबन्धन (लोकगीतानुगत) कुलस्त्रीद्वारा अनुष्ठित पितृकर्म्म की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले अक्षर अक्षर के नैगमिक आम्नायप्रामाण्य से उनका अनुरञ्जन सम्भव बन सकेगा, निश्चित बन सकेगा। अलमतिपल्लवितेनाभिनिविष्टेषु वेदभक्तेषु। परिलेखद्वारा निरूपित पितृपरिवार का सिंहावलोकन करते हुए पितृकर्म्मानुबन्धी रात्रिजागरणानुबन्धी महासङ्गीत (रातीजगा में गाए जाने वाले लोकगीत) की पावनस्मृति के आधार पर कतिपय स्मृत्यनुगत उदाहरण समुपस्थित किए जारहे हैं।

---

(१) पितृदेवत्यो वै कूपः, खात.' (शत० ३।६।१।१३।)।



गर्भाधान-पुंसवन-जातकर्म-नामकरणादि षोडश स्मार्त गृह्य वैध संस्कार-कर्मों से सम्बन्धित माङ्गलिक महोत्सवों पर कुलस्त्रियों के द्वारा रात्रि में इन की अपनी मान्यता के अनुरूप स्वस्वकुलानुगता कुलदेवियों की साक्षी में पूर्वनिर्दिष्ट पितृपरिवारतालिकाभुक्त औपपातिक पार्थिव रौद्र भौम शान्त घोर पितरों को तुष्ट-तृप्त करने के लिए रात्रिजागरण होता है। नियत शुद्ध प्रदेश में काष्ठपट्ट (पाटा) स्थापित किया जाता है। दीपक प्रज्वलित किया जाता है। एवं अनुमानतः रात्रि के १०–११ से 'पितृकर्म' आरम्भ होता है, जिस का माध्यम बनता है महासङ्गीत, जिस की स्मृति से सम्बन्धित कुछ एक उदाहरण यहाँ उद्धृत कर प्रस्तुत प्रशान्त पावन स्मृति को अक्षुण्ण बनाया जा रहा है।

प्रस्तुत महासङ्गीत (जिनका रात्रिजागरणात्मक लोकानुबन्ध पितृकर्म्म से सम्बन्ध है) केवल हमारी श्रद्धात्मिका स्मृति से सम्बन्धित है, जिन्हें अपने पारिवारिक पर्वोत्सव-विशेषों पर हमें यदा कदा सुनने का महत्सौभाग्य प्राप्त होता रहता है। इन लोकगीतों की आम्नायप्रामाण्यानुबन्धिनी मार्म्मिकता से हमें निरतिशयरूपेण प्रभावित होना पड़ा। एवं फलस्वरूप हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, ऋषिसंस्कृति-प्राच्य नैगमिक संस्कृति-की आम्नाय-परम्परा से अनुप्राणित इन लोकगीतों का संरक्षण राष्ट्रिय संस्कृतिसंरक्षण का एक प्रधान अङ्ग है। इसी निष्कर्षाकर्षण से आकर्षितमना बनते हुए हमने यह जानना चाहा कि, क्या किसी प्राच्यसंस्कृतिप्रेमी ने इस दिशा में कोई सफल प्रयत्न किया है?। परिणामस्वरूप 'राजस्थानरिसर्चसोसायटी कलकत्ता' द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के लोकगीत' नामक ग्रन्थ (दो भागों में प्रकाशित) दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हुआ, जिस के यशस्वी सम्पादकोंने* इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। अवश्य ही यह प्रयास भावुकतासंरक्षण की दृष्टि से प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। इस दिशा में, जब कि अन्य कोई उपलब्धि उपलब्ध नहीं है, तो यही उपलब्धि तुष्टि का कारण मानी जानी चाहिए। किन्तु...... ?।

आम्नायानुगत सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित लोकगीतों का उक्त ग्रन्थ में संस्पर्श भी नहीं हुआ है। जिन देव-पितृकर्म्मों से सम्बन्धित लोकगीतों के आधार पर हमारी मूलसंस्कृति का लौकिक संरक्षण सुरक्षित माना जा सकता है, तत्सम्बन्धी प्रकरण तद्ग्रन्थ में 'नहीं' के समान ही है। ६०० पृष्ठात्मक इस ग्रन्थ में केवल आरम्भ के २३ पृष्ठों में 'देवी देवताओं के गीत' नामक प्रकरण में कुछ एक ऐसे प्रान्तीय (सम्भवतः जयपुरप्रान्तान्तर्गत शेखावाटी) गीतों का समावेश हुआ है, जिन से सांस्कृतिक आम्नाय गतार्थ नहीं बन सकते। "झालर–माताजी–बालाजी–भैरूँजी–जलदेवता–

---

* ठाकुर श्रीरामसिंह एम्० ए० विशारद, श्रीसूर्य्यनारायण पारीक एम्० विशारद, तथा श्रीनरोत्तमदास स्वामी एम्० ए० विशारद, सम्पादकत्रयी। प्रकाशक श्रीरघुनाथप्रसाद सिंघानिया, मुद्रक श्रीभगवतीप्रसादसिंहवर्मा मिमेन, न्यूराजस्थानप्रेस कलकत्ता, दो भागों में प्रकाशित।

सेडलमाता–मतीराणी–पितराणी–" इन आठ गीतों में कहीं भी नैगमिक मान्यता, जैसी कि सांस्कृतिक संरक्षण के नाते अभीष्ट है, नहीं है। आगे के सम्पूर्ण लोकगीत भी देवपितृभावना से सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए केवल प्रचलित लोकसाहित्य-शृङ्गारप्रधानसाहित्य का समर्थन करते हुए मानव की भावुकता (शरीरमनोऽनुगता दुर्बलता) को ही प्रोत्साहित कर रहे हैं। क्या यही स्वरूप है लोकगीतों का उस लोकगीतसंग्रह का, जिसे हम 'महासङ्गीत' की उपाधि से विभूषित करते हुए आम्नायानुगत मानने का साहस, किंवा दुस्साहस कर रहे हैं। महती समस्या उपस्थित कर दी उस ग्रन्थ ने हमारे सम्मुख इस दिशा में। केवल 'राजस्थान' नाम का व्यामोहन, किंवा 'राजस्थान के लोकगीत' घोषणा का व्यामोहन ही तो सांस्कृतिक क्षेत्र में पर्य्याप्त नहीं है। और फिर उस वर्त्तमान शताब्दी में युग राजस्थान के लोकगीत, जिन्होंने राजाओं की स्वच्छन्दता-स्वैराचारिता की छत्रछाया में अपना कायात्मक निम्माण किया हो ?। उस राजस्थान के लोकगीत, जिस राजस्थान ने श्रौतस्मार्त्तसंस्कारपरम्परा को जलाञ्जलि समर्पित कर अपने आपको सर्वात्मना 'शूद्रसधर्म्माण' प्रमाणित कर लिया हो ?, उस राजस्थान के लोक-उत्सव-पर्वगीत, जहाँ का सम्पन्न श्रेष्ठिवर्ग यज्ञोपवीत जैसे संस्कार को भी अपने लिए विशेष महत्त्व का न मान रहा हो ?। दक्षिणभारत धन्य है इस दिशा में, जहाँ आज भी आम्नायानुगत स्मार्तसंस्कारपरम्परा येनकेनरूपेण प्रक्रान्त है। यहाँ जो द्विजाति (ब्रा० क्ष० वै०) यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत नहीं होता, वहाँ वह द्विजाति ही नहीं माना जाता। उसके हाथ का जलग्रहण भी वहाँ वर्ज्य है। गुर्जरप्रान्त-मिथिलाप्रान्त-विशेषतः दक्षिणभारत में आज भी षोडशसंस्कारों में से कतिपय मुख्य मुख्य संस्कार आम्नायानुगत बने हुए हैं। अवश्य ही तन्निबन्धन उन प्रान्तों के लोकगीत आम्नायानुगत ही होंगे, ऐसा हमारी धारणा है, और सांस्कृतिकसंरक्षण के उद्देश्य से 'राजस्थान' के वर्त्तमानयुग के स्खलित-आम्नायविरुद्ध-संस्कारशून्य-अतएव काल्पनिक व्यामोहन को छोड़ते हुए हमें उन प्रान्तों के लोकसाहित्यान्वेषण-संरक्षण-प्रचार में कृतप्रयत्न होना ही चाहिए। दुर्भाग्य है हमारा कि, इन गुर्जरादि प्रान्तों की प्रान्तीयभाषाओं के सम्पर्क में न आने के कारण हम उस अनिवार्य्य आवश्यक प्रयत्न में अपने आपको सर्वात्मना असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं। तद्देशीय विद्वानों से हम आग्रहपूर्वक प्रणतभावेन यह आवेदन करेंगे कि, वे उन लोकगीतों का, जिनका श्रौत स्मार्त संस्कारों से सम्बन्ध है, संग्रह कर राष्ट्रिय मौलिक संस्कृति के संरक्षण का स्तुत्य कार्य्य सम्पादित करने का अनुग्रह करेंगे।

हम क्या करें इस दिशा में, जब कि हम राजस्थान के तथोपवर्णित आम्नायशून्य-संस्कारशून्य वातावरण में विचरण कर रहे हैं। ढोलामरवण के यशोगान से तो आम्नायानुगता मूलसंस्कृति का कोई हित साधन सम्भव नहीं हो सकता। 'पणिहारी' के लोकगीत तो हमारी नैगमिकनिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते। क्या कोई लक्ष्य शेष नहीं रहा राजस्थानी होने के नाते आम्नायानुगत लोकगीतों के अनुशीलन के सम्बन्ध में हमारे लिए ?। नेति होवाच। 'विधि' ही हमारा आराध्यमन्त्र है, निषेध नहीं। फिर इस दिशा में भी हमारे लिए निराशा का कोई स्थान नहीं है। जयपत्तन (जयपुर) भी तो राज

पत्तन (राजपूताना-राजस्थान) का ही अङ्ग है। और कर्णाकर्णिपरम्परया आज तो ऐसा सुनने सुनाने में आ रहा है कि, जयपुर तो वर्त्तमान में राजस्थान की सत्ता का केन्द्र बनता हुआ सम्पूर्ण राजस्थान का प्रतीक है, राजस्थान की राजधानी नहीं, अपितु धूलिधूसरित राजस्थान की 'प्रजकी' 'धाणी' है आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्रगणतन्त्रात्मक-सार्वभौमप्रजातन्त्रयुग में। वैसे भी जयपुर अमुक दृष्टिकोणों से आरम्भ से ही विद्या-शिल्प-कला-आदि के समतुलन में सदा ही केन्द्र बनता हुआ राजस्थान का प्रतीक चला आ रहा है। न सही केन्द्र, किंवा प्रतीक तथापि 'समुदाये प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्याय से 'पटो दग्धः' बन राजस्थान का अवयवभूत जयपुर भी 'राजस्थान' का प्रतीक माना ही जा सकता है।

इस जयपत्तनात्मक राजस्थान के माध्यम से (जयपुर के माध्यम से, जयपुरीय प्रजावर्ग में प्रचलित पर्वोत्सवानुगत लोकगीतों के माध्यम से, जिनमें से पूर्वोपवर्णित-'राजस्थान के लोकगीत' नामक महाग्रन्थ में एक भी लोकगीत का समावेश नहीं हुआ है, सम्भवतः इसलिए कि जयपुरीय लोकगीत नैगमिक आम्नायानुगत बनते हुए केवल शुष्क हैं, नीरस हैं, साहित्यिक छटा से असंस्पृष्ट हैं, केवलावानुगता जड़ता के ? प्रतीकमात्र हैं। हमें राजपत्तनानुगता लोकगीतनिबन्धना सांस्कृतिक आम्नायपरम्परा विधिपूर्वक प्रमाणित करनी है, सर्वात्मना ससिद्ध करनी है, ससिद्ध है, इतर प्रान्तीय गुर्जर-मिथिला-दक्षिणभारतीयानुगता लोकगीतनिबन्धना सांस्कृतिक आम्नायपरम्परा के समतुलन में।

यही नहीं, बड़े ही सम्मानपूर्वक तत्प्रान्तीय तदाम्नायपरम्पराओं से, तन्मान्यतानुगामी तत् प्रान्तीय शिष्ट मान्य विद्वानों से हमें इस आम्नायदिशा के सम्बन्ध में यह भी धृष्टतापूर्वक निवेदन कर ही देना पड़ेगा कि, प्रतीच्यपथानुगता-विदेशीसभ्यतासंस्कृतिसमाकुलिता विगत-सुप्त जिन दो तीन शताब्दियों में सम्पूर्ण भारत, विशेषतः आम्नायपरम्परा का अनन्योपासक दक्षिणभारत* विदेशी मतवाद के भावुकतापूर्ण प्रवाह में प्रवाहित हो कर तन्मतवाद को भारतव्यापक बनाने का श्रेयोलाभ ? प्राप्त करने में अपना जैसा कौशल ? अभिव्यक्त कर चुका है, तत्समतुलन की दृष्टि से द्वि-त्रि-शताब्दियों का राजपत्तननिवासी नैगमिक आम्नायपरम्परा के संरक्षण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत का नैगमिक प्रतीक प्रमाणित हुआ है, जिस गौरवपूर्ण प्रतीकभाव का एकमात्र श्रेय नैगमिक संस्कृति के अन-

---

* यह एक तथ्य ऐतिहासिक तथ्य है कि, अपने अर्थतन्त्रप्रधान राजनैतिकतन्त्र की सफलतामात्र के लिए आटोपपूर्वक प्रचारानुगत क्राइस्टमत (ईसायत) ने जो सफलता दक्षिणभारत में प्राप्त की, वैसी अन्य प्रान्तों में नहीं। हमारा राजपत्तन तो वेदस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के आवास-निवासरूप पुष्करक्षेत्र-तीर्थ के अनुग्रह से पावन बना रहता हुआ सर्वथा ईसाइयत (क्रिश्चियनिटी) से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित रहा है।

न्योपासक स्वनामधन्य 'शाश्वतीश्च. समाश्च' संस्मरणीय जयपुरीय 'राजवंश' को ही समर्पित किया जायगा। न केवल राजस्थान को ही, अपितु सम्पूर्ण भारत को इस नैगमिक सांस्कृतिक संरक्षण के माध्यम से जयपुरीय राजवंश के प्रति कृतज्ञताञ्जलि समर्पित करनी चाहिए, करनी ही पड़ेगी, आज नहीं, तो कल (वर्त्तमान में नहीं, तो निकट भविष्य में)।

जयपुरराजवंश अपने आप को भगवान राम के पुत्र 'कुश' की परम्परा से सम्मानित मानता हुआ 'सूर्यवंशी कुशवाह' वंशी मानता चल रहा है, जिस का प्राकृतरूप है-'कछवाहा'। इन के मूल का पुरातनतम इतिवृत्त तो अज्ञात है। हाँ, विक्रम सम्वत् ९३३ से अद्यावधिपर्य्यन्त अनुमानतः १०७७ वर्ष पर्य्यन्त का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। इस क्रमसे इन के मूलवंशप्रवर्त्तक 'नृवर' नामक राजाने अपने ही नाम से जो पुरी निर्म्मित की, वह 'नरवर' कहलाई। इन की वृद्धावस्था में 'श्रीसोढदेव' नामक पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने 'धौसा' नामक पुर में चौहाण राजा को पराजित कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया वि० स० ९३३ में। इनके ४० वष राज्यभोगानन्तर इनके पुत्र 'श्रीदुर्लभराय' ने धौसा को छोड़ कर आम्बेर के आगे के 'रामदुर्ग' (रामगढ) को अपनी राजधानी बनाया। इनके पुत्र 'श्रीकाकिलदेव' ने आम्बेर के उत्तर भाग में पर्वतश्रेणि में सुरक्षित 'कुन्तलगढ' नामक दुर्ग पर आक्रमण कर वहाँ के भैरव को प्रसन्न कर वहाँ 'अम्बावती' पुरी की स्थापना की, जिनकी प्रतिष्ठा हुई रामगढ मे, जो भवानी 'जमवा' माता नाम से प्रसिद्ध है, एवं जो इन राजाओं की कुलदेवी मानी जाती हैं। इसी परम्परा में आगे चल कर स० १६४६ में 'श्रीमानसिंह' राज्यासीन हुए, यहीं से देवोपाधि का स्थान 'सिंहोपाधि' ने ग्रहण किया। मुगलसाम्राज्यसेना के प्रशास्ता श्रीमानसिंह 'काबुलविजेता' नाम से उपवर्णित है। इनके ज्येष्ठपुत्र श्रीभावसिंह ने तत्कालीनसत्ता से 'मिर्जा' उपाधिग्रहण कर ६ वर्ष में ही लीला समाप्त कर दी। इनके अनन्तर 'मिर्जाराजा जयसिंह' अधिकारारूढ बने इनके अनन्तर श्रीविष्णुसिंह, तदनन्तर हमारी आम्नाय के मूलप्रवर्त्तक 'श्रीसवाईजयसिंह महाराज' स० १७५८ में राज्यासीन बने।

१७५८ से २०१० वि० सम्वत्पर्य्यन्त श्रीसवाईजयसिंह से आरम्भ कर राज्यसत्तारक्षित * वर्त्तमान राजवंशी श्रीसवाईमानसिंहनृपतिपर्य्यन्त मध्य में श्रीईश्वरीसिंह, श्रीमाधवसिंह, श्रीपृथिवीसिंह, श्रीप्रतापसिंह, श्रीजगत्सिंह, श्रीजयसिंह, श्रीरामसिंह, तथा नैगमिक आम्नाय के अनन्य भक्त आस्थापरिपूर्ण श्रद्धा से आप्लुत सदा सर्वदा संस्मरणीय स्व० श्रीश्री सवाई माधवसिंह नृपतिवर क्रमशः प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार नृवर राजा से आरम्भ कर वर्त्तमान श्रीसवाई मानसिंहनृपतिमहोदय पर्य्यन्त ३८ शाखाओं का इतिहास उपलब्ध होता है। जिनमें हमारी नैगमिक आम्नाय से सम्बन्धित महामञ्जीतपरम्परा नृपतिश्रेष्ठ श्रीसवाईजयसिंह महाराज को ही केन्द्र बना रहा है, जो वि०स० १७५८में आम्बेर

* हमारी आम्नाय से तो अब भी राजसत्ता से मयुक्त।

राजधानी में राज्यासीन बने, अनन्तर जिनके द्वारा वर्त्तमान जयपत्तन नगर का शास्त्रीय आम्नायपूर्वक ही निर्माण हुआ। तब से आरम्भ कर वर्त्तमान संवत् (२०१०) पर्य्यन्त अनुमानतः ढाईसौ वर्षात्मक-काल नैगमिक-धार्म्मिकपरम्परा में आदर्श ही प्रमाणित रहा है *।

महाराज जयसिंह स्वयं निगमागमशास्त्रों के मर्म्मस्पर्शी विद्वान् थे। इनकी सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ कालचक्रानुगत सम्वत्सरचक्र से समतुलित रहती हुई ज्योतिःशास्त्रानुगता थीं, जिसके ज्वलन्त उदाहरण जयपुर का 'ज्योतिषयन्त्रालय' (जन्तरमन्तर), बनारस के मानमहल में प्रतिष्ठित ज्योतिषशाला, उज्जैन की शाला-रूप से सर्वत्र भारत में अभिव्यक्त हैं। अम्बर (आमेर) और जयपुर के मध्य में पार्वत्य पावनक्षेत्र में इन्होंने नैगमिक अश्वमेध का अनुष्ठान कराया, जिसकी इतिकर्त्तव्यता का सञ्चालन किया तत् समय के सुप्रसिद्ध पञ्चद्राविड़-पञ्चगौड़ वेदवित् नैगमिक विद्वानों ने। गुर्ज्जर-मिथिला-दक्षिणभारत-वाराणसी-आदि से निगमवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण आमन्त्रित हुए, इनके लिए यज्ञशाला के ही सन्निकट 'ब्रह्मपुरी' नाम की एक स्वतन्त्रपुरी का निर्म्माण हुआ, इन्हें प्रभूत-भूदान (जागीरी) द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह की चिन्ता से सदा के लिए उन्मुक्त करते हुए यहीं रख लिया गया। ये ही विद्वान् जयपुरीय सनातन प्रजा की नैगमिक लोक आम्नाय के सूत्रधार बनें। तदित्थं-राज्याश्रय से निश्चिन्त बने हुए नैगमिक विद्वानोंने यहाँ की प्रान्तीयभाषा (जयपुरीभाषा) में स्वयं महासङ्गीत (लोकगीत) का आम्नायानुरूप निर्म्माण कर इसे परोक्षरूप से जयपुर के नागरिक जीवन में आम्नायपरम्परा का अनुगामी बनाने का श्रेय प्राप्त किया। पाठक स्वयं यह अनुभव करेंगे इन लोकगीतों के नैगमिक आम्नायभावों को देख सुन कर कि, इनके वाक्यसन्दर्भ वेदमन्त्रों के अनुवाद हैं, जो अवश्य ही वेदवित् विद्वानों के माध्यम से ही राज्याश्रय के द्वारा जयपुरीय प्रजावर्ग में अवतरित हुए हैं। यही हमारी आस्था-श्रद्धानुगता आशा का यह अरमालय केन्द्र है, जिसके आधार पर हम राजस्थान के प्रतीकभूत महासङ्गीतात्मक आम्नायसिद्ध लोकगीतों को पावनस्मृति को सुरक्षित रखने के गर्व से आत्मविभोर बने हुए हैं। धन्य है राजस्थान, कृतकृत्य है यह राजस्थान, जिसका केन्द्र जयपत्तन बना हुआ है। धन्य है जयपुर का पारम्परिक राजवंश, जिसने विद्वानों के द्वारा नैगमिक आम्नाय से अपनी प्रजाको धन्य बनाया। और सर्वाधिक धन्य हैं वे पाठक, जो इस प्रासङ्गिक महासङ्गीत के अनुग्रह से निश्चयेन आस्थायुक्त श्रद्धा से आत्मविभोर

* और हमारी ऐसी निश्चित आस्था है कि, जगन्माता जगदम्बा माताशिलामयी के पारम्परिक आम्नायसिद्ध अनुग्रह से वर्त्तमान नृपति श्रीमानसिंहदेव के, तथा इनके वंशजों के द्वारा भी पूर्व-स्थापित नैगमिक-धर्म्मपरम्परा-आम्नायपरम्परा आदर्श ही प्रमाणित होती रहेगी। वर्त्तमान में जो इस दिशा में युग-धर्म्मानुगत विराम देखा सुना जा रहा है, उसे हम कृत्रिम-आपातरमणीय मानते हुए गन्धर्वनगरलीला ही समझ रहे हैं, जो निकटभविष्य में ही शरदभ्रवत् विलीन होने वाली है, एवं उदित होने वाला है वही सूर्य्य अपने स्वस्वरूप से। ओमित्येतत्।

(१)—कुलदेवी के संस्मरणात्मक महासङ्गीत की प्रथम पावनस्मृति—

(१)—यँ थ्रो आन हार अन धन, हुया छ उछाह ।
मल हूटी छे 'बड़वासण' माता 'मावली' जी ॥

(२)—चीरँजीश्रो मीसर 'सेवाराम' जी, राव पूत—
अजगज नींव लगावला 'बिंदरावनजी' मोस्लजी ॥

(३)—चीरँजीश्रो मीसर 'बिंदरावनजी', राव पूत—
नारेलाँ रा कोट चुणावला 'जटासंकरजी', मोस्लाजी ॥

(४)—चीरँजीश्रो मीसर 'जटासंकरजी', राव पूत—
छेल सुपारी छवावला 'लिछमणरामजी' मोस्लाजी ॥

(५)—चीरँजीश्रो मीसर 'लिछमणरामजी', राव पूत—
मँड बाघ दुलावला 'बालचन्दरजी' मोस्लाजी ॥

(६)—चीरँजीश्रो मीसर 'बालचन्दरजी', राव पूत—
सोना रो छत्र लगावला 'हरीचन्दरजी' मोस्लाजी ॥

(७)—चीरँजीयो मीसर 'हरीचन्दरजी', राव पूत—
मोतीडाँरा अखत चढावला 'महेसचन्दरजी' मोस्लाजी ॥

—घी भर दिवलो जूपावला 'सुरेसचन्दरजी' मोस्लाजी
—लापसड़ीरो भोग लगावला, चँवर दुलावला 'प्रेमचदरजी'
'सतीसचदरजी' मोस्लाजी ॥

महासङ्गीत का स्वरूपबोध प्राप्त न कर सकेंगे। महासङ्गीतभावना जागरूक बनती है इनमें स्वत ही तत्तद्विशेष पर्वोत्सवों के अवसरों पर ही। वहाँ भी परोक्षरूप से ही आप इनका श्रवण कर सकते हैं। यदि आप प्रत्यक्ष में आगए, तो लज्जास्वभावा कुलनारियाँ तत्काल उपरत हो जायँगी। अत आप परोक्षरूप से तदवसरों पर अवधान पूर्वक सुनिए, तदाधारेणैव उस श्रुत महासङ्गीत की पावन 'स्मृति' के आधार पर ही इनकी आम्नायानुगता व्याख्या का समन्वय करने का प्रयास कीजिए। इसीलिए तो हमने यहाँ 'महासङ्गीत की पावनस्मृति' ये उद्गार व्यक्त किए हैं। 'नान्य' पन्था विद्यतेऽयनाय'।

(८)—ओलख्या ए * छोटा मोटा जात आया
ज्याँ न फल देय–दूध, पूत, अटूट लिछमी
देई ओ बड़वासण माय ! दे कुल दीवट माय !

(९)—बाबा (सेवारामजी) विंदरावनजी का पीरवार में
छाप्पर छायो ए बड़वासण माय !
वंस वधायो ए बड़वासण माय !
बेटा दीजे ए बड़वासण माय !
ओरयूं आजे ए बड़वासण माय !

(१०)—आँबा–बिजोरा–दाख–दाड्यूँ–सदा ए लोयख साँवली
कोयलिए मुँदरी चाल चाल, झुमटो हरियालो जी
"माता ईसरी परमेसरी कुल दीवट वँस वधावणी"

(११)—आरत्यो ए राज–दिवाण सोवे
आरत्यो ए मोटाँ घराँ
आरत्यो ए ज्याँ घर पूत निपजे
बहु ए आवली झमकती
माता ! बहु ए आवली झमकती ॥

—१—

(१)—सेवारामः — वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः
(२)—वृन्दावनः—— अतिवृद्धप्रपितामहः
(३)—जटाशङ्करः——वृद्धप्रपितामहः
(४)—लक्ष्मणरामः——प्रपितामहः
(५)—बालचन्द्रः——पितामहः
(६)—हरिश्चन्द्रः——पिता

(७)—महेशचन्द्रः—ज्येष्ठपुत्रः
* —सुरेशचन्द्रः
* —प्रेमचन्द्रः
* —सतीशचन्द्रः
(सुरेशचन्द्रः, प्रेमचन्द्रः, सतीशचन्द्रः) कनिष्ठपुत्राः
(सर्वे) हरिश्चन्द्रपुत्राः

साापिण्ड्यं साप्तपौरुषमित्याहुराचार्याः

---

*"ओलख्या ए छोटा मोटा जात आया"—परमश्रद्धेय स्व० श्रीबालचन्द्रजीशास्त्री के मध्यम पुत्र, (कुलज्येष्ठ-श्रेष्ठ अनन्यश्रद्धेय वर्त्तमान श्रीहरिश्चन्द्रजी शास्त्री के मध्यम भ्राता), एवं हमारे परमश्रद्धेय स्व० श्रीराधाचन्द्रजी शास्त्री (गोविन्दचन्द्र–सापिण्ड्यवितानपरम्परा की अपेक्षा से पितामह, जिनका स्वर्गगमन बहुत ही छोटी अवस्था में स्व० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री के

जिस प्रकार आधिकारिक स्वर्गीय दिव्य वृक्षों में अश्वत्थवृक्ष (पीपलका पेड) विष्णुदेवात्मक माना जाता है, तथैव वटवृक्ष शिवदेवात्मक माना गया है। शिव की महाशक्ति महामाया ईश्वरी परा पराणा परमा परमेश्वरी ही 'वटवासिनी' देवी कहलाई हैं, जो वटस्थित शिवके साथ दाम्पत्यरूप से स्थित है। इसी शब्द का प्राकृत रूप है – 'वडवासण माता'। वट में रहने वाली शिवसयुक्ता परमेश्वरी भवानी–आदिदेव महादेव की अर्द्धाङ्गिनी 'आदि भवाना' ही हमारी कुलदेवी हैं। 'महासङ्गीत' ने सापत्न्यलक्षणा सप्तप्रतानतन्तुवितानात्मिका निगममर्य्यादा से इसी की स्तुति की है। इसलिए हमारी कुलाम्नाय मे वटवृक्ष महा पूज्य माना गया है। इस का काष्ठ कभी हमारे गृहानुबन्धी पाककर्म्म (रसोई) मे उपयुक्त नहीं होता। वैसे व्यापक मान्यता के अनुसार भी इसी शिवशक्ति अधिष्ठान के कारण वटवृक्ष मृत्युञ्जय भगवान् शिव का प्रतीक माना गया है, जिस के आधार पर ज्येष्ठकृष्णा अमावास्या तिथि को आज भी सौभाग्यसरक्षण-शीला कुलदेवियों के द्वारा यह पूजित होता है, जो कि पावन तिथि 'वटसावित्रीतिथि' नाम से प्रसिद्ध है। पुराण की ऐसी मान्यता है कि, इसी व्रत के बलपर महासती सावित्री ने अपने पति सत्यवान् को यमपाश से मुक्त कर लिया था।

भौतिक वावनकाल में ही हो गया था, अतएव उन्होंने ही कुलाम्नाय सरक्षण के लिए जिस प्रकार कनिष्ठपुत्र-एव श्रीहरिश्चन्द्रजी के कनिष्ठ भ्राता-वर्तमान गोविन्दचन्द्र शर्म्मा को श्रीराधा चन्द्रजी का दत्तक पुत्र बना दिया था वे, तथा आम्नायश्रद्धालु गोविन्दचन्द्रशर्म्मा (पिता), एव तत्पुत्री आयुष्मन्ती श्रीकृष्णचन्द्र-श्रीवसन्तकुमारशर्म्माणौ निश्चयेन आम्नायसरक्षकौ श्रीवटवासिन्या कुलदेव्यानुग्रहेण, सापिण्ड्यभावप्रवर्त्तकौ-तत्सरक्षकौ नैगमिकौ" हा महासङ्गीतानुगत 'ओलरया ए०' इत्यादि पद्य पठित 'छोटा मोटा' का स्वरूप परिचय है। हमारे कुल में सर्वज्येष्ठ श्रेष्ठ श्रद्धेय श्री हरिश्चन्द्रजी की वशपरम्परा के समतुलन में क्योंकि श्रद्धेय स्व० श्राराधाचन्द्रजी का गोविन्दचन्द्रादिरूपा वशपरम्परा कनिष्ठ है, अत इस परम्परा को 'छोटा' कहा जायगा। साथ हा कनिष्ठ परम्परा ही क्योंकि आगे चल कर वशाम्नायपरम्परा को विशाल वशवृक्ष रूप में सुनिश्चित करता है। अतएव इस 'छोटा' (कनिष्ठ) का 'मोटा' (महान) भी कह देना अन्वर्थ हा माना जायगा। यही 'छोटामोटा' का पद समन्वयार्थ होगा। लोकप्रतिष्ठा-लोकप्रसिद्धि-लोकख्याति का ज्येष्ठकुलपुरुष से हा सम्बन्ध आम्नायसिद्ध है, जैसा कि – 'एको गोत्रे स भवति पुमान्–'यः कुटुम्बं बिभर्त्ति' इत्यादि आम्नायवचन से प्रमाणित है। लोकसम्मान के लक्ष्य से कुलज्येष्ठपरम्परा ही नामग्रहणपूर्वक लक्षित बना करती है। कनिष्ठपरम्परा का स्थान तो कनिष्ठता के कारण, जेष्ठ के समतुलन मे आत्मसमर्पणात्मक श्रद्धाभाव के कारण अलक्षित अग्राह्य हा माना जायगा। यहा आम्नायसिद्ध 'अलक्षित' भाव महासङ्गीत में प्राकृतरूप से–'ओलरया ए' पद (जो अलक्षित है, कनिष्ठपरम्परा के कारण जो ज्येष्ठा के सामने समादरात्मिका अभिधा से सम्बोधित नहीं होते) अभिव्यक्त हुआ है।

महासङ्गीत का अक्षरार्थ यद्यपि स्पष्ट है। तथापि अन्य प्रान्तीयों की दृष्टि से इसकी भाषा का समन्वय यों किया जासकता है कि—

(१) "अहो! ('ॲ-ओ' का मूलरूप) अन्न और वित्त की परिपूर्णता के कारण आज मेरे कुल में बहुत बड़ा उत्सव (पितरकर्म्म) होने जा रहा है। यह अन्न-धन की समृद्धि, यह महामहोत्सव (रात्रिजागरणात्मक महत्फलप्रदाता काम्य पितरकर्म्म), सब कुछ हमारी कुलदेवी वटवासिनी उस मातृशक्ति की अनुकम्पा का ही महत्फल है, जो अपनी अवान्तर अङ्गशक्तियों से 'मातृ-परम्परा-चतुर्दश-मातृपरम्पराओं में-पंक्ति में-श्रेणिविभाग में विभक्त होती हुई 'मावली' (मा की अवली-पंक्ति) नाम से प्रसिद्ध हो रही है।

(२)-(उस कुलदेवी के अनुग्रह से चान्द्रलोकस्थ हमारे कुल के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह श्रद्धेय श्री-सेवाराम जी मिश्र * चन्द्रलोक में स्वस्थ रहें। उनके सम्पत्तिशाली (राव) स्व० पुत्र श्रीवृन्दावनजी अपने सापिण्डय वतान से अपने कुल की नींव सुदृढ़ लगा रहे हैं, बहुविस्तृत (मोकली-मोकला) लगावेंगे-(लगारहे हैं-लगा दी है)।

(३)—अतिवृद्धप्रपितामह श्रद्धेय मिश्र श्रीवृन्दावनजी स्वलोक में स्वस्थ रहें, जिनके पुत्र श्रीजटा-शङ्करजी कुलदेवी के मन्दिर (कुल) में श्रीफलों का दुर्ग निर्माण करावेंगे (करा रहे हैं, करा दिया है), सम्पत्ति को अक्षुण्ण बनावेंगे-(बना रहे हैं, बना दी है)।

(४)—वृद्धप्रपितामह श्रद्धेय मिश्र श्रीजटाशङ्करजी स्वस्थ रहें स्वलोक में, जिनके पुत्र श्रीलक्ष्मण-रामजी मातृमन्दिर में पूजाई सुपारी से माता का सम्मान करेंगे-(कर रहे हैं, सदा के लिए कर रक्खा है)।

(५)—प्रपितामह मिश्र श्रद्धेय श्रीलक्ष्मणरामजी स्वस्थ रहें स्वलोक में, जिनके पुत्र श्रीबालचन्द्रजी मातृमन्दिर को वर्णच्छाय से समलंकृत करेंगे-(कर रहे हैं, कर दिया है)।

(६)—पितामह मिश्र श्रद्धेय श्रीबालचन्द्रजीशास्त्री सर्वसौख्ययुत रहें चान्द्रस्वर्ग में, जिनके वर्त्तमान सुपुत्र (हमारे कुल के सर्वज्येष्ठ श्रेष्ठपुरुष) श्रीहरिश्चन्द्रजी शास्त्री (वर्त्तमान अभिधा में 'बाबाहरिश्चन्द्र' नाम से लोक में सुप्रसिद्ध) मातृमन्दिर में सुवर्ण का छत्र लगाएंगे। (दत्तकमर्य्यादया पौत्रमुख-दर्शन द्वारा हिरण्मय तेजोमण्डलात्मक 'ब्रध्नस्य विष्टप्' नामक सौर-हिरण्मय संस्कार को अपने ऐहिक भूतात्मा में प्रतिष्ठित करने के रूप में सुवर्ण का छत्र लगा चुके हैं, जिसे लोक में—'सोने की सीढ़ी पर चढ़ना' कहा जाता है)।

---

* अध्यापनकर्म्म कराने वाले द्विजाति को 'आचार्य्य', एवं कुलानुगत पौरोहित्यकर्म्म कराने वाले को 'उपाध्याय' कहा जाता है। दोनों कर्म्म कराने वाले 'मिश्रकर्म्मानुगत' द्विजाति' मिश्र' कहलाए हैं, जिसका प्राकृतरूप है लोकगीत में 'मिसर-मीसर'।

(७)-वर्त्तमान-पिता अनन्य श्रद्धेय पूज्य मिश्र श्रीहरिश्चन्द्रजीशास्त्री अपने वर्त्तमान जीवन में कुलानुगता लोकख्याति, पुत्रादिसम्पत्ति, विद्यादिसम्पत्ति का भोग करते हुए शतायु बनें, जिनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमहेशचन्द्रजी, कनिष्ठ तीनों पुत्र मातृमन्दिर में क्रमशः मोतियों के अक्षत, घृत-दीप, लपसी का भोग, चामर व्यजन का अनुगमन करेंगे। (इस प्रकार हे कुलदेवि ! हमारी समस्त कुलाम्नाय में सदा से ही हमारे कुलपुरुष आपकी अनन्यभाव से उपासना करते आ रहे हैं, करते रहें यावच्चन्द्रदिवाकरौ, यही कामना है हम कुलस्त्रियों की) ।

(८)-माता ! हमने अपने कुल के मुख्य पुरुषों की नामगणना की है आपकी आराधना के प्रसङ्ग में। इसका यह अर्थ नहीं समझलें आप कि, जिन ज्ञात अज्ञात-परिचित-अपरिचित-छोटे-बड़े कुलपुरुषों का नाम ग्रहण हमने नहीं किया, उन पर आप अनुग्रह नहीं करेंगी। माता ! उन पर तो आपका विशेष अनुग्रह इसलिए होना चाहिए कि, उन्होंने तो बिना नाम-रूप कर्म्म के अपना अस्तित्त्व-व्यक्तित्त्व (जाति-जात-सब कुछ) पहिले से ही आपको समर्पित कर दिया है। अतएव सर्वस्वसमर्पक नामैषणा से असंस्पृष्ट उन छोटों को तो आप दुग्ध (अन्नसम्पत्ति), पुत्र (प्रजासम्पत्ति), एवं अक्षय लक्ष्मीभाण्डारप्रदान करने का अवश्य ही अनुग्रह करेंगी हीं, ऐसी हम कुलस्त्रियों की श्रद्धा है। हे वट-वासिनी ! आप उक्त सम्पत्तियों का अनुग्रह करतीं हुईं हमारे कुल में ऐसे पुरुष को जन्म देने का अनुग्रह करें, जो अपने यश-कीर्त्ति-विद्या बुद्धि-सम्पत्ति-आयु-आदि से 'कुलदीपक' प्रमाणित हो।

(९)-हे माता (सापिण्ड्यसम्बन्धप्रवर्त्तक) * बाबा श्रीवृन्दावनजी के परिवार में आपने अपने

---

* वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्थानीय सर्यादि के चन्द्रलोकस्थ सप्तममूलपुरुष मिश्र श्री सेवारामजी अब केवल एक सहोभाग से युक्त हैं, इस मान्यता के आधार पर सेवारामजी का इस मर्य्यादानुबन्ध लोकगीत में हमने नामग्रहण उपयुक्त मान लिया है। कुलदेवी के अनुग्रह से सप्तमपुरुष 'पुत्र' स्थानीय श्री-महेशचन्द्रजी के, तथा सुरेशचन्द्रजी के भी पुत्रसम्पत्तियाँ होगई हैं। इन आठवें पुरुषों (मिश्र श्रीहरिश्चन्द्रजी के पौत्रों) के कारण हम से आठवें बनते हुए चन्द्रलोकस्थ सेवारामजी का एक सह पूर्णरूपेण सपिण्डता प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया है। अतएव अब हमारे कुल में उनके साथ सपिण्डताप्रवृत्ति का सम्बन्ध न मान कर अतिवृद्धप्रपितामह स्थानीय दूसरे चन्द्रलोकस्थ षष्ठ मूलपुरुष मिश्र श्रीवृन्दावनजी को ही सपिण्डता का मूल मानते हुए इन्हें ही परिवार का मूल (सपिण्डता का मूल) माना जायगा। अतः प्रस्तुत कुलगीत में इन्हीं को परिवाराध्यक्ष (मूलपुरुष-सप्तमपुरुष) मान लिया गया है। दत्तकविधि मर्य्यादा से तो गोविन्दचन्द्र श्रीहरिश्चन्द्रजी का पौत्र है, यह पुत्रसन्तति से युक्त हो चुका है, जो कि इस के पुत्र मिश्र श्रीहरिश्चन्द्रजी के प्रपौत्र (पड़पोते) स्थानीय हैं। इस दृष्टि से तो बाबा वृन्दावनजी भी चन्द्रलोक से मुक्त हो गए हैं। अतएव अब लोकगीत में वृन्दावनजी के स्थान में 'बाबा जटासंकरजी का

इज अनुग्रह को सुरक्षित कर रक्खा है, जो अनुग्रह लोक में 'छत्रछाया' (छापर) -- कहलाया है। नटवासिनी ! आप ही ने अनुग्रह कर हमारे वंश की वृद्धि की है। (अतएव) हम आप से (पुनः पुनः) यह आवेदन कर रही हैं कि, आप सदा ही इस वंश में पुत्रपरम्परा-प्रदान का अनुग्रह ती रहें। (माता ! हमारी प्रार्थना है कि, आप इसी प्रकार-जब जब हम आपका स्मरण करें, पधारतीं ”।

(१०) * आम्रफल, बिजोराफल, द्राक्षाफल, दाड़िमफल, एवं जम्बूफल, हे माता ये पाचों माङ्गलिक फल-'फलेन फलितं सर्व्वम्' इस शास्त्रीय आम्नाय के अनुसार फलाशीः के लिए हम प के समर्पण कर रही हैं। इस फलसमृद्धिपूर्ण हमारे कुल में उसी प्रकार मन्दगति का अनुसरण ने वाली पिक (कोयल), हरितवर्ण का शुक (तोता)-तद्भावापेक्षित मधुरभाषिणी कन्या,

---

वार में', यह समावेश हो जाना चाहिए आगे आगे की पुत्रसन्तति के सङ्ख्यान-क्रमानुसार मूल- प ना लोकगीत में परिवर्त्तन होता रहना चाहिए, यही लोकगीत का आम्नायानुगत प्रामाण्य माना गा। महेशचन्द्रजी के पौत्र होने पर औरस मर्य्यादा से वृन्दावनजी का स्थान 'जटाशंकरजी' ण करलेंगे, तबतक यहाँ (हरिश्चन्द्रजी के परिवार में) 'बाबा वृन्दावनजी का परिवार में' यह म्नाय ही व्यवस्थित मानी जायगी। इधर गोविन्दचन्द्र के परिवार में श्रीचन्द्रलोकस्य मिश्र राधाचन्द्रजी से सम्बन्धित दत्तक मर्य्यादा से कृष्णचन्द्र-वसन्त प्रादुर्भाव के कारण 'बाबा जटाशंकर- ' का परिवार में' यह समाविष्ट होगया है। कुलदेव्यानुग्रह से निकट भविष्य में ही कृष्णचन्द्र पुत्रसन्तति होते ही उस समय से गोविन्दचन्द्र के परिवार में 'बाबा बालचन्द्र जी का परिवार में' समाविष्ट होने वाला है, जिसका कुलकी आम्नायपरायणा देवियों को स्मरण रखना चाहिए।

-- जयपुरीय ग्रामीण भाषा में पानी-फूँसके 'छप्पर' के कच्चे निवासगृह हुआ करते हैं। छप्पर की या में ही ग्रामीण जनता विश्राम ग्रहण करती है। इसी का विकृतरूप है-'छप्पर'-किंवा 'छपरा'। गरिक भाषा में जो अर्थ 'छत्रछाया' का है, ग्रामीण भाषा में वही भाव 'छप्पर' का है। ग्रामसभ्य- नुबन्ध से ही लोकगीत में छत्रछायासमतुलित (भावसमतुलित) 'छापर' शब्द समाविष्ट गया है।

* आँवा, बिजोरा, दाख, दाड्यूँ, जामूण, प्रान्तीय नाम। जामूण सलोनी है, साँवली है। अतएव- के लिए लोकगीत में 'लोयण साँवली' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'लोयण' शब्द मृदुता का-चिक्कणता- ग्णता का-सूचक है, 'साँवली' शब्द बाह्य नीलाभवर्ण का सूचक है। दोनों स्त्रीसौन्दर्य के क्योंकि क हैं, अतएव स्त्रियों की भाषाने इसका अपने मात्ररूप के समतुलन से ग्रहण कर लिया है।

समृद्धिशाली पुत्र (भ्राता-भगिनीवर्ग-भाई सहित) हमारे इस परिवारोद्यान में सदा क्रीडाकौतुक करते रहें~।

(इस प्रकार आरम्भ में वंशवर्णन के द्वारा वंश की स्वस्तिकामनापूर्वक कुलस्त्रियोंने कुलसमृद्धि के लिए सब कुछ व्यक्त कर १० दशम पद्य से-**'फलेन फलितं सर्वम्'** इस स्मार्त्त आशी को सफल बनाते हुए सब कुछ प्राप्त कर लिया कुलदेवी माता वत्सवासिनी भगवती से। अब इसी पद्य के अन्तिम भाग से कुलदेवी की महिमामयी महाशक्ति-महासामर्थ्य-को अभिव्यक्त करती हुई-श्रद्धापूर्वक स्तुतिभाव ही अभिव्यक्त करती हुई-कुलस्त्रियाँ कहहें हैं कि) हे माता! आप ईश्वरा (सर्वसमर्था) हैं, परमेश्वरी (पराशक्ति-आदिशक्ति-आदिभवानी-प्रजासर्ग की मूर्त्ताधिष्ठात्री) हैं, अतएव 'कुलदीपक' (यशस्वी-दीर्घायु-विद्याबुद्धिवित्तसम्पन्न) रूप से वंशवृद्धिकारिणी हैं—

'माता ईसरी-परमेसरी-कुलदीवट-वंसवधारणी'

(११)-(सर्वान्त में माता की दीप-कर्पूर से आरार्तिक-आरती भाव अभिव्यक्त करतीं हुई-कुलस्त्रियां कहती हैं कि), मालवास्तुति-आरार्तिं * देशाधिपति (उस) राजा, और राज्यमन्त्री (दीवान) के यहाँ सुशोभित होती है (जो इस आम्नाय के संरक्षक माने गए हैं, प्रजा का धर्म्मास्तित्वसंरक्षण ही जिस राजा और मन्त्री का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है)। यह आरार्तिक वहाँ सुशोभित होती है, जो समृद्धिशाली आदर्श परिवार हैं, सम्पन्न गृहस्थ हैं। और यह मङ्गलाचार वहाँ (हमारे कुल में) सुशोभित हो रहा है, जिस कुल में (माता के अनुग्रह से आम्नाय संरक्षक) पुत्र उत्पन्न हुआ करते हैं। (अपने इन पुत्रों के आधार पर ही हे माता! आपके अनुग्रह से हमारी यह दृढ श्रद्धा है कि) हमारे कुल में शीघ्र ही वह पुत्रवधू आने वाली है, (जो अपने शृङ्गारप्रसाधनों से-रुमझुम-झमकती हुई है, अतएव जो वंशपरम्परा का वितान करने के अनुरूप-सौभाग्य प्रसाधनों-से-वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित है)। "माता! बहू ए आवली झमकती *"

—१—

— आरम्भ से नवम पद्यपर्य्यन्त कुलदेवियोंने सपिण्डतानुगत शास्त्रीय वंशसम्पद् का-फलकामना व्यक्त की। किन्तु नारी स्वयं माता है। माता की अपनी भावुकता है कन्या और पुत्र, (छोरा-छोरी)-छोटे छोटे मधुरभाषी तुतलाती बोली बोलने वाला बालवृन्द। प्रस्तुत दशम (१) पद्य से कुलस्त्रियोंने कुलदेवी से यही फलाशी फलार्पणद्वारा अभिव्यक्त की है। आम्रादि पाँचों फलों की महामाङ्गलिकता सर्वात्मना निगमागमद्वारा अन्यत्र निरूपित है। पाँचों में पारिवारिक विधानों में 'बिजोरा' अपना विशेष महत्त्व रखता है। तन्त्र ने बिजोरा फल को ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का प्रतीक माना है।

* पुत्रवधुओं का ही तो यह सब कुछ पारिवारिक वैभव है, जिनके द्वारा वंशवितान सुरक्षित रहता है। अतः सर्वान्त में यही कामना अभिव्यक्त हुई है।

कुलदेवी के प्राथमिक पावन महामाङ्गलिक संस्मरण से सम्बन्ध रखने वाला पूर्वप्रतिपादित 'महासङ्गीत' ११ एकादश पद्यों में परिपूर्ण हुआ है, जो एकादशसंख्या रुद्रविभूति मानी गई है, जोकि 'रुद्राचान्द्रपितर' पूर्व की ▮तपितृस्वरूपव्याख्या के प्रसङ्ग में तालिकाप्रदशन पूर्वक विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है। रुद्रात्मक−चान्द्रमहादेव (महानामदेव) से अनन्या वटवासिनी रुद्राणी ही आदिभवानी ईश्वरी परमेश्वरी कुलदेवी है। रुद्रानुबन्ध से इस रुद्राणी कुलदेवी के यशोगान में सहज आम्नाय से एकादश पद्य समाविष्ट हुए हैं।

अब दो शब्दों में इस प्रथम महासङ्गीत के निगमानुगमानुगत आम्नाय-प्रामाण्य की भी मीमांसा कर लीजिए। क्या मूल है 'वटवासिनी' का ?, तथा क्या महत्त्व है सौम्य पितरकर्म्म में वटवृक्ष का, एवं तच्छ्रित्या भवानी का ?। वेष्टनधर्म्मा, अतएव लोकसाहित्य में 'वट' नामसे प्रसिद्ध 'बड़' का पेड़ निगमभाषा में 'न्यग्रोध' कहलाया है। प्रारम्भिक यज्ञानुगत सौम्य चमस (वायव्य-प्राणात्मक यज्ञिय पात्रविशेष) में परिपूर्ण अश्मासोम (घनभावापन्न सोम-अस्थिभावात्मक सोम) का अधः (नीचे की ओर) विस्रंसन (स्खलन) हुआ, इसी से 'न्यग्रोध' वृक्ष का स्वरूपनिर्म्माण हुआ। नीचे की ओर जटाविस्तार से भूगर्भानुगत बनता हुआ यह वृक्ष न्यङ्-रोहति' लक्षण रोहण से ही 'न्यग्रोह' कहलाया है, जिसे परोक्षभाषा में 'न्यग्रोध' कहा गया है (शत० १३।२।७।३।—ऐ० ब्रा० ७।३०)। घनास्थिलक्षण अश्मासोम ही न्यग्रोध का मौलिक उपादान है, जो कि सोमोपादान पितर-प्राणात्मक बनता हुआ 'स्वधा' कहलाया—है 'अस्थिभ्य एवास्य (चान्द्रसम्वत्सरप्रजापतेः) स्वधा अस्रवन् , स न्यग्रोधोऽभवत्' (शत० १२।७।१।६।)। चन्द्रमा जहाँ साक्षात सोम है, वहाँ यह न्यग्रोध सोमस्वधा से निर्म्मित होता हुआ परोक्ष सोममूर्त्ति ही है 'परोक्षमिव−ह वा एष सोमो राजा-यन्न्यग्रोधः' (ऐत० ब्रा०७।३१)। चन्द्रमा ही सोमरूपात्मक रुद्ररूप से 'महान्देव' बनते हुए 'महादेव' हैं। "तं रुद्रमब्रवीत्–'महान्देवोऽसी' ति। तद्यदस्यतन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्तद्रूपमभवत्। प्रजापति-र्वै चन्द्रमाः, प्रजापतिर्वै महान्देवः" (शत०६।१।३।१६)। न्यग्रोध इसका प्रतीक बनता हुआ अवश्य ही शैव-पैत्र-चान्द्र-रौद्र-वृक्ष है। तदभिन्ना रौद्री भवानी शक्ति ही 'वटवासिनी' देवी है, जो सौम्या बनती हुई वंशानुगत-पितरप्राण की मूलप्रतिष्ठा मानी जा सकती है, एवं यही इस वटवासिनी देवी का नैगमिक आम्नाय है। भूतनाथ रुद्रभगवान् का प्रतीकरूप वटवृक्ष ⊛ 'वृक्षनाथ' है, रुद्रवृक्ष है, इसका आगमिकमूल आर्य्यसर्वस्व (पुराण) में यों निरूपित हुआ है—

− इसी दृष्टिकोण से मालवाप्रान्त (मध्यप्रान्त) में रात्रिजागरणात्मक पैत्रकर्म्म में 'महादेव' के माध्यम से भी तत्प्रान्तीय 'ओङ्कारेश्वरमहादेव' का यशोगान यहाँ के लोकगीतों में समाविष्ट है।

⊛ शब्दरत्नावली में पठित वटनाम–'वृक्षनाथ'।

ऋषय ऊचुः—कथं त्वयाश्वत्थवटौ गोब्राह्मणसमौ कृतौ ।
सर्वेभ्योऽपि तरुभ्यस्तौ कथं पूज्यतमौ कृतौ ? ॥

सूत उवाच—अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः ॥
रुद्ररूपो वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक् ॥१॥

दर्शनस्पर्शसेवासु ते वै पापहराः स्मृताः ।
दुःखापद्व्याधिदुष्टानां विनाशकारिणौ ध्रुवम् ॥२॥

—पद्मपुराण–उत्तरखण्ड–१६० अध्याय ।

"वटे वासोऽस्याः–इति (रुद्रशक्तिः–पराशक्तिः–परमेश्वरी–आद्या एव)
वटवासिनी–देवी" इति हेमचन्द्र

—१—

(२) कुलदेव्यातिथ्यात्मक–महासङ्गीत की द्वितीय पावनस्मृति—

भावनामय–मनोमय (भावुकतानुगता श्रद्धात्मिका मान्यतानुगता ससंस्मरण–(स्वरूपोपवर्णन)–भावापन्न पूर्व के प्रथम महासङ्गीत–श्रवण से कुलस्त्रियों के भावनाजगत् में सङ्गीत–माध्यम से वटवासिनी रौद्री–चान्द्री–कुलदेवी पधार कर प्रतिष्ठित होगई अतिथिरूप से । इनके साथ साथ इन की अवान्तर शक्तियाँ अवान्तर सप्तक भूतवर्ग, आदि लक्षण यह समस्त शक्तिपरिवार, किंवा रुद्रपरिवार भी भावनाजगत् में समाविष्ट हो गया, जिस परिवार का पूर्व के सांख्याभिमत चान्द्र चतुर्दशविधभूतसर्ग–प्रसङ्ग में निरूपण किया जा चुका है । अतएव रौद्री कुलदेवी के आगमन का अर्थ यह हुआ कि, रुद्रमूलक रुद्रात्मक चतुर्दशविध चान्द्र भूतसर्ग से नित्य सम्श्लिष्ट चतुर्दशविध शक्तिसर्ग जिसे की पूर्व में 'सम्राज्ञी' (महारानी) रूप से उपस्तुत किया है—कुलस्त्रियों के भावनाजगत् में प्रतिष्ठित हो गया । एक ही सम्राज्ञी ने (मूल एक ही शक्ति ने) नहीं अपितु तुलाभावापन्ना चतुर्दश सम्राज्ञियोंने (चौदह महारानियोंने) आतिथ्य ग्रहण कर लिया । पितरकर्म्म से भी पूर्व अवान्तरशक्ति–युक्ता इस कुलदेवी का आतिथ्य अनिवार्य्य बन जाता है । प्रस्तुत द्वितीय महासङ्गीत उसी आतिथ्यकर्म्म का स्वरूपविश्लेषण कर रहा है । अवधानपूर्वक कीजिए इस महासङ्गीत की पावनस्मृति को भी अपने श्रद्धामय मानस पटल पर खचित प्रतिष्ठित !

(१) ÷मा···था···न (माथान) मैं··भ··द (मैंमद)' प··र··ल्यो। (परल्यो)झाराएयों ए!

र···ख···ड़ी (रखड़ी) ए माता र···त···न(रतन) ज···ड़ा···य-(जड़ाय)

भैरूँ थारो खेल रह्यो,

चौ···गा···न (चौगान) हणमत थारो खेल रह्यो ॥

२)-कानान कुराडल' परल्यो झाराएयों ए!

'भुठयाँ' ए माता रतन जड़ाय-भैरूँ०, चौगान०, ॥

३)*'मुखड़ा ने वेसर' परल्यो झाराएयों ए!

'भलको' ए माता रतन जड़ाय-भैरूँ०, चौगान०, ॥

४)-'गलान पवमणयों' परल्यो झाराएयों ए!

'कठलो' ए माता पाट पुवाय-भैरूँ०, चौगान०, ॥

५)-'बैंय्याँन बाजूबंद' परल्यो झाराएयों ए!

बाजूबंद के ए माता 'लूम' लगाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥

(६)-'पोंछयाँन गजरा' परल्यो झाराएयों ए!

'चुड़लो' ए माता नकस लगाय—भैरूँ, चौगान०, ॥

(७)-'कड्याँन कणकती' परल्यो झाराएयों ए!

कणकती क ए माता 'भूम' लगाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥

(८)-'पगल्याँन पायल' परल्यो झाराएयों ए!

आँगल्या में ए माता 'फोलरी' सुहाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥

(९)-'कमर्‌याँ पटोलो' परल्यो झाराएयों ए!

'स्यालूड़ा' क ए माता कोर लगाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥

÷ सर्वत्र लोकगीतों में कुलस्त्रियाँ यथा सुविधा स्वानुरूप कहीं व्यञ्जनों, कहीं स्वरों, कहीं पद मध्य मध्य में वितान-फैलाव-का समावेश करतीं हुई हीं इन महासङ्गीतों का सम्मिलित रूप से ही यह महागान कर पातीं हैं।

* नासिका (मुखोपलक्षित नाक-नासिका)।

(१०)–'छतियाँ न अँगिया घल्यो छाराण्यों ए !
अँगिया क ए माता 'कसणा' लगाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥
(११)–'खीर घेवर को भोग' छ छाराण्यों ए !
रुच रुच ए माता भोग लगाय—भैरूँ०, चौगान०, ॥
(आशीः-कामना)—*"नोलख आन थार गॉमड़ी छाराण्यों ए !
दसलख ए माता थलूडारी माय।
विनती सुणज्यो म्हारी ए छाराण्यों ए !
"चौरासी के ए माता पिच्यासी लगाय"
भैरूँ थानो खेल रह्यो,
चौगान हणमतानो खेल रह्यो जी······॥"

—२—

पद्य ११ संख्या में विभक्त है, अन्तिम पद्य का आशी-कामना (फलकामना से) सम्बन्ध है। एकादशपद्यात्मक इस आतिथ्यसत्कारनिबन्धन महासङ्गीत के द्वारा कुलदेवी का भावनामाध्यम से लोकानुगत स्त्रीभावसमतुलित षोडश आभूषण शृङ्गारों से, प्रान्तानुगत वस्त्रविन्यास से, एवं निगमानुगत अन्नप्रदान से आतिथ्य हुआ है। मन्त्रान्त के परिशिष्टात्मक संकेतित वाक्यचतुष्टयात्मक (क-ख-ग-घ पद्य से सर्वविध आतिथ्य से तुष्टतृप्त माता भवानी कुलदेवी से फलकामना अभिव्यक्त की गई है।

* १–मस्तक, २–कर्ण, ३–मुख (मुखोपलक्षिता नासिका) ४–ग्रीवा, ५–भुजा, ६–मणिबन्ध ७–कटि, ८–पाद, ९–पादाङ्गुली, इन नौ प्रधान शरीराङ्गों के आभूषणों-अलङ्कारों का (प्रान्तीय मान्यता के अनुपात से) स्वरूपवर्णन हुआ है, जो कि आभूषण-भूषणात्मक अलङ्कार-सौम्य-स्त्रीतत्त्व (प्रकृतितत्त्व) के लिए स्वभावतः आकर्षक शृङ्गारप्रसाधक बने रहते हैं, जिनके नैगमिक मूल यत्रतत्र ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहे हैं—

(१)–'तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति–शतं फलहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं माल्यहस्ताः, शतं वासो हस्ताः। अलङ्कारेण युनन्ति"।
—शाङ्खायनारण्यक ३।५।

* (१)–मस्तक–माथा। (२)–कर्ण–कान। (३)–मुख तदुपलक्षित) नाक। (४)–ग्रीवा–गला। (५)–भुजा–बैंया। (६)–मणिबन्ध–पौंहचा। (७)–कटि–कड्याँ। (८)–पाद–पगल्या। (९)–पादाङ्गुली–आँगल्या, ये प्राकृतरूप हैं मस्तकादि संस्कृतरूपों के।

(२)–" चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। सर्वा निष्किन्यः–अलङ्कृताः" ।

—शत० १३।४।१।८।

(३)–"अलङ्कारोन्वेव मिमता आजन्त इव" । (शत० ३।४।१।२६।) ।

संस्कृतसाहित्य के, विशेषतः काव्य-नाटक चम्पू-साहित्य के तो मूल 'अलङ्कार' ही बने हुए हैं। मस्तकालङ्कार 'चूडामणि' (मइमॅद-टीडीभलको-बोरलो-रखड़ी-बोर) 'तरलहार', 'बालपाश्या' (मोरपट्टा-भुठणॉ-क्लिप-आदि), 'पत्रपाश्या'(पीपलपत्ता), 'ललाटिका' (आड), 'कर्णिका' (बीड्ला), 'तालपत्र', (फूलभूमका), 'कुण्डल', (अरण-लौंग-बुडकी-बाटा-आदि), 'कर्णवेष्टन' (झाला-मोरमींडी आदि), 'ग्रैवेयक'(कण्ठी-माला-कठला-पचमण्या-आदि), 'ललन्तिका' (हार), 'उरः-सूत्रिका' (मोतियों की माला), 'कटक'(कडे-नोगरी-मरहठी आदि),'केयूर' (भुजबन्ध-बाजू-आदि), 'अगुलीयक' (अॅगूठी-छल्ला), 'काञ्ची' (कणकती-तागडी), 'मञ्जीर-नूपुर' (पायल नेवरी-साट-पादकडा-आदि) इत्यादिरूप से यत्रतत्र उपवर्णित अलङ्कारों के आगममर्यादा से चौबीस भेद प्रमाणित होते हैं, जिनका विशद निरूपण 'लोकगीतरहस्य' नामक स्वतन्त्र निबन्ध की ही अपेक्षा रखता है। प्रकृत महासङ्गीत में षोडशशृङ्गारसापेक्ष सोलह अलङ्कारों का प्रान्तीयभाषा में उपवर्णन हुआ है। प्रान्तीयों के लिए स्पष्टतम भी अक्षरार्थ अन्यप्रान्तीयों के लिए इन शब्दों में सक्षेप से व्यक्त किया जा सकता है।

(१)–हे महारानियो ! आप अपने मस्तक में 'सुवर्णचन्द्राकाराकारित आभूषण' (मॅहमद टीडी भलका) धारण करें। आप की चूडामणि (रखड़ी-बोरला) में हम रत्न खचित कर रही हैं। आप के (सीमित) प्राङ्गण में (रुद्रमूर्त्ति) भैरव क्रीडा कर रहे हैं, आपके सुविस्तृत प्राङ्गण में (एकादश रुद्रमूर्त्ति) महावीर ※ क्रीडा कर रहे हैं। (२)–आप अपने कर्णों में कुण्डल धारण

※ यह (भैरव-महावीर-गण वैदिक 'मरुत्वतीयग्रह' से सम्बन्धित हैं। आन्तरिक्ष्य वायव्य मरुद्गण रुद्रविकार हैं (मरुतो रुद्रपुत्रास)। मरुद्विकार भैरव-महावीरादि हैं। इतस्ततः सञ्चरणात्मक उपद्रवात्मक क्रीडा-कौतुक (खेलकूद) इन मरुत्वानों का सहज धर्म है। अतएव इन्हें 'क्रीडिन' कहा गया है— मरुतो ह वै क्रीडिनः–वत् क्रीडिना नीडिस्विम्' (तै० १।७।५।)। इसी नैगमिक क्रीडाभाव के आधार पर–'भैरूँ बाबो खेल रह्यो, चोगान हणमत बाबो खेल रह्यो' यह महासङ्गीत प्रतिष्ठित है। भैरव इस मूलरुद्र के सञ्चारी हैं, जो रुद्र पूर्व में चतुष्पथ के निवासी माने गए हैं। मान्यता के अनुसार चतुष्पथ के ही किसी कोण में भैरवप्रतिमा (दक्षिणाभिमुखरूप से) प्रतिष्ठित रहा करती है। चतुष्पथादिरूप सीमित प्राङ्गण ही इन पार्थिव भैरवनाथ का क्रीडास्थल है। इन का क्रीडा क्षेत्र बहुविस्तृत नहीं है। अतएव इन के लिए यहाँ केवल–'भैरूँ बाबो खेल रह्यो' इत्या

करें, हे माता ! आप कर्णभूषण से आबद्ध 'बालपाश्या' (मुटणीँ) अलङ्कार धारण करें, जिन में रत्न जड़े हुए हैं। (३)-आप अपनी नासिका में नासाभूषण (नथ-बेसर) धारण करें, जिसका मुक्तामणिमय मध्यभाग (मनका) रत्नजटित है। (४)-आप अपनी ग्रीवा (गले) में ग्रैवेयक (पचमणियाँ) धारण करें, माला धारण करें, जो माला मधुरसूत्र (रेशमी डोरा-पाट) में प्रोत है। (५)-आप अपनी भुजाओं में केयूर (बाजूबंध) धारण करें, जिस में सुवर्णमय गुच्छ (लूम-सरपूँदी का मानू) खचित हो रहा है। (६)-आप अपने मणिबन्ध (पोहचा) में कटक (गजरा) धारण करें, और वैसा चूड़ा धारण करें, जिस में अद्भुत शिल्प (नक्श-नक्काशी) कराया गया है। (७)-आप अपने कटि भाग में रशना (करधनी) धारण करें, जिसमें सुवर्णमय गुच्छ (झूमका) लगा हुआ है। (८)-आप अपने चरणों में नूपुर (पायल) धारण करें, एवं चरणाङ्गुलियों में अङ्गलीयक (कोलरा) धारण करें, (९) हे महाराणियो ! इन अलङ्कारों के साथ साथ आप-अपने अधः प्रदेश में तदनुरूप वस्त्र (पटोला-घाघरा) धारण करें, एवं उत्तमाङ्ग में तदनुरूप वैसा ही परिधान (वैसी यह ओढ़नी-साफा) धारण करें, जिस के प्रान्तभाग में हमनें विशिष्ट कोण (गोटा किनारी आदि) लगाए हैं। (१०)-आप यह कञ्चुकी (काँचली-अँगियाँ) धारण करें, जिस के कर्णसूत्र (कसणा) आबद्ध कर दिए गए हैं। (११)-हे माता ! इस प्रकार (श्रद्धापूर्वक प्रदत्त इन-षोडश अलङ्कारों, तथा विविध वस्त्रों से (आपादमस्तक-आनखाग्रेभ्य-नखाशिख-पर्यन्त) सुसज्जित होकर आप इस भोजन सामग्री का ग्रहण करें, जिस में चीरान्न मुख्य है (और घेवर हमारे प्रान्त का विशिष्ट मिष्टान्न है)। हे माता ! आप रुचि-पूर्वक इसका आस्वादन करें, यही हमारी प्रार्थना है।

(विशिष्ट अभीकामना)-हे माता ! हम यह अनुभव कर रही हैं कि, आप हमारे इस महामङ्गल आतिथ्य से हम पर प्रसन्न हैं। हमने आप के सम्बन्ध में यह सुन रक्खा है कि, आप के प्रादुर्भाव में लगभग पन्द्रह स्त्रियाँ (नारियाँ) आती हैं, (और वे पुत्र-वरदान कर लेती हैं)। इन से मा आप के आगी हैं (हमारी जैसी) ये पुत्रवती नारियाँ, जिन की यह विनय पूर्वक नम्र प्रार्थना है कि (आपके निःसीम अनुग्रह से हमनें सभी-प्रकार का पारिवारिक वैभव-पति-पुत्र-पौत्र-विद्यादि

जिसमें 'रुचा, मात्र (मेरा रखो) का उल्लेख हुआ है, वहाँ पञ्चगव्यसमोद्भूत हनुमान के लिए 'चौगान हथमत नारो मंगल रखो' इत्यादिरूप से यह विश्रुत प्राङ्गण का भाव 'चौगान' रूप से अभिव्यक्त हुआ है। पार्थिवराज सेरा है। पृथिवी सीमित प्राङ्गण है। आन्तरिक्ष्यगण रुद्रगणात्मक महावीर है। अन्तरिक्ष 'उरुन्तरिक्षमन्वेमि'-महदिदमन्तरिक्षम्' [कौ० ==।५५१] रूप से सुविशाल है, उरु है, मदान (चौगान) है,।

ऐहलौकिक-वैभव प्राप्त कर लिया है। अब तो हमारी एकमात्र यही पारलौकिक कामना और शेष रही है कि—प्रदत्त आयुर्वैभव सुख भोगानन्तर) आप हमारी ८४ संख्या को ८५ संख्या में परिणत करने का अनुग्रह करदें (चतुरशीतिलक्ष-चौरासीलाख-योनिचक्रबन्धनों से विमुक्त कर हमें ८५ वें मुक्तिपथ की अनुगामिनी बनाने का यथासमय अनुग्रह और करेंगीं आप ।

(३)-गोदोहन-कर्म्मात्मक महासङ्गीत की तृतीय पावनस्मृति--

(१)—"धोली मीं धूमर ह्मारीं कपला सी गाय— ॥ १ ॥
(२)—दूध दुहावा मीसर हरीचन्दरजी जाय ॥ २ ॥
(३)—वाछड़ला पकड़या वाँकी साथण जाय ॥ ३ ॥
(४)—सोना की तोलड़ी में दूध दुहाय ॥ ४ ॥
(५)—दूध दुहाय वाँकी खीर रँधाय ॥ ५ ॥
(६)—खीर रँधाय वाँका पितर जिमाय ॥ ६ ॥
(७)—थे जीमोजी ह्मारा सकल पितर ॥ ७ ॥
(८)—थाँ जीम्याँ से ह्मारो 'मन भर जाय' ॥ ८ ॥"

— ३ —

(१)-श्वेत, धूम्रवर्णयुक्ता यह मेरी कपिला गौ है (जिसके दुग्ध से मुझे क्षीरान्ननिर्माणद्वारा पितरों को तृप्त करना है। (२)-कपिला गौ के दुग्ध दोहनकर्म्म के लिए हमारे कुल के सर्वज्येष्ठ श्रेष्ठ कुल-पुरुष मिश्र श्रीहरिश्चन्द्रजी शास्त्री जाते हैं। (३) एवं गोवत्सों को पकड़ने के लिए उनकी* सहचारिणी (साथिन-धर्म्मपत्नी) जाती है। (४)-मिश्रजी ने सुवर्णपात्र में गोदुग्ध दोहा है। (५)-इस (सद्यः प्राप्त) गोदुग्ध से (चाँवलप्रक्षेपद्वारा उनकी धर्म्मपत्नी हमारे कुल की सर्वज्येष्ठा श्रेष्ठा कुलस्त्री ने) क्षीरान्न सम्पन्न किया है। (६)-इस सम्पन्न क्षीरान्न से (हम-कुलस्त्रियाँ सम्मिलितरूप से अपने गृह्य-भौम-पार्थिव) पितरों को तृप्त कर रही हैं। (७) हे मेरे पितरो ! आप अपने परिवार सहित इस क्षीरान्न-भोजन से तृप्त बन जाने का अनुग्रह कीजिए। (८)-आपके क्षीरान्न से तृप्त हो जाने से ही हमारा मन तृप्त होगा।

---

* 'सहधर्म्मं चरताम्' ।

(४)–पितृकर्म्मानुगत मुख्य महासङ्गीत की चतुर्थ पात्रनस्मृति—

(१)—काए का तोला श्रो काए की डाँडी–
तोलर गन्धी का बेटा किसतूरी ।
ए–गन्धी को तोल हरीचन्दरजी करावे ।
तोलर गन्धी का बेटा किसतूरी ॥ १ ॥
(२)—जी–सोना की तोली जीमें चाँवलिया सा थोड़ा–
आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।
आपज जीम्याँ बाँका साथीड़ा भी जीम्याँ
तोभी तोली में चाँवल भो घणा ॥ २ ॥
(३)—जी–छोटी सी तलाई जीमें पाणीड़ो भी थोड़ो ।
आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।
आपज पीयो वाँका साथीड़ा भी पीयो ।
तोभी तलाई में पाणी भो घणो ॥ ३ ॥
(४)—जी–छोटो सो डाबो जीमें गैणाँ भी थोडा ।
आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।
आपज परचा वाँका साथीडा भी परचा ।
तोभी डाबा में गैणाँ भो घणा ॥ ४ ॥
(५)—जी–छोटो सो बुगचो जीमें कापडला भी थोड़ा ।
आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।
आपज परचा वाँका साथीड़ा भी परचा ।
तोभी बुगचा में कपड़ा भो घणा ॥ ५ ॥
(६)—उधो ए सुधो कर आयो म्हारा पितरो !
पधारो म्हारा पितरो—
कुसल कुसल घर जायजो ॥ ६ ॥
(७)—चोदस के दिन आयो म्हारा पितरो–
मम्म घराँए पधारज्यो जी ॥ ७ ॥
(८)—पिघर नालाभोला, जी–श्रो घोर असीस ।
फलज्योजी फूलज्योजी कडवा नींम ज्यों ॥ ८ ॥"

—४—

(१)—हे सुगन्धिद्रव्य विक्रेता गांधीपुत्र ! (*गंध-सुगध द्रव्य परिमाण-तौल-के लिए) तुम्हारी (दुकान) में परिमाणसाधन (तोला-तौलने के बाट) तो किस द्रव्य के हैं (किस धातु के बने हुए हैं),—तराजू के पलड़े किसके हैं, और तराजू का दण्ड (डाँडी) किस का है ?। (हमनें यह परीक्षा करली है कि, तुम्हारी ताखड़ी-बाट-डॉडी-सब कुछ परिमाणसाधन पितरों के स्वरूप के अनुरूप-सुवर्ण के-ही हैं, अतएव इस परीक्षा के अनन्तर) हे गन्धी के पुत्र ! सौम्यभावापन्न !) तू हमें पितृकर्म के लिए सुगन्धि-द्रव्य-जिसमें मुख्य मृगनाभिगन्ध (कस्तूरिका-कस्तूरी) हो, (और गौणरूप से चन्दन-चम्पा-सरोज-खस का गन्धद्रव्य (इत्र) हो, तौलने (परिमाण करने) की व्यवस्था कर देना। हमारे (कुलस्त्रियों के इस निकट भविष्य में ही सम्पादित होने वाले पितृकर्म के लिए अपेक्षित विशिष्ट) गन्धद्रव्य का मूल्याङ्कन (मोल-भाव) द्वारा क्रय (हमारे कुल के ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुष) मिश्र हरिश्चन्द्रजी शास्त्री करा रहे हैं। [किस गन्धद्रव्य का तुम गन्धीपुत्र से किस कार्य के लिए कौन क्रय कर रहा है, यह जानकर ही हे गन्धीपुत्र ! पितृकार्य के अनुरूप ही तुझे गन्धद्रव्य देना है, इसमें जो भूल हो जायगी, उसके प्रायश्चित्त का भागी तू ही बनेगा, यही प्रथम पद्य का निष्कर्षार्थ है]।

[२] पितृकार्य-स्वरूपानुगत सुगन्धि-द्रव्य-पुष्पादि की व्यवस्था के अनन्तर हम [कुलस्त्रियों] नें [पितृकर्म-स्वरूप के अनुरूप ही] सुवर्णथाली [सोने की बटलोही] में [श्वेतधूम्रा कपिला गो के सद्यः दुग्ध में चाँवल डाल कर जो क्षीरान्न-खीर-सम्पादित की है, उसमें थोड़ा सा ही तो दूध है, और] थोड़े से ही चाँवल हैं [अर्थात् हम पितृपरिवार के महतोमहीयान् सुचि मृत बहुसंख्यक परिवार के समतुलन में बहुत ही स्वल्पमात्रा में क्षीरान्न सम्पादित कर पाई हैं इस प्रकार यद्यपि हमसे उन सम्मान्य पितर अतिथियों के स्वरूप के अनुरूप कुछ भी व्यवस्था नहीं बन पड़ी है, तथापि हम देख रही हैं कि, हमारी श्रद्धात्मिका भावना के आकर्षण से इस स्वल्प क्षीरान्न को अनुग्रहपूर्वक ग्रहण करने के लिए] सुमहान् पितरों का सुविस्तृत परिवार हमारे घर पधार आया है। (हमनें यह देखा, अनुभव किया, और यह देखकर अनुभव कर हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा कि, यहाँ पधारे हुए पितरों में) मुख्य पितरोंनें भी रुचिपूर्वक तृप्त होकर क्षीरान्न का भोजन किया। उनके अन्य समस्त असंख्य पारिवारिक व्यक्तियोंनें भी तृप्तिपूर्वक भोजन किया, और थाली में फिर भी

* पारस्परिक सनातन आम्नाय का अपने महासङ्गीत के माध्यम से सदा से संरक्षण करती रहने वाली ये कुलदेवियाँ 'गन्धी' न कहकर 'तोलर गन्धी का बेटा किस्तूरी' कहतीं हुईं यहाँ भी परम्परा को ही महत्त्व प्रदान करतीं हुईं परोक्षरूप से परिवार को यह उद्बोध प्रदान कर रही हैं कि, जो तत्त्व-जो वस्तुतत्त्व-किंवा जो लोकपरिग्रह पारम्परिक आम्नायानुगत व्यवसाय-स्थानों (कुलक्रमानुगत परिग्रह विक्रेताओं की पुरातन आपणों-पुरानी दुकानों) में सुविधापूर्वक तथा विशिष्ट-परीक्षित रूपेण उपलब्ध होता है, वह नूतन-आपणों में नहीं।

क्षीरान्न अत्यधिक मात्रा में बचा रह गया। (सचमुच स्वल्पद्रव्य का भी यों बहुसमृद्धिरूप में परिणत हो जाना महा आश्चर्य है। अथवा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह तो महा महिमशाली समृद्धिशाली समृद्धिप्रदाता पितरों की ओर से होने वाला सहज सामान्य अनुग्रह है)। श्रद्धापूर्वक प्रदत्त स्वल्प भी परिग्रहप्रदान देवानुग्रह से बहुसमृद्धिफलात्मक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है, यही तात्पर्य्य है)।

३-४-५ पद्यार्थ द्वितीय पद्यार्थ से समतुलित हैं। (३) क्षीरान्न भोजनानन्तर पितरों के लिए जिस तालाब में जल की व्यवस्था की गई है, वह बहुत छोटा, पानी भी उसमें बहुत ही थोड़ा। किन्तु आश्चर्य, सपरिवार पितर इससे तृप्त हो गए, और तालाब का पानी पहिले की अपेक्षा समृद्ध बन गया। [४] छोटा सा आभूषणों का 'वसुधानकोष' [गहनों का विशेष प्रकार का डब्बा], उसमें परिगणित आभूषण। किन्तु पितरानुग्रह से हमारी आभूषण-सम्पत्ति भी बहुसमृद्ध बन गई। [५]- छोटी सी वस्त्रमञ्जूषा [बुगचा], उसमें बहुत थोड़े परिगणित वस्त्र। किन्तु गृह्यपितरों के अनुग्रह से ये भी सुसमृद्ध बन गए। इस प्रकार पितृ देवों के इस श्रद्धानुगत स्वल्पतम भी आतिथ्य से हमारे कुल को अन्नसम्पत्ति (क्षीरान्न—तदुपलक्षित पशुसम्पत्ति भी), आभूषणसम्पत्ति (तदुपलक्षित अन्य वित्त-सम्पत्ति भी), एवं वस्त्रसम्पत्ति (तदुपलक्षित अन्य पार्थिव सम्पत्ति भी), अनायास ही प्राप्त हो गई, यही चारों (२-३-४-५) पद्यों का फलितार्थ है।

अब सक्षेप से गोदोहनकर्म्मानुगत तृतीय, तथा पितृकर्मानुगत मुख्य-चतुर्थ, दोनों महासङ्गीतों की नैगमिक आम्नाय (वेदप्रामाण्य) का भी अनुशीलन करते हुए अपने साथ साथ आप हमें भी कृतकृत्य कर दीजिए। पितृकर्म्म में पितरों के लिए प्रधानरूप से गोदुग्ध में अक्षत निक्षेप द्वारा बना हुआ 'क्षीरान्न' (दूधपाक—क्षीर—खीर) तृप्ति का साधक माना गया है महासङ्गीतात्मक गोदोहनकर्म्मात्मक तृतीय महासङ्गीत के द्वारा। काम्य महार्त्विज्यगात्मक श्रौत देवयज्ञकर्म्मेतिकर्त्तव्यता के प्रसङ्ग में विहित-सगृहीत काम्य पितृकर्म्म में पितृतृप्ति के लिए जिस 'मन्थ' द्रव्य का उल्लेख हुआ है, वह क्षीरान्नविशेष ही है, जिसका निर्माण 'निधानी' (प्रथमप्रसूता—पहलूण गौ—के दुग्ध से विहित हुआ है। देखिए।

> "अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः—निधान्यायै दुग्धे सकृदुपमथितः—
> एकशलाकया मन्थो भवति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात्—
> सकृदुपमथितो भवति"। (शत० महाहविर्यागब्राह्मण, २।६।१।६।)।

ब्राह्मणाम्नाय में तो केवल 'निधानी गोदुग्ध' का विधान हुआ है। फिर यह 'धोली सी धूमर म्हारी कपला सी गाय' (श्वेत-धूम्रवर्णा कपिला गौ) की घोषणा किस आम्नाय के आधार पर व्यक्त कर डाली कुलस्त्रियोंने अपने महासङ्गीत में ?। अन्वेषण कीजिए। इस प्रश्न का भी यत्र-तत्र निगमाम्नाय उपलब्ध हो ही जायगा। 'धोली-सी-धूमरसी-कपिला-सी' का अर्थ है 'श्वेत-सी धूम्र-सी-

कपिला सी-गौ'। सफेद रंग की गाय 'श्वेत' है, ललाई लिए हुए काला रँग * धूम्र' है, एवं भूरा रँग 'कपिला' है, तद्वर्णा गौ कपिला है। न तो श्वेता ही, न धूम्रा ही, अपितु श्वेत-धूम्र-कपिल, तीनों वर्णों से अंशतः समतुलित गौ ही श्वेता-सदृश, धूम्रा-सदृश, एवं कपिला-सदृश-गौ यहाँ (पितृकर्म्मानुगत क्षीरान्न सम्बन्ध से) ग्राह्य है। इस सादृश्य के लिए ही प्राकृतरूप से 'सी' का प्रयोग हुआ है। 'श्वेत-धूम्र-कपिला-सदृशा गौ' का प्राकृत रूप बना है—महासङ्गीतानुगता लोकभाषा में-'धोली-सी, धूमर (धारी) कपला-सी गाय'। श्वेतवर्ण चन्द्रमा का प्रतीक है, धूम्रवर्ण पृथिवी का प्रतीक है, एवं कपिलवर्ण रुद्र (मूलपितर-आग्नेय पितर) का प्रतीक है। सांख्यानुगत पितृपरिवार में श्वेत-चन्द्रमा, धूम्र पृथिवी, कपिल रुद्र, तीनों के प्राणों का समन्वय है। अतएव यहाँ तीनों वर्णों से अंशात्मना समतुलिता तिवानी गौ का ही दुग्ध क्षीरान्न के उपयोग में आता है। अब केवल वैसे वचनों को मध्यस्थ बना लेना है, जो चन्द्र-पृथिवी-रुद्र-के साथ श्वेत-धूम्र-कपिलवर्ण का सम्बन्ध व्यक्त कर रहे हों।

(१)—' भाति हि चन्द्रमाः' (शत० ८।५।३।१०)—'सूर्य्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः'(शत० ६।५।१।६)—
"अत्राह गोरमन्वत-चन्द्रमसो गृहे" (ऋक् सं०)।

(२)—"धूम्रा वाऽदितिः। (अदितिः पृथिवी, मागामनागामदितं वधिष्ट)। ÷अनुस्तरणी कृता भवति। यमायोदेहीति। सा वाऽनुस्तरणी, सैव सा"।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण २१।१।७।

(३)—"या सा तृतीयामात्रा-ऐशानदेवत्या कपिला वर्णेन। रुद्रो देवता"।

—गोपथब्रा० पू० १।२५।

—कपिलानां रुद्राणां-कपिलानां रुद्राणीनां स्वतेजसा भानि"

—तैत्तिरीयारण्यक १।७।१,२,।

चान्द्र अश्मा-सोम ही रौद्र आग्नेय प्राण से विस्रस्त होकर पार्थिव खनिज धातु बनता हुआ 'सुवर्ण' रूप में परिणत हुआ है, जैसा कि-'सोमस्य वा प्रिया तनूरुदक्रामत्, तत्सुवर्णं हिरण्यमभवत्' (तै० ब्रा० १।४।७।४-५-) 'चन्द्रं हिरण्यम्' (तै० ब्रा० २।७।६।२) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है।

---

* धूँए का सा रँग, सूँघनी तमाखू का सा रँग ही 'धूम्र' है, जिसका प्राकृतरूप 'धूमर' है।

÷ प्रेतकर्म्मसंस्कार में विहित गोदान से सम्बन्धित गौ धूम्रा ही अनुरूप मानी गई है। यही प्रेतपितर को वैतरणी-पाशात्मक वरुणपाश से तारने के कारण 'अनुस्तरणी' कहलाई है, जिस प्रेतसदन के अध्यक्ष 'यम' (आग्नेयरुद्र) माने गए हैं।

जिस प्रकार श्वेत-धूम्र-कपिला गौ में चान्द्र-पार्थिव-रौद्र-तीनों पितृप्राणों का समावेश है, तथैव सुवर्ण भी चान्द्रसोम आग्नेयरुद्र पार्थिवभूत, तीनों के समन्वय से पितृस्वरूप का (पितृपरिवार का) प्रतीक बन रहा है। इसी आम्नाय के आधार पर महासङ्गीत में—'सोना की तोलडी में दूध दुहाय' इस भावना का समावेश हुआ है। 'थे जीमो जी म्हारा सकल पितर' वाक्य नैगमिक 'पितृयार' का सम्राहक बन रहा है।

पितृपरिवार (भौम पार्थिव पितृपरिवार-षड्वाह्वविर्य्यांगात्मक वाम्य पितर) का केवल द्यावापृथिव्य चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक चान्द्रसर्ग से सम्बन्ध है जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पिण्डपितृयज्ञात्मक पितर भी यद्यपि हैं चान्द्र-सौम्य ही, किन्तु ये अष्टव देवसर्ग के सञ्चालक बनते हुए देवयज्ञघन सौरसर्ग के सहयोगी माने गए हैं। अतएव चान्द्रतत्त्व के साथ साथ सौरतत्त्व का भी पिण्डपितृयज्ञात्मक श्रौत पितृपरिवार के साथ सम्बन्ध है। पार्थिव चान्द्र भौम पितरों का-जिन्हें पूर्व में गृह्यपितर औपपातिकपितर कहा गया है—केवल चान्द्रसम्वत्सर से ही सम्बन्ध है। चान्द्रतत्त्व 'मन' का अधिष्ठाता है, सौरतत्त्व 'धियो यो नः प्रचोदयात्' रूप से 'बुद्धि' का अधिष्ठाता है। अतएव भौम-चान्द्र-औपपातिक-गृह्यपितरों का केवल चान्द्र मन से, केवल मानस-भावना-मान्यता-अनन्य श्रद्धामात्र से सम्बन्ध है। इन्हीं के लिए 'इन्दव इव हि पितरः—मन इव' [ताण्ड्य महाब्राह्मण ६।१।१६ १०] यह कहा गया है। श्रुति का 'इव' पद बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। श्रुति ने—'इन्दव पितर' न कह कर 'इव' कहा है। चन्द्रमा की भाँति, मन की भाँति, ही 'इव' शब्दार्थ है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, द्यावापृथिव्य चान्द्रसम्वत्सर में केवल चन्द्रमा, एवं चान्द्र मन ही प्रधान नहीं है। अपितु इसमें चन्द्र द्युलोकस्थ चान्द्रसम-अन्तरिक्षलोकस्थ आग्नेय रुद्र-पार्थिव भूतप्राण [क्रमशः प्राण]-तीनों का समन्वय है। है यह पितृसर्ग मूलतः चन्द्रप्रधान ही, किन्तु समन्वय रुद्र और पार्थिव भूत का भी है। यही 'इव' शब्द का रहस्यार्थ है। उधर पिण्डपितृयज्ञाधिष्ठाता श्रौत पितर चान्द्र-सौर, दोनों प्राणों से समन्वित रहते हुए चान्द्रमन के भी सम्राहक हैं, एवं सौरी बुद्धि के भी सम्राहक हैं। अतएव मनोगर्भिता बुद्धि की आस्था से समन्वित श्रौत-नैगमिक व्यवस्थित श्रद्धा से युक्त द्विजातिपुरुष ही इस पितृकर्म्म का कर्त्ता माना गया है। उसमें स्त्रियाँ अनधिकृत हैं। स्त्रियों की मान्यता-श्रद्धा के एकमात्र अवलम्ब मनोमय भौम पार्थिव पितर ही हैं, जिन्हें कि श्रुति ने "ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः, ये पितरः-अग्निष्वात्ताः, शत० २।६।१।७] इत्यादिरूप से विस्पष्ट भाषा में श्रौत सौरयज्ञसीमा से पृथक् करते हुए इन्हें गृहस्थी की मान्यता से अनुगत 'अयज्वान' कहा है। श्रौत पितर जहाँ अन्नाद हैं, वहाँ ये स्मार्त्त गृह्य पितर 'अन्नभावात्मक' हैं, जिन दोनों पितृविवर्त्तों का स्पष्टीकरण पूर्वनिरूपण से गतार्थ है। वक्तव्य इस विवेचन से यही है कि—'मन इव वै पितरः' निगमाम्नाय ही लोकगीत के 'थाँ जीम्याँ से म्हारो मन भर जाय' इस पद्य की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है, और यही [३] गोदोहन कर्म्मात्मक महासङ्गीत की तृतीय (३) पावनस्मृति की नैगमिक आम्नाय का संक्षिप्त समन्वय है।

—३—

अब क्रमप्राप्त [४]—पितृकर्म्मानुगत मुख्य महासङ्गीत के नैगमिक आम्नाय का भी समन्वय कर लीजिए। इस समन्वय से पूर्व कुलस्त्रियों मे प्रचलित एक विशेष मान्यता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है—कुलस्त्रिया से ऐसा सुनने में आता रहता है कि—"अर छोरा-छोरी-ओ अतर-फुलेल-लगार-फूलमाला पहर-दूध-खीर-वर्फी-चॉवल-मीठो चूँठो खार रातनिरात भर ढोफरी-क्लोई ग्रंत वड-पीपल-बोरडी का पेडा में-चोराया में मत घूमता फिरोर, देखो कोई हो जाय लो तो लेणा से देणा पड जायला" इत्यादि। तात्पर्य है—"हे बालक बालिकाओ! सुगन्धित द्रव्य (इत्र आदि) लगा के, (चम्पा-चमेली-मोगरा-गुलाब आदि विशिष्ट गन्धयुक्त पुष्पों की) माला पहिन के, गोदूध, खार, कलाकंद, चॉवल, और भी किसी भी प्रकार की मिठाई खाके रात्रि के समय, मध्याह्न मे, सायकाल (झालर वाज्या की वखत), वड-पीपल-झरवेरी का वृक्ष-आदि वृक्षों के नीचे, चतुष्पथ मे घूमना ठीक नहीं (क्योंकि इन स्थानों से वायव्य प्रेतपितृपरिवार विशेष रूप से अपना आकर्षण रखता है, अतएव यहाँ घूमने-फिरने बैठने-सोने-खाने-पीने से यदि कहीं तत्समयविशेष मे स्वभावत आकर्षित प्रेतसर्गानुगता किसी हीन-मध्यम-उत्कृष्ट योनि का) आक्रमण हो गया, तो हमें बडी विपत्ति का सामना करना पडगा।" क्या तथ्य है इस लोकश्रुति मे ?, प्रश्न की आलोचना से कई एक कारणों से हम तटस्थ ही रहना श्रेय पन्था मान रहे हैं। प्रकृत मे केवल 'सुगन्धिद्रव्य' (गन्ध और माला-पुष्प) की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले आम्नाय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसका 'बाप का तोला-' इत्यादि उपक्रम वाक्य मे ही प्रसङ्ग आया है।

मनोमय-चान्द्र पितर के लिए वे ही उपकरण तृप्ति-तुष्टिसाधक माने जायँगे, जिनमे प्राकृतिक पितृप्राण का अनुशय साक्षाद्रूप से, अथवा तो प्रतीकरूप से, किंवा निदानरूप से रहेगा। चन्द्रमा भार्गव-तत्त्वप्रधान है, एव भृगुतत्त्व 'आपः-वायुः-सोमः' रूप से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है ❀। सोम की घनावस्था ही 'आप' है, यही 'वरुण' है। सोम की तरलावस्था ही 'वायु' है, यही घोर-अघोर भावापन्न 'रुद्र' है। सोम की विरलावस्था (वाष्पावस्था) ही 'अन्नात्मक 'पितर' है। इस दृष्टि से आप-वायु-सोममय त्रिमूर्त्ति चन्द्रमा वरुण-रुद्र-पितर-मूर्त्ति वन रहा है।

भार्गव चन्द्रमा का वारुण 'आप' भाग ही 'अप्सरा' प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। भार्गव चन्द्रमा का रौद्र 'वायु' भाग ही 'गन्धर्व' प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। एव भार्गव चन्द्रमा का पैत्र 'सोम' भाग ही 'प्रजापति' प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। इस प्रकार चान्द्र-सम्वत्सरचक्रात्मक-द्यावापृथिव्य-चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक ४२ भागों मे विभक्त पार्थिव-भौम-अन्न

❀ "वायु-राप-श्चन्द्रमाः (सोमः)-इत्येते भृगवः" (गोपथब्रा० पू० ११३)।

पितर-परिवार का सर्व्वस्व, अतएव 'सर्व' नाम से प्रसिद्ध भार्गवचन्द्रमा उक्त रूपत्रयी से उक्त त्रिवृद्भावों में परिणत हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

१—आपः	१—वरुणः	१—अप्सरा
२—वायुः	२—रुद्रः	२—गन्धर्व्वः
३—सोमः	३—पितरः	३—प्रजापतिः
३ मूलभावत्रयी १	३ मध्यभावत्रयी २	३ तूलभावत्रयी ३

(६) त्रिवृद्भावापन्न-श्चन्द्रमाः

तदित्थ—'चन्द्रमा एव सर्वम्' — गो०ब्रा०पू० २।८।

(१) चन्द्रानुगता-मूलभावत्रयी—

(१)—'चन्द्रमा आपः' (तै० ब्रा० १।७।६।३)।

(२)—'योऽयं वायुः पवते, एष सोमः (शत० ७।३।१।१)।

(३)—'पितृदेवत्यो वै सोमः' (शत० २।४।२।१२)।

—१—

(२) चन्द्रानुगता मध्यभावत्रयी—

(१)—'वरुणस्य भर्गाः-अपः' (तां० १८।६।१)-'अप्सु वै वरुणः' (तै० १।६।५।६।)।

(२)—'यद्रुद्रश्चन्द्रमास्तेन' (कौ० ६।७)।

(३)—'पितृदेवत्यो वै सोमः' (शत० २।४।२।१२।)।

—२—

(३) चन्द्रमानुगता-तूलभावत्रयी—

(१)—'सोमो राजा, अप्सरसो निशः' (शत० १३।४।३।८।)।

(२)—'चन्द्रमा वै गन्धर्वः' (शत० ६।४।१।६।)।

(३)—'असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः' (शत० ६।२।२।१६)।

—३—

उक्त चान्द्रसर्वस्व को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए लोकगीतानुगत 'सुगन्धिद्रव्य-परिग्रहग्रहण' का समन्वय कर लीजिए, सब कुछ समन्वित हो जायगा। चान्द्र पैत्रमण्डल में वरुण-रुद्र-पितर-गन्धर्व-अप्सरा-आदि आदि जो प्राण समाविष्ट हैं, वे अपने अपने स्वरूपानुगत पार्थिव भूतों-पार्थिव स्थानों के प्रति सहज रूप से उसी प्रकार आकर्षित रहते हैं, जैसे कि सोमप्रिय मरुत्वानिन्द्र वायुग्रह में तुरीयरूप से प्रतिष्ठित होकर पृथिवी में उपलब्ध गोदुग्ध-उष्णअन्न-आदि के सोम का आकर्षण करते हुए कालान्तर में इन्हें यातयाम (नीरस) बनाते रहते हैं *। रुद्र का आकर्षण स्थान यदि 'एतद्ध जान्धितं ग्रन्तमवसानं-यचतुष्पथम्' (शत०) रूप से चौराहा है, तो निश्चयेन यह स्थान प्रणम्य ही बनना चाहिए। विशेषतः उन गन्धादि परिग्रहों से युक्त होकर उन विशेष आकर्षण-रुद्रकालों में तो वहाँ से बचकर ही चलना चाहिए, जिन चान्द्रपरिग्रहों के साथ भी समानस्थानीयत्वेन रुद्र का सहज आकर्षण रहता है। सुगन्धिद्रव्य-मोदप्रमोद आमोदादि परिग्रह चान्द्र गन्धर्वप्राण से सम्बन्धित हैं, तो रूप-हास-परिहास-क्रीड़ाकौतुक-नृत्य-सङ्गीत-आदि चान्द्र अप्सरा प्राण से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि, गन्धर्वप्राणप्रधान सौम्य-भावुक-मनुष्य सुगन्धित द्रव्य-मालादि में-आमोदप्रमोद में—ही सतत आसक्त-व्यासक्त रहने हैं। एव अप्सराप्राणप्रधाना मानुषी रूपदर्शन-रूपशृङ्गार-हासपरिहास-क्रीड़ा-कौतुक नृत्यगीतादि में ही आसक्तमना बनी रहती हैं। दोनों प्राण सहचारी हैं। अतएव एक एक प्राण-प्राधान्य से कृतरूप भी मनुष्य-मानुषी दोनों धर्मों से आक्रान्त रहते हैं। अवश्य ही तद्भावपरायण सौम्य बालक-स्त्रीवर्ग-इन आकर्षणसाधनों से मूलासर्गात्मक पितृप्राण के द्वारा आकर्षित बन जाया करते हैं। निम्नलिखित कतिपय श्रौत वचन इसी मान्यता को आम्नायानुगत प्रमाणित कर रहे हैं :—

(१)—जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य घोषं महिषस्य ह्मन् ।
ऋतेन यन्तो अधि सिन्धुमस्थुर्विदद्गन्धर्वो अमृतानि नाम ॥
अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन् ।
चरत् प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्पक्षे हिरण्यये स वेनः ॥
ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात् प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि ।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वर्ण नाम जनत प्रियाणि ॥

—ऋक्संहिता १०।१२३।४,५,७ ।

(२)—दिव्या गन्धर्वाः प्रतिनन्दन्ति । गन्धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे ।
अप्सरसः प्रतिनन्दन्ति । हसो (हासो) मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे ।।

—जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण ५।५।

---

* 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' (शत० ४।५।४।३।) ४६ प्रकार के आन्तरीक्ष्य वायव्यग्रहों में एक चतुर्थांश इन्द्रप्राण समाविष्ट रहता है।

(३)—विषमिति सर्पाः, ऊर्गिति देवाः, रयिरिति मनुष्याः, मायेत्यसुराः, स्वधेति पितरः, रूपमिति गन्धर्वाः, गन्ध इत्यप्सरसः । तं यथा-यथोपासते, तदेव भवति ।

—शतपथब्राह्मण १०।५।२।२०।

(४)—गन्धेनैव च रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति । तस्माद्यः कश्च मिथुन-मुपप्रैति, गन्धं चैव स रूपं च कामयते ।

—शत० ६।५।२।४।

(५)—योषित्कामा वै गन्धर्वाः (तै० ब्रा० १।२७।) ।

—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः (कौ० १२।३।) ।

(६)—अथ देवाः-वीणामेव सृष्ट्वा वादयन्तो-निगायन्तो निषेदुः, इति वै ते (देवाः)-वयं गास्यामः, इति त्वा (वाचं-वाग्रूपिणीं स्त्रियं) प्रमोदयिष्यामहे, इति सा देवानुपावर्त्तत । सा वै सा मोघं (आत्मविस्मृता सती स्वानुगतभावुकतया) उपावर्त्तत-या स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यो नृत्यं-गीतमुपावर्त्तत । तामु ह्यन्या योषाः (सर्वाः स्त्रियः) । तस्मादप्येतर्हि (लोकमर्गेऽपि) मोघसंहिता (आत्मस्वरूपविस्मृता) एव योषा । तस्मात्—य एव नृत्यति, यो गायति, तस्मिन्नेवैताः (स्त्रियो-भावुकाः—) निमिश्लितमा (विमुग्धाः-आकर्षिताः) इव (भवन्ति)"* ।

—शत० सोमक्रयब्राह्मण ३।२।४।६।

(७)—उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः (प्रायच्छत्-प्रजापतिः) । तस्मात् उपद्रवं गृह्णन्त इव चरन्ति । (जै० उ० ब्रा० १।१८।२।६।) ।

(८)—गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वाऽप्रजस्तायावेशते । तेषामत्र सोमपीथः । तान् प्रीणाति । तेऽस्मै प्रजा प्रयच्छन्ति ॥

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।३।२।

(९)—तस्य पतञ्चलस्य काप्यस्य आसीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता (शत० १४।६।३।१।) ।

---

*—'तस्मात्स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः" (शत० १३।२।२।४।) ।
अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः ।
मनुष्यजा (स्त्रीमेधा) सा मां मेधा सुरभिर्जुषताम्" ॥ (तै० आरण्यक १०।४१।

—रात्र्यां ही ति (पितृभ्यो ददाति)। वयममुं लोकं परेत्य-पितृभ्यः, अथो एनं नः श्रद्धातारः। तदेतद्धि हूयते रात्र्यामेवत्येतदेन कुमारी गन्धर्वगृहीतोवाच।

—शाङ्खायनब्राह्मण २।६।

एतदु हैवाच कुमारी गन्धर्वगृहीता–'यत्कास्मो ना इदं पितृभ्यः, यद्वै तदग्निहोत्रमुभयेद्युरहूयत' इति।

—ऐतरेयब्राह्मण ७५।४।२६।

"गन्ध, माल्य–अञ्जन–अलङ्कार–शृङ्गार–मोद, प्रमोद, हास, परिहास, क्रीड़ा, मिथुनभाव, रूप (सौन्दर्य), योषित् (स्त्रियाँ), स्त्रीशासुक,गन्धर्व, अप्सरा, नृत्य, गायन, वीणावादन, विविध आकस्मिक उपद्रव, चतुष्पथ, भूत प्रेतादि, कुमारी–स्त्री–में भूतावेश, पितर, रात्रि" आदि सम्पूर्ण भाव गन्धर्वाप्सरोऽनुगत हैं, यह उक्त निगमवचनों से सर्वात्मना स्पष्ट है, और इसी स्पष्टीकरण के साथ सर्वात्मना समन्वय हो रहा है कुलस्त्रियों की उस सामयिक मान्यता का, जिसका पूर्व में उल्लेख हुआ है। चान्द्र–गन्धर्व जहाँ मानवीय 'मन' का स्वरूपाधिष्ठाता बनता है, वहाँ वारुणी अप्सरा मानवीय शरीर की अधिष्ठात्री बना करती है *। निष्कर्षतः मन गन्धर्वप्राणप्रधान है, जिसके कारण नर में 'गायन' वृत्ति का उदय होता है। शरीर अप्सराप्राणप्रधान है, जिससे नारी में 'नृत्यवृत्ति' का उदय होता है। यद्यपि नर–नारी दोनों में गन्धर्वाप्सरा–दोनों प्राण समन्वित हैं। किन्तु दोनों का गौणमुख्यात्मक समन्वय भी प्राकृत ही है। अप्सराप्राणगर्भित गन्धर्वप्राण नर के मन का, एवं गन्धर्वप्राणगर्भित अप्सराप्राण नारी के शरीर का प्रधान आधार बनता है। अतएव नृत्य–गीत, दोनों की दोनों ही अनुगति रखते हुए भी नर गायन–प्रधान है, नारी नृत्यप्रधाना।

कौनसी नारियाँ, और कौनसे नर नृत्य–गीतपरायण बना करते हैं?, जिन्हें अपना नैगमिक आत्मबुद्ध्यनुगत स्वरूप बोध नहीं होता। जिन यथाजात–असंस्कृत–शूद्रसधर्मा–पशुसमानधर्मा–नर–नारियों में स्वरूपबोध का अभाव रहता है, मनोऽनुभूत्या उच्छृङ्खल उत्तालतरगायित स्वैराचारपरायण वैसे प्राकृत नरों, तथा तत्समतुलिता नारियों में ही चान्द्रभावानुगत गन्धर्वाप्सरात्मक नृत्युत्तेजक सहजशान्तिस्वस्ति–विघातक नृत्य गायन का उद्गम होता रहता है, जो भारतीय आर्षदृष्टिकोण से नैगमिक द्विजाति प्रजा के लिए तो सर्वथा न केवल उपेक्षणीय ही है, अपितु श्रुतिद्वारा आत्यन्तिक रूप से निषिद्ध, अतएव त्याज्य ही माने जायँगे। देखिए! एवं प्रचलित नृत्य–गायनाभ्यास–नृत्यगायनश्रवणाभिरुचि–तदनुगता शिर–शरीर–हस्तविधूननादि लक्षणा स्त्रैणवृत्ति–से सत्राण कीजिए वर्त्तमान नर–नारी युग्म का।

---

*–इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। (छान्दोग्योपनिषत्–पञ्चाग्निविद्या)

(१)—य एष ब्राह्मणः (ब्राह्मणः—क्षत्रियः—वैश्यः÷) गायनो वा (गायनपरायणो वा)-नर्त्तनो वा (नृत्यपरायणो वा) भवति, तमाग्लागृध इत्याचक्षते। तस्माद्—ब्राह्मणो नैव गायेत्, न नृत्येत्, माग्लागृधः (मलीमसः—तमोगुणयुक्तः—आत्मबुद्धिस्वरूप-विमुग्धः) स्यात्" । इति ।

—गोपथब्रा० पू० २।२१।

(२)—"भीमं—वत—मलम् । (भीमं—भयानकं—मलं—तमोमात्र (एव परोक्षेण) भीमलम् । तस्मात्—भीमला (मलिना) धियः (बुद्धिवृत्तयः) वा एताः—(नृत्यगायनवृत्तयः—बुद्धिदूषिका इति) तस्माद् गायतां (नृत्यगायनशीलद्विजातीनामन्नं) नाऽश्नीयात् । मलेन ह्येते जीवन्ति"—

—जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण १।८।२।

आत्मानुगता 'संवित्', एवं बुद्ध्यनुगता 'निष्ठा', दोनों आर्षधर्म्मों से एकान्तः विरुद्ध, मनोऽनुगता 'भावुकता', शरीरानुगता 'भुक्ति' से अनुप्राणित नृत्य-गीत कभी नैष्ठिक तन्त्राध्यक्षों के द्वारा प्रोत्साहित नहीं होने चाहिए । यदि ऐसा होता है, तो यह राष्ट्रकर्णधार की, नैष्ठिक तन्त्राधीश की परप्रत्ययानुगता भावुकता ही मानी जायगी, जिसका राष्ट्रिय अभ्युदय से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है ।

'वीणागाथिनो गायन्ति'—'साम गायति' इत्यादि रूप से श्रौतस्मार्त कर्म्मों में जिस वीणावादन, तथा सामगान का उपवर्णन हुआ है, उसका सम्बन्ध उन प्राकृतिक देवप्राणों के साथ है, जिन्हें यज्ञकर्म्म में तदनुरूप भावों से सन्तुष्ट करना सृष्टिसर्ग में अनिवार्य माना गया है। अवश्य ही वर्त्तमान युग के संगीत—नृत्यानुरागी अनुभूतिपरायण भावुक जन हमारे इस नैगमिक दृष्टिकोण से सहसा क्षुब्ध हो पड़ेंगे। किन्तु उनके परितोष के लिए इस निबन्ध में कतिपय प्रमाणोद्धरण के अतिरिक्त विशेष विस्तार का अनुगमन अप्रासङ्गिक ही माना जायगा। हम सन्नीभूत हैं उनके परितोष के लिए अन्य प्रसङ्गावसरों पर ।

हाँ, तो प्रसङ्ग यहाँ करना है उन पितरों को, जो मन—शरीर—प्रधान बनते हुए अपने चान्द्रधर्म्म से गन्धर्वाप्सराप्राणों के सहचारी हैं। अतएव रात्रिजागरण में पितरों के लिए सगृहीत परिमद्द्रव्यों में सुगन्धिद्रव्य-पुष्पमाला—आदि प्रसाधनों का संग्रह मान्य मान लिया गया है । इतर

÷—तस्मादपि राजन्यं वा, वैश्यं वा, 'ब्राह्मण' इत्येव ब्रूयात्। (शत० ३।२।१।४०।)।

सामान्य गन्ध-माल्य द्रव्यों के साथ मुख्य सुगन्धिद्रव्य यहाँ 'कस्तूरिका' (मृगनाभिगन्ध-कस्तूरी) प्रधान मानी गई है (महासङ्गीत में), जैसा कि-'तोलर गन्धीका वेटा किस्तूरी' वाक्य से स्पष्ट है।

'मृगमद'-'मृगगन्ध' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध कस्तूरी के कपिला (कपिलवर्णा), पिङ्गला, कृष्णा, ये तीन जातिविभाग सुप्रसिद्ध हैं। कामरूपदेशोद्भवा कपिला कस्तुरी सर्वश्रेष्ठा मानी गई है, नेपालदेशोद्भवा मध्यमा मानी गई है, एवं कश्मीरदेशोद्भवा सामान्या मानी गई है। तीनों ही स्थानों में तीनों जातियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से पितृकर्म्म में 'कपिला', वह भी कामरूपदेशोद्भवा ही प्राप्त हो, तो यह पितृकर्म्म के लिए सर्वथा अनुरूप है, जिसका जानकार गृहस्थी नहीं हो सकता। अपितु गन्धद्रव्यों के पारम्परिक व्यवसाय में निपुण'गन्धी' व्यवसायी ही परिज्ञाता हो सकता है। अतः कस्तूरी की अनुरूपता का उत्तरदायित्व गन्धी से ही सम्बन्धित मानतीं हुई गीताभाषा में यह व्यक्त कर रही हैं कि, "हमने कस्तूरी-परीक्षित-कपिला-कस्तूरी (जिसकी कि परीक्षा हमें नहीं है) अपने कुल के सर्वश्रेष्ठ ज्येष्ठ व्यवहार-निपुण मिश्र हरिश्चन्द्रजी के द्वारा तद्व्यवसायकुशल गन्धी व्यवसायी के माध्य से ही मँगवाई है। अतएव यह असन्दिग्धरूप से पितृकर्म्म के लिए अनुरूप है"। कपिला-गौ पूर्व निरूपणानुसार जैसे चान्द्रपितृसर्ग का सर्वात्मक प्रतीक है, तथैव कपिलवर्ण-भाव से यह कपिला कस्तूरी भी पितृकर्म्म का प्रतीक बन रही है। 'ऐशानदेवस्या कपिला वर्णेन। रुद्रो देवता' (गो० ब्रा० पू० १।२१)। इत्यादि निगममूल स्पष्ट है। 'मृग-चन्द्र' दोनों समान-भावानुबन्धी हैं, यह आजके साहित्य-श्रृङ्गाररसिक-मनोऽनुबन्धी-भावुक कविसमाज-साहित्यिक से परोक्ष नहीं है, भले ही इन पदार्थों को नैगमिक आम्नाय से वह सर्वात्मना बहिष्कृत ही क्यों न बन चुका हो। पितर चान्द्र हैं, मृग भी चान्द्र है। ब्राह्मणग्रन्थों का सुप्रसिद्ध नाक्षत्रिक मृगव्याधाख्यान इसी मृगप्राणका स्वरूप विश्लेषण कर रहा है, जिसका सुप्रसिद्ध शिवभक्त गन्धर्व पुष्पदन्त ने भी महिम्नस्तोत्र में-'त्यजति न मृगव्याधरभसः' इत्यादि रूप से दिग्दर्शन कराया है। कस्तूरिका (कपिला कस्तूरी) विशेषतः पैत्र है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है। निम्न लिखित आगमवचन कस्तूरी की इसी जातित्रयी का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं—

कपिला-पिङ्गला-कृष्णा-कस्तूरी त्रिविधा मता॥
नेपालेऽपि च, काश्मीरे, कामरूपेऽपि जायते ॥१॥
कामरूपोद्भवा श्रेष्ठा, नैपाली मध्यमा भवेत् ॥
काश्मीरदेशसम्भृता कस्तूरी ह्यधमा स्मृता ॥२॥

गृहमेधी के लिए अपनी पारिवारिक-स्वस्ति-कामना के लिए पितृकर्म्म का महत्त्व देवकार्य्य से भी विशेष महत्त्व रखता है ❀। अतएव देवकार्य्य की अपेक्षा से भी पितृकार्य्य में, तदपेक्षित गन्धादि

❀ "देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते"

परिग्रहग्रहण में बड़ी ही सतर्कता अपेक्षित मानी गई है। गतानुगतिकता से किसी भी वस्तु-परिग्रह का पितृकर्म्म में ग्रहण नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु का क्रम-आदान-संग्रह-इतिकर्त्तव्यता-बड़ी ही सतर्कता की अपेक्षा रखते हैं। अतएव कुलस्त्रियाँ अपने रात्रिजागरणात्मक लोकमान्यतानुगत पितृ-कर्म्म तक में—'यो देई देवताँ को काम छ, पितराँ को काम छ, देख ओंठ झोंठ न हो जाय, चाय जिस्या हाथ न लाग जाय' इत्यादि रूप से यह सतर्कता व्यक्त करती रहती हैं। गन्धादि परिग्रह क्रय में सर्वत्र पदे पदे यह सतर्कता—परीक्षणबुद्धि अपेक्षित है, यही तात्पर्य्य है। 'काए तोला ओ काए की डाँडी' इस वाक्य से यह परीक्षात्मक सतर्कभाव ही अभिव्यक्त हुआ है। गन्धी का तोला (बाट) तराजू-तराजू की डांडी-सभी पूर्णरूपेण परीक्षणीय हैं। तदनन्तर ही गन्धादि क्रय अपेक्षित है।

'गन्धद्रव्य-क्षीरान्न-जल-आभूषण-वस्त्र,' ये पाँच परिग्रह पितृकर्म्म में (रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्म में) प्रधान माने गए हैं। महासङ्गीत के पाँचों पद्यों से इन्हीं पाँचों को श्रद्धापूर्वक प्रतिष्ठित पितृदेवों के समर्पित करने की भावना व्यक्त हुई है, जैसाकि इन पाँचों पद्यावयवों से स्पष्ट है—"(१) किमतूरी, (२)—चाँवल भी घणा, (३)—पाणी भी घणो, (४)—गैणाँ भी घणा, (५)—कपड़ा भी घणा"। विस्तारभिया इन पाँचों मुख्य परिग्रहों की व्याख्या न कर पाँचों की सौम्यपितृप्राणात्मकता से सम्बद्ध नैगमिक आम्नायमात्र व्यक्त करदी जाती है :—

(१)—गन्धो युष्मासु गन्धर्वेषु (जै० उ०० ३।२५।४।)—'चन्द्रमा वै गन्धर्वः' (शत०१।७।१।६।) (चन्द्रः सोमः, पितरः सोम्यासः)। —इति गन्धद्रव्यस्य मृगगन्धस्य-अनुरूपता पितृकर्म्मणि।

(२)—निग्रान्यायै (कपिलायै) दुग्धे मन्थो भवति (पितृभ्यः) (शत० २।६।१।६।) —इति क्षीरान्नद्रव्यस्य-अनुरूपता पितृकर्म्मणि।

(३)—पितृदेवत्यो वै कूपः-खातः (छोटा सर-छोटी सी तलाई)— (शत० ३।६।१।१३) सौम्या ह्यापः (ग० ब्रा० १।७। -पितरः सोम्यासः। इति जलद्रव्यस्य-अनुरूपता-पितृ कर्म्मणि।

(४)—सोमस्य तनूः सुवर्णम् (तै० ब्रा० १।४।७।५।) (तन्मय आभूषण)—इति आभूषणस्य अनुरूपता पितृकर्म्मणि :

(५)—वासो दक्षिणा। सौम्यं हि देवतया वासः समृद्ध्यै (तै०ब्रा० १।६।१।११।)—इति वस्त्र-स्य-अनुरूपता पितृकर्म्मणि।

महासङ्गीत के पाँचवें पद्य (जो कि पितृकर्म्मानुगत परिग्रहक्रम्या) अन्तिम पद है) में-'वस्त्र' का समावेश हुआ है। यहीं पितृकर्म्म समाप्त है। अतएव यही वस्त्र दक्षिणा बन रहा है इस लोक-मान्यतात्मक गृह्य पितृयज्ञ की। इसीलिए-'वासो दक्षिणा' रूप से श्रुतिने वस्त्रको 'दक्षिणा' का प्रतीक घोषित कर दिया है। अब क्या शेष रह गया ?, प्रश्न है। शेष रह गई वह आशी -समृद्धि, जिस फलकामना आशी -समृद्धि के लिए पञ्चपरिग्रह द्वारा यह पितृकर्म्म कुलस्त्रियोंने सम्पादित किया है। यद्यपि अपनी सहजभावुकता के माध्यम से पाँचों परिग्रह द्रव्यों के समर्पण के साथ भी परोक्षभाषा में कुलस्त्रियोंने "तोली में चाँवल-तलाई में पाणी-डब्बा में गैणाँ बुगचा में कापडला" थोड़ा-थोड़ा-पितरारों लस्कर आयो-जीम्याँ, पीयो-परया-परया-तोभी (सब कुछ) भो घणा-" इत्यादिरूप से अपने परिग्रहद्रव्यों की आरम्भ में अल्पता पितृसमर्पणानान्तर उनकी विपुलता बतलाते हुए समृद्धि प्राप्त करली है। तथापि प्रत्यक्षरूपसे अभी समृद्धिकामना अभिव्यक्त नहीं हुई है। दक्षिणाप्रतीक रूप-वस्त्र-समर्पणानन्तर अब साक्षात् रूप से समृद्धि-याचना का अवसर आ गया है। 'देवतया-समृद्ध्यै' इत्यादिरूप से श्रुति भी वस्त्र प्रदान के साथ साथ ही समृद्धि की अभिव्यक्ति कर रही है। अतएव इस श्रुति-पद्धति का अक्षरशः अनुगमन करने वाली ये मूर्तिमती श्रुतियाँ (कुलस्त्रियाँ) पञ्चम पद्य से वस्त्र समर्पण करने के अनन्तर ही पितरों से समृद्धिकामना करतीहुई कहती हैं 'ऊधो ए बूधो०'

सौभाग्यवती कुलीना नारी की वैसे तो 'नहि कामानामन्तोऽस्ति, समुद्र इव कामः' (तै० २।२।) के अनुसार पुरुषकामनावत् कामनाओं का कोई अन्त नहीं है। सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी, प्राप्त हो जाने पर भी इनका सन्तोष-तृप्ति-पुष्टि इसलिए सम्भव नहीं है कि, प्रकृति ने इन्हें उस 'मन' की साम्राज्ञी बनाया है, जिसकी सहजवृत्ति है वह 'भावुकता' जिसे अनन्त-सहस्र कामना-परम्पराओं से भी तृप्त नहीं किया जा सकता। सर्वं सुस्थम्। किन्तु दो कामनाएँ इनकी ऐसी सहज हैं, जिनकी पूर्त्ति का अभाव इन्हें कथमपि सह्य नहीं है। ये अपने को पुत्रवती देखना चाहतीं हैं, एवं अपनी माता को पुत्रवती देखना चाहतीं हैं। स्वयं की, एवं माता की पुत्रकामना इन्हें सदा चिन्तित बनाए रहती है। 'मारा जाया भाई, और पेटाँ-उदर का-जाया पूत' किंवदन्ती प्रसिद्ध है, जिसका इन शब्दों में भी निरलेपण, सुना गया है कि-'लुगाई के एक तो पेट की आग, और एक पीर की आग', जिसका तात्पर्य स्पष्ट ही है। निष्कर्षतः पुत्र-पौत्रादि परम्परा की कामना, भ्राता-भ्रातृपुत्रादि परम्परा (भाई-भतीजों की परम्परा) की कामना, ये ही दो मुख्य कामनाएं हैं कुलनारी की। पितृकर्म्म का एकमात्र उद्देश्य पुत्रादिवंश का संरक्षण, पुत्रादि परम्परा का उद्भव, उद्भूत पुत्रादि का पौत्र-प्रपौत्रादि रूप से वृद्धद्रूप में विस्तार ही माना गया है, जिसका नैगमिक मूल है—"गोत्र नोऽभिवर्द्धन्ताम्"। हे पितरो ! आप हमारे वंश मेंउद्भव (वंशोत्पत्ति) करते हुए, एवं उत्पन्न वंश को वृहत् करते हुए ही हमारे इस पञ्चविध आतिथ्य का ग्रहण करने का अनुग्रह करें। 'उद्भव'-'वृहन्' शब्दों के ही प्राकृतरूप हैं-

'ऊधो-बूधो' ।'गौर्न नः'वाक्य 'ऊधो' रूप उद्भव (उत्पत्ति) का आधार है, 'अभिवर्द्धन्ताम्' पद 'बूधो' रूप 'बृहद्' (यशविस्तार-जिसमें परोक्षरूप से मातृवंशकामना भी सुरक्षित है) का आधार है। उत्पत्ति और वृद्धि, यही 'ऊधो ए बूधो कर आओ म्हारा पितरो' का निष्कर्षार्थ है। पितृकर्म्म वैयक्तिक पारिवारिक हैं, देवकर्म्मवत् सामाजिक नहीं। तभी तो पितरों को 'गृह्य' कहा गया है। इसी गृह्यभाव-प्रातिस्विकभाव की अभिव्यक्ति के लिए यत्रतत्र-'म्हारा' (हमारे पितर-पारिवारिक पितर) शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन पितरो (प्रेतपितरों) के घर दो हैं। जहाँ इन्होंने अपने भौतिक शरीर से मानवीयधनोपभोग किया था, वह परिवार भी इनका घर है। एवं चान्द्रद्यावापृथिव्य रात्रिमण्डल भी इनका घर है। अमुक पर्वतिथियों पर मान्यता के द्वारा ये इस पूर्वगृह (परिवार) में पधारते रहते हैं, जिस प्रथमगृहागमन की अभिव्यक्ति 'आओ म्हारो पितरो' रूप से होती है। एवं यहाँ गन्धादि पञ्चानुरूप आतिथ्य से तुष्ट-तृप्त होकर ये पुन अपने प्रेतलोकात्मक रात्रिमण्डल में गमन कर जाते हैं जोकि इनका प्रेतयोनिनिबन्धन स्थायी गृह माना गया है। इसी द्वितीयगृहगमन की अभिव्यक्ति हुई है— 'कुसल कुसल घर जायजो' इस उत्तर वाक्य से। इस प्रकार वाक्यत्रयात्मक छठे पद्य से उभयरूप से पितृसमृद्धि (पितरों की समृद्धि, एवं समृद्ध-तुष्टतृप्त-कुशलभावापन्न पितरों से आशा रूप से प्राप्त होने वाली पारिवारिक समृद्धि, दोनों समृद्धियों) की कामना अभिव्यक्त हुई है।

कब तक तो प्रेतपितर प्रथमगृह रूप परिवार में आते रहते हैं ?, एवं कब यहाँ से सन्तुष्ट होकर ये स्वगृह में पधार जाते हैं ?, दोनों प्रश्न पितृस्वरूप से गतार्थ हैं। चान्द्र सौम्य पितर चतुर्दशी की रात्रि को तो प्रथम गृह में आते हैं, एवं रात्रि में क्रम से अमावास्यातिथि में सजातीयाकर्षण से पुन चन्द्रलोकरूप स्थायी द्वितीय गृह में पधार जाते हैं। यह है-इन भौम-पार्थिव-औपपातिक-हृत्सात्मानुगत विविध (सर्वादि) योनिभावापन्न-अन्तरितों की व्यवस्था, जिन्हें पूर्व की पितृस्वरूप-मीमांसा में महा-हवियोगानुबन्धी काम्यपितरों के काम्यभाग से सम्बन्धित माना गया है। पिण्डपितृयज्ञात्मक नित्य-अनादपितर जहाँ अमावास्या में अह काल में आहुति द्वारा तृप्त किए जाते हैं द्विजाति यज्ञसूत्री पुरुष के द्वारा। अभ्रात्मक गृह्य पितर वहाँ गन्धादि लघानुबन्धी मान्यतानुबन्धी भूतपरिग्रहों से चतुर्दशी की रात्रि में तुष्ट किए जाते हैं—द्विजाति परिवारों की मर्य्यादा-आम्नाय का सञ्चालन करने वाली अमूना कुलदेवियों के द्वारा। क्रमप्राप्त सप्तम पद्य यही भाव अभिव्यक्त करता हुआ—'चोदस के दिन आओ म्हारा पितरो मानस घरों ए पधारज्यो' इत्यादिरूप से स्त्रीभावानुगता लोकमर्य्यादा का मरदाण स्वय कुलस्त्रियों के आम्नायपरायण मुख से ही प्रमाणित कर रहा है।

सर्वान्त के अष्टम पद्य से रात्रिजागरणानुगत लौकिकमान्यतानुगत-कुलस्त्रीवर्गद्वारा सम्पादित पितृकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रेत गृह्य औपपातिक पितरों का वस्तुस्वरूप उपवर्णन करते हुए उन से फलाशी कामना अभिव्यक्त हुई है। यद्यपि पूर्व में 'पिण्डपितृयज्ञ-काम्यपितृयज्ञ' रूप से

उभयविध (अन्नादात्मक, एवं अन्नात्मक) पितरों का वस्तुस्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। तथापि यहाँ एक उस विशेष दृष्टिकोण से इस वस्तुस्थिति का स्वरूप-विश्लेषण अपेक्षित बन रहा है, जिस दृष्टि-कोण का रहस्यार्थ न जानते हुए हम पितृकर्म के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों के अनुगामी बन जाया करते हैं। भगवान् तित्तिरि ने भी विस्पष्ट शब्दों में इन दोनों पितृभेदों का निम्न लिखित रूप से स्पष्टीकरण किया है।

सत्ययागात्मक 'सोमयाग' प्रकरण चल रहा है। इसी में 'सौत्रामणी' नामक यह इष्टियाग विहित हुआ है, जिस के लिए 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' यह प्रसिद्ध है। इस सुरामिश्रित सोमग्रह से इन्द्र को सन्तुष्ट किया जा चुका है। इस आहुति का जो शेष भाग बच रहता है, उस हुतशेषद्रव्य की आहुति अध्वर्यु, और प्रतिप्रस्थाता, नामक दोनों ऋत्विक् क्रमशः देवपितरों, एवं पितृपितरों के लिए आहुति, एवं प्रदानकर्म (क्रमशः) करते हैं। इसी प्रकरण में अन्नादात्मक अमृत चान्द्र पितरों को देवसमतुलन बतलाया गया है, एवं इन्हें स्वधावन्त मानते हुए 'जीवित पितर' कहते हुए इन्हें 'समानाः समनसः' नाम से व्यवहृत करते हुए चान्द्र यमलोक में इनका आवास निवास माना है। अन्नात्मक मर्त्य पार्थिव भौम पितरों को 'सजाताः समनसः' नाम से व्यवहृत करते हुए इनका आवास निवास इसी पृथ्वी लोक में माना है। निम्नांकित भगवान् के द्विधा विभक्त इन देव-मानुष (वैश्वानरलौकिक-चान्द्र-पार्थिव-अन्नाद-अन्न-नित्य-औपपातिक) उभयविध पितरों का स्वरूप भेद लक्ष्य बनाइए, अवश्य भ्रमर्मभूलक अभिनिवेश उपरत हो जायगा—देखिए।

हुतशेषं ददाति पितृभ्यः (इति कल्पः)

(१)—"पितृभ्यः-पितामहेभ्यः-प्रपितामहेभ्यः-स्वधाविभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरः, अमीमदन्त पितरः, अतीतृपन्त पितरः। अमीमृजन्त पितरः। पितरः शुन्धध्वम्। पुनन्तु मां पितरः-पितामहाः-प्रपितामहाः-सोम्यासः, पवित्रेण शतायुषा। विश्वमा-युर्व्यश्नवै। अग्न आयूँषि पवसेऽग्ने! पवस्व पवमानः सुवर्जनः। पुनन्तु मा देवजनाः। जातवेदः पवित्रवत् पवित्रमर्चिषि, उभाभ्यां देव सवितः॥ सवितर्देवी पुनतीः। "ये 'समानाः समनसः' पितरो यमराज्ये, तेषां लोकः स्वधा नमः। यज्ञो (पितृय-ज्ञोऽयं) देवेषु कल्पताम्' ॥

(२)- ये 'सजाताः समनसः' जीवा जीवेषु मामकाः (गृह्याः-प्रातिस्विकाः)"। तेषां श्रीर्मयि कल्पतां-अस्मिँल्लोके शतं समाः"।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।६।३।३,४,५,।

पितृपरिवार को हम नवीन दृष्टिकोण से 'जीवितपितर, मृतपितर', इन भागों में विभक्त करेंगे। जो चान्द्र पितर सौर देवसर्ग के द्वारा होने वाली प्रजासृष्टि के आरम्भक (उपादान) बनते हैं, उन सौराग्निमय सौम्य 'चान्द्र पितरों' को 'जीवितपितर' माना गया है। ये ही पितर 'नित्य-प्राकृतिक-सापिण्ड्यभावाधिष्ठाता-भोक्ता-अन्नाद'-आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका 'श्रौतपिण्डपितृयज्ञ' के द्वारा सौरदेववत् अह काल में यजन हुआ करता है। अतएव ये 'यज्वानः' हैं। इन्हीं को 'अमृत-पितर' भी माना गया है। अमृततत्त्वनिबन्धना नित्यता ही इनका 'जीवितत्त्व' है।

जो चान्द्र पितर द्यावापृथिव्य चान्द्र सम्वत्सरसर्ग से सम्बन्ध रखने वाली चतुर्दशविधा भूतसृष्टि से अनुप्राणित हैं, उन चान्द्रसोममय द्यावापृथिव्य 'पार्थिव पितरों' को 'मृतपितर' कहा गया है। ये ही पितर 'अनित्य-वैकारिक-(असन्तोपावस्था में) सापिण्ड्यभावविघातक-भोग्य-अन्न' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका श्रौत काम्यमहाहविर्यागान्तगत काम्यपितृयज्ञ' रूप से श्रौतविधि से अह काल में ही यजन विहित हुआ है, एवं लोकमान्यता से कुलस्त्रियों के द्वारा चतुर्दशी की रात्रि में जिनका श्रद्धापूर्वक सम्मान विहित हुआ है। एकोद्दिष्ट-पार्वण-महालयादि नित्यश्राद्धों का जहाँ अमृत पितरों से सापिण्ड्यपितरों से सम्बन्ध है, वहाँ पुरुषकृत काम्यपितृकर्म्म, पुरुषकृत गयाश्राद्धकर्म्म, वृद्धि श्राद्धकर्म्म का, एवं कुलस्त्रीकृत रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्म का इन प्रेत-मर्त्य-औपपातिक अन्नपितरों से सम्बन्ध है। पार्थिवानुशयानुगत चरभाव ही इन सौम्य पितरों का 'मृतत्त्व' है। यही जीवित, तथा मृत, उभयविध पितरों का स्वरूप परिचय है। श्रौत-स्मार्त्तानुमोदित सनातनधर्म्म इस दृष्टिकोण से जीवित (चान्द्र), तथा मृत (पार्थिव), दोनों का श्रद्धापूर्वक यजन-सम्मान करता है। यजन करते हैं द्विजाति पुरुष, एवं सम्मान करतीं हैं मान्यतानुसार कुलस्त्रियाँ। यजनात्मक सम्मान शास्त्रीय सम्मान है, मान्यतात्मक सम्मान शास्त्राम्नायानुमोदित लोकसम्मान है। दोनों से आमुष्मिक ऐहिक फलसमृद्धियाँ निश्चयेन प्राप्त हो जाती हैं। उभयविध पितृकर्म्मानुगत परिवार को श्रद्धालु परिवार को। सैषा वस्तुस्थिति।

स्थित य गतिश्चिन्तनीया। जीवित पिता पितामहादि को श्रद्धा (चान्द्रश्रद्धानाडी) के द्वारा प्रति अमावास्या में (मास में-३ दिवस में १ दिवस) तृप्त करना, क्षयाहतिथि को तृप्त करना, एवं महालय श्राद्धपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष) में तृप्त करना 'जीवितपितृश्राद्ध' है, एवं गयातीर्थ में विधिपूर्वक एकबार श्राद्ध करना, विशेष स्मार्त्तकर्म्मावसरों पर वृद्धिश्राद्ध (नान्दीमुखश्राद्ध) करना, चतुर्दशी की रात्रि को पितृकर्म्म करना आदि 'मृतपितृश्राद्ध' है। सशरीर-पाञ्चभौतिकशरीर-युक्त-सगुणब्रह्म लक्षण माता-पिता, पितामहादि के प्रति श्रद्धापूर्वक देवभावेन आत्मसमर्पण किए रहना इन सगुण-सशरीर-पितादि की उपासना है। यह आत्मार्पण-श्रद्धार्पण "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अचार्य्यदेवो भव" इत्यादि उपनिषच्छ्रुति के अनुसार 'उपासनाकाण्ड' का विषय है, कर्म्मकाण्ड का नहीं। कर्म्मकाण्डानु

गति है 'श्रद्धया देयम्'। जो कुछ आप अर्जन करते हैं, श्रद्धापूर्वक इन्हें अर्पण कर दीजिए। इसके अतिरिक्त 'श्रद्धा' शब्दमाध्यम से आर्षाम्नायानुगत पितृश्राद्ध' कर्म्म के सम्बन्ध में जो असत् कल्पना वेदभक्तोंने उपकल्पित की है, वह एकान्ततः निर्मूल, अतएव उपेक्षणीय ही है।

(१) "देवा वा एते पितरः'–(गो० उ० १।२५)–'ये वै यज्वानस्ते पितरः' (तै० १।६।६।६)– 'यत्तदमृतं–सोमश्चन्द्रमाः सः, पितृदेवत्या वै सोमश्चन्द्रमाः, मासि मासि वोऽशनम्" इत्यादि निगमवचन उन 'जीवित पितरों' का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सौर देवों से समतुलित हैं।

(२)–"अन्तभाजो वै पितरः' (कौ० १६।८)–'मर्त्याः पितरः' (शत० १।२।३।४।)–'अनपहतपाप्मानः पितरः' (शत० १।२।३।४।)–'रात्रिः पितरः' (शत० २।१।३।१।)–'अयज्वानो गृहमेधिनः पितरः' (तै० १।६।६।६।)–'मनः पितरः' (शत० १४ ४।३।१३।)"–इत्यादि निगमवचन 'मृतपितरों' का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं।

अभिनिवेश अन्ततः अभिनिवेश ही तो है। 'जीवित पितर' का अर्थ 'चान्द्रपितर' कैसे माना गया ?, श्रुति में कहाँ विस्पष्ट शब्दों में 'अपराह्णभाजः' पितरों को 'जीवित' कहा है ?, इत्यादि अभिनिवेशात्मक प्रश्नों का यद्यपि अब कोई महत्त्व शेष नहीं है। तथापि तुष्यतु दुर्जन-न्यायेन इस सम्बन्ध में भी एक श्रौतप्रमाण उद्धृत कर दिया जाता है—

"अथ यदपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति (तस्य कारणमीमांसा क्रियते–उपपत्तिमौलिकरहस्यं निरूप्यते)। अपराह्णभाजो वै पितरः। तदाहुः (पूर्वपक्षः क्रियते) –'यत्–अपरपक्षभाजो वै पितरः, कस्मादेनान् पूर्वपक्षे यजन्ति' ? इति। (समाधीयते)- देवा वा एते (चान्द्राः–सौरानुगताः-नित्याः) पितरः। जीवेनदर्श्नौ आज्यभागौ (पितृयज्ञे) भवतः। अथ यदध्वर्युः पितृभ्यो निपृणाति, जीवानेव तत् पितननु मनुष्याः पितरः (प्रेतपितरो मर्त्याः–औपपातिकाः–पार्थिवाः)– अनुप्रवहन्ति। अथो देवयज्ञमेवैनं पितृयज्ञेन व्यवर्जयति"।

—गोपथब्राह्मण उत्तरभाग १ प्रपाठक, २५ वाँ ब्राह्मण।

मृतात्मानुगता–मृतात्मगर्भिता बुद्धि जहाँ नित्य देवपितरों का आधार बनती है, वहाँ पाञ्चभौतिक-शरीरानुगत–शरीरभावगर्भित–मन अनित्य मानवपितरों का अवलम्ब बनता है। अमृत–जीवित–पितृकर्म्म बौद्धकर्म्म है, श्रौतकर्म्म है। मर्त्य–पितृकर्म्म मानसकर्म्म है, स्मार्त्तकर्म्म है। बुद्धितन्त्रानुगत श्रौत पिण्डपितृयज्ञ से जीवित चान्द्र नित्य पितर तृप्त होते हैं, जो चान्द्र पितर सौर देवानुशय के सम्बन्ध से स्वयं भी सोर–धी भाग से समन्वित होते हुए नैष्ठिक हैं, जिन्हें श्रौत इतिकर्त्तव्यता के अतिरिक्त अन्य लोकानुबन्धों से अणुमात्र भी प्रभावित नहीं किया जा सकता। एवं मनस्तन्त्रानुगत स्मार्त्त, लोकानुबन्धी

पितृकर्म्म से मर्त्य पार्थिव औपपातिक पितर तृप्त होते हैं, जो स्वयं भी पार्थिवांश्येण-प्राधान्य से मनोमय ही बनते हुए भावुक हैं, अतएव जिन्हें स्मार्त्त वैध गयाश्राद्धवत् रात्रिजागरणात्मिका लोकभान्यताओं से भी प्रभावित किया जा सकता है। अलमतिपल्लवितेन—कुलस्त्रियों का रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्म लोक-निबन्धनात्मक औपपातिक मनोमय पितरों से सम्बन्धित है—जोकि मनोमय पार्थिव पितर नैष्ठिक नित्य-बुद्धिशील पितरों के समतुलन में सौम्य बालस्वत् हैं, सौम्या भावुकतापूर्णा मुग्धा (भोली) वृत्ति से युक्त हैं। महासङ्गीत का अन्तिम अक्षम पद "हमारे मान्य पितर सौम्य हैं, भोले हैं, सहज ही अनुग्रह करने वाले हैं, अतएव हमें सहज ही आशी दे रहे हैं, हमारे वंश को वटुनिम्ववत् सहजभाव से ही विस्तृत कर रहे हैं" इत्यादिरूप से अपने मान्य पितरों का वस्तुस्वरूप ही अभिव्यक्त कर रहा है, और इसी आशी वासना के साथ हमारा यह चतुर्थ महासङ्गीत उपरत हो रहा है—

* पितर बाला भोला ओ-जी घोर असीप।
फलज्यो फलज्योजी कड़वा नीम ज्यों॥

—४—

(५)—पितृपरिवारस्तुतिकर्म्मात्मक महासङ्गीत की पञ्चम पारनस्मृति—

(१)—म्हारा माथा न मॅंहमद ल्याओ सा (१)
दिक्खण म मत न जाओ सा (२)।
आग आग भोमियॉजी, पाछ बनरॅंग बाला,
मण्डो भैरूॅं नाथ को, अगवाणी सातूॅं भैणॉं (३)॥

(२)- म्हारी रखड़ी रतन जड़ाओ सा, दिक्खण०।
आगे आगे० (३)॥

---

* अमूर्त्तमती अपौरुषेया श्रुतियाँ यदि—'आयन्तु नः पितरः' कहती हैं, तो ये मूर्त्तिमती पौरुषेया श्रुतियाँ (कुलस्त्रियाँ) तत्समतुलित अपने महासङ्गीत में—'आओ (आयन्तु) म्हारा (नः) पितरो! (पितरः) पधारो म्हारा पितरो, यह उद्घोष कर रही हैं। वेदनिष्ठा यदि—'इन्दवः पितरः' 'पितरःसोमवन्तः'—'मनः पितरः' कह रही है, तो ये 'पितर बाला भोला' एवं 'थां जीम्यॉस म्हारो मन भर जाय' यह अभिव्यक्त कर रही हैं। समतुलन कीजिए महासङ्गीतानुगत वेदाम्नाय का, एवं पश्चात्ताप अभिव्यक्त कीजिए हमारे साथ साथ आप भी, जो (पुरुषवर्ग) सब कुछ (वेदाम्नाय) सर्वात्मना विस्मृत कर इन कुलदेवियों की महासङ्गीतात्मिका पारम्परिक वेदाम्नाय का उपहास करने में ही अपने पुरुषार्थ का श्राद्धकर्म्म सम्पादित मानने-मनवाने-प्रचार करने की भयावह भ्रान्ति करते हुए प्रायश्चित्त के भागी बनते जा रहे हैं।

(३)—ह्यारा यानान कुण्डल ल्याश्रोसा, दिक्खण० ।
आगे आगे० (३) ॥
(४)—ह्यारी नथ में रतन जड़ाश्रो सा, दिक्खण० ।
आगे आगे० (३) ॥
(५)—ह्यारा गलान पचमण्यौं ल्याश्रो सा, दिक्खण० ।
आगे आगे० (३) ॥
(६)—ह्यारा छल्लों में रतन जड़ाश्रो सा, दिक्खण० ।
आगे आगे० (३) ॥
(७)—ह्यारी कड्यॉन कगण्ता ल्याश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(८)—ह्यारी लूमॉ रतन जड़ाश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(९)—ह्यारा पगल्यॉ न पायल ल्याश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(१०)—ह्यारी पायल रतन जड़ाश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(११)—ह्यारी श्रॉगल्यॉ म फोलरी ल्याश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(१२)—ह्यारी कमरयॉ पटोलो ल्याश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(१३)—ह्यारा स्यालुड़ाक कोर लगाश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग० (३) ॥
(१४)—ह्यारी श्रॅगियॉ में रतन जड़ाश्रो सा, दिक्खण० ।
आग आग भोमियाजी (३) ॥

चतुर्दश (१४-चौदह) पद्यात्मक, एवं द्वाचत्वारिंशत् (४२-बियॉलीस) वाक्यात्मक उक्त महासङ्गीत के द्वारा सहजभाव से मूलतः चतुर्दशधा विभक्त, अवान्तर शक्तितः ४२ भागों में विभक्त समष्ट्यात्मक-व्यष्ट्यात्मक सम्पूर्ण उस पितृवार की ही स्तुति हुई है, जिसका पूर्व में (देखिए पृष्ठ संख्या २२५) तालिका एवं संक्षिप्त व्याख्यारूप से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। चौदह पद्यों में से ११ पद्यों में अलङ्कार माध्यम से, एवं ३ पद्यों में वस्त्रमाध्यम से स्तुतिका अनुगमन हुआ है, जिन आभूषणों-तथा वसनों का स्वरूप पूर्व के कुलदेवी स्तुत्यात्मक दूसरे महासङ्गीत में

स्पष्ट किया जा चुका है। लक्ष्य केवल इस महासंगीत का है १४, तथा ४२, द्विधा विभक्त सप्ताङ्ग, जिनसे समस्त पितृपरिवार संगृहीत हो जाता है।

और सब कुछ आम्नाय पूर्व सङ्गीतव्याख्याओं से गतार्थ है। विजिज्ञास्य है प्रस्तुत महासङ्गीत के—'दिक्खण-भोमियाँ-बजरंगवाला-भैरूँनाथ-मातूँ भैणाँ' इन शब्दों का आम्नायानुगत नैगमिक समन्वय। समन्वय से पूर्व सङ्गीत के अक्षरार्थेन यों समन्वय कर लेना चाहिए कि—"हे पारिवारक पितरो! आप मेरे शिरोभूषण (मैंहमद टीडीभलका) लाने का अनुग्रह करें, (और साथ ही मेरी इस प्रार्थना को भी ध्यान में रखने का अनुग्रह करें कि) आप 'दक्षिण दिशा' की ओर गमन न करें। (किन्तु मैं यह जानती हूँ कि, आप मेरी इस प्रार्थना पर कोई ध्यान न देते हुए अवश्य ही अपने चौदह प्रकार के परिवार के आकर्षण से आकर्षित होकर अवश्य ही दक्षिण की ओर गमन करेंगे ही जिस आपके परिवार में) भौमियाँजी (मूलपितर) महाराज सबसे (पितृपरिवार से) आगे आगे चलते हैं, इनसे पीछे पीछे श्रीमहावीर चलते हैं, और श्रीभैरवनाथ झण्डा लिए चलते हैं, एवं इस परिवार की अगुवानी करती हुई सातों बहिनें चलती हैं।" बस यही इसी से समतुलित पद्यार्थ अन्य शेष १३ हों पद्यों के साथ सुसमन्वित कर लेना चाहिए।

पञ्चऋतु-स्वरूप के मूलाधारभूत ऋताग्नि (प्राणाग्नि-आग्नेयाग्नि) एवं ऋतसोम (प्राणसोम वायव्यसोम) दोनों आन्तरिक्ष्य तत्त्व क्रमशः अमृत अन्नादापितर, एवं मर्त्य अन्नपितरों के स्वरूपारम्भक माने गए हैं, जिन दोनों पितरों का चतुर्थ महासङ्गीत के अन्त में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अन्नादलक्षण ऋताग्नि दक्षिणदिशा को अपना उद्गम स्थान बनाते हुए अनवरत दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर जाते रहते हैं। एवं अन्नलक्षण ऋतसोम उत्तरदिशा को उद्गम स्थान बनाते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर आते रहते हैं। दक्षिण से उत्तर की ओर सहजरूप से गमनशील ऋताग्नि ही अन्नादरूप देवलक्षण अमृतपितृपद्ध की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं, अतएव इन्हें भी दक्षिण से (उद्गम स्थान से) उत्तर की ओर (निवासस्थान की ओर) गमन करने वाला माना जायगा, एवं इस दृष्टि से इन्हें 'उत्तरसंस्थ' दक्षिण से चलकर उत्तर में विश्राम लेने वाले पितर कहा जायगा। इसी प्रकार उत्तर से दक्षिण की ओर सहजरूप से आगमनशील ऋतसोम ही अन्नरूप से पितृलक्षण मर्त्य पितृपन्थी मूल प्रतिष्ठा बनते हैं, अतएव इन्हें भी उत्तर से (उद्गम स्थान से) दक्षिण की ओर (निवासस्थान की ओर) ही आगमन करने वाला माना जायगा एवं इस दृष्टि से इन्हें 'दक्षिणसंस्थ' (उत्तर से चल कर दक्षिण में ठहरने वाले-विश्राम करने वाले- पितर) कहा जायगा। इन दोनों दृष्टिकोणों के माध्यम से ही 'दिक्खण म मत न जाओ मा' इत्यादि वाक्य का समन्वय सम्भव बन सकेगा।

उत्तर-दक्षिण भावापन्न पितरों के क्रमबद्ध स्वरूप परिचय के लिए 'अग्न्याधान ब्राह्मण' के रहस्यार्थ को लक्ष्य बनाना पड़ेगा। स्वयमपि पूर्वप्रदर्शित पितृस्वरूप व्याख्याओं से गतार्थ है। यहाँ केवल सद् ब्राह्मण का आरम्भभाग लक्ष्य बना लेना है—

१— "(१) वसन्तः, ग्रीष्मः, वर्षाः, ते देवा ऋतवः । (अन्नाद–ऋतवः)
(२) शरत्–हेमन्तः–शिशिरः, ते पितरः । (अन्नाद–ऋतवः)

२— (१) य एवापूर्यतेऽर्धमासः, स देवाः । (अन्नादपितृपक्षः–शुक्लः)
(२) यो ऽपक्षीयते (अर्द्धमासः), स पितरः (अन्नपितृपक्षः–कृष्णः)

३— (१) अहरेव देवाः (अन्नादपेन–अहः)
(२) रात्रिः पितरः (अन्नपेन–रात्रिः)

४— (१) स यत्रोदगावर्त्तते, देवेषु तर्हि भवति । (अन्नादेषु भवति) अन्नादादिक्
(२) अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति । (अन्नेषु भवति) अन्नदिक्

५— (१) अपहतपाप्मानो देवाः, अमृता देवाः । (अमृताः पितरः)
(२) अनपहतपाप्मानः पितरः, मर्त्याः पितरः । (मर्त्याः पितरः)

६— (१) स यत्रोदगावर्त्तते, तर्ह्यग्नी आदधीत । सर्वमायुरेति ।
(२) अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, यस्तर्ह्यांधते, पुरा ह्यायुषो म्रियते ।"

—शतपथ, अग्न्याधानब्राह्मण, २।१।३ ब्रा०

श्रुतिने वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन चान्द्र ऋतुओं से आपूर्यमाण चान्द्र शुक्लपक्ष को, सौर अहःकाल को, साम्वत्सरिक षण्मासात्मक उत्तरायणकाल को 'देवदेवता' (आग्नेयदेवता) कहा है। एवं शरत्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन, चान्द्र ऋतुओं को, अपक्षीयमाण चान्द्र कृष्णपक्ष को, वारुण रात्रिकाल को, षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल को 'पितृदेवता' (सौम्यदेवता) माना है। पञ्चमयुग्म के द्वारा श्रुति देवदेवताओं को अमृत, पितृदेवताओं को मर्त्य बतलाती हुई अग्न्याधानकाल के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित कर रही है कि, यदि यजमान दक्षिणायनकाल में अग्न्याधान करेगा, तो वह

आयु से पूर्व ही शरीर छोड़ देगा। अत इसे पूर्णायुर्भोग के लिए उत्तरायणकाल में ही अग्न्याधान करना चाहिए।

दक्षिण से उत्तर की ओर ऋताग्निगमन कर रहा है, एव उत्तर से दक्षिण की ओर ऋतसोम आगमन कर रहा है। इन दोनों के दाम्पत्यभाव से अग्नीषोमोभयात्मक जो योगजभाव उत्पन्न होता है, वही ऋताग्नि-सोमसम्बन्ध से 'ऋतु' कहलाया है। अयतनानियतनानुगता मध्यरेखा से उत्तरभाग (उत्तरायणभाग-जिसका उपक्रम दक्षिणगोल में, उपसहार उत्तरगोल में होता है) में सोमप्राणगर्भित अग्निप्रधान वसन्त ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन ऋतुओं की सत्ता रहती है। एव मध्यरेखा से दक्षिणभाग (दक्षिणायनभाग-जिसका उपक्रम उत्तरगोल में, उपसहार दक्षिणगोल में होता है)-में शरत्-हेमन्त-शिशिर-इन तीन ऋतुओं की सत्ता रहती है।

इस अग्नि-सोम-प्राधान्य-गौणतारतम्य से वसन्तादि त्रयी 'देवा' मान ली गई है। एव शरदादि त्रयी 'पितर' मान ली गई है। इनमें अन्नादपितरों को तो अमृतपितर कहा है, अन्नपितरों को मर्त्य पितर माना है। श्रुति ने अन्नादाग्नि को देवा कहा है, अन्नसोम को पितर माना है। ऐसी स्थिति में पितरों को अन्नादाग्निस्वरूप कैसे माना गया ?, यह समस्या है, जिसका निराकरण इसी अन्याधेय श्रुति से हो रहा है। प्राणाग्निरूप दोनों के गर्भ में प्राणसोमरूप पितर प्रतिष्ठित है, एव प्राणसोमरूप पितरों के गर्भ में प्राणाग्निरूप देवप्रतिष्ठित हैं। इस दृष्टि से तीनों ऋतुओं के दोनों विभागों में दोनों तत्त्व समन्वित हैं। अतएव वसन्तादि तीनों को 'देवा-पितर' कहा जा सकता है, शरदादि तीनों को 'पितर-देवा' दोनों कहा जा सकता है। तभी तो—'षड्वा ऋतवः पितरः' (शत० २।४।३।८) यह अन्यश्रुति समन्वित होती है। तभी तो पितृकर्म्म में ऋतु अनुबन्धी षड्कपालपुरोडाश' समन्वित बनता है। अन्तर दोनों स्थितियों में यही है कि, देवात्मक पितरों में सोम गौण है, अग्नि प्रधान है, अतएव ये देवसमतुलित है, अन्नाद है, उत्तरसस्थ हैं। पितरात्मक पितरों में अग्नि गौण है, सोम प्रधान है, अतएव ये पितर ही है, ये ही अन्न हैं, मर्त्य हैं, दक्षिणसस्थ हैं। इन दोनों पितृपदकों का निम्नलिखित परिलेख से सुसमन्वय हो रहा है—

वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा - इति ते देवा ऋतव	अग्नि (१)—देवा —वसन्त —पितर	वसन्त (१)-२	षड्ऋतव-पितर अन्नादा उत्तरायणस्था उत्तरसस्था -अमृता -चान्द्रा (पिण्डपितृयज्ञात्मका -यज्ञान) (देवयज्ञानुगता)
	सोम (२)—पितर -शरत्—पितर		
	अग्नि (३)—देवा - ग्रीष्म —पितर	ग्रीष्म (४)-२	
	सोम (४)—पितर -हेमन्त —पितर		
	अग्नि (५)—देवा —वर्षा —पितर	वर्षा (३)-३	
	सोम (६)—पितर -शिशिर -पितर		
शरत्-हेमन्त -शिशिर इति पितर	सोम (७)—पितर -शिशिर -पितर	शिशिर (४)-२	षड्ऋतव -पितर अन्नानि-दक्षिणायनस्था. दक्षिणसस्था -मर्त्या -पार्थिवा (काम्या -अयज्ञान) (महासङ्गीतानुगता)
	अग्नि (८)—देवा —वर्षा —पितर		
	सोम (९)— पितर -हेमन्त —पितर	हेमन्त (२)-२	
	अग्नि (१०)—देवा —ग्रीष्म पितर		
	सोम (११)—पितर -शरत— पितर	शरत (३)-२	
	अग्नि (१२)—देवा —वसन्त -पितर		

गुह्य-सौम्य-मनोमय-पार्थिव-भौम-औपपातिक-अन्नात्मक-भोग्य-शरद्धेमन्तशिशिरऋतुमय-मर्त्य प्रेतपितर जहाँ उत्तर से चलकर दक्षिण में प्रतिष्ठित होते हैं, वहाँ चान्द्र-बुद्धिमय आन्तरिक्ष्य-नित्य-अन्नादात्मक-भोक्ता-वसन्तग्रीष्मवर्षाऋतुमय-अमृत-सापिण्ड्यपितर दक्षिण से चलकर उत्तर में प्रतिष्ठित होते हैं। रात्रिजागरणात्मक गुह्यपितर प्रकृत्या क्योंकि— 'दक्षिणसस्थ' है, गुह्यपितृकर्म्म से तृप्त पितर आशी प्रदान करते हुए सपरिवार-स्वावान्तर शक्तिसहित-दक्षिणदिशा की ओर ही अभिमुख हो जाते हैं, एवं चतुर्थ महासङ्गीत के अन्तिम—'पित्तर आलामोला-थो-जी यसीस' इस भाव से एक प्रकार से पितृकर्म्म समाप्त है। अत यहाँ तुष्ट पितर दक्षिणाभिमुख बन जाते हैं। मानात्मक पितृकर्म्म

—'पितुपणिः' की व्याख्या करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—"अन्नं वै पितु। दक्षिणा (दिक्) वै पितु।ताननेन (मन्त्रेण) सनोति। अन्नमनिमेवैनं करोति" (ऐ० ब्रा० ३।२।)। स्पष्ट ही अन्नात्मक गुह्य पितरों का दक्षिणसस्थत्व प्रमाणित हो रहा है।

यद्यपि चतुर्थ पद्य पर ही उपरत हैं। किन्तु भूतात्मक पितृकर्म्म (मूर्त्ति-पातड़ी-स्थापनात्मक कर्म्म) शेष है। तदवधिपर्य्यन्त इन पितरों का अभी यहीं ठहरना आवश्यक है। भावात्मक आतिथ्यकर्म्म में दक्षिणाभिमुख बन जाने वाले पितर मूर्त्तिस्थापनावधि से पूर्व ही इस स्थान से चले न जाँय, इसी अभिव्यक्ति के लिए, साथ ही परोक्षरूप से पितृपरिवार की सस्थानुगता भावपृत्ति के माध्यम से स्तुति करने के लिए ही प्रस्तुत पञ्चम महासङ्गीत का आविर्भाव हुआ है। और यही 'दक्षिणा-दिग्' अनुगत— 'दिक्खण म मत न जाओ सा' का नैगमिक आम्नाय है॥।

पितृपरिवार के ज्येष्ठ श्रेष्ठ पितृपुरुष 'श्मशा' नाम के भोक्ता 'एको रुद्रो न द्वितीयाय' वाले भगवान् मूलरुद्र (पशुपति-भूतपति-भूतनाथ-श्मशानवासी भूतप्रेतगणोपसेवी-संहारात्मक ताण्डवनृत्यपरायण) हैं। इन मूलरुद्र भगवान् को ही इन के चान्द्र (आप्य) सहकृत पार्थिवभूत समन्वय से 'भौम' कहना अन्वर्थ बनता है, जिस 'भौम' (मूल पार्थिव रुद्रपितर) रुद्र का प्राकृतिकरूप ही 'भोमियों' हैं। 'इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा' (शत० १४।१।२।१०) 'अग्निनामानि-भुवपतिः, भुवनपतिः, भूतानांपतिः' (शत० १।३।३।१७) 'एष देवो रुद्रोऽभवत्। तदस्यैतद् भूतवन्नाम' (ऐत० ३।३३) "रुद्रोऽभिमन्येत-अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निरुप्य-अथ-'भौम-मेकपालं निरुप्य-अन्यमालभेत" (ताण्ड्य० ७।१५।१४) इत्यादि निगमवचन स्पष्ट ही पार्थिव भूताधिपति मूलरुद्र का भूतपतित्वेन भौमत्व प्रमाणित कर रहे हैं, जो भौम (भोमियों) रुद्र-अपने परिवार में सर्वतः अग्रणी माने गए हैं, जिस इस वेदाम्नाय का ही भाषान्तर है-'आग आग भोमियाँ जी'। जैसे देवमण्डल-देवपरिवार-में-'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' रूप से देवप्रमुख अग्नि आगे आगे चलते हैं, तथैव पितृमण्डल में भौम (मूल पुजारी) रुद्र ही आगे आगे चलते हैं।

'पाछ पाछ कुण चाल छ' ? प्रश्न का उत्तर भी वहीं मूर्त्तिमती श्रुतियों (कुलस्त्रियों) से पूछिए, समाधान प्राप्त हो जायगा। मूलरुद्र के चान्द्रसोमनिबन्धन जहाँ १४-७१-४७ अवान्तर विभेद हैं, वहाँ स्वानुगत अग्निप्राणनिबन्धन ११ अवान्तर विभेद भी सुप्रसिद्ध हैं। एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द ही-'त्रिष्टुब्रुद्राणां पत्नी' (गो० उ० २।९) के अनुसार रुद्रपत्नी है। एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् के सम्बन्ध से ही मूलरुद्र ११ मूलभावों में परिणत हो रहे हैं।'अथैनं-इन्द्र'-दक्षिणस्यां दिशि रुद्रा अभ्यषिञ्चन्

---

* (१)'दक्षिणावृद्धि पितृणाम्'-(तै० १।६।८।४)-'पितृणां वा एषा दिक्-यद्दक्षिणा' (ष ३।१) 'दक्षिणसंस्थो वै पितृयज्ञः' (कौ० ५।७) (इति नु-अन्नपितृणामवस्थानसंस्था)
(२) 'उत्तरा ह सोमो राजा (चन्द्रमाः)' (ऐत० १।८) 'यदुत्तरतो वासि, सोमो राजा भूतो वासि (जै० उप० ब्रा० ३।२८।१२) 'इति नु-अन्नादपितृणामवस्थानसंस्था)।

भौम्याय' (ऐत० ८।२४।) इत्यादिरूप से दक्षिणादिक् ही इन रुद्रों का गमन-आवास-विश्रामस्थान है। एकादश इन दक्षिणस्थ चान्द्रसोमसहकृत * मूलरुद्रों के लिए ही काम्य-महाहविर्याग में— 'रुद्रा एकादशकपालेन माध्यन्दिने सवने' (जै० १५।११।३।) इत्यादिरूप से एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप विहित है।

उक्त ११ रुद्रों में अन्तिम रुद्र (ग्यारहवें रुद्र) ही 'महावीर' रुद्र हैं, जिनके अवतार माने गए हैं भगवान मारुति (बजरंग-बनाङ्ग-बालाजी हनूमान)। सुप्रसिद्ध श्रौत घर्म्मयागापरपर्य्यायक प्रवर्ग्य नामक 'महावीरयाग' का मूलाधार ये ही छिन्नशीर्षस्थानीय ११ वें रुद्रभगवान हैं, जिन का यों स्वरूप विश्लेषण हुआ है—

"स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। स तिसृधन्वमादाय-अपचक्राम। स धनुरार्त्न्या शिर उपस्तभ्य तस्थौ। ताह वम्रच ज्यामपिजक्षुः। तस्यां छिन्नायां धनुरार्त्न्या विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः। तद् 'घृङ' इति पपात। तस्माद् घर्म्मः। यत् प्रावृज्यत-तस्मात् प्रवर्ग्यः। ते देवाः अब्रुवन्-'महान् बत नो वीरोऽपादि' इति। तस्मान् महावीरः"।

—शत० १४।१।१।१-११।

"वम्रय" (दीमक) द्वारा उस धनुष की तन्तुमयी प्रत्यञ्चा के द्वारा-जिस पर कि मस्तक रख कर (यज्ञात्मक) विष्णु सो रहे थे—मस्तक के कट जाने से-'घृङ्-ङ्' इस घोष के साथ वह मस्तक गिर पड़ा। वही घर्म्मयाग कहलाया, वही 'महावीर' माना गया'। इस यज्ञात्मक महावीरतत्त्व से रुद्र का तो क्या सम्बन्ध ?, रुद्र का सम्बन्ध इससे मान भी लिया जाय तो, लोकमान्यतानुगत 'बजरंगबली-हनूमान् हठीले' के साथ यज्ञमूर्ति महावीरयाग का क्या सम्बन्ध ?, (क्या केवल 'महावीर' नामसाम्य से ही इन अन्ध श्रद्धा के समन्वय का विफल प्रयास हो रहा है ?। तब तो सर्वनिषेधवादी जैनी अपने 'महावीरजी' को भी वेदशास्त्रसम्मत घोषित क्यों न कर दें ?। यह कैसा नैगमिक आम्नाय है ?। तभी तो हम इन सब प्रपञ्चों को अवैदिक होने से अमान्य ठहराते हैं" अभिनिविष्ट वेदभक्त की इस परव्यामोहन आपातरमणीयता का हम लोकसङ्ग्रहधिया स्वागत ही करेंगे। किन्तु 'अर्द्धचन्द्राकार प्रदान' ही इस स्वागत की परिणामानुगता महान् व्याख्या होगी। और इस स्वरूपानुगत स्वागत के लिए वे वेदभक्त हमें 'योग्य योग्याय' के आधार पर क्षमा ही कर देंगे, ऐसी है हमारी आस्था उन अभिनिविष्टों के प्रति।

---

* 'सोमो रुद्रैः-व्यद्रवत्' (शत० ३।४।३।१।)।

प्रवर्ग्य ही उच्छिष्ट है, जिसका 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' इत्यादि रूप से ईशविज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड में विस्तार से निरूपण हुआ है। विष्णु यज्ञ है, यज्ञ आदित्य है— 'स यः स यज्ञः, असौ स आदित्यः' से प्रमाणित 'अग्निरु वै यज्ञः, अग्निर्वा रुद्रः' भी नैगमिक ही वचन है। 'उच्छेषणभागो वै रुद्रः' (तै० १।७।८।५।) तो स्पष्ट ही रुद्राग्नियज्ञ की धर्मयज्ञता, महावीरत्व प्रमाणित कर रहा है। अब विवाद शेष है 'बजरंग' और 'बाला' शब्दों का। 'वज्राङ्ग' (वज्रसम कठोर-क्रोधाविष्ट-निर्दय) ही वज्राङ्ग के फलितार्थ हैं, जिन का प्राकृतरूप है-'बजरंग'। 'बाला' शब्द 'बाल भावानुगत उस सौम्यभाव का सूचक है, जिसका 'पिचर बाला भोला' इस चतुर्थ महासङ्गीत वाक्य में समन्वय किया जा चुका है। तत्काल आविष्ट-क्रुद्ध होकर संहार करने लग जाना रुद्र की घोर आग्नेयीतनू का जहाँ सहज स्वभाव है, वहीं स्तुत्यादि द्वारा तत्काल प्रसन्न होकर संरक्षण करने लग जाना रुद्र की शान्त सौम्य-अघोर तनू का सहज स्वभाव है। घोरतनू से रुद्र वज्राङ्ग हैं, तो अघोरतनू से रुद्र शिव बनते हुए सर्वथा बालभावापन्न-सौम्य-भोलानाथ हैं। यही तो 'क्षणे रुष्टा-क्षणे तुष्टा' विरुद्धभावानुगत शिव, किंवा रुद्रपरिवार का सर्वाधिक वैलक्षण्य है। स्वयं रुद्र में यदि विरोधी भावों का समन्वय है, तो तत्परिवार की भी यही स्थिति है। पिता का वाहन वृषभ, तो माता का वाहन सिंह, दोनों में सहज वैर। पुत्र गणेश का वाहन मूषक, तो पुत्र कुमार का वाहन मयूर, पिता के आभूषण सर्प, सर्प-मयूर-मूषक में परस्पर कोई मैत्री नहीं। सर्वविरोधों का एकत्र समसमन्वय ही तो शिवभाव' का जनक बना करता है। विरोधात्मक निषेध ही जिन अभिनिविष्टों का मुख्य पुरुषार्थ है, वे कैसे रुद्रानुगत पितृपरिवार का स्वरूप बोध प्राप्त कर सकते हैं।

रुद्र-त्रिष्टुप्-माध्यन्दिनसवन-सावित्रता-आदित्य-पञ्चदशस्तोम-वज्र-चन्द्र-भूतसर्ग-आदि शब्दों का नैगमिक इतिहास (वैज्ञानिकस्वरूप) जब तक जान नहीं लिया जाता, तबतक भारतीय किसी भी वैदिक-लौकिक आम्नाय का समन्वय कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। आन्तरिक्ष्य पञ्चदशस्तोम को ही निगमपरिभाषा में 'वज्र'* कहा गया है। रुद्र आन्तरिक्ष्य है, इनका त्रिष्टुप् छन्द आन्तरिक्ष्य है, इनका सवन माध्यन्दिन (मध्याह्न) है। और यही अन्तिम रुद्र की-महावीर रुद्र की वज्राङ्गता है, जिसका निम्नलिखित श्रौत तत्वों के आधार पर स्वरूपबोध प्राप्त करने का प्रयास करते रहें वे आस्था-श्रद्धाशून्य अभिनिविष्ट आक्रान्त, तथापि 'मनरञ्जन तिनका कभी सम्भव नाँहि सुजान'-

"द्वितीयमहरन्तरिक्षलोकः, आयतनेनेन्द्रः। त्रिष्टुप्। पञ्चदशस्तोमः। बृहत्साम। वज्रद्वरूपम्। दक्षिणां दिशम्। ग्रीष्ममृतूनाम्। मरुतः। (शाङ्खायन ब्राह्मण-२२।७।) 'मरुतो रुद्रपुत्रासः' (तत्पुत्र -मारुतिः हनुमान्)।

---

* 'अर्द्धमास एव पञ्चदशस्यायतनम्' (शत० ८।४।१।१४)-'वज्रो वै पञ्चदशः' (ता० १६। ५।४।)— 'पञ्चदशो हि वज्रः' (शत० ५।३।३।७)।

तन्निथं-मूलरुद्र के अवान्तर रुद्र यथाङ्ग-बाला प्रमुख (महावीरप्रमुख) बने, रहते हुए—अग्रगामी दक्षिणपथसञ्चारी मूलरुद्र के पीछे पीछे गमन किया करते हैं, यही भाव, यही नैगमिक सिद्धान्त—'पाछे बजरंग बाला' इस महासङ्गीत से अभिव्यक्त हुआ है।

अब क्रमप्राप्त चतुर्थ 'भैरवनाथ' शब्द के नैगमिक समन्वय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रुद्रपत्नी महामाया * जगदम्बा दुर्गा से प्रसूत तमोगुणप्रधान सर्ग ही रुद्रसृष्टि कहलाई है, जिसे भीषणभावात्मिका होने से 'भैरव' कहा गया है। महाभयावहा पार्थिवी रुद्रसृष्टि ही 'भैरव' है, जिसकी भयानकता आगमानुगत रुद्रसर्ग में बड़े आटोप के साथ उपवर्णित है—। 'भीरवता' ही भैरव की भैरवता है (×)। रुद्रगणरूप से भी आगमशास्त्र में बड़े ही विस्तार के साथ इस भैरवविवर्त्त का उपबृंहण हुआ है। यह सब कुछ शुक्ल-कृष्णपक्षात्मक चान्द्रसर्ग का ही पार्थिव विस्तार है। इसी आधार पर आगमने अनेकधा विभक्त भी भैरवसर्ग के कृष्णपक्षानुगत 'कृष्णभैरवसर्ग', शुक्लपक्षानुगत 'शुक्लभैरवसर्ग' नाम से दो ही मुख्य विवर्त्त माने हैं, जैसाकि, भैरवयशोवर्णनात्मक लोकगीतों की—'काला-गोरा न मनावाँ, अञ्जन गारा न' र' मनावाँ ए, चालो ए सहेल्यो आपाँ भैरूँ न र''मनावाँ ए' इत्यादि भावव्यञ्जनाओं से भी स्पष्ट है जिसका आगमाम्नाय उत्तरवृत्त से गतार्थ बन रहा है—

---

*- सान्निध्यं तत्र राजेन्द्र ! रुद्रपत्न्या कुरूद्वह ।
अभिगम्य च ता देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ (महाभारत ३।८३। ४८।)।

—ततः श्रुत्वा महातेजाः सर्वज्ञः परमेश्वरः (रुद्रः)।
चुकोप सुभृशं देवो वाक्यञ्चेदमुवाच ह ॥१॥
अहं पूर्वन्तु यमिना (भार्गवचान्द्ररुद्रेण) सृष्टः सर्वात्मना विभुः।
प्रजाः सृजस्वेति तदा वाक्यमेतद्यथोक्तवान् ॥२॥
एवमुक्त्वा भृशं कोपानलाद् परमेश्वरः।
तस्य वा नदतो ज्वालाः श्रोत्रेभ्यो (दिग्भ्यो) निर्ग्ययुस्तदा ॥३॥
तत्र भूतानि वेताला उच्छुष्माः प्रेतपूतनाः।
कूष्माण्डा यातुधानाश्च सर्वे प्रज्वलिताननाः ॥४॥

—वराहपुराण।

× "भयङ्करो रवो यस्य-स भीरवः' अणप्रत्ययेन 'भीरव' एव भैरवः। तेन सर्वे पार्थिवा देवाः-भीषयमाणा अतिष्ठन्"।

""""तस्यां तु सद्यो जातं सुतद्वयम् ॥
ततस्तयोर्नामचक्रे नारदो वचनान्नृप !
ज्येष्ठो भैरवनामाभूत् भीरोः पुत्रो भयङ्करः ।
वेतालसदृशः कृष्णो वेतालोऽभूत्, तथापरः"""(शुक्लः)

—इत्यादि कालिकापुराण ४६ अ॰ ।

पार्थिव मूलरुद्र प्राणप्रधान है, तत्पुत्रस्थानीय तूलरुद्रगणात्मक पार्थिव रुद्र भूतप्रधान है। प्राणरु प्रथिवी पर 'भूत' रूपात्मक भैरव रूप से ही पार्थिव प्रजा को अपने संहारात्मक भीषणरूप से विस्मित करते हुए इतर भूतप्रजा (प्रेतभूतवर्ग) पर अनुशासन करते रहते हैं। प्रथिवी में मूल-प्राणरुद्र की उपलब्धि भूतप्रधान भैरवरूप से ही हुई है, अतएव रुद्रापेक्षया भैरव ही (गणदेव ही) विशेषरूप से लोकमान्यता के अनुगामी बने हुए हैं, अतएव 'ध्वजा' इन्हीं की मानी जाती है। भण्डा इन्हीं का फहर रहा है पार्थिवप्रजा पर। तभी तो इनका '**झण्डो भैरूँ नाथ को**' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है।

इसी सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक विशेष आम्नाय की ओर भी इसलिए आस्तिक भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित करना सामयिक बन रहा है कि, गतानुगतिक वर्त्तमान युग का युगधर्म्माक्रान्त भारतीय मानव उच्चस्वर से-'**झँडा ऊँचा रहे हमारा**' का निनाद करता हुआ 'राष्ट्रियध्वज' रूप से, 'झण्डोत्तोलन-भण्डाभिवादन-ध्वजारोहण', आदि आदि रमणीय भावनाओं के माध्यम से अपना 'ध्वजा' राग अभिव्यक्त करता हुआ नहीं अघाता। सुस्वागत है राष्ट्रप्रेमानुबन्धिनी इस झण्डाभिव्यक्ति का, जिसके वर्त्तमान राष्ट्रियध्वज में 'वर्णत्रयी' समन्वित है, अतएव जो राष्ट्रध्वजा '**तिरँगा झण्डा**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। भारतीय निगमानुगता आम्नाय ने भी वड विस्तार से 'ध्वजारोहण' को मान्यता प्रदान की है। किन्तु यह मान्यता केवल गतानुगतिक नहीं है, नाहीं किसी बौद्ध-तदनुगामी अशोकादि मनवादपरम्परा का भावुकतापूर्वक समर्थन करने वाली ही है। अपितु भारतीय राष्ट्रियध्वजा का मूल है वह भारतीय निगमागमसम्मत शाश्वत सनातनधर्म्मानुप्राणित सनातन आम्नाय, जिस आम्नाय में देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-वर्ण-आश्रम-देवता-भूत-आदि आदि के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर विभिन्न ध्वजाओं की ही प्राकृतिक व्यवस्था हुई है, जो एक स्वतन्त्र विषय है, एवं आम्नायनिष्ठ आस्तिक भारतीय के लिए सर्वात्मना विज्ञेय। जयपुर राज्य का ध्वजादण्ड लोकनीति, धर्म्मनीति, दो विभिन्न भावों के माध्यम से दो स्वरूपों में विभक्त है (था), जो गतानुगतिक आवेशानुग्रह से कुछ समय के लिए विस्मृत बना दिया गया है। पञ्चविध यवनश्रेणि के विजयोपलक्ष से सम्बन्धित '**पचरँग झण्डा**' जहाँ लोकनीति का समर्थक था, वहाँ जयपुर की स्थिरभावापन्ना सुवर्ण-राजतीमुद्राओं (सोने की मोहर-चाँदी का रुपय्या-अठन्नी-चवन्नी-दुवन्नी मुद्राओं) में 'वृक्षध्वजा' समाविष्ट थी, जो सूर्यवंश का प्रतीक

थी। भगवान् रामने कुलाम्नायसंरक्षण का आदर्श उपस्थित करते हुए वनगमन किया, वहाँ सर्वप्रथम जिस 'काञ्चनार' (कचनार) वृक्षच्छाया में राम ने विश्राम किया, आगे चलकर रामवंश ने इस पावन स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए काञ्चनारवृक्ष को ही सूर्य्यवंश की ध्वजा का प्रतीक मान लिया, जैसाकि–'काञ्चनारध्वजो राजा' इत्यादि से स्पष्ट है। वही सूर्य्यवंशात्मक-ध्वजाप्रतीक निगमाम्नायनिष्ठ जयपुर-राजवंश की राजमुद्रा में 'वृक्षध्वजा' रूप से संगृहीत हुआ, जिस वृक्ष का प्रान्तीय नाम है—'भाड'। इसी से यहाँ की मुद्रा (सिक्का) 'झाडशाही' (वृक्षयुक्त) कहलाई। भगवान् कृष्ण की रथध्वजा में 'गरुड' (सुपर्ण) समाविष्ट था, अतएव वे 'गारुडध्वज' कहलाए। महावीर अर्जुन की ध्वजा में भगवान् महावीर (मारुति) समाविष्ट थे। उपासनाकाण्ड में भी तत्तत्-प्राणदेवताओं के स्वरूपभेद से विभिन्न ध्वजाएँ उपवर्णित हैं, जैसा कि–'काकध्वजरथारूढा' इत्यादि से स्पष्ट है। जोधपुरराज्य की ध्वजा में खचित 'चिह्न' (चील-आकाश विचरणशील बृहदाकार पक्षी) सुपर्णभावापन्ना भगवती भवानी का ही प्रतीक है। निवेदन का निष्कर्ष यही है कि, भारतीय आम्नाय में कुलधर्म्मभेद से विभिन्न ध्वजों का संग्रह सनातन है। पितृदेवकर्म्म में प्रयुक्त ध्वज रक्तपीता है, जैसा कि महासङ्गीत की कुलदेवी संस्मरणात्मिका प्रथम पावनस्मृति में 'राती पीली धजाए छडावला' इत्यादि रूप से स्पष्ट कर दिया गया है। सिंहस्था, कपिसस्था, वृषसस्था, हंससस्था, मयूरसस्था, गरुत्मगा, महिषस्था, पद्मस्था, प्रेतस्था, आदि आदि रूप से विभक्त विभिन्न ध्वजाओं के विभिन्न फल हैं। इसी ध्वजाम्नाय की अनिवार्य्यतागति का समर्थन करता हुआ शास्त्र कहता है—

१—यावन्तो दीयते शुक्र ! ध्वजः प्रासादमूर्द्धनि ।
तावत्तु न भवेत्–वत्स ! प्रासादो देववाञ्छितः ॥

२—शून्यध्वजं सदा भूता नानागन्धर्व्वराक्षसाः ।
निघ्नन्ति महात्मानो (सौम्यासः) नानाराधाञ्च कुर्वते ॥

३—तस्माद् देवगृह–द्वार–पुर–पर्व्वत–पत्तने ।
उच्छ्रिताः शान्तिकामाय ध्वजाः शुक्र ! सदा हिताः ॥

आन्तरिक्ष्य रुद्रपरिवार में रुद्र परिवार के प्राकृतिक ध्वजदण्ड का–नियतिलक्षण भयप्रदानात्मक दण्ड का–दण्डग्रहण का–उत्तरदायित्व है भीषयमाण, अतएव 'भैरव' नाम से प्रसिद्ध रुद्रदेवता का, जिसके भय से त्राण पाने के लिए ही 'शान्तरुद्रिय' कर्म्म का आविर्भाव हुआ है। इसी ध्वजाम्नाय का महासङ्गीत के 'झण्डो भैरूँनाथ को०' इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। ध्वजसमन्वित इस भीषयमाण भैरवात्मक तुलरुद्र का नैगमिक आम्नाय उत्तरपृष्ठ में यों अभिव्यक्त हुआ है—

"सोऽय शतशीर्षा रुद्रः–सहस्राक्ष–शतेषुधिः–अधिज्यधन्वा–
प्रतिहितायी–*भीषयमाणः–अतिष्ठन् । तस्माद् देवा अबिभयुः" ।

—शत० ब्रा० ६।१।१।६।

अब सर्वान्त मे 'सातूँ भैंणा, वाक्य का समन्वय शेष रह जाता है। जैसा कि प्रस्तुत पञ्चम सङ्गीत के 'भोमियॉ' पद का समन्वय करते हुए पूर्व मे अन्नाद–अन्नात्मक दो पितृसर्गों का दिग्दर्शन कराया गया था, वहाँ वसन्तादि शरदुपसहारात्मिका षड्ऋतुसमष्टि का सम्बन्ध नित्य पितरों से (देव पितरों से) बतलाया गया है। एव शरदादि वसन्तोपसहारात्मिका षड्ऋतु–समष्टि का सम्बन्ध औप पातिक पितरों (पितृपितरों) से बतलाया गया है। अतएव रुद्रगणात्मक भ्रातृसर्ग की (१४ सर्ग की) स्वसा-स्थानीया (भगिनी स्थानीया) अम्बिकाशक्ति का उपक्रम स्थान भी 'शरद् ऋतु को ही माना गया है, जिसके उपलक्ष मे 'शारद नवरात्र' मे अम्बिकोपासना का आगमिक विधान सुप्रसिद्ध है। इसी दृष्टि से 'शरत्' को रुद्रस्वसा मान लिया गया है जिन १४ स्वसाओं मे ७–७ के दो युग्मों का पूर्व के चान्द्रसर्ग व्याख्यान मे स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यही नैगमिक सप्तस्वसृवर्ग यहाँ 'साती भैणाँ' हैं, जिन के लिए कहा गया है—'अगवाणी सातूँ भैंणॉ' । अम्बिका–शक्तिपुञ्ज ही रुद्रपरिवार–भ्रातृवर्ग–को गतिशील बनाती हैं, वे इनसे आगे ही रहती हैं। यही इनका अगवानी करना है। निगमाम्नाय उत्तर प्रष्ठ युगता श्रुतियों से प्रसिद्ध ही है—

---

* प्रतीकविधानुगत उपासनारहस्य मे भैरव का वाहन 'श्वान' माना गया है । श्याव–शबल नामक–द्विरूप दो श्वानप्राण जिन श्वानप्राणियों मे विशेषत उद्बुद्ध रहते हैं, वे तो साक्षात् भैरवप्रतीक ही माने गए हैं। इनका रुदन अवश्य ही तत्प्रदेश मे घटित होने वाली भावी अशुभ घटना का सूचक माना गया है। इस अवसर का श्वानरव बड़ा ही भीषयमाण–डरा देने वाला होता है। 'श्याव–शबल' दोनों प्राकृतिक वे 'श्वानप्राण' हैं, जो 'सारमेय' नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। प्रेतपितृपथात्मक अन्तरिक्ष ही 'यमसदन' है, जिसमे चतुर्दिक् रूप से ये दोनों प्राण मानों इस पथ से आने जाने वाली पितरप्रजा के सरक्षक (पहिरेदार) ही हैं। चतुर्दिक्स्थता ही इनका 'चतुरक्षौ' (चार आँखों वाला) भाव है। इन प्राणों की प्रधानता से युक्त श्याव–शबल वर्णात्मक पार्थिव श्वानपशु (कुत्तों) के लिए प्रेतकर्म्म में बलिविधान हुआ है। इस बलिप्रदान से तृप्त श्वानपशु सजातीय प्राणाकर्षण सम्बन्ध से आन्तरिक्ष्य श्वानप्राण की तृप्ति के कारण बन जाते हैं। एव तृप्त श्वानप्राण यमपथ से आने जाने वाले प्रेतपितरो को कोई कष्ट नहीं पहुँचाते। इसी आधार पर आगमशास्त्र ने कहा है—

द्वौ श्वानौ श्याव–शबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यामन्नं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥

—पुराण

(१)—अम्बिका ह वै नामास्य रुद्रस्य स्वसा (भगिनी)

—शत० २।६।२।६।

(२)—शरद्वा अस्य रुद्रस्य अम्बिका स्वसा ।

— तै० ब्रा १।६।१०।४।

(३)—शरद्वै रुद्रस्य योनिः (उपक्रमनिन्दुः) स्वसाम्बिका ।

—मैत्रायणीसंहिता १।१०।

(४)—अम्बी वै स्त्री भगा नाम्नी, तस्मात् त्र्यम्बका ।

—काठकसंहिता ३६।१४।

दिक्स्वण-भोमियॉ-बजरँगबाला-भैरुनाथ-सातू भैरों, इत्याद दिग्देशानुगत १४-२१-४२ भागों में विभक्त पितृपरिवार का स्तुति चतुर्दशी की रात्रि में चौदह पर्वो में, अवान्तर ४२ वाक्यों

(२७६ पृष्ठ की टिप्पणी का शेष)

अभिनिविष्ट कहेंगे, "पुराण में तो इसी प्रकार की कल्पनाओं का साम्राज्य है, जो वेदविरुद्ध होने से केवल कल्पना ही है"। इन अभिनिविष्टों का सतोष करना इसलिए कठिन है कि, ये भ्रान्ति से भी स्वप्न में भी कभी वेद पर दृक्पात भी तो नहीं करते। यदि वे निगम पर दृष्टि-निक्षेपमात्र भी कर लेते, तो इन्हें विदित हो जाता कि-'निगमादागत'-आगमः' निर्वचनानुगत आगम-पुराणशास्त्र का अक्षर अक्षर निगम (वेद) आम्नाय से श्रोतप्रोत है। क्या निम्न लिखित निगमवचनानुगत दोनों श्वानप्राण इन अभिनिविष्टों का उद्‌बोधन कराने के लिए पर्य्याप्त नहीं मान लिए जायेंगे—

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन्त्सुविदत्रॉं उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥
यौ ते श्वानौ यम ! रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षा ।
ताभ्यामेन (पितरं) परिदेहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि ॥

—ऋकसंहिता १० मण्डल, ४ सूक्त,

श्रुति का 'नृचक्षा' पद प्राणी श्वान के (पार्थिवश्वान-कुत्ते के) कर्त्तव्य का भी संग्रह कर रहा है। श्वान से बढ़ कर पथिरक्षिता (द्वाररक्षक-गृहरक्षक-मार्गरक्षक) दूसरा और कौन हो सकता है। अथर्वप्राण का प्रकृत्या विज्ञाता श्वानपशु अथर्वप्राण के अनुशयमात्र के माध्यम से स्तेयकर्म्मकर्त्ता नर (चोर) के अन्वेषण में सफलता प्राप्त कर लेता है। आन्तरिक्ष्य इन्द्रप्राण का अनुशय भी इस श्वानपशु में, विशेषत इसकी जिह्वा में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव आम्नायानुगता ग्रामीण चिकित्सा प्रणाली में गहरे घावों पर दही डाल कर इसे श्वान की जिह्वा से चटा दिया जाता है, और इन्द्रप्राणानुगत अमृतसोम के अनुशय से युक्त श्वानजिह्वा से घाव ठीक होता देखा गया है। इति नु प्रासङ्गिकम्।

मे सत्यानुरूपतापूर्वक जिस इस पञ्चम महासङ्गीत के द्वारा हुई है, उसकी पावनस्मृति के आधार पर दक्षिण की ओर गमनशील-गमनोत्सुक बने हुए पितृपरिवार से-'दिवराण म मत न जाज्यो सा' इस प्रकार कुछ समय के लिए नम्र आवेदन कर अब अग्रिम पावनस्मृति के द्वारा मुख्यपितर (ज्येष्ठ-पुरुषरूप मूलपुरुष भौम-पार्थिव पितर-भोमियाँ) से साक्षात्रूप से ही कुलस्त्रियाँ न जाने का आग्रह अभिव्यक्त करती हुई कहती हैं—

—५— -

(६)—मुख्यपितृनिरोधात्मक महासङ्गीत की षष्ठ पावनस्मृति—

* (१)—थाप बरज भोमियाँ, थाँ की माय बरज जी।
उस चॉवल पर भोम्याँ मत जाज्योजी।
उस लिलडी र देस भोम्याँ मत जाज्योजी।
काला खेलणी र देस भोम्याँ मत जाज्योजी॥

———

* जयपुर के प्रान्तों में यत्रतत्र इन आम्नायगीतों का स्वरूप प्रान्तभेद से परिवर्त्तित हो गया है, जिनका संग्रह भी वाञ्छनीय माना जायगा। प्रस्तुत षष्ठ महासङ्गीत की प्रान्तीय विकल्पस्मृति का स्वरूप इस रूप से उपलब्ध हुआ है—

(१) भोमियाँजी हाथी न सिणगारो, आप हाथी ने सिणगारो जी।
(२) आपाँ जपर स र म चालस्याँ जी।
(३) भोमियाँजी जपर स र छ दूरो।
(४) आपाँ तो कोटा स र म चालस्याँ जी।
(५) भोमियाँजी कोटा का भलका म 'आँधा' हाल दीखो जी।
(६) भोमियाँजी बूँदी का भलका म 'बरा' हान दीखो जी।
(७) भोमियाँजी गोटा तो चेडा, दुनियाँ हान दुलख जी।
(८) भोमियानी हाथी न सिणगारो जी॥

—६—

'हे भौमदेवता! आप हाथी को अलङ्काराभरणवसन से सुशोभित करें। हम (आपके साथ) जयपुर शहर में चलेंगी। (नहीं नहीं) जयपुर तो यहाँ से (अपने प्रान्त से) बहुत दूर पड़ेगा, अपन तो (समीप के) कोटा शहर में ही चलेंगे। हे भौमदेवता! आप (गजारूढ बने) कोटा में विचरते हुए वहाँ के चाकचिक्य मे हमें 'अन्धे' प्रतीत हो रहे हैं, बूँदी के चाकचिक्य में हमें बहिरे प्रतीत

(२)—नहीं हॉला यापजी, हाँ नहीं हालाँ ए मायड़ नहीं हॉला ए।
म्हारी चढ़ी असवारी अमलो प्यारो लाग जी।
म्हारा सेलड़ा भलक छ वालू – रेत मॉई जी।
म्हारा साथीड़ा रड़ा छ चम्पा बाग मॉई जी।
म्हारी जीत का नगारा च्यारूँ खूँट बाज जी॥

(३)—भाई बरज भोमियॉ, थॉरी भावज बरज जी,
उस चॉवल पर०

(४)—नहीं हॉला भाई जी, हाँ नहीं हॉला ए भावज नहीं हाँला रा।
म्हारी चढी असवारी० ॥

हो रहे हैं। हे भौमदेवता ! हम आपके (सम्मान में) गोटा-किनारी लगा रहे हैं, (आपका शृङ्गार कर रहे हैं—इस प्रकार हम सर्वात्मना आप की रहती हुई भी ससार की दृष्टि में वैभव से वञ्चित हैं, (अतएव) ससार हमें (यह कह कर कि, क्या मिल गया तुम्हें भौमदेवता की आराधना से) तिरस्कृत कर रहा है। (क्या अब भी ससार हमारा यों ही तिरस्कार करता रहेगा, जब कि हमने आपका आश्रय ले लिया है ? कभी नहीं, सर्वथा नहीं।") श्रद्धात्मक मन न आँख रखता, न कान। न यह आँखों से परीक्षण करना चाहता, न कानों से परीक्षणात्मिका व्याख्या सुनने को ही आतुर बनता। अपितु अन्ध-बधिर बन कर आम्नायपरम्परा के सम्मुख नतमस्तक होकर प्रणतभाव से श्रद्धापूर्वक देवपितृकर्म्म में आत्मसमर्पण किए रहता है। यही स्थिति भाणात्मक देवपितरों की है। श्रद्धापूर्वक अनुगति रखने वाला उपासक कैसा है ?, साधु है-अथवा असाधु ?, यह प्रश्न मीमासा वहाँ नहीं है। उनका सहज अनुग्रह श्रद्धामाध्यममात्र से सब श्रेणि के कुल प्राप्त कर सकते हैं। "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य-भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः" (गीता) "यो यच्छ्रद्धः, स एव सः" इत्यादि सिद्धान्त सुप्रसिद्ध हैं। 'म्हान आँधा दीखोजी-बहरा दीखोजी' का यही रहस्यार्थ है, जो सहजरूप से सहजभाषा में-कुलदेवियों के सहज महसङ्गीत में अभिव्यक्त हुआ है, जिस की रहस्यदिशा का पूर्व में भी सङ्केत हो गया है।

*दक्षिणदिशा आग्नेयी है, अतएव सौम्या उत्तरदिशा की अपेक्षा रूक्षा है। यही दक्षिणादि-गनुगता सृष्टि की कृष्णवर्णता, तथा उत्तरदिगनुगता प्रजा की गौरवर्णता का रहस्य है, जिस का शतपथभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। दक्षिण आग्नेयी रूक्षा दिक् की रूक्षता का स्पष्ट प्रतीक है रूक्षा बालुका (बालूरेत , जो हमारी मरुभूमिका का भी हृदय है, एव हमारा आत्मा। दक्षिण का लम्बलम्बायमान सुप्रसिद्ध 'सहारा' नामक मरुस्थल भी प्रसिद्ध ही है। दक्षिणदिगनु-गता यह रूक्षता 'म्हारा सेलडा (त्रिशूल) भलक छ बालू रेत मॉई जी' द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

(५)—भए वरज भोमियाँ, थाँकी भए वरज जी,
उस चौंवल पर० ॥

(६)—नहीं हाँला भए ग म्हारी नहीं हाँला ग।
म्हारी चढी असवारी० ॥

(७)—जोय वरज भोमियाँ थाँकी जोय वरज जी,
उस चौंवल पर० ॥

(८)—नहीं हाँला गोरी ग म्हे नहीं हाँला ग,
म्हारी चढी असवारी० ॥

—६—

(१)—हे भौमदेवता! आपके पिता माता आपको रोक रहे हैं। इसलिए आप (हमारे नगर की) नदी के उस पार (अभी) न जायँ। उस मायावी देश में आप न जायँ, उस सर्पक्रीडा * करने वाली के देश में आप न जायँ। (२)—हे पिता, हे माता! अब हम यहाँ नहीं रहेंगे, (नहीं रह सकते)। हमारा सैन्यबल अब सज्जीभूत हो गया है, हम अश्वारूढ बन चुके हैं (घोड़े चढ़ चुके हैं) अब हमें हमारा सैन्य ही प्रिय लग रहा है। हमारे अस्त्र शस्त्र इस वालुकामय तेज में चमक रहे हैं। हमारे सहचर चम्पाबाग में खड़े हुए हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हमारे विजय का निनाद-उद्घोष-चतुर्दिक् में व्याप्त हो चला है (ऐसी स्थिति में हम अब अधिक इस गृह में कैसे ठहर सकते हैं)। (३)—हे भौमदेवता! आपके भ्राता, आपकी भ्रातृपत्नी आपको रोक रहे हैं। इसलिए तो आप रुकें। (४)—हे भ्राता, भ्रातृपत्नी! हम वस्तुतः अब नहीं रुक सकते०। (५)—हे भौम देवता! (देखिए) ये आपकी कनिष्ठ बहिनें आपसे आग्रह कर रहीं हैं कि, आप थोड़ी देर और ठहर जायँ। (६)—हे प्रिय-भगिनियों! (तुम्हीं बताओ!) अब हम कैसे ठहर सकते हैं। (७)—हे भौमदेवता! (इधर देखिए) यह आपकी पत्नी आपसे रुक जाने का आग्रह व्यक्त कर रही है (इसलिए तो आप रुक जाइए!) (८)—हे पत्नी! (तुम्हीं सोचो तो भला कि, इस सान सज्जा के अनन्तर भी) क्या कोई पुरुष (पत्नी के आकर्षण से) घर में रहा है? (निष्कर्षतः भौम देवता को दक्षिणपथानुगमन करना ही है)।

पूर्व में साख्याभिमत पितृपरिवार का स्वरूप विश्लेषण किया जा चुका है—(देखिए पृष्ठ संख्या ११४)। चान्द्रसम्वत्सरात्मक द्युलोक चतुर्दशविध भूतसर्ग का पिता है, चान्द्री पृथिवी माता है, पार्थिव मूलरुद्र ज्येष्ठपुत्र स्थानीय (जिनके चतुर्दशविध गणात्मक-परिवारात्मक विभाग हैं) भौमपितर हैं। शेष पार्थिवसर्ग कनिष्ठभ्राता, भ्रातृपत्नियाँ, स्वसृवर्ग (भगिनियाँ), एवं पत्नियाँ हैं। इन सबके माध्यम से ही लोकभावनानुगता-लोकमान्या-आग्रहभावना के माध्यम से कुलस्त्रियाँ कुछ समय के लिए (मूर्त्तिस्थापनावधिपर्य्यन्त के लिए) और यहाँ रोक लेने की भावना अभिव्यक्त कर रहीं हैं, आठ

* दिति-अदितिमूलक सुप्रसिद्ध 'सौपर्णाख्यान' में असुरमाता दिति दक्षिण में प्रतिष्ठित है, एवं यह सर्पभावमयी है। इसी आधार पर 'काला खेलणी र देस०' इत्यादि भाव अभिव्यक्त हुआ है।

पद्यात्मक महासङ्गीत से। 'अष्टाक्षरा वै गायत्री–या वै सा गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी' (शत० १।४।१।३४) रूप से आपः–फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अयः–हिरण्यरूपा अष्टावयवा पृथिवी (भूमि) गायत्र अष्टावयव-सम्पत्ति से युक्त है। पार्थिव भौम पितर भी इस दृष्टि से अष्टावयव-सम्पत्ति से युक्त हैं। सङ्ख्यासम्पत् के समन्वय के लिए इस सङ्गीत में आठ पद्य समाविष्ट हुए हैं।

*दक्षिणादिक् असुर-राक्षसप्राणों का आवासस्थान दिक्–माना गया है। ये हमारे गृह्य भौम पितर दक्षिण की ओर वायव्यप्राणरूपेण-शरीरेण-आक्रमण करने वाले असुर-राक्षस-नाष्ट्रागणों को दक्षिणदिशा की ओर उन्हें जाते हुए नष्ट करते हुए हमारे (इनके अपने ही) परिवारों का संरक्षण करते रहते हैं–। भौम पार्थिव पितर इन्हीं आसुरभावों को शीघ्र से शीघ्र परास्त कर हमारे परिवारों को सुरक्षित बनायें, यही कामना शस्त्रास्त्रसुसज्जित भौमपितर के मुख से अभिव्यक्त कराई गई है।

—६—

(७)–कुलानुगता महासती के संस्मरणात्मक महासङ्गीत की सप्तम पावनस्मृति

(१)—सत्ती क दरबार चम्पा फूल रही म्हारी माय

(२)—यो कुण तोड फूल, या कुण हार गूँथ म्हारी माय

(३)—हरिचन्दरजी तोड फूल राण्यॉं हार गूँथ म्हारी माय

(४)—गुँथ्यो ए गुँथायो हार सत्ती के सीस चढ म्हारी माय

(५)—प र भवानी माय हो थारा सेवक ज्यॉं म्हारी माय

(६)—प र सत्ती म्हारी माय जो वकसीस म्हारी माय

—७—

*एतद्ध देवा अबिभयुः–यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्युरिति (शत० ७।१।१।३७)।

–दक्षिणदिशा का ओर से आसुरप्राण आक्रमण करता रहता है। अतएव भारतीय वास्तुशास्त्र में निहित प्रासादनिर्म्माण शिल्प में दक्षिण की ओर द्वार रखना सर्वथा निषिद्ध माना गया है। नैगमिक आम्नाय के अनन्य संरक्षक जयपुरनिर्म्माता स्व० श्र जयसिंहनृपति ने वास्तुशास्त्र के आधार पर ही जिस जयनगर का निर्म्माण कराया था, जिस जयनगर के चारों ओर परकोटा में ९ द्वार निर्म्मित हुए थे, जिसके नवों द्वार दक्षिणादिक् के आभिमुख्य से असस्पृष्ट रहते हुए आसुराक्रमण–भय से उन्मुक्त थे, जयनगर की वह नैगमिकता यवनसंस्कृतिनिष्ठ एक यवन (मिर्जा इस्माइल) के मन्त्रित्व में छिन्न भिन्न हो गई, दक्षिण की ओर द्वार निकलवा दिए गए, जिसका–दर्शकरूप से अवलोकन करता रहा आम्नायस्वरूपसंरक्षक यहाँ का सामन्त क्षत्रियबन्धुसमाज। तभी से जयपुर का नैगमिक वैभव ? ।

जयपुर प्रान्तीय शेखावाटी के लोकगीतों में 'सतीराणी' के रूप से महामान्यता प्रचलित है। वहाँ सतियों के सुविशाल मन्दिर भी निर्मित हैं। लोकगीत नामक प्रकाशित ग्रन्थ में उसके सम्पादक-प्रकाशक ने यह मान्यता व्यक्त की है कि, "यह राणीसती अग्रवाल जालान वंश में कोई साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व हुई थी। इन की भस्मपर झूंझणू में मन्दिर बना हुआ है" (देखिए राजस्थान के लोकगीत, प्रथमभाग ७७ पृष्ठ)। आस्थायुक्त श्रद्धा से हम इस मान्यता का समादर कर रहे हैं। किन्तु 'सती' शब्द की केवल यही व्याख्या हमारी श्रद्धा की अवसानभूमि नहीं है। नैगमिक आम्नाय के अनुसार, तदनुगत मानवधर्म्मशास्त्रानुसार तो स्त्रीमात्र सती है, महासती है। शरीरतः नारी सामान्या बनी रहती हुई भी यह अपनी आभ्यन्तर दैवी प्रकृति से 'माता' है, आराध्या है, पूज्या है। स्त्री अपने आभ्यन्तर सहज प्रकृतिभाव से देवी है, सती ही नहीं, महासती है। 'पुंश्चली-कुलटा-असती-स्वैरिणी-दुष्टा-' आदि उपाधियों का सर्जन हुआ है एकमात्र मानव के अपने दोष से। 'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः', इत्यादि महाराज कैकेयोक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार स्वैरी पुरुष ही नारी को स्वैरिणी बनाता है। इसी आधार पर—'न स्त्री जारेण दुष्यति' इत्यादि स्मार्त सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। अतएव मानवधर्म्म शास्त्र में स्त्री सर्वात्मना 'अदण्ड्या' घोषित हुई है। जैसे अदिति गौमाता अघ्न्या है, तथैव अदितिमाता स्वरूपा नारी सदा ही अदण्ड्या-पूज्या-मान्या-सती है, और यही 'सती' शब्द की नैगमिक व्याख्या है, नैगमिक आम्नाय है। प्रत्येक कुल की दिवंगत, तथा वर्त्तमान सभी नारियाँ सती हैं, जिनके अनुग्रह से पारिवारिक आम्नाय अद्यावधि सुरक्षित है। वर्त्तमान में इनके स्वरूप में जो दोष आगए हैं, उन सब का एकमात्र उत्तरदायित्त्व पुरुष पर ही अवलम्बित माना जायगा।

सर्वगुण सम्पन्ना भी पत्नी [स्त्री] पतिदोष से [पुरुषदोष से] दोषयुक्ता बन जाती है। तथैव गुणहीना भी स्त्री पुरुषगुण से गुणवती बन जाती है। इस प्रकार स्त्री के गुणदोषभाव पुरुष के गुणदोषों पर ही अवलम्बित हैं। उदाहरण क्षारसमुद्र, और मधुसमुद्र। स्वादूदका [मिष्टजला] भी नदी क्षारसमुद्र में जाकर क्षारा बन जाती है, एवं क्षारा भी नदी स्वादूदक समुद्र में जाकर मिष्टजला बन जाती है। ऐतिहासिक तथ्य है कि अधमयोनिजा [निम्नकुला] भी 'अक्षमाला' स्त्री वसिष्ठ महर्षि के सहधर्म्माचरण से, चटका शार्ङ्गी स्त्री मन्दपालऋषि के सहवास से लोकपूज्या बन गई। स्पष्ट है कि नारी सहजरूप से 'नीराकारा' है, निर्दोषा है। इसके गुणदोषभाव उसी प्रकार स्वसम-भर्तृगुण-दोष तारतम्य पर ही अवलम्बित हैं, जैसे निर्म्मलाकार नीर-'यद्यत् स्वरूपमादत्ते, तेन तेन स युज्यते' के अनुसार तत्तदाकाराकारित तत्तत् क्षुद्र-महान् [छोटे-बड़े] पात्रों के सम्बन्ध से तत्तत् क्षुद्र-महान् आकारों में परिणत हो जाता है। नारी 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' के अनुसार 'नारा' [आप-नीर] ही है। इसी आधार पर हमारे आम्नाययुक्त प्रान्त में रूढ कुलवृद्धस्त्रियाँ कनिष्ठ नारियों को उनके वास्तविक 'नारा' [आप रूप निर्म्मल] स्वरूप का परोक्षरूप से उद्बोधन कराती हुई कहा करती हैं—"अर "नारा' गैठी र-छानी र छुपनी र, कोई सुण लो तो आपणी गोंई घडाई

कर'''लो'' । 'नारा' रूप निर्म्मल आपः [सौम्य-पारमेष्ठ्य-पवित्र 'अम्भः'] ही 'नारी' का स्वरूपारम्भक है, और इस स्वरूप से प्रत्येक नारी-पत्नी-माता-भगिनी-कन्या-सब सतियाँ हैं, महासतियाँ हैं। देखिए मनु क्या कह रहे हैं इस सम्बन्ध में—

(१)—यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥
(२)—अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन, जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥
(३)—एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥
—मनु' ९।२२,२३,२४।

सती नारी के ज्ञात-अज्ञात सम्पूर्ण दोष नारी के नहीं, अपितु पुरुष के दोष हैं । नारी तो आदियुग से प्रलयपर्य्यन्त सती ही रहेगी । पारिवारिक सत्ता ही पुरुष की सत्ता है । पुरुषसत्ता ही पुरुष का 'सद्भाव' है, जिसकी मूल प्रतिष्ठा बनती है एकमात्र नारी । इस सद्भावप्रदान से भी नारीमात्र 'सती' (सद्भावप्रवर्त्तिका) ही है । रात्रिजागरण में सती कुलस्त्रियाँ अपने कुल की स्वर्गीया प्रेतभावापन्ना सती नारियों का ही स्तवन कर रहीं हैं इस महासङ्गीत के द्वारा, जिनके अनुग्रह से यह रात्रिजागरणात्मिका पितृकर्म्मनिबन्धना आम्नायपरम्परा चली आ रही है इनके परिवार में । .

"चम्पा पुष्पमाला से मातासती (कुलानुगता दिवंगता प्रेतभावापन्ना सतीनारी) का आतिथ्य ही सङ्गीत से अभिव्यक्त हुआ है । महासती के पितृपरिवारात्मक साम्राज्य वैभव (दरबार) में चम्पापुष्प विकसित हो रहे हैं (खिल रहे हैं) । ये कौन चम्पा पुष्प तोड़ रहा है ?, ये कौन इन चम्पापुष्पों के हार (माला) बना रहीं हैं ? । हमारे कुल के ज्येष्ठ श्रेष्ठ कुलपुरुष मिश्र हरिश्चन्द्रजी शास्त्री पुष्प तोड़ रहे हैं, उनकी धर्म्मपत्नी हार बना रही हैं । यह सूत्रप्रोत चम्पकहार माता सती के मस्तक पर हम चढ़ा रही हैं । माता सती भवानी इसे धारण कर रहीं हैं, (पहिन रहीं हैं—पर भवानी माय) । हे माता ! हम सब आपके सेवक हैं । हे सती माता ! यह पुष्पहार धारण करें आप, एवं हमें (आपके वंश को) आशीःप्रदान करने का अनुग्रह करें ।' इत्यादि अक्षरार्थात्मक सङ्गीत में केवल 'चम्पकपुष्प' का आम्नाय विजिज्ञास्य है ।

आम्रवृक्षवत् विशाल पर्णवाला सुप्रसिद्ध 'चम्पकवृक्ष' ही 'चम्पा का पेड़' है, जिसके पीतवर्ण के पुष्प आते हैं इनमें बड़ा ही मन्दगन्ध-आकर्षक-गन्ध(भीनी भीनी-मनोमोहक सुगन्धी-सुगन्ध-) रहता है । यह पुष्प शिवशक्ति की आराधना में विशेषरूप से ग्राह्य माना गया है । 'यत् पीतत्त्वं, तत्

पितृणाम्' (शत० ब्रा०) के अनुसार पीतवर्ण पैत्र वर्ण माना गया है। अतएव पीतपुष्पानुगत चम्पकवृक्ष पैत्रकर्म्म में संगृहीत हो गया है। 'ढारा सायीड़ा ऊभा छ चम्पाबाग में जी' इत्यादि रूप से पञ्च महासङ्गीत में भी चम्पक का समावेश इस पितृभाव से ही हुआ है। 'चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' (अमर० २।४।६३।) से चाम्पेय (चम्पापुष्प) का हेमवर्णत्व प्रमाणित है। एवं निम्न लिखित आगमवचन चम्पकचतुर्दशी (ज्येष्ठशुक्ल-चतुर्दशी) तिथि में विहित शिवशास्त्याराधनारूप से इसका संग्राहक बन रहा है। देखिए !

चतुर्दश्यां च शुक्लायां ज्येष्ठे मासि महेश्वरम् ।
चम्पकैः पूजयेद् भक्त्या शिवलोकमवाप्नुयात् ॥

—उत्तरकामाख्यातन्त्र ११ वाँ पटल

चम्पकपुष्पहार से सम्मानित कुलसतीवर्ग के अनन्तर इनका, इनके द्वारा कुलाम्नाय (कौलिक आम्नाय) के आधार पर प्रक्रान्त रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्म में अवशेष रहा है 'पितृमूतस्थापनात्मक' (पितृमूर्त्तिस्थापनात्मक) केवल एक कर्म्म, जिसके लिए इस सतीसम्मानात्मक महासङ्गीत के अनन्तर ही हमें पावन करने के लिए हमारे मानस धरातल में उदित होगी अष्टम पावन स्मृति, जिसे अभिव्यक्त होने से पूर्व हम सप्तम स्मृति के दो लोकविकल्पों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन करा देते हैं।

—७—

सतीसम्मानात्मक सप्तम महासङ्गीत के प्रान्तभेद से विविध विकल्प उपश्रुत-उपगणित-उपगीत हैं। उनमें से प्रसङ्गविधया दो महासङ्गीत यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं। इनमें प्रथम विकल्प सतीपरम्परा का सामान्यरूप से विकल्प है। एवं द्वितीय विकल्प कुलस्त्री में जो मुख्य स्त्री पुत्रादिकामना-रक्षा-वृद्धि-कामना से जागरण करती है-और वह यदि अपने पति की द्वितीया पत्नी है- प्रथमापत्नी यदि प्रेतपितृभाव में परिणत हो गई है-तो उस अवस्था से सम्बन्ध रखता है। अतएव इस द्वितीय विकल्प को शेखावाटी प्रान्त में 'पितराणी' कहा गया है। श्रूयताम् !

(७)—सतीसंस्मरणात्मक सप्तम महासङ्गीत के प्रथम विकल्प की सप्तम पावनस्मृति—(१)

(१)—कुण चुणायो थारो देवरो माता ! कुण तो लगाई अजगजनीव ।
(२)—राजा चुणायो थारो देवरो माता ! परजा लगाई अजगजनीव ।
(३)—ये कुण गासी थार आवसी माता ! ये कुण ल्याव थार भेट ।
(४)—राण्यॉ गासी आवसी थार माता ! हरीचन्दरजी ल्याव थार भेट ।
(५)—सासू बहू थार आवसी माता ! धोर जिठाण्यॉ ल्याव थारी भेट ।
(६)—गोद जडूला ल्याव थार पूत० ! ए म्हारी माय ॥

—१—

(७) पितृरानो (पितराणी) संस्मरणात्मक महामङ्गीत के द्वितीय विकल्प की सप्तम पावनस्मृति (२)

(१)—इन्द्र लोकॉ स म्हारा जीजीबाई उतरया जी,
कोर्ट बड़तल लियो छ मुकाम, म्हारा जीजीबाई० ।

(२)—आज छोटी क जी बड़ी आया पॉवणॉ जी,
चौकी तो चन्नण जीपर म्हारा जीजीबाई बैठियाजी ।

(३)—चॉवल तो रॉधॉ उजला जी, हरिया तो मूँगाकी दाल जी,
बीजापुर को बीजणॉ जी, गढ़ मथुरा को थाल जी,
चॉदी की कचोल्यॉ थॉरा थालमें जी म्हारा जीजीबाई० ।

(४)—मूँगफली सी थॉकी आँगल्यॉ जी जीजीबाई,
दाड्यू सिरसा दॉत जी म्हारा जीजीबाई,
थे तो जीमो जी म्हारा जीजीबाई म्हारा हाथ से जी, म्हारा जीजीबाई० ।

(५) जीम्यॉ जी चूँठ्या जीजीबाई पा ट रम रह्या जी,
सोयान म्हान ठोर बताए म्हारी छोटी भण ए,
रमवा ने म्हान ठोर बताए म्हारी छोटी भण, म्हारा जीजीबाई० ।

(६)—थे तो सोग्यो म्हारा जीजीबाई थॉका राजम्हलम जी,
थाने बीजणॉ ढुलावॉ म्हारा जीजीबाईजी,
रमज्यो रमज्यो जी म्हलॉ में म्हारा जीजी बाई, म्हारा जीजीबाई० ।

(७)—थे ही मो ग्यो म्हारी छोटी भण म्हारा म्हलॉ म जी,
थाने ही दियो छ म्हे तो अम्मर सुहाग जी,
म्हे तो अब जाम्यॉ इन्द्र लोकॉ में म्हारी भण ए, म्हारा जीजीबाई०,
इन्द्र लोकॉ स म्हारा जीजीबाई० ॥

——७——

दोनों विकल्पों का अर्थ स्पष्ट है । (१)-हे सती माता ! आप के मन्दिर का निर्म्माण किसने किया है ? । किसने इस की सुविस्तृत (अजगज) नींव (शिलान्यास) लगाई है ? । (देशाधिपति-आम्नायसंरक्षक-धर्म्मरक्षक) राजा ने तो अपने हाथों मन्दिर का निर्म्माण किया है, एवं प्रजाने इसका शिलान्यास किया है, नींव भरी है । हे माता ! ये कौन आपके गाती (और बजाती) आवेगी (आरही है) ?, हे माता ये कौन आपके भेंट-पूजनपरिग्रह लावेंगे (ला रहे हैं) ? । कुलसाम्राज्ञियाँ (कुलस्त्रीवर्ग), आपके मङ्गलगान करती हुईं आवेगी (आरही है), एवं कुल ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुष मिश्र हरिश्चन्द्रजी प्रमुख सम्पूर्ण पुरुषवर्ग आपके भेंट पूजन परिग्रह लावेंगे, (ला रहे हैं) । हे माता सासुएँ,

बहुएँ, आपके आवेंगी (यों ही परम्परया सदा ही आती रहेंगी (आती रहतीं हैं), देवरानियाँ (पोतानियाँ,) जिठानियाँ (यों ही सदा ही) आपके भेंट लावीं रहेंगी (लातीं रहतीं हैं), इन सब कुलस्त्रियों की गोद में हे माता ! चूडायुक्त (जड़ूलायुक्त केशपाशयुक्त) बालक रहते हैं, इन्हें साथ-गोद में लेकर ये आपके (जड़ूला उतारने) आतीं रहतीं हैं (क्यों कि हे माता !) हे मेरी करुणामयी माता ! (आपके नि सीम अनुग्रह से ही तो इन कुलस्त्रियों की गोद भरी हुई रहती है) ।।

द्वितीय विकल्प का भाव बड़ा ही करुणापूर्ण है। कुलपुरुष की पूर्व स्त्री मर चुकी है, इसने दूसरा विवाह कर लिया है। इस के सन्तति हो गई है। यह अपने रात्रिजागरण में अपने पति की पूर्वपत्नी को (जो प्रेतभाव में परिणत होकर प्रेत लोक में पितरपरिवार के साथ निवास कर रही है, बड़े ही आत्मीय भाव से,--'म्हारा जीजीबाई' (मेरी बड़ी बहिन) इस भाव से उनका भी आमन्त्रण करती है। इन्हीं के आतिथ्य का इस विकल्प में गान (विस्तार) हुआ है । "(२)--(१)--मेरी बड़ी बहिन (इस अपनी छोटी बहिन के द्वारा सम्पादित पितृकर्म्म में आशी प्रदान करने) इन्द्रलोक से उतरे। वहाँ से उतर कर सर्वप्रथम उन्होंने (ग्रामोपान्त्यप्रदेश में-स्थित) वटवृक्ष की छाया में (जो कि वृक्ष इनका पार्थिव श्रवासग्रह है) विश्राम लिया। वहाँ से चलकर (२)-मेरी बड़ी बहिन आज (चतुर्दशी की रात्रि में) इस अपनी छोटी बहिन के अतिथि बने हैं । मैंने दूध से उनके चरणकमल धोए हैं (जो प्रथम आतिथ्यकर्म माना गया है) । (३)-मैंने इनके लिए श्वेत चाँवल, हरित मुद्गदाल स पत्र की है। जीनापुर का सुप्रसिद्ध पट्टा मँगाया है, मथुरा का सुप्रसिद्ध थाल मँगाया है, इस में चाँदी की कटोरियाँ सजाई हैं । ऐसे पात्रों में इनके लिए मिष्टान्न सहित दालभात का पर्यवेषण-(परोसा गया) हुआ है ४)-हे मेरी जीजीबाईजी । आप के (हाथों की अँगुलियाँ) बड़ी ही सुडौल हैं (जिनसे आप नैवेद्य ग्रहण करने वालीं हैं) । आप की दन्तावली दाडिम-फलवत् बड़ी ही मनोहर है (जिस से आप गलाध करणानुकूल-व्यापाररूप भोजन करने वालीं हैं)। हे मेरी बड़ी बहिन ! अब आप (अपने हाथ के साथ साथ) मेरे हाथों से भी भोजन की जिए (जो मेरे हाथ भी आपही के स्थान पर आने के कारण-आपही के हाथों के प्रतीक हैं)। (५)-(जीजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर प्रसन्नतापूर्वक भोजन कर लिया) भोजन जलपानादि कर्म्म से निवृत्त होकर जीजीबाई (यहाँ के आवासस्थानरूप) पितृ-पट्ट पर विश्राम कर रहे हैं। इन्होंने मुझसे यह कामना प्रकट की कि, हे छोटी बहिन ! अब मुझे तुम शयन का स्थान बताओ-(परीक्षा लेने की दृष्टि से कि, कहीं मुझ बड़ी से इस छोटी को ईर्ष्या तो नहीं है- मैनामन्योऽन्यालीन-रूपा')। हे बहिन हमें रमण के लिए अनुरूप स्थान बताओ। (६)-हे मेरी जीजीबाई ! (यह आपने क्या कहा) आप अपने राजमहल में (जहाँ भौतिक शरीर से मेरे आगमन से पूर्व आप ही सोते थे-अतएव जो आज भी आपही का महल है) शयन करें। मैं आपको पँखा झलूँगी । इस प्रकार आप अपने ही राजमहल में रमण करें । (७)-गद्‌गद हो कर पितृराज्ञी-देवलोकवासिनी बड़ी

वहिन छोटी की इस भावना से, परीक्षा समाप्त हुई, छोटी वहिन परीक्षा में सर्वात्मना समुत्तीर्ण हो गई। इस भाव से अन्तरा मना तुष्ट तृप्त वडी वहिन गद्‌गद् होकर कहने लगी कि) हे मेरी छोटी (लाडली) वहिन ! तुम्हीं मेरे महलों में शयन करो । मैंने तुम्हें ही (अपना शरीर छोडने के अनन्तर) अपनी ओर से अमर सौभाग्य प्रदान कर दिया है । अब तुम हमें-जाने दो (अपनी प्रेतयोनिमर्य्यादा के अनुबन्ध से अब (अधिक हम समय यहाँ नहीं ठहर सकतीं) अवतो हम अपने इन्द्रलोक में हीं जायँगे" । विकल्पद्वयात्मक इस सप्तम पावन स्मृति के अनन्तर हमें पवित्र करती हुई उदित हो रही है—

(८)—पितृमूर्त्तिस्थापनानुगत महामङ्गीत की अष्टम पावनस्मृति—

(१)— म्हारा राय खाती का र, तू लो चतर सुजान !
विराणीडार, म्हार पाटडलो घडल्यार विराणीडा।
(२)—म्हार—पित्तर वावा जोगो, वडवासण माता जोगो,
ध्याडी माता जोगो, हणमत वावा जोगो,
भैरूँ वावा जोगो, देई देवताँ जोगो,
पाटडलो घडल्या र विराणीडा।
(३)—म्हारा राय खाती थारा, तन करड कसार, विराणीडा,
म्हारा खातण माई जोग लपपच लापसीर, विराणीडा।
(४)—म्हारा राय खाती का र ! तन पचरँग पाग विराणीडा,
म्हारी खातण जोगी भो रँग चूँदडी जी।
(५)—म्हार खाती वावा जोग मुरकी पराय, विराणीडा,
म्हारी खातण जोगा तिलडी, टेवटो जी,
(६)—म्हारा खाती वावा तूतो मन 'पाटड—'पाटडी' र।
म्हारा खाती वावा तूतो ल्यार 'सोना पातडी' र।
म्हारा खाती वावा तूतो ल्यार 'पितरॉ पातडी' र।
"पितरॉ पातडी जी, पितरॉ पातडी जी" ॥

—८—

—विवाहकर्म्म में भी काष्टपट्ट स्थापित होता है। पाटा और चोपडा, दोनों घर का खाती ही घडकर लाता है, एवं इस कर्म्म के लिए, तथा मण्डपानुगत तोरण—थाम के लिए गृह्य रथकारदम्पती सम्मानित किए जाते हैं। वहाँ भी इसी प्रकार का लोकगीत गाया जाता है। किन्तु वहाँ 'म्हार पितर वावा जोगो' के स्थान में 'म्हार विनायक वावा जोगो' का समावेश होता है। और भी कई स्थानों में परिवर्त्तन होता है, जो तद्गीत में ही द्रष्टव्य है।

वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, प्रपितामह, पितामह, एवं पितृश्री-बालचन्द्रशास्त्री पर्य्यन्त षट्पितृपद की नैदानिक सुवर्ण प्रतिमा ❀ रथकार द्वारा निर्म्मित होती है, जिस पितृपद्कसम्पन्न संग्रह के लिए प्रस्तुत महासंगीत में ६ पद्य समाविष्ट हुए हैं। वैसे सुवर्ण-रत्नादि की प्रतिमा-आभूषणादि बनाना 'सुवर्णकार' (सुनार) का कर्म्म माना गया है, एवं काष्ठ पट्टादि कर्म्म 'रथकार' (खाती) का माना गया है। किन्तु इस पितृकर्म्मात्मक सौम्य पावन कर्म्म में उपयुक्त काष्ठ पट्ट जहाँ रथकार से निर्म्मित है, वहाँ-स्वर्णकारकर्म्मानुगत स्वर्णमूर्त्ति का निर्म्माण भी रथकार के द्वारा ही विहित हुआ है। कारण स्पष्ट है। आकाररूप, और वर्णरूप, दोनों के लोककर्म्म कर्त्ता क्रमशः रथकार, एवं पेशस्कार कहलाए हैं। ये ही दोनों लोकभाषा में 'खाती-सुनार' कहलाए हैं। दोनों में रथकार श्रेष्ठ इस लिए माना गया है कि, यह माहिष्यपुरुष से करिणीस्त्री में उत्पन्न होता हुआ द्विजाति-भावानुरूप से समन्वित होता हुआ पेशस्कारादि इतर प्रतिलोमसङ्कर-जातियों की तुलना में पावन है, पवित्र है, शुचिभावापन्न है। अतएव इसे अपशूद्राधिकरण में अग्न्याधानादि कतिपय श्रौतकर्म्मों का, एवं परिमित स्मार्त्त कर्म्मों का अधिकारी मान लिया गया है —। इसी शुचिता के कारण पितृकर्म्म में रथकार से ही पट्ट और पातडी बनवाए जाते हैं।

❀ बिना-मस्तक-हस्त-पादादि शरीरावयवों की केवल पट्टिकामात्रा पितृप्रतिमा ही पितृकर्म्म में ग्राह्य है। प्रेत का केवल बाह्य आकार ही ग्राह्य बन सकता है, जीवित मानवाकार नहीं। यह आकार-भाव ही 'नैदानिकप्रतिमा' कहलाई है, जिसे प्राकृतभाषा में 'पितरों की पातडी' कहा जाता है।

—"स्त्रोपत्य प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम्" (वा० सं० ३०।६।) इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार महीधरने कहा है— 'रथकारं माहिष्येण करिण्या जातम्'। क्षत्रियपुरुष से वैश्या स्त्री (वनियानी) में उत्पन्न पुत्र 'माहिष्य' कहलाया है, एवं वैश्यपुरुष से शूद्रास्त्री में उत्पन्न कन्या 'करिणी' (हस्तिनी) कहलाई है। इस माहिष्य नरपुरुष से करिणी सङ्करा स्त्री में उत्पन्न सन्तति 'रथकार' कहलाई है (याज्ञवल्क्यस्मृति, ५,६५) स्मार्त्ताचार्य्य शङ्ख के मतानुसार रथकार के इज्या-दान-उपनयन आदि मान्य हैं, जैसाकि स्मृति वचन से प्रमाणित है—

'क्षत्रिय-वैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो यो रथकारस्तस्य-इज्यादानोपनयनसंस्कारक्रिया, अश्व-प्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययनवृत्तिता च" (शङ्खस्मृति)।

मिताक्षराकार ने भी कहा है—'एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाहिष्यादनुलोमसंकरे जात्यन्तरता उपनयनादिप्राप्तिश्च वेदितव्या, तयोर्द्विजातित्वात्'। रथकार शब्द की जात्यनुगता मीमांसा का मुख्य प्रयोजन है महासङ्गीत में पुनः पुनः पठित 'निराणीडा' शब्द. वैश्या (वनियानी-वणिक्स्त्री) ही प्रान्तीय भाषा में 'निराणी' कहलाई है। 'वामण-नाएया' और 'वामणी-निराणी' युग्म प्रसिद्ध है। माहिष्य पुरुष ही रथकारजाति का मूलप्रवर्त्तक है। माहिष्य की उत्पत्ति हुई है क्षत्रिय के शुक्र एवं वैश्या (निराणी) के योनिस्थानीय शोणित के दाम्पत्यभाव से। 'बीजाद्योनिर्बलीयसी' सिद्धान्त प्राकृतिक है। अतएव माहिष्य 'क्षत्रियपुत्र' न कहलाकर 'वैश्यापुत्र' (वाणियाणी का पुत्र) ही कहलाएगा। यहाँ वैश्यापुत्र माहिष्य क्योंकि रथकार का मूलप्रवर्त्तक है, अतएव इसे भी वैश्यापुत्र (माहिष्य) के पुत्र होने से 'वैश्यापुत्र' (निराणीडा) ही कहा जायगा।

ही माना जायगा। इसी का समन्वय प्रसङ्गत उपात्त है। पितृकर्म्म का मुख्य उद्देश्य यही है, जो महदुक्थरूप इन्द्र के लिए 'अशीति' प्रदान का उद्देश्य। अन्नात्मक मर्त्य पितरों को अन्नात्मिका अशीति से तुप्त तृप्त करना ही इस लोकनिबन्धन पितृकर्म्म का प्रधान उद्देश्य है। अन्न 'अशीति' भावापन्न बनता हुआ '८०' सख्या से युक्त है। इसी सख्यासम्पत् का इस पितृकर्म्म के साथ आपको समन्वय करना है।

पितृकर्म्म मे महासङ्गीत है आठ (८)। ये आठ महासङ्गीत क्रमश ११–११–८–८–१४–८–६–६ इन पद्य सख्याओं से समन्वित है। इन पद्यों की प्रथक् प्रथक सख्याओं से क्रमश १–रुद्रसम्पत् (११), २–रुद्रसम्पत् (११), ३–पार्थिव (गायत्र) सम्पत (८), ४–पार्थिव गायत्रसम्पत (८), ५–चतुर्दशविध पितृपरिवारसम्पत् (१४) ६–गायत्रसम्पत् (८), ७–षड्ऋतुलक्षण पितृसम्पत् (६), ८–वृद्धातिवृद्धप्रपितामहादि षट्पितृसम्पत् (६) ये पैत्रसर्गनिबन्धना अवान्तर सम्पत्तिया सख्यासम्पत के द्वारा सहजभाव से प्राप्त हो जाती है। इन पद्यों की सम्मिलित सख्या ७२ ह। ये ही प्राणनाडियाँ हैं, जिनका सहस्ररूप से वितान हुआ है, एव जिनका–'द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यः०' रूप से 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' मे विस्तार से विश्लेषण होने वाला है। प्राणनाडियाँ ही श्रद्धात्मिका बनती हुई चान्द्रनाडी के द्वारा पितृतृप्ति का माध्यम बना करती हैं, जैसाकि 'श्राद्धकर्म्मविज्ञान' नामक प्रथम ऋणमोचनोपाय प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। तदित्थ–८ महासङ्गीतसख्या से पार्थिव भौमपितृसम्पत् प्राप्ति, अवान्तर पद्यावयवों से रुद्रादि सम्पत्प्राप्ति, पद्यसख्या (७२) से प्राणनाडी–सम्पत्प्राप्ति, एव सर्वसमन्वयात्मिका ८० सख्या से–'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायतेतमाम्' रूपा अन्नसम्पत् प्राप्ति, निगमवत् सर्वात्मना इस महासङ्गीतसख्यासम्पत् से सहजरूप से प्राप्त हो रही हैं, जिनका तालिका द्वारा स्पष्टीकरण हो रहा है। न केवल लोकात्मिका (चन्द्रपितृलोकात्मिका चान्द्री) अन्नसम्पत् ही, अपितु इसी सख्यासम्पत् से आधिदैवतानुगता–आध्यात्मिकी भी निसर्गत ससिद्धा बन रही है। पद्यानुगता अष्टसख्यासम्पत् प्राकृतिक गायत्र (अतएव) अष्टावयव पितृसम्पत् की सग्राहिका बनती हुई आधिदैवत (प्राकृतिक) सम्पत् की सग्राहिका प्रमाणित हो रही है। एव पद्यावयवानुगता द्वासप्तति (७२) सख्यासम्पत् वैकारिक प्राणनाडीसम्पत् की सग्राहिका बनती हुई अध्यात्मसम्पत् की प्रतिष्ठा प्रमाणित हो रही है, जैसाकि परिलेख में इस दृष्टिकोण का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

आधिदैवत, एव अध्यात्म, दोनो सम्पत्तियों का सग्राहक सम्बन्धसूत्र माना गया है अधिभूत। जिस प्रकार श्रौत देवपितृ–कर्म्म मे सौरमण्डलात्मक प्राकृतिक यज्ञात्मक आधिदैवतभाव के साथ शारीरिक पिण्डात्मक वैकारिक यज्ञात्मक सौरभावात्मक बुद्धिप्रधान अध्यात्म (भूतात्मलक्षण अध्यात्म) का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पार्थिवविवर्त्तात्मक प्राकृतिक–वैकारिक मध्यस्थ आधिभौतिक यज्ञात्मक (भौतिक यज्ञात्मक) सख्यासम्पत्–युक्त हविर्द्रव्य–कपाल–इध्म–चरु–सामिध्य–दक्षिणा पात्र–वह्नि–आदि

आदि पदार्थों को मध्यस्थ बनाया जाता है, ठीक इसी निगमाम्नाय के अनुसार भारतीय लोकमान्यात्मक गृह्य देवपितृकर्म्मों में भी चान्द्रमण्डलात्मक प्राकृतिक आधिदैवत के साथ चान्द्रभावात्मक मनःप्रधान अध्यात्म का सम्बन्ध कराने के लिए चान्द्रसोमप्रधान पार्थिव क्षीरान्नादि–वैखरी वाणीरूप (मानसिक भावापन्न लोकगीतरूप) महासङ्गीत, आदि आदि आधिभौतिक भावों को मध्यस्थ बनाते हुए सब सम्पत् का सम्रह कर लिया जाता है। आधिभौतिकसम्पत् वह प्राजापत्या भौतिक सम्पत् है, जिसके द्वारा उस ओर को आधिदैवमण्डल, एवं इस ओर को अध्यात्मसम्पत्, दोनों का समसम्बन्ध सुसमन्वित बना रहता है। 'प्रजापतिः षोडशी' के अनुसार प्रजापति सत्यासम्पत् के अनुपात से सोलह कलाओं में विभक्त माने गए हैं, जिस षोडषभावापन्न प्रजापति के 'षोडशीपुरुषप्रजापति, षोडशकलपराप्रकृतिप्रजापति, षोडशकलोपेतअपराप्रकृतिप्रजापति, ये तीन क्रमशः आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक महिमरूप (विवर्त्तभाव) निगमशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, जिनका सचित्र दिशापरिचय इसी प्रकरण से सम्बन्धित आगे आने वाले 'पावनस्मृति के सम्बन्ध में तटस्थ आलोचना, एवं तत्समाधान' नामक अवान्तर प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में कहना यही है कि, कुलस्त्रियों से सम्बन्धित रात्रिजागरणात्मक सम्पूर्ण वैवाहिकादि लोकमान्यतानुबन्धी पावन भावप्रधान देवपितृकर्म्म षोडशकलोपेत आधिभौतिक पार्थिव प्रजापति से ही सम्बन्धित हैं। इस षोडशकलोपेत प्राजापत्यसम्पत् के सम्रह के लिए ही लोकमान्यतानुबन्धी विवाहाद्यनुगत देवपितृकर्म्म निबन्धन सम्पूर्ण लोकगीत (देवीदेवताओं–देईदेवताओं के गीत) १६ ही आम्नायानुगत बन रहे हैं। विवाह हो, यज्ञोपवीत हो, किंवा काम्यरात्रि जागरण हो, सर्वत्र देवकर्म्मसम्बन्ध में कुलस्त्रियों की पारम्परिक आम्नाय के अनुसार सोलह ही गीत गाए जाते हैं। प्रकृत पावनस्मृति में आठ महासङ्गीत तो मुख्य हैं ही। परिशिष्टात्मक नवम गीत सम्रह में 'दीपक–अञ्जन–अलर्कराग–महानड–जिसका स्वरूप यवनसंस्कृति के सम्पर्क से आज 'मेंहदी' ने ग्रहण कर लिया है–आदि कतिपय महासङ्गीतों के अतिरिक्त 'दुर्गास्तुति' स्वरमान्यतानुबन्धी (कुलमान्यतानुबन्धी) 'कालापहाडभारास्तुति, नारायणस्तुति (डिग्गी के श्रीश्रीदेवाधिदेव कल्याणभगवान्) आदिरूप से अन्यान्य महासङ्गीतों का समावेश करती हुईं कुलस्त्रियाँ जब तक १६ सत्यासम्पत् (प्राजापत्यसम्पत्) प्राप्त नहीं कर लेतीं, तबतक अपने देवपितृकर्म्मानुगत महासङ्गीतकर्म्म को ये देवियाँ अपूर्ण ही मानती हैं। निरूपित मुख्य महासङ्गीतों के साथ अन्य उतने महासङ्गीत अवश्य ही देवपितृकर्म्म में कुलस्त्रियों के द्वारा समाविष्ट होते हैं, जिनसे १६ संख्या परिपूर्ण बन जाय, यही तात्पर्य्य है। इस प्रासङ्गिक वक्तव्य को लक्ष्य में रखते हुए ही तालिका से अपने मानस क्षेत्र को हम पावन बना रहे हैं। प्रस्तुत निबन्धग्रन्थ के १८६ वें पृष्ठ से आरम्भ कर २६४ वें पृष्ठ पर्य्यन्त अनुमानतः शतपृष्ठों में परिपूर्ण यह महासङ्गीतनिबन्धना पावनस्मृति आम्नायशील आस्तिकों को शतायु बनावे, इसी मङ्गलमनसा के साथ पितृतालिका उपस्थित हो रही है।

अब दो शब्दों में महासङ्गीत के अक्षरार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। (१)–हे मेरे सम्मानित रथकार! तुम बड़े चतुर (शिल्पी–कारीगर) हो, साथ ही सौम्यस्वभाव (सुजान, अतएव सौम्य पितृकर्म्म के अनुरूप)। हे विराणीड़ा! (वैश्यापुत्ररूप से मूलदृष्ट्या प्रख्यात–देखिए इसी महासङ्गीत की टिप्पणी में इस शब्द का निर्वचन) तुम मेरे इस पितृकर्म्म के लिए काष्ठपट्ट घड़लाओ। (२)—(यह ध्यान रहे कि) यह पट्ट पितरों के, वटुवासिनी माता के, ध्याड़ीमाता ❀ के, महावीर के, भैरूँ के, और और भी समस्त पितृपरिवारानुगत–पितृदेवता (देवता) और पितृपत्नियों (देई–देवी) के अनुरूप ही हो। (३)–इसके उपलक्ष में मैं तुम्हें 'करड़कसार' ÷ से सम्मानित करूँगी। तुम्हारी पत्नी को घृताप्लुत लचपच) लापसी से सम्मानित करूँगी। (४)—तुम्हें पचरँग उष्णीष (पगड़ी) दूँगी, तुम्हारी पत्नी को विविधरँगरञ्जित पीतवस्त्र (पीला–चूँदड़ी–जिसे पैत्रवस्त्र माना गया है)। (५)–तुम्हारे कानों में मुर्की (बुड़की) पहिनाऊँगी, तुम्हारी पत्नी को कण्ठी (गले की तिलड़ी–त्रिगुणिता–त्रिवलिता गलमाला) और पचमण्यों (टेवटा) पहिनाऊँगी। (६)–अब (इन सर्वविध सम्मान परम्परों से सम्मानित–तुष्ट–तृप्त होकर) हे रथकारवावा! मुझे पट्ट के लिए **'पट्टप्रतिमा'–'पितृप्रतिमा'–'पितरप्रतिमा'** ला दे" (अ) यह पितरों के लिए प्रतिमा है, यह पितरों के लिए प्रतिमा है (पितरॉ पातड़ी जी, पितरॉ पातड़ीजी)।

कुलस्त्रियों के द्वारा महता समारम्भ से यह पितृप्रतिमास्थापन कर्म्म सम्पादित हुआ है। इस कर्म्मकाल में सब स्त्रियों (सौभाग्यवती स्त्रियों) सावधान बन जाती हैं। दीपक को सँभालती हैं,

---

❀ हमारी कुलदेवी जहाँ वटवासिनी है, वहाँ विभिन्न अन्य कुलों की मान्यता के अनुसार विभिन्न भी कुलदेवियाँ हैं। कुलदेवी का सामान्य नाम है–**'ध्याड़ी माता'**। अतएव जिस अवसर पर कुलदेवी का कौलिक नाम स्मृत नहीं होता, वहाँ 'ध्याड़ी' अभिधा का सन्निवेश हो जाता है। 'ध्यात–ध्यान' ही 'ध्याड़ी' शब्द के निर्वचनार्थ हैं।

÷—गोधूमचूर्ण को घृत में परिपक्व कर (गेहूँ के आटे को घी में सेक कर) उस में गुड़ मिला कर जो मोदक बनाया जाता है, उसे 'कसार' कहा गया है। घृत इसमें नाममात्र ही रहता है। अतएव यह कठिनावयव रहता है। अतएव यह 'करड़–कठिनावयव–कसार' कहलाया है। यह गुड़ के सम्बन्ध से माङ्गलिक माना गया है। अतएव विवाह में भी माङ्गलिक दानपरिग्रहों में 'सूत मगद का लाडू' रूपसे सूत मोदक का (करड़कसार मोदक का) ग्रहण हुआ है।

[अ]--(१) प्रपितामह (२) पितामह (३) पिता (श्रीबालचन्द्र), ये तीनों मुख्य माने गए हैं। तीनों के भावनात्मक संग्रह के लिए ही (१) **'पट्टप्रतिमा–पितृप्रतिमा–पितरप्रतिमा'** इन तीन वाक्यों का सन्निवेश हुआ है (देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण–२।६।३।३)।

मेंहदी लगाती हैं, अञ्जन आँजती हैं। इस प्रकार मर्त्यलना सर्ज्जीभूत बन कर, मङ्गलभावापन्न बन कर प्रतीमास्थापन कर्म्म करती हैं, और यही मुख्य पितृकर्म्म का अन्तिम कर्म्म माना गया है कुलस्त्रियों की मान्यता में। तदनन्तर शेष रात्रि में स्त्रियों की सहज भावुकता से सम्बन्धित-सहज आमोद-प्रमोद-भावनिबन्धन अन्यान्य लोकगीत गाए जाते हैं, जिनमें से कुछ को तो रहस्यपूर्ण ही माना जायगा। दीपकके गीत, कज्जलके गीत, मेंहदीके गीत, आदि विशेष महत्त्व रखते हैं। इन गीतों की परोक्ष व्यञ्जना भी बड़ा ही महत्त्व रखती है, जिसे विस्तारभिया यहाँ समाविष्ट नहीं किया गया है। प्रतिमास्थापनान्त अष्ट महासङ्गीतों के अनन्तर गाए जाने वाले सम्पूर्ण शेष गीतों को हम 'परिशिष्ट गीत' कहेंगे, एवं इन सबकी समष्टिरूपा नवम विभाग माना जायगा, जो नवम संख्या अपनी अपूर्णता से-'नवो नवो भवति जायमानः' के अनुसार चान्द्रसर्ग को सदा प्रक्रान्त रक्खा करती है। प्रसङ्गोपात्त संख्यासम्पत् के सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर देना सग्राह्य ही माना जायगा श्रद्धालुओं की श्रद्धापूत दृष्टि में।

"प्राणतत्त्व जिन जिन संख्याओं में प्रकृतिमण्डल में विभक्त हैं, प्राणानुगत पार्थिव भूतों की उन उन संख्याओं के साम्य से तत्-संख्यासमतुलित प्राकृतप्राणसम्पत् स्वत ही प्राप्त हो जाती है यह नैगमिक रहस्य है। उदाहरण के लिए यदि इन्द्रदेवता के लिए महदुक्थात्मिका अन्नाहुति दी जायगी, तो मन्त्रसंख्या ८० होगी। ८० संख्या का सूचक शब्द है 'अशीति'। इधर यही शब्द 'अन्न' का भी सूचक बन रहा है। इसी आधार पर 'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अस्सी मन्त्र, अस्सी अक्षर, अस्सी पदार्थ, इस प्रकार अशीतिसंख्या देवान्नसम्पत् की समाहिका बन जाती है। इष्टियाग में दस पात्र दो दो का युग्म बनाकर रक्खे जाते हैं। दशसंख्या से प्राकृतिक दशाक्षर विराड्यज्ञ-सम्पत् का संग्रह हो जाता है, एवं युग्मसंख्या से दाम्पत्यभावानुगत प्रजननसम्पत् का संग्रह हो जाता है*। शतपथविज्ञानभाष्य में यत्रतत्र सर्वत्र इस संख्यासम्पत् के समन्वय के द्वारा ही यज्ञरहस्य का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। क्या लोकमान्यतानुगत रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्म में भी निगमानुगत संख्यासम्पत् का आम्नाय प्रतिष्ठित हुआ है ?, प्रश्न है।

यदि महासङ्गीतों का समन्वय पूर्ववर्णनानुसार निगमाम्नायप्रामाण्य-सम्पत् से सर्वात्मना सतुल है, तो अवश्य ही संख्यासम्पत्-दृष्टि से भी महासङ्गीत समष्टि को सम्प्रदायाम्नायप्रामाण्य से सतुल

---

*"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शूर्पं च, अग्निहोत्रहवणीं च। स्फ्यं च, कपालानि च। शम्यां च कृष्णाजिनं च। उलूखल-मुसले। दृषद्-उपले। तद्दश (१०)। दशाक्षरा वै विराट्, विराड् वै यज्ञः। तद्विराजमेवैतत्-यज्ञमभिसम्पादयति। अथ यद् द्वन्द्वं-द्वन्द्वं वै वीर्य्यम्। यदा वै द्वौ संरभेते, अथ वीर्य्यं भवति। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम्। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते"

—शत० १।१।१।२२

पैत्रमहासङ्गीतानुगता–संख्यासम्पत्–(परिलेखः)–(पितृप्राणात्मकः–महानात्मानुगतः सङ्गीत एव महासङ्गीतः)।

क्रम संख्या	महासङ्गीत–अभिधा (नाम)	महासङ्गीतानुगत–आरम्भकप्रतीक	महासङ्गीत पद्यावयवसंख्या	पद्यानयसंख्यासम्पत्	
(१)	कुलदेवीसंस्मरण	"ॐ श्री आज म्हार अन धन०" (२३२ पृष्ठ)	एकादश [११]	रुद्रसम्पत [११]	मनोऽनुबन्धिनी–शरीरसङ्कुला सर्वसम्पद्व्याप्तिः– चान्द्रे यानेन लोकानिन्यन्तपितृकर्मणा (चान्द्री)
(२)	कुलदेव्यातिथ्य	"माथान मेंमंद परल्यो म्हाराएयो म०" (२५१)	एकादश [११]	रुद्रसम्पत [११]	
(३)	दुग्धदोहन	"धोली सी धूमर म्हारी कपला सी गाय" (२५५)	अष्ट [८]	पार्थिवगायत्रसम्पत [८]	
(४)	पितृ–आतिथ्य	"काग का तोला श्रो काग की टॉडी" (२ ६)	अष्ट [८]	पार्थिवगायत्रसम्पत् [८]	
(५)	पितृपरिवारस्तुति	"म्हारा माथान मॅंदमंद ल्यायो सा, दिक्खण०" (२६४)	चतुर्दश [१४]	पितृपरिवारसम्पत् [१४]	
(६)	पितृगमननिरोध	"बाप बरज भोमियाँ थाँकी माय बरज जी०" (२७८)	अष्ट [८]	गायत्रसम्पत् [८]	
(७)	जुलसतीसंस्मरण	"सती के दरबार, चम्पा फूल रही म्हारी माय०" (२८१)	षट् [६]	षड्ऋतुसम्पत [६]	
(८)	पितृमूर्त्तिस्थापन	"म्हारा राय म्वातीका र, वृतो चतर सुजान०" (२८७)	षट् [६]	षट्पितृसम्पत् [६]	
अष्टपद्यानुगता–संख्यासम्पत् का संकलन—८ गायत्रसम्पत्–पैत्रसम्पत पितरः प्राकृतिकाः–गायत्राः–अधिदैवतम् (अधिदैवतसम्पत्संग्रहः)			पद्यावयवानुगतासंख्यासम्पत् का संकलन–७२ प्राणनाड्य–अध्यात्मम् (अध्यात्म-सम्पत्संग्रहः)		
(८०) "अशीतिभिर्महदुक्थ-माप्यायते" इत्याहुर्नैगमिकाः	८ पैत्रसम्पत्–अधिदैवतानुगता, एवं ७२ प्राणसम्पत्–अध्यात्मानुगता, संकलनेन ८+७२–"८०" सम्पत्–'अशीतिः अन्नसम्पत् अन्नसम्पत्प्रदानात्मकमहासङ्गीतपरम्परया पितृतुष्टिः–पितृतृप्तिः, पितृसम्पद्वाप्तिश्च अन्यान्यदेवपितृभावानुगत–अग्रसंख्यामित–लोकगीतसमन्वयात् षोडशकलोपेत–प्राजापत्यसम्पद्वाप्तिश्च				

पितृकर्मनिबन्धना-लोकमान्यतानुगता-अन्नपितृप्राणसन्तर्पिका-रात्रिजागरणप्रधाना-कुलस्त्रीवर्ग-सम्पादिता-अष्टमूलपद्यात्मिका-द्वासप्तति (७२) पद्यावयवस्वरूपा महासङ्गीतमयी पावनस्मृति प्रक्रान्त 'गयाश्राद्ध' कर्म्म के आभ्यन्तर में ही प्रसङ्गानुरूपेण से शुचिभावापन्न श्रद्धालु मानव की श्रद्धावृद्धि-श्री-वृद्धि की कामना से यहाँ अपनी अस्तव्यस्त-असम्बद्ध-किन्तु श्रद्धापूत-स्मृति के आधार पर गृहप्रतिष्ठालक्षणा कुलदेवी के निःसीम अनुग्रह से समुपस्थित की गई, जिसे स्मृत्वा स्मृत्वा 'रोमहर्षः प्रजायते'।

उपरता चेयं महासङ्गीतनिबन्धना पावनस्मृतिः
पितृकर्म्मनिबन्धना
प्रासङ्गिकी

—:※:—

पावनस्मृति के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकी तटस्थ आलोचना, और तत् समाधान—

अभी एक प्रासङ्गिक चर्चा और शेष रह गई है, जो प्रासङ्गिक चर्चा युगधर्म्मानुगत वर्त्तमान भौतिक युग की अपेक्षा से, भूताविष्कारपरम्परानुग्रह से केवल भूतपरायण भूतनिष्ठ-भूताविष्ट-(मनोगर्भितशरीरपरायण-शरीरनिष्ठ-शरीराविष्ट) बन जाने वाले वर्त्तमान विज्ञानवादी (क्षणिक-भूत विज्ञानवादी) नराभासवर्ग की अपेक्षा से अपना एक विशेष, निरतिशयरूपेण विशेषतर-विशेषतम महत्त्व रख रही है। सुनिए तो सावधान होकर अपनी सहजश्रद्धा को अश्मखण्डवत् (पाषाणशिलावत्) सुस्थिर-अविचलित बनाए रखते हुए उस अश्रद्धामूला वैकारिकभूतसर्गनिबन्धना प्रासङ्गिक चर्चा-आलोचना का इतिवृत्त, जो सहसा पूर्वप्रतिपादित पावनस्मृति की ही भाँति आप जैसे श्रद्धालुओं के मुख से भी 'रोमहर्षश्च जायते' भाव एकबार तो वैखरी-द्वारा अभिव्यक्त करा ही देगा।

"मृतात्मा के लिए गयाश्राद्ध न कराने से औपपातिक महानात्मा, तदनुगत वायव्य हंसात्मा मुक्त नहीं होगा। बद्ध-रुष्ट महानात्मादि-हंसात्मादि पितर तद्वंशजों को अपत्य-सम्पत्-श्रीविहीन करते रहेंगे। रात्रिजागरणद्वारा लोकनिबन्धन पितृकर्म्म के बिना गृह्य पितर अप्रसन्न हो कर काय-प्रवेश द्वारा पारिवारिक व्यक्तियों को उत्पीड़ित करते रहेंगे। अतएव कुलस्त्रियों के द्वारा महासङ्गीत के माध्यम से यथासमय-यथापर्व अन्य देवकार्यों की भाँति इन गृह्य प्रेतपितरों की भी अन्नप्रदान-द्वारा तुष्टि तृप्ति प्रक्रान्त रहनी ही चाहिए। अन्यथा ये भी कुलस्त्री-सम्पत्-सन्तति-सौख्य-के उत्पीड़क-विनाशक-बनते रहेंगे। ये प्रेतपितर श्मशानस्थ 'स्मशा' नामक प्रेतदेवता के द्वारा सञ्चालित रहते हुए इतस्ततः आकाश में-वट-पिप्पलादि वृक्षों में-पुरातन शून्य गृह-कन्दराओं में-मध्याह्न में, सायंकाल-मध्यरात्रि में-स्मशानभूमि में-चतुष्पथ में विविधाकारों में परिणत रहते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं। सुगन्धिद्रव्य (इत्र-पुष्पमाला आदि) लगा कर पहिन कर, क्षीरान्न-मिष्टान्नादि खा पीकर

उक्त स्थानों में उक्त समयविशेषों में घूमने फिरने विश्राम करने वाले बालकों पर स्त्रियों पर तत् स्थानीय प्रेतों का आक्रमण होना सम्भव है, जिस इस आक्रमण से इनका विविध उत्पादादि रोगों से आक्रान्त बन जाना भी सम्भव है। अतएव परिवार के प्रज्ञाशील (समझदार) स्त्री पुरुषों को अपने अपने पारिवारिक बच्चों को, नववयस्का-विशेषतः ऋतुमती, सगर्भा स्त्रियों को उक्त स्थान-उक्त समयविशेषों में गमनागमन से बचाते रहना चाहिये"।

इत्यादि इत्यादि पूर्वोक्तलक्षण जिस भूत-प्रेतबाधापरम्परा का पार्वण-महालय-क्षयाह-गयाश्राद्धादि श्राद्धपरम्परा का ऋणमोचनोपायोपनिषत् से आरम्भ कर पूर्वोपवर्णित 'महासङ्गीत की पावनस्मृति' नामक प्रासङ्गिक प्रेतपितृकर्म्म पर्य्यन्त जो स्वरूप विश्लेषण हुआ है, इसकी प्रामाणिकता के लिए जो जो निगमागम-प्रमाण-आम्नायपरम्परा-बड़े आटोप के साथ उपवर्णित हुई है, इसके माध्यम से भावुक श्रद्धालु मानववर्ग में जो भय-कम्पन-उत्पन्न करने का प्रयास हुआ है, यह अवश्य ही एतद्देशीय-परम्परा आम्नायभक्त (रूढ़िभक्त) धर्म्मभीरू भारतीय आस्तिक भावुक मानव के लिए ही श्रद्धा का विषय बन सकता है, सदा से ही बनता चला आ रहा है। किन्तु इन सब प्रवादों का वर्त्तमान युग के उस तटस्थ आलोचक की दृष्टि में क्या महत्त्व शेष रह जाता है, जिसकी बुद्धि ने, प्रज्ञाशीला मनीषा ने प्राकृतिक तत्त्ववादानुशीलनपरम्परा के, तर्क-युक्ति, सर्वोपरि विज्ञानपरीक्षणपरम्परा के प्रामाण्य माध्यम से सम्पूर्ण प्राकृतिक तत्त्ववाद के वास्तविक-तथ्यात्मक-स्वरूपज्ञान के द्वारा तथाविध केवल शब्द प्रामाण्यानुगत-सर्वथा अपरीक्षित-मान्यता-परम्पराओं की निःसारिता-अनुपयोगिता-परतकता का इतिहास जान लिया है, सर्वात्मना पहिचान लिया है। ऐसे प्रज्ञाशील मनीषी तटस्थ वैज्ञानिक की ओर से यदि निम्नलिखित आलोचना-परम्परा उपस्थित होती है हम केवल प्रमाणभक्तों के सम्मुख, तो उसका हमारी तर्क-युक्ति-विज्ञानशून्या जड़ श्रद्धा-अन्धश्रद्धा क्या समाधान करेगी?, एवं हम तथा हमारी काल्पनिक ? मान्यता परम्परा, दोनों ही कैसे सुरक्षित रह सकेंगे उन तटस्थ आलोचकों की तर्क-विज्ञानसम्मता तटस्थ आलोचना की प्रतिद्वन्द्विता में, जिस तटस्थ आलोचना का स्वरूप वर्त्तमान युग में न केवल पठितवर्ग के लिए ही, अपितु सर्वसाधारण के लिए भी सर्वथा सुलभ बन गया है।

"अहोरात्र देखते हैं, देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं हम मुकुलित नयन बन कर कि, जो प्रगतिशील मानवजातियाँ शास्त्रप्रमाणानुमोदित श्राद्धादि परम्परा के नाममात्र से भी परिचित नहीं हैं, 'पञ्चमहाभूतविज्ञानान्वेषण' के अतिरिक्त जिनके कोश में 'भूत-प्रेत' नाम का कोई कल्पित पदार्थ समाविष्ट नहीं है, जो सपरिवार-सबन्धुबान्धव सर्वत्र स्वैराचारेण निर्भयरूपेण विचरण करते रहते हैं, जिनके परमसौम्य बालवृन्द, अनन्यसौम्य नारीवृन्द सर्वत्र सब कालों में सब कुछ स्वच्छन्दरूप से अशन-पान करते हुए अपने मानवजीवन को धन्य बना रहे हैं, जाग्रदवस्था की कौन कहे,

स्वप्नावस्था में भी तो वे भूत-प्रेत-पितर-भैरव-देवी-यक्ष-गन्धर्वादि स्पर्श भी तो नहीं कर पाते उनका, जिन भूत प्रेतादि की मान्यता से भारतीय परिवार अहर्निश विकम्पित बने रहते हैं। इतनी दूर अनुधावन करने की क्या आवश्यकता है, जबकि हम हमारे ही देश में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति आदरभाव सुरक्षित रखने वाली कतिपय जातियाँ वैसे स्थानों में न केवल भ्रमण हीं करतीं, अपितु वे श्मशानस्थान-शून्य चैत्यादि स्थान ही उन जातियों के अहोरात्र के निवास स्थान बने हुए हैं जहाँ गमनमात्र से हम नागरिकों के, श्रद्धालु-शास्त्रभक्त नागरिकों के—बच्चे, और स्त्रियाँ विकम्पित होते रहते हैं। स्वयं हमारे धर्म्मशास्त्र ने कतिपय वैसी जातियों का उल्लेख किया है, जो शास्त्रीय विधिपूर्वक श्मशानादि स्थानों में हीं सपरिवार यावज्जीवन तत्रैव निवास करतीं हैं *। श्मशानकर्माहिणी सुप्रसिद्ध 'महाब्राह्मणजाति' (कट्टा) सपरिवार चिताओं से सलग्न गृहों में ही सुख शान्तिपूर्वक निवास करती है। इनके दुधमुँहे बच्चे श्मशानचिता के आस-पास क्रीडा कौतुक करते हुए यहाँ प्रेतकर्म्मनिबन्धन आगत-दुग्ध-मिष्टान्न-चाँवल से अपनी रसना को रसान्वित करते रहते हैं, और श्मशानवासी भूत-प्रेतगण, किंवा वेदाम्नायसिद्ध श्मशानशवानुगत घोरघोरतम 'श्मशा' देवता इनकी ओर भ्रूविक्षेप भी तो नहीं कर सकते। कहना, और मानना पड़ेगा, कहना चाहिए, और मानना चाहिए कि, शास्त्रीय आम्नायप्रामाण्य पर अवलम्बित श्रद्धापूर्वक विहित सर्वविध श्राद्धादि और्ध्वदैहिक कर्म्म, भूतप्रेतावेश-भूतप्रेतबाधा-सब कुछ विज्ञानदृष्ट्या हम वर्त्तमान वैज्ञानिक युग में सर्वात्मना आलोच्य, अतएव अप्रामाणिक, अतएव नितान्त उपेक्षणीय ही हैं। अन्धश्रद्धालु-गतानुगतिक स्त्री समाज (सो भी भारतीय अपठित स्त्रीसमाज) के अतिरिक्त एवं तत्समानधर्म्मा जड़मति मानववर्ग के अतिरिक्त कोई भी प्रज्ञाशील मानव युक्तिविज्ञानतर्कशून्य ऐसी काल्पनिक मान्यताओं के प्रति, काल्पनिक शास्त्रभक्ति के प्रति यत्किञ्चित् भी आस्था नहीं रख सकता, नहीं रख सकता, नहीं रखनी चाहिए। प्रत्यक्षप्रमाणानुगत तथाकथित कुछ एक लौकिक निदर्शनों के माध्यम से ही जब कि आपकी शास्त्र मान्यता का सुदृढ़ दुर्ग सर्वात्मना विकम्पित है, तो इस सम्बन्ध में विज्ञानानुमोदित अन्य तर्क-कारणों का माध्यम इसलिए (हम आलोचक) सर्वथा व्यर्थ ही मान रहे हैं कि, निस्तत्त्व-निरर्थक-चर्चा में अपनी विज्ञानबुद्धि का दुरुपयोग करना तटस्थ आलोचकों का काम नहीं।"

"आलोचनाप्रसङ्गे—'ओम्' इत्येतदुवाच श्रद्धालुरयम्"

अक्षरशः तटस्थ आलोचकों की उक्त आलोचना इसलिए शास्त्रभक्त आम्नायप्रामाण्यवादी श्रद्धालु के लिए मान्य होगी कि, आस्तिक श्रद्धालु केवल 'विधिवाद' का ही समर्थक है। वह 'हाँ' करना ही जानता

---

* निषादस्त्री तु चाण्डालात्-पुत्रमन्त्यावसायिनम्।
'श्मशानगोचरं' सूते बाह्यानामपि गर्हितम्॥ मनु १०।३९।

है, 'ना' करना नहीं। 'निषेधभाव' उसकी अस्तिभावानुगता विधि से सर्वथा तटस्थ है। अतएव आलोचकों की आलोचना का सर्वात्मना अन्तःकरण से समर्थन करते हुए, उनकी विज्ञानानुमोदिता भावुकतापरम्परा को सुरक्षित रखते हुए ही हम उनकी तटस्थ आलोचना का तटस्थरूप से ही समाधान करने का सामयिक प्रयास करने की चेष्टा करेंगे।

समाधान से पूर्व कुछ एक प्रतिप्रश्न हैं हमारी ओर से उन तटस्थ आलोचकों की आलोचना-लिप्त प्रश्नपरम्परा के सम्बन्ध में। जो असभ्य-असंस्कृत-मूर्ख-यथाजात-मानव मानवसर्ग के आरम्भ युग से वर्त्तमान युगपर्य्यन्त सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा-नीति-धर्म्म-विज्ञान-तत्त्वमीमांसा-आचारमीमांसा-मनोविज्ञान-आदि आदि से सर्वथा अपरिचित रहते हुए, पशुवत् केवल आहारनिद्राभयमैथुनपरायण ही बने रहते हुए, पशुसमान ही जीवनयापन करते हुए 'जायस्व-म्रियस्व' (पैदा हो जाओ, और मर जाओ) को ही अपने मानवजीवन का परमपुरुषार्थ मानते चले आ रहे हैं, उनकी दृष्टि में क्या संस्कृति-सभ्यता आदि से सम्बन्धित विधि-निषेध (नियम और अपवाद) का कोई महत्त्व है ? । क्या मानव ही एकमात्र प्राकृतसर्ग का प्राणी है ? । क्या मानवेतर पशु-पक्षी-कीट कृमि-आदि प्राकृतिक सर्ग के प्राणी नहीं हैं ? । क्या इन पश्वादि प्राकृतिक प्राणियों के लिए, इनके समुद्धार के लिए, इन्हें सुसंस्कृत-शिक्षित-सभ्य बनाने के लिए प्राकृतिक विज्ञानवादियों ने आज तक कोई वैसा सफल प्रयास किया है, जिसके द्वारा इनकी आकृति-भाषा-व्यवहार मानवसदृश बन गया हो ? । मीमांसा कीजिए अपनी तर्क-युक्ति-सम्मता विज्ञानदृष्टि से इन प्रतिप्रश्नों की। मीमांसा से आप जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, अनुग्रह कर उससे हमें भी कृतकृत्य कीजिए !

प्रकृतमनुसरामः। अवश्य ही अमुक जातियाँ श्रद्धादिकर्म्म-भूतप्रेतमान्यता-आदि से असंस्पृष्ट रहतीं हुई भी अपने ऐहलौकिक सुखोपभोग में-अपत्य-कलत्रपरम्परा से आज सर्वाग्रणी, विशेषतः मान्यतानुगामिनी आस्तिक वर्त्तमान भारतीय हिन्दूजाति की अपेक्षा से तो अवश्य ही सर्वसुखोपेता प्रमाणित हो रहीं हैं। और ऐसी समस्या आज ही कोई नवीन नहीं है। पुरायुग (वैदिकयुगात्मक देवयुग) में भी यह समस्या ठीक इसी रूप से आस्तिक भारतीय मानव के सम्मुख उपस्थित हुई थी उस युग के विज्ञानपरायण लोकसुखानुगत-भारतीय आस्तिक-मान्यताओं के अन्यतम प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी-मानव-समाज के समतुलन में। श्रुतिसिद्ध यज्ञकाण्ड पर, देवयजनकर्म्म पर, पितृयजनकर्म्म पर उस युग में आस्तिक मानव की पूर्ण श्रद्धा थी। किन्तु जब इसने यह देखा, और यह अनुभव किया कि, "जो जातियाँ हमारे शास्त्र पर अणुमात्र भी विश्वास-श्रद्धा न कर केवल अपने बुद्धि-विज्ञानबल पर लोको-पत्तिमूलक भौतिक कर्म्मों में परायण हैं, वे हमारी अपेक्षा विशेष समृद्ध हैं। इधर श्रद्धापूर्वक देव-पितृयजनकर्म्म में अहोरात्र तल्लीन हम भारतीय परलोक सुख की कौन कहे, ऐहलौकिक सुख से भी वञ्चित हैं"। इसी समतुलनभावानुग्रहेण उत्पन्ना तात्कालिक अश्रद्धा से उस युग का भारतीय आस्तिक

मानव देवपितृकर्म्म से विमुख बन गया, जिस पुरायुगानुगता ऐतिहासिक घटना की ब्राह्मणग्रन्थों में—"अश्रद्धा वै मनुष्यान् विवेद । य उ यजन्ते (भारतीयद्विजातयः), ते पापीयांसः । य उ न यजन्ते (अभारतीयाः), ते श्रेयांसः । किंराम्या यजेमहि" (शतपथ ब्रा० ११।२।३।२४) इत्यादिरूप से विस्तार से मीमांसा हुई है * ।

पुरायुगानुगता मीमांसा परम्परा युगधर्म्मानुपात से उसी प्रकार पुन पुन नवीन नवीन इतिहास का निर्म्माण किया करती है, जैसे कि विवस्वद्युग में उद्भूता राजर्षिविद्यानुगता बुद्धिनिष्ठा लोकभावुकता नुगता मीमांसा से आक्रान्त होती रही है, एवं युग युग में पुन पुन उसका नैष्ठिक आचार्यों के द्वारा आविर्भाव होता रहा है । 'स कालेन महता योगो नष्टः परन्तप !, स एव मयातेऽद्य' (गीता०) प्रसिद्ध ही है । यही अवस्था इतिहासपुराणयुक्त वेदशास्त्र के सम्बन्ध में घटित होती रहती है + । उसी पूर्वघटना का आज के इस विज्ञानयुग में पुनरावर्त्तनमात्र है, जो आनर्त्तेन शाश्वत 'देवासुरसंग्राम पर्व' शाश्वत ही माना गया है । अतएव इससे यत्किञ्चित् भी विकम्पित होना पूर्ण मानव की सनातननिष्ठा के लिए कदापि श्रेय पन्था नहीं माना जा सकता । देवता 'देवता' ही रहेंगे, असुर 'असुर' ही रहेंगे। अवश्य ही दोनों की प्रतिद्विन्द्वता में 'बलं सत्याद्दोजीयः' इस प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार आरम्भ में कुछ समय के लिए (जब तक कि मानव-भारतीय मानव-किंवा विश्वमानव में देवभाव-उद्बुद्ध नहीं हो जाता, तब तक के लिए) मानव असुरबल से पराजित-सा होता हुआ अपने आपको अनुभव करने लगता है । किन्तु अन्त में 'सत्यमेव जयते, नानृतम्' के अनुसार विजयश्री का अधिकारी मानव का देवभाव ही बना करता है । ठीक इसके विपरीत अवश्य ही आसुरी-भौतिक बुद्धि का अभिमानी मानव अपने भूतबल के तात्कालिक मायामय विस्तार से भूतसमृद्धि का अनुगामी बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है । किन्तु यही भूताभिमान मानव के देवभाव को सर्वात्मना आवृत कर अन्ततोगत्वा उसी प्रकार इसके समूलविनाश का कारण बन जाता है, जैसे कि—'ते ह असुरा अतिमानेनैव पराबभूवुः' (शत० ५।१।१।१) इत्यादि के अनुसार देवों की प्रतिद्विन्द्वता करने वाले अभिमानी असुर सर्वात्मना निर्म्मूल बन जाया करते हैं ÷ ।

---

* 'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' निबन्धोपक्रम में इस आख्यान का विस्तार से विश्लेषण हुआ है ।

\+ युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा ॥
——पुराण

÷ अधर्म्मेणैधते पूर्वं—ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥
——मनु

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इसलिए कि, तटस्थ आलोचक, विज्ञानवादी आलोचक हमारे पूर्वोद्गारों से इस तथ्य के अनुगामी बनते जारहे होंगे कि, आलोचना का युक्ति-तर्क-विज्ञानसम्मत समाधान तो श्रद्धालु-आस्तिक के कोश में है नहीं। अपितु-'शेषं कोपेन-पूरयेत्' न्याय से यह उसी शास्त्र-प्रामाण्य की घोषणा का अनुगामी बनता हुआ उन हम-आलोचकों की प्रतारणा से गतानुगतिक अन्धवर्त्मा अपने मूर्ख अनुयायियों को तुष्टमात्र करना चाहता है, जो तटस्थ आलोचक बिना युक्तितर्कसम्मत विज्ञानवाद के केवल-काल्पनिक शास्त्रव्यामोहन से स्वप्न में भी प्रभावित होना नहीं जानता। इस स्थिति का अनुभव कर रहा है स्वयं यह श्रद्धालु भी अपने अन्तर्जगत् में। किन्तु इस स्थिति से यह चिन्तित इस लिए हो रहा है कि, यह भूतविज्ञानवाद से सर्वथा अपरिचित है, एवं अपरिचित है भूतविज्ञानवादियों की सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा-धर्म्म (मत)-नीति-आचार-विचार-प्रणाली से। इसी सहजचिन्ता ने स्थिति-परिस्थिति-के जानकार भी इस श्रद्धालु को हत-प्रभ बन रक्खा है। इन के समीप तो इस चिन्ताविमुक्ति का एकमात्र यही शास्त्रसम्मत समाधान है कि—'

१—पाषण्डिनो विकर्मस्थान्-वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ (मनु० ४।३०।)

२—या वेदबाह्याः स्मृतयः-याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ (मनु० १२।९५।)

३—उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया 'निष्फलान्यनृतानि च'॥ (मनु० १२।९६।)

४—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ॥ (मनु० २।१०।)

तस्मात्—

५—योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ (मनु० २।११।)

निष्कर्ष उक्त सारों वचनों का यही है कि, "जिस विधि-आम्नाय-मान्यता का मूल श्रुति, एवं स्मृतिशास्त्र (निगमागमशास्त्र) है, उसके सम्बन्ध में किसी भी तर्क हेतु-विज्ञान-किंवा मीमांसा-आलोचना को कोई भी अवसर नहीं है। 'यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्'-यतो हि शब्दप्रमाणका वयम्' ही हमारा एकमात्र समाधान है। जो व्यक्ति तर्क-युक्ति-विज्ञानवाद को अग्रणी बना कर हमारी निगमागममूला आस्था श्रद्धा-मान्यता की आलोचना-प्रत्यालोचना करते हैं, साधू लोग

(दण्डकमण्डलुधारी वीतराग चतुर्थाश्रमी-तत्त्वचिन्तक तत्त्वोपदेष्टा आचार्य्य सन्यासी) उस वेदनिन्दक केवल हेतुवादी-तर्कवादी का सर्वात्मना वहिष्कार (उपेक्षा) ही कर देते हैं। और तो और, वे सन्यासी वैसे हेतुवादी-असद्युक्तिपरायण ×-वैडालव्रतिक-पाखण्डी-विकर्म्मस्थ (शास्त्रविरुद्ध निन्द्य-असत् धर्म्मानुगामी) का वाणी से भी सम्मान करना उचित नहीं मानते"।

क्या भारतीय शास्त्रनिष्ठा में तर्कवाद, युक्तिवाद, एवं विज्ञानवाद का उसी प्रकार प्रवेश निषिद्ध है, जैसे कि अभारतीयों के मतवादों में तर्क-युक्ति-विज्ञान-'कुफ्र' माना गया है ?। क्या इस प्रकार भयत्रस्त है भारतीयशास्त्र मतवादों की भाँति ही तर्क-युक्ति-विज्ञानवाद से ?। यहाँ हमे आपद्धर्म्मानुगता विधि की आज्ञा से सर्वथा अपवादरूप से 'नेति होवाच श्रद्धालुः' इस निषेध भाषा का अनुगामी बन ही जाना पड़ा, विवशतावश बन जाना पड़ा। कौन कहता है कि, भारतीय धर्म्म केवल उसी प्रकार 'मान्यता' मात्र है, जैसे कि इतर प्राकृतिक-युगधर्म्मानुगत मतवाद ?। कौन यह प्रमाणित करने का दु साहस कर सकता है कि, भारतीय श्रुतिस्मृतिसिद्ध धर्म्म के पावन-विशाल-शाश्वत-सनातन-विमल-प्राङ्गण में युक्ति-तर्क-हेतु-विज्ञानवाद का समावेश निषिद्ध है ?। अभी अनुपद में ही मनुश्लोकों के द्वारा हमने ही तो समावेश निषिद्ध बतलाया था। बतलाया था। बतलाना एक विशेषदृष्टिकोणसे अनिवार्य्य था, इसलिए बतलाया था, इसलिए तर्क-विज्ञानादि का प्रवेश निषिद्ध प्रमाणित किया था। जहाँ जिज्ञासा नहीं, केवल वितण्डावाद है, जहाँ तत्त्वबोध के लिए मीमांसासम्मत 'वाद' नहीं, जहाँ केवल 'वाद' के लिए 'वाद' है, निरर्थक वाद-विवाद है, शुष्क वाक्कलहमात्र है, अनृजुता है, अतपस्कता है, वहाँ तर्क-युक्ति-विज्ञानद्वारा शास्त्रनिष्ठा प्रमाणित भी यदि कर दी गई, तो अभिनिविष्टों का इस से कोई उपकार * सम्भव नहीं। हाँ, श्रद्धालु का समय अवश्य व्यर्थ प्रमाणित हो जाता है। इसका स्वय अपना अपकार अवश्य निश्चित बन जाता है। इसी दृष्टिकोण से भगवान् मनुने तर्कवादादि का प्रवेश निषिद्ध माना है। ठीक इसके विपरीत जो जिज्ञासाबुद्धि रखते हैं, सात्त्विक भाव से कुछ जानना चाहते हैं, अतएव जो तपस्क-ऋजुकाय-अजिह्म-श्रद्धालु हैं, उन के समाधान के लिए वे ही भगवान् मनु क्या कहते हैं ?, सुनिए !

(१)-प्रत्यक्षं-चानुमानञ्च-शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म्मशुद्धिमभीप्सता॥ (मनु १२।१०५।)

×-'अन्तःशाक्ताः-वहिःशैवाः-सभामध्ये च वैष्णवाः' को चरितार्थ करने वाले।

* "तद्ये ह प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोकः-येषां तपः, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः-न येषु जिह्मं, अनृतं-न माया चेति"।

——-प्रश्नोपनिषत् १।१६।

(१)–आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः ॥ (मनु १२।१०६॥)

तस्मात् –

(२)–नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !
'कारणात्' धर्म्ममन्विच्छन्–स लोकानाप्नुते शुभान् ॥

यत्र वादमूलक तर्क जहाँ 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (वे० दर्शन) रूप से उपेक्षणीय है, वहाँ तत्त्वविज्ञानमूलक तर्कवाद के लिए–'यस्तर्केणानुसन्धत्ते'–'कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन्' इत्यादि घोषणाएँ हुई हैं। और फिर केवल विधि-निषेधसमारक * धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) का यह उत्तरदायित्व है भी कहाँ ? जो प्रभुसम्मत राजाज्ञासमतुलित-वेदशास्त्र के रहस्यपूर्ण-विज्ञानपूर्ण-तर्कयुक्तिसम्मत विधि-विधानों में हेतुवाद का समन्वय करे। यह उत्तरदायित्व तो एकमात्र है रहस्यपूर्ण वेदशास्त्र का ही। दुर्भाग्यवश कतिपय शताब्दियों से वेदशास्त्र की आम्नायसिद्धा तत्त्वविज्ञानपरिपूर्णा अध्ययनाध्यापनप्रणाली विस्मृत कर दी भारतीय विद्वानोंने। लक्ष्य बने रह गए इनके प्रधानरूप से केवल स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, एवं आचारमीमांसाशून्य केवल शुष्कज्ञानानुगत तत्त्वमीमांसात्मक दर्शनशास्त्र। आज तो यह लक्ष्य भी सर्वात्मना विस्मृत बन चुका है। आज तो लक्ष्य बन गए हैं अर्वाचीन शुष्क नव्यन्यायग्रन्थ, मनोरमादि वादात्मक-व्याकरणग्रन्थ, एवं मानसिक दुर्बलताओं को प्रोत्साहित करने वाला काव्य-साहित्यप्रपञ्च। आज तो यह स्खलित ग्रन्थनिष्ठा भी पलायित है। आराध्य है आज के युग में तो सर्वलक्ष्यशून्या केवल 'नामभक्ति'। नैगमिक आम्नाय गया, स्मृतिशास्त्र विलुप्त हुआ, इतिहास (महाभारत) पुराण विस्मृत बने, ज्ञानमीमांसात्मक दर्शनशास्त्र स्मृतिगर्भ में विलीन हुआ, नव्यन्यायग्रन्थ पलायित हुए, परिष्कारसमाकुलित व्याकरणवाद अस्त हुआ, मनोऽनुरञ्जक काव्यसाहित्य परा परावत बना, रह गया केवल वह 'हरे राम–हरे राम', जो मुमूर्षु (मरणासन्न) मानव

(३०० पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां (आत्ममर्चां) योऽभ्यसूयति ॥ (गीता १८।६७॥)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्म्मणाम् ॥ (गीता १८।७१॥)

* श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। (मनु २।१०।)

की भाषा मानी गई है ÷। इस प्रकार 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली यह स्खलनपरम्परा अभी भारतीय विद्वानों को और कहाँ ले जाकर निःशेष बना देनी वाली है ?, प्रश्न के संस्मरण से भी आज हम विकम्पित हैं।

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र की आत्यन्तिक उपेक्षा का ही यह दुष्परिणाम है कि, हमारा आस्तिक सम्प्रदायवाद भी मनोऽनुभूत्यात्मक भक्तिकाण्ड से आविष्ट बनता हुआ प्रत्यक्षरूप से वेदसिद्ध नैगमिक आम्नायप्रामाण्य पर प्रतिष्ठित चतुर्दशविध चान्द्र भूतसर्ग के तात्त्विक स्वरूप से अपरिचित रहता हुआ 'पितृपरिवार' के स्वरूपज्ञान में कुण्ठित बन गया है। अतएव जिसने रुद्रविभूत्यात्मक भैरव-भौमपार्थिव पितर (भोमियाँ)-महावीरादि-मान्यताओं का विस्पष्ट-शब्दों में उपहास-उपेक्षा करने में ही अपने कल्पित भक्तिकाण्ड के संरक्षण का अनैकान्तिक उपाय मान लिया है। अपने आपको सनातनधर्मसंरक्षक-आस्तिकमूर्द्धन्य घोषित करने वाले भारतीय सम्प्रदायवाद की जहाँ ऐसी काल्पनिक प्रज्ञा बन गई है, तो उन अन्य तटस्थ आलोचकों के सम्बन्ध में हम क्या आलोचना करें, जो भारतीय वर्णमाला से, भारतीय भाषा की मौलिक व्यञ्जना से भी सर्वात्मना असंस्पृष्ट बने हुए हैं। यह सर्वविधा आपातरमणीयता सम्बन्धित है वेदाम्नाय-के परित्याग से, उस वेदाम्नाय के परित्याग से, जो प्रत्येक विधि को विधि के साथ ही ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना रहस्यपूर्णव्याख्या का समन्वय करना अपना मुख्य लक्ष्य मानता है। ऐसा करो !. कहने के साथ ही 'तत्—यत्-कृष्णाजिन-मादत्ते- (तदुच्यते—तस्य कारणमीमांसा क्रियते)' इत्यादि रूप से उस विधि की वैज्ञानिक मीमांसा करके ही अग्रगामिनी बनती है। अतः स्मार्त विधिभावों की प्रकारणमीमांसा-विज्ञानमीमांसा-आचारमीमांसा-से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के वैज्ञानिक समाधान का उत्तरदायित्त्व एकमात्र वेदशास्त्र पर ही अवलम्बित है। धर्म्म का धर्म्मत्त्व, कर्म्म-का कर्म्मत्त्व, मान्यता का मान्यतात्त्व, सब कुछ विज्ञानद्वारा वेदशास्त्र में समाहित है। देखिए! स्वयं स्मार्ताचार्य्य इस सम्बन्ध में अपने क्या मनोभाव अभिव्यक्त कर रहे हैं—

(१)—चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं-भव्यं-भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ (मनुः १२।९७।)

(२)—शब्दः-स्पर्शश्च-रूपञ्च-रसो-गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते, प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥ (मनुः १२।९८।)

÷—वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेर्विहीनाश्च पुराणपाठकाः।
पुराणहीनाः कवयो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता (नामसंकीर्त्तनपरायणाः) भवन्ति ॥
अपहाय निजं धर्म्मं 'रामकृष्णेति' वादितः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः, धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥
—स्मृति
झञ्झातालमृदङ्गवाद्यनिरता दासाः कलौ वैष्णवाः (नामभक्ताः)।
(गन्धर्वाप्सराप्राणप्रधानाः—नृत्य—गीत—वादनचतुराः)

(३)—बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ (मनुः १२।९९।)

(४)—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते ।
"धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" ॥ (मनुः २।१३।)

तस्मात्—

(१)—वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्म्मं—उपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनुः ४।१४७)

(२)—वेदमेव सदाभ्यस्येत्—तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ (मनुः २।१६६।)

वेदानभ्यासेतु—

(३)—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनुः २।१६७) ।

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र-स्वाध्यायाम्नाय का ही यह सुपरिणाम था कि, वेदवित् एतद्देशीय भारतीय अग्रजन्मा भूदेव ज्ञानविज्ञानव्याख्या के द्वारा अपनी सनातननिष्ठा की सुरक्षा करता हुआ सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल की तत्तत् विभिन्न मानवजातियों की मान्यताओं में भी यही पथप्रदर्शक बना रहता था, जिसके आधार पर भगवान् मनु ने यह घोषणा अभिव्यक्त की थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

सब मतवादी सर्वत्र अपने अपने मतवाद की मान्यता की ही घोषणा करना अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं। सबको अपना अनुयायी बनाने में ही अपनी सफलता मानते हैं। उधर भारतीय आर्ष-द्विजाति बुद्धिभेदमान्यतानुबन्ध से यह घोषणा कर रहा है कि—'हम से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने चरित्र, स्वस्व देशकालपात्र द्रव्यश्रद्धानुरूप अपने अपने कर्त्तव्यकर्म्म का मौलिक स्वरूप समझें'। है कहीं अन्यसरकृतियों में ऐसी निर्व्याज घोषणा ?। वर्त्तमानयुग में 'तर्क-युक्ति-हेतु-वाद-संशयवाद-'आदि के सम्बन्ध में सर्वसाधारण आस्तिक-भावुकप्रजा का वैसा आत्मविमोहन नहीं है, जैसी कि आत्मविस्मृति वर्त्तमानयुग के आरतकमानव-किन्तु भावुकमानव-की प्रचलित 'विज्ञान' शब्द से हो रही है। 'विज्ञान' शब्द श्रवणमात्र से इसकी दृष्टि के सम्मुख वाष्पयान (रेलगाड़ी)-वायुयान-मोटरयान-विद्युत्-तार-टेलीफोन—वायरलेसटेलिग्राफी—रेडियो—ग्रामोफोन—रेडियम—सर्वो-

परि एटमबॉम-आदि आदि शतश-सहस्रश वैज्ञानिक-भौतिक आविष्कारपरम्परा प्रेतवत् नृत्य करने लगती है, और भावुक आस्तिक मानव इस लीला के वास्तविक ध्वंसात्मक मर्म्म से अज्ञ बने रहने के कारण अपनी सुध बुध ही खो बैठता है। दिङ्विमूढ़-सा, आश्चर्यचकित-सा, विभ्रान्त-सा, श्रान्त-सा, स्तब्ध-सा, चित्रचित्रित-सा यह स्वस्वरूपविमुग्ध मानव इन भौतिक वैज्ञानिक तात्कालिक-आपातरमणीय आविष्कारों को, तथा आविष्कारकों को ही 'दूसरे रामजी' मानने-कहने की भयावह भ्रान्ति कर डालता है। प्रभावितानुगता इस भयावह भ्रान्ति का एकमात्र कारण है इसका अपने पुरातन 'देवासुरेतिहास' से अपरिचित रहना। उस पुरायुग में वरुणानुमोदित-दैत्यगुरु शुक्राचार्य्य के द्वारा आविष्कृत आसुरभावापन्न जिन जिन भौतिक-आविष्कारपरम्पराओं का आविर्भाव हुआ है, उनकी तुलना में तो ये नितान्त क्षणिकविध्वंसक-मानवसहजशान्तिविघातक वर्त्तमान भौतिक आविष्कार कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखते। प्रमाण के लिए रामरावणयुद्धप्रसङ्ग में तथा महाभारतयुद्धप्रसङ्ग में घटित उपवर्णित आसुर आविष्कारपरम्परा के लोकोत्तर चमत्कारों का जाग्रत इतिहास ही पर्य्याप्त मान लेना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि शुक्रशास्त्र में, किंवा तदनुगत आसुरशास्त्र में वर्त्तमान युगानुगत रेल-वेतार-तार-टेलीफोन-आदि जैसे ही आविष्कार थे, जैसा कि वर्त्तमानयुग के कतिपय आस्तिक भारतीय विद्वान् अपने अतीत गौरवगान के भावावेश से भूतावेशवत् आविष्ट बनते हुए शब्दों की अनर्थ-व्यञ्जना के माध्यम से रेल-तार-का अर्थ घोषित करने की महती भ्रान्ति कर रहे हैं। इनके प्रमाणित न करने से वेदशास्त्र के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्व घट नहीं जाता, एवं इन्हें आवेशाधिया वर्ण-अक्षर-शब्द-पद साम्यभ्रान्ति से प्रमाणित करने की व्यर्थचेष्टा से हमारे शास्त्र का गौरव अभिवृद्ध नहीं हो जाता*। अपितु, हम तो कहेंगे, ऐसे आवेश से, इस प्रकार की 'वैज्ञानिकखोज' की नितान्त खजनरूपा भावुकवृत्ति से वेदशास्त्र सर्वज्ञानविज्ञाननिधि निगमशास्त्र-का महत्त्व हम न्यूनतम ही प्रमाणित करेंगे। "गङ्गाजल में कीटाणु मारने की शक्ति है, इसलिए यह पवित्र है। गोमूत्र-गोमय का चौका भी हिन्दूपद्धति में कीटाणुविनाशक ही है" इत्यादिरूप से वर्त्तमान क्षणिकविज्ञानवादियों की कीटाणुसमतुलित कीटाणु-परम्परा का समावेश करते हुए विज्ञान की घोषणा करना आस्तिक विद्वानों की आपातरमणीयता ही कही जायगी। तब तो उन सुसूक्ष्म-कीटाणुविनाशक सहजरूप से लाभ ईटें-तत्वर्ण भी आवश्यक आदि पदार्थों का ही हमें गङ्गा गोमूत्र-गोमय-(जिसमें वर्त्तमान विज्ञानवादी घृणा ही अभिव्यक्त करता सुना गया है) के स्थान में सन्निवेश कर लेना चाहिए जिसमें

---

* कुछ समय पूर्व एक वेदभक्त सनातनधर्म्माभिमानी गुजरात महानुभाव से साक्षात्कार हुआ था। आपने एक दिन वेद के अमुक मन्त्र में पठित 'अक्रवारि-इन्द्रम्' का यह अर्थ ? (अनर्थ-महा अनर्थ) व्यक्त करने का अनुग्रह किया था कि, "इसी 'अक्रवारि' से यवनों का 'अकबर' शब्द विनिर्गत हुआ है। उन्होंने हम से ही इस प्रकार सब कुछ लिया है" इत्यादि। धन्य हैं ये वैज्ञानिक व्याख्याता।

हमारा गृह्य श्रम भी बच जाय, एवं हम इन विज्ञानवादियों की दृष्टि में सभ्य सुसंस्कृत भी प्रमाणित हो जाँय।

'कीटाणु' का महत्त्व भारतीयोंने सर्वथा उपेक्षित ही किया हो, यह बात तो नहीं है। स्वयं अथर्ववेद ने आमरभावापन्न-राजयक्ष्मादिप्रवर्त्तक 'अमीवा' कीटाणुओं का सविस्तर उपवर्णन किया है, इनके निराकरण के मणि-मन्त्र-ओषध्यादि सभी प्रकार के उपाय भी तत्र विस्तार से उपवर्णित हुए हैं। कीटाणुजनिता संक्रामिकता का विश्लेषण भी हमारे शास्त्र में जैसा हुआ है, वर्तमान विज्ञानवादी अभीतक उसके स्मरण का भी पात्र नहीं बनने पाया है, जिसके आधार पर स्पृश्यास्पृश्य-आशौच संक्रमणादि वैज्ञानिक पद्धतियाँ आविष्कृत हुई हैं, जिनका संक्षिप्त स्वरूप क्रमप्राप्त 'आशौचविज्ञानोपनिषत्' चतुर्थखण्ड में बतला या जाने वाला है। किन्तु 'कीटाणु' ही यहाँ सर्वस्व नहीं है। स्मरण कीजिए उस चतुर्दशविध-पार्थिव भूतसर्ग का, जिसे 'चान्द्रजीव' माना गया है, जिसके अन्त में 'कीट-कृमि' नामक दो सर्ग उद्घोषित हुए हैं। इन चौदहों ब्रह्मा दि-स्तम्बान्त सर्गों का तो केवल मानवीय मन, तथा मानवीय-शरीर पर ही अवसान माना गया है। मानवसंस्था के बुद्धि, भूतात्मा, नामक दो विवर्त्त तो अभी शेष ही रह जाते हैं, जिनका इन चान्द्रजीवों से सर्वथा पार्थक्य ही माना गया है। बुद्ध्यनुगत विज्ञानकाण्ड, एवं भूतात्मानुगत विज्ञानकाण्ड, दोनों इस क्षणिक भौतिक विज्ञान से बहुत परे की वस्तु है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'–सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'–'विज्ञानमित्युपास्व'–विज्ञानं ब्रह्मे ति विजानात्' इत्यादि श्रौतवचनपठित 'विज्ञान' और वर्त्तमान भूतवादी का कीटाणुसमतुलित केवल 'पदार्थविज्ञान', मीमांसा कीजिए दोनों दृष्टिकोणों की, एवं तभी भारतीय विज्ञानवाद के समन्वय में प्रवृत्त होने का अनुग्रह कीजिए। अन्यथा 'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' ही चरितार्थ बनेगा। कहाँ है इस प्रकार की विज्ञानघोषणा अन्यत्र, जिसे सम्पूर्ण चर-अचर का मूल माना गया है, देखिए!

* "विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति
विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"
– तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली

मानव की आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, तीनों कारण-सूक्ष्म-स्थूल-संस्थाओं का समन्वय पूर्वक सुविकास-स्वरूपसंरक्षण-सुरक्षित रखने वाले संघर्षात्मक जीवन के विरोधी शुक्रशास्त्रा-

---

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता० ७।२)

नुगत वे सम्पूर्ण अनुकूलताप्रवर्त्तक, साथ ही परिणाम में ध्वंस के जनक आसुर भौतिक आविष्कार, इन क्षणिक विध्वंसक-भौतिक आसुर आविष्कारों का आविष्कारक क्षणिक भौतिक विज्ञान यहाँ देवभावानुगत परिपूर्णतानुगामी मानव के लिए सर्वथा त्याज्य ही घोषित हुआ है, जिसका न्यून न्यूनतर न्यूनतम रूप-विकृतरूप वर्तमान विज्ञान, एवं इसकी आविष्कारपरम्परा में दुर्भाग्यवश देवविज्ञानोपासक भारतीय हिन्दूमानव को सर्वथा इसकी भावुकता से आन्त-व्यामोह में डाल कर इसे आश्चर्यविमोर बना रही है, इससे अधिक इसका और क्या पतन होगा ? क्या था इस देवभावापन्न भारतीय मानव का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ?, प्रश्न की मीमांसा स्वतन्त्रनिबन्धसापेक्ष है। यहाँ 'भारतीय-वि ान' के सम्बन्ध में केवल यह दृष्टिकोण जान लेना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा कि, "प्राणदेवमूलक यज्ञकाण्ड ही वह भारतीय विज्ञानकाण्ड है, जिसमें अव्ययात्मा स्वयम्भू ब्रह्मा से आरम्भ कर भूतात्मा पार्थिव पशुभू ब्रह्मापर्यन्त समस्त आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-नाक्षत्रिक-ग्रहोपग्रह-अव्ययात्मविज्ञान-महदात्मविज्ञान-विज्ञानात्मविज्ञान-प्रज्ञानात्मविज्ञान (मनोविज्ञान)-भूतात्मविज्ञान-प्राणविज्ञान (तत्त्वविज्ञान)-समन्वयविज्ञान (आचारविज्ञान)-विद्युद्विज्ञान-वृष्टिविज्ञान-दगार्गलविज्ञान-उक्थविज्ञान-ओषधिवनस्पतिविज्ञान-पशुविज्ञान-पक्षिविज्ञान-कृमिकीटविज्ञान-आदि आदि यच्चयावत् प्राकृतिक वैज्ञानिक खण्डविज्ञान समाविष्ट हैं। समस्त खण्डविज्ञानगर्भित यज्ञविज्ञान ही भारतीय विज्ञानदिशा का मापदण्ड है। यही यहाँ की देवविद्यानुगता ब्रह्मविद्या (क्षरविद्या) है, जो 'अक्षर' नामकी पराविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित है। पराविद्या का मूलाधार है अजर क्षर, पर अक्षर से भी अतीता अव्ययविद्या, जिसे 'पुरुषविद्या' कहा गया है, यही विज्ञानकाण्ड की पराकाष्ठा है, "सा काष्ठा सा परागतिः"।

पुरुषविद्यात्मक पुरुषविज्ञान आधार बन रहा है अक्षरविज्ञान का। यह आधार बन रहा है क्षरविज्ञानात्मक उस यज्ञविज्ञान का, जिसमें समस्त तथाकथित खण्ड-खण्डात्मक सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित (गर्भीभूत) हैं। पुरुषविज्ञानालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षरविज्ञान के द्वारा ही क्षरविज्ञानात्मक उस यज्ञविज्ञान का आविर्भाव हुआ है, जो सम्पूर्ण प्रजा का मूल उपादान माना गया है। यही यज्ञविज्ञान कर्म्मकाण्डात्मक लौकिक अभ्युदय (विश्वसम्पत्ति-अभिलषित सम्पत्ति) का प्रदाता माना गया है, आश्रमव्यवस्थानुसार गृहस्थाश्रमी द्विजाति का 'इष्टकामधुक्' * (यथेच्छफलप्रदाता) माना गया है जिसमें देव-पितृकर्म्म मुख्य बन रहे हैं। क्षरानुगत यज्ञकाण्ड ही उन शत-सहस्र देवविद्याओं का

---

* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता ३।१०।

प्रवर्त्तक है, जिसका स्वरूपपरिचय भी उन क्षणिकविज्ञानवादियों को आश्चर्यविमूढ़ करने की क्षमता रखता है। जिन भूतविज्ञानवादी वैज्ञानिकों के कृमिकीटात्मक विज्ञानाभासों से दुर्भाग्यवश अपनी नैगमिक आम्नाय को विस्मृत कर देने वाला कर्मशून्य–उत्पथकर्म्मानुगामी–लक्ष्यभ्रष्ट वर्त्तमान आस्तिक हिन्दूमानव स्वयं प्रभावित हो रहा है। "कालाय तस्मै नमः"।

अव्ययविज्ञानात्मक पुरुषविज्ञान १–'ज्ञानकाण्ड' (सापेक्ष ज्ञानात्मक ज्ञानकाण्ड) का आधार बनता हुआ द्विजाति शिरोन्नतानुगामी १–'सन्यासी' का आधार है। अक्षरविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान २–'उपासनाकाण्ड' का आधार बनता हुआ द्विजाति २–'वानप्रस्थी' का आधार है। एवं क्षरविज्ञानात्मक विकृतिविज्ञान ३–'कर्म्मकाण्ड' का आधार बनता हुआ द्विजाति' ३–'गृहस्थी' का आधार है। इन तीनों भारतीय विज्ञानकाण्डों का मूलसंहिताव्याख्यात्मक–तत्त्ववेदात्मक १-'उपनिषत्'-२-'आरण्यक' ३–'ब्राह्मण' ग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिनकी स्वाध्यायपरम्परा आज सर्वात्मना विलुप्त है। फिर कैसे भारतीय का स्वरूपोद्‌बोधन हो। प्रकृत में तो हमें पितृकर्म्मनिबन्धना उस तटस्थ आलोचना के सम्बन्ध में ही भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्ति–तर्क–सम्मत–विज्ञानमाध्यम से कुछ निवेदन कर देना है, जिससे वह आस्तिक श्रद्धालु, किन्तु भावुक मानव इस दिशा में वर्त्तमान चाकचिक्यात्मक–दिङ्‌विमोहात्मक–भूतप्रेतावेशसमतुलित भूतविज्ञान के प्रभाव से बचे रहते हुए 'दैवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' अपनी इस नैगमिकनिष्ठा से पराङ्मुख न बन जाँय।

जब पाण्डव वनगमन करने लगे, तो कुरुपुरोहित धौम्य के साथ साथ अन्य ब्राह्मण भी साथ हो लिए। वननिवास में युधिष्ठिर जैसे धर्म्मात्मा इन ब्राह्मणों की शरीरयात्रा के निर्वाह में अपने आपको असमर्थ देख जब दुःखार्त्त बन गए, तो धौम्य ने सौरप्राणानुगता देवविद्या के प्रदान से स्थाली के माध्यम से युधिष्ठिर का सन्त्राण किया। स्थाली से शतसहस्र अतिथि सम्मानित हो जाते थे, तो भी स्थाली परिपूर्ण ही रहती थी। कौरवप्रासाद में ही अवस्थित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र संजयद्वारा जिस देवविद्या के माध्यम से महाभारतयुद्धप्रसङ्ग सुनने में समर्थ हो सके थे, व्यासप्रदत्ता वह देवविद्या भी सभी ने कथानकरूप से तो सुन रक्खी ही होगी। क्या महत्त्व है इन देवविद्याओं के × समतुलन में विशुद्ध ध्वंसमूला वर्त्तमान क्षणिक–आविष्कारपरम्परा का ? यह ठीक है कि, आम्नायविस्मृति से भारतवर्ष उन यज्ञविद्यानमूला देवविद्याओं से वञ्चित होता हुआ आज सर्वसमृद्धि शून्य–सा माना जारहा है। किन्तु क्या इसीलिए यह अपने आपको पशुभाव में परिणत कर ले ? निगमाम्नाय की निश्चित प्रतीक्षा

× 'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्' नामक संकलननिबन्ध में भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, तथा 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथमखण्ड' के उपक्रम में इस दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है।

में इसे कभी इन पशुभावों का अनुगामी नहीं बनना चाहिए, भले ही इसकी शारीरक या युगधर्मा नुसार वर्त्तमान से भी दु साध्य क्यों न बन जाय। ऐसे ही अवसर तो नैष्ठिक भारतीय मानव के के परीक्षण के अवसर माने गए हैं। और हमें दृढतम आ मविश्वास है कि, 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' की घोषणा करने वाला भारतीय आस्तिक मानव, नैष्ठिक मानव कभी युगधर्मानुगत मृत्युपाशों के पाश मे आबद्ध न होता हुआ अपने को गतानुगतिक पशुसमानधर्म्मा नहीं बनाएगा, स्वप्न मे भी नहीं बनाएगा।

"देवस्मरण, श्राद्धकर्म्मानुगमन, रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म्मानुगमन न करने से देवता और पितर अप्रसन्न होकर हमारा अनिष्ट कर देते हैं। यत्रतत्र अमुक स्थानों में गमन करने से हमारे बालक-स्त्रियाँ भूत-प्रेतबाधा से युक्त होकर कष्ट पाते हैं, और जो ऐसी मान्यताओं को सर्वथा उपेक्षणीय मानते हैं, उन इतर जातियों का न तो हम कोई अनिष्ट ही देखते, न उन्हें वित्त-पुत्र-लोक-विभूतियों से ही वञ्चित पाते। अतएव कहना पड़ेगा कि, यह सब अकर्मण्य-भीरू-तत्त्वविज्ञानशून्य-यथाजात-भारतीय मानवों की शून्य मान्यता मात्र है"-यही तो है तटस्थ आलोचक की वह आलोचना, जिसके समाधान में लोकसंग्रहबुद्धि से हम प्रवृत्त होना चाहते हैं। एवमस्तु।

एक सुप्रसिद्ध लोकमत है कि,* 'जो जिसका गुण है, वही (निःसीम बनकर) उसका दोष बन जाता है'। भारतीय आस्तिक मानव का महद्गुण था, 'आस्थायुक्तश्रद्धा'। यह गुण ही निःसीम भावानुगत बनता हुआ आज इसका महान् दोष प्रमाणित हो रहा है। स्वस्वरूपबोध से वञ्चित आस्तिक भारतीय मानव की आस्था-श्रद्धा के केन्द्र आज बन रहे हैं दर्शन-विज्ञानवादी पश्चिमी विद्वान्। अत सर्वप्रथम हम इन भारतीयों की वर्त्तमान परानुगता-आस्थाश्रद्धा से समतुलित प्रतीच्य विद्वानों की (अज्ञातप्राय-किन्तु सहृदोवानुग्रह से यदाकदा श्रुतस्मृतप्राय) सरणी की दिशा मे ही समाधान का उपक्रम कर रहे हैं।

सुनते हैं, आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् स्वनामधन्य सर्वश्री 'प्लेटो (Plato) ने ग्रीक (Greek) देश को पावन बनाया था, जिसके जीवन की दो धाराएँ तत्त्वसीमांसक पश्चिमी विद्वानों में प्रसिद्ध हैं। आरम्भ का तरुण प्लेटो शरीरानुगत मानसभावों, मानस अनुभूतियों का ही अन्वेषक बना रहता हुआ 'काव्यसाहित्य' का स्रष्टा बना। सौभाग्य से किसी ज्ञात-अज्ञात महामानव के माध्यम से प्लेटो का ध्यान भारतीय निगमाम्नाय की ओर आकर्षित हो पड़ा, जिस आम्नाय का

---

* जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान हरहिटलर (Herr Hitler) के दीक्षागुरु-पथप्रदर्शक शॉपनहॉवर (Schopenhauer) के पथरत सर्वश्री 'निट्श्चे' (Nietzsche ने यही भाव निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया है-जिसका नागरीलिपि में यह रूपान्तर सम्भव है-"One is best punished for One's Virtues" (अर्थात् मानव अपने सद्गुणों से ही दण्डित होता है)।
—निट्श्चे (जर्मनविद्वान्)।

मूलाधार बुद्धि और भूतात्मकक्षेत्र माना गया है। आमूलचूड परिवर्त्तन कर दिया प्लेटो का इस भारतीय दृष्टिकोण ने। विस्मृतिके गर्भ में विलीन हो गईं इस तरुणकी काव्यसाहित्यानुगता मानस उत्तालतरङ्गें। और बन गया यह सहसा आत्मानुगत-बुद्धिवादी, तत्त्वविमर्शपरायण तत्त्वमीमासक दार्शनिक। कहते हैं, इसने दार्शनिक जीवनधारा में प्रवाहित होने के साथ ही अपनी मानसिक भावुकता से सम्बन्धित समस्त काव्यसाहित्यरचना को अपने ही हाथों से क्रव्यादाग्नि में आहुत कर डाला इस रचना के प्रति पश्चात्ताप अभिव्यक्त करते हुए। प्लेटो की दार्शनिक जीवनधारा से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध 'रिपब्लिक' ग्रन्थ (चार भागों मे विभक्त-Republic of Plato) में भारतीय आचारमीमासा का सर्वात्मना समर्थन हुआ है, जिसके कुछ एक *वर्णव्यवस्थानुबन्धी वचनों को गीताभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड 'ख' विभागान्तर्गत* **'वर्णव्यवस्थाविज्ञान'** में उद्धृत करने का हमें भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्लेटो की मानसिकधारा को दार्शनिक-बौद्ध-विचारधारा में प्रवाहित करने का श्रेय जिस महामानव को प्राप्त हुआ था, वह भारतीय वेदान्तनिष्ठा से अनुशय से प्रभावित होने वाला **'सॉक्रिटीज़'** (Socrates-सुकरात) ही था। यही प्लेटो का दार्शनिक गुरु था, जिसकी अव्यक्त दार्शनिकता व्यक्तरूपमें परिणत हुई प्लेटो में। प्लेटो ने अपना विद्यापुत्र बनाया **'एरिस्टाटल'** (Aristotle-अरस्तू-सिकन्दरमहान् का गुरु-Alexander the great) को, जो प्लेटो की दार्शनिकता के साथ साथ कथाशास्त्रात्मक तर्कशास्त्र (लॉजिक-Logic) के माध्यम से आगे चलकर अपने गुरु प्लेटो का महान् आलोचक बनता हुआ दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोणात्मक 'यथार्थवाद' का मूल सर्जक बना। और यों इन तीनों ग्रीक विद्वानों की परम्परा ने तीन प्रकार की सरणियों के सर्जन का श्रेय प्राप्त किया—

⊛ १—केवल तत्त्वमीमासा (वेदान्तनिष्ठा) **सॉक्रिटीज़** (Socrates)
२—आचारमीमासासम्मता तत्त्वमीमासा (सांख्यनिष्ठानुगता वेदान्तनिष्ठा) **प्लेटो** (Plato)
३—यथार्थमीमासानुगत तत्त्वविमर्श (वैशेषिकनिष्ठानुगता सांख्यनिष्ठा) **एरिस्टाटल**(Aristotle)

(१)-परमगुरु-सॉक्रिटीज (Socrates) तत्त्वद्रष्टा
(२)-गुरु-प्लेटो (Plato) आचारसम्मततत्त्वमीमासक
(३)-शिष्य-एरिस्टाटल (Aristotle—यथार्थसम्मततत्त्वालोचक
} ग्रीकविद्वत्त्रयी

⊛ इसी आधारपर वर्त्तमान पश्चिमी चिन्तकों के निम्न लिखित दो दृष्टिकोण व्यवस्थित बने—
'फिलासफिक्ल आउटलुक'—एवं—'साइन्टिफिक् आउटलुक'
Philosophical outlook & Scientific outlook
दार्शनिक दृष्टिकोण—और—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विगत प्रक्रान्त शताब्दियों में पश्चिम में जितने भी तत्त्वविचारक हुए हैं, वे सभी प्रायः उक्त त्रयी के विचारों के ही समर्थक-आलोचक-मीमांसक माने गए हैं, जिन तत्त्वविचारकों में शॉपनहावर (Schopenhaver), कान्त (Kant), हामर (Haumer), निट्स्चे (Nietzsche), ब्रॉडले (Bradley), हीगल (Hegel) आदि पश्चिमी विद्वानों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय माने जाते हैं उनकी मान्यता में। Greek Plato को छोड़कर निगमाम्नाय के सम्बन्ध में इन उल्लेखनीय विद्वानों में से किसी ने अपने स्पष्ट विचार अभिव्यक्त नहीं किए हैं। केवल तत्त्वमीमांसा (Metaphysics-मेटाफिजिक्स), आचारमीमांसा (Ethics-एथिक्स), प्रमाणमीमांसा, मनोविज्ञान (Psychology-साइकालॉजी), आदि दार्शनिक दृष्टिकोण ही इन का प्रधान प्रतिपाद्य रहा है। 'मेक्समूलर' (Maxmuller) आदि परिगणित विद्वानोंनें यदि निगम-शास्त्र पर कुछ आलोचनात्मक निबन्ध लिखे भी हैं, तो वे भारतीय आम्नाय से विपरीत होने से उपेक्षणीय ही माने जायँगे। धर्म्म के सम्बन्ध में-जिसका प्रधान सम्बन्ध आचारमीमांसा के साथ माना गया है,—इन अधिकांश विद्वानों के ये उद्गार हैं कि—"सबल—समर्थों—के आक्रमण से अपने आपका विरोध करने के लिए-(बचाव करने के लिए) ही—निर्बलोंनें धर्म्म (मत) का आश्रय ग्रहण कर रक्खा है"—जिसका व्यञ्जनार्थ यही है कि असमर्थ मानव ही धर्म्म की घोषणा करते रहते हैं, जो असमर्थ मानव समर्थ विद्वानों के लिए सदा उपेक्षणीय ही रहते हैं *। इत्थंभूतलक्षण इन प्रतीच्य विद्वानों की विश्वास (Belief), श्रद्धा (Faith), वैयक्तिक शिष्टाचाररूपा शिष्टता (Ettiquette), पारिवारिक शिष्टाचाररूपा सभ्यता (Civilization), सामाजिक शिष्टाचाररूपा संस्कृति (Culture) लक्षणा विचारसरणिपरम्परा निगमाम्नाय से कैसे कब सुसमन्वित होगी?, प्रश्न वास्तव में मीमांस्य है। फिर भी कतिपय तत्त्वानुचिन्तक उन प्रतीच्य दार्शनिक विद्वानों की इस मान्यता से प्रभावित होना ही पड़ता है, जिनके विचार सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः पूर्वदृष्टिकोण से इस रूप से समतुलित हैं कि, "बिना धर्म के दर्शन सर्वथा चक्षुर्विहीन (अन्ध) है, एवं बिना दर्शन के धर्म्म सर्वथा निस्सार —" ।

---

* "Morality is an invention erected by the weak, to deter the strength of the STRONG"

—Nietzsche.

— "Philosophy blind is without religion and religion without philosophy is contentless" देखिए, 'भारतीय हिन्दू मानव और उसकी भावुकता' नामक निबन्धन का 'भारतीयदर्शन, और प्रतीच्यदर्शन' नामक अवान्तर प्रकरण।

न सही आचारमीमांसानुगता धर्म्ममीमासा का समावेश तथाकथित प्रतं न्यसरणी के सम्मान की दृष्टि से। केवल तत्त्वमीमांसा की सरणी से ही आलोचना के समाधान का अन्वेषण कीजिए। "यह सब कुछ प्रत्यक्षदृष्ट प्रपञ्च क्या है ?, कैसा है ?, कैसे उत्पन्न हुआ है ?, किससे उत्पन्न हुआ है ?, कब तक रहेगा ?, अन्त में कहाँ कैसे नष्ट, किंवा विलीन हो जायगा ?," इत्यादिरूप से पाञ्चभौतिक, किंवा (उन्हीं की सरणी के अनुसार केवल 'भौतिक' ही) संसार के सम्बन्ध में प्रज्ञाशील मानव की सहजप्रज्ञा में जो ज्ञान-जिज्ञासात्मिका-प्रश्नपरम्परा उदित होती रहती है उस ज्ञान-जिज्ञासा (जानने की इच्छा) को तृप्त-तुष्ट-समाहित-करने के लिए अपनी सहजप्रज्ञा से उन मनीषियोंने जिस 'ज्ञानसरणी' को अपनाया, वही उनकी अपनी दार्शनिक भाषा में-'तत्त्वमीमांसा' नाम से प्रसिद्ध हुई।

तथोपवर्णिता विशुद्ध दर्शनदृष्टिमूला तत्त्वमीमासा, किंवा ज्ञानमीमासा के प्रारम्भ के इतिहास में इस 'आचरणात्मक धर्म्म' का समावेश उपलब्ध नहीं होता, जो आचरणात्मक धर्म्म-परामर्श उनकी मान्यता में आगे-बहुत आगे-चल कर प्रादुर्भूत हुआ, एव जिसका नामकरण हुआ उन्हीं की भाषा में-'आचारमीमांसा' (Ethics-एथिक्स) इस कालान्तरभाविनी आचरणात्मिका आचारमीमासा को जन्म दिया मानवीय उस प्रज्ञात्मक मन की सहज चिन्तनवृत्ति ने, जो सहजरूप से मानवीय बुद्धि को तत्त्वानुशीलन की वास्तविकता की ओर शनै शनै आकर्षित करती रहती है। यही मानसिक चिन्तनवृत्ति वहाँ *'मनोविज्ञान' (साइकॉलॉजी-Psychology) नाम से प्रसिद्ध है, जिसे हम आचारमीमासा की जननी कह सकते हैं। प्रज्ञा के सहज उत्कर्षतारतम्य से मनोविज्ञान अनेक सामान्य-विशेष विचार-विमर्शपरम्पराओं में विभक्त हुआ। यह विमर्शपरम्पराएँ अपनी सामान्य-उत्कृष्ट विशेषताओं के अनुपात से प्रथम-मध्यम-तृतीयादि श्रेणिविभागों में विभक्त हुई। सहज मननशील उन दार्शनिकोंने

---

*दुर्भाग्य है यह पश्चिमीजगत् के दार्शनिक दृष्टिकोण का कि, मानसिक चिन्तनवृत्तिलक्षण जो मनोविज्ञान (Psychology) वहाँ तत्त्वमीमासानुगता आचारमीमासा (धर्म्ममीमासा) के लिए आविर्भूत हुआ था, वह आस्थाश्रद्धा धरातल से वञ्चित रहने के कारण कालान्तर में उस मन-शरीरानुगता कामवृत्ति (Sex-कामवासना) का ही समर्थक बन गया, जिसके तदनुरूप इतिहास का जाग्रत स्वरूप वर्त्तमान युगमें प्रधानरूप से 'अमेरिकनमनोविज्ञानवेत्ता-समाज' बना हुआ है। इस दिशा में 'मनोविज्ञान' जैसे पवित्र लक्ष्य को दूषित कर देने वाले जिस 'कामविज्ञान' के माध्यम से 'मनोविज्ञान' नाम से जिन सुविशाल ग्रन्थों का निर्म्माण वहाँ के सेक्सज्ञ (Sexologists) पण्डितों ? की ओर से हुआ है, भारतीय शिक्षणालयों में सहशिक्षा (Co-education) प्राप्त करने वाले तरुण तरुणीयुग्म उन मनोवैज्ञानिक ? ग्रन्थों से किस प्रकार की आचारमीमासा के पथिक बनते जा रहे है ?, प्रश्न का समाधान उन स्वच्छन्दविचरणशील तरुण तरुणियों से ही प्रष्टव्य है।

अपेक्षाभेदभिन्ना मान्यता के विभेद से उच्चश्रेणि के चिन्तकों की चिन्तनशैली को सम्मानित दृष्टि से देखा, उन्हें अपनी चिन्तनशैली का पथप्रदर्शक (Author-ऑथर स्वीकार किया, और यों मनोविज्ञानानुगता चिन्तनमीमांसा ही उनकी सुप्रसिद्ध 'प्रमाणमीमांसा' (Epistemology) की जननी बनी। इस दृष्टिकोण से पश्चिम की क्रमव्यवस्थानुमोदिता, अतएव समादरणीया मीमांसाचतुष्टयी का क्रम यदि हम निम्न लिखितरूप से स्वीकार करलें, तो सम्भवतः उन्हें कोई आपत्ति न होगी—

(ज्ञानमीमांसा)	१—तत्त्वमीमांसा (मटॉफिजिक्स-mataphysics)	प्रतीच्यानुगता मीमांसा—सरणी—चतुष्टयी
(मनोमीमांसा)	२—चिन्तनमीमांसा (साइकलॉजी-Psycholocy)	
(धर्म्ममीमांसा)	३—आचारमीमांसा (एथिक्स-Ethics)	
(आप्तवचनमीमांसा)	४—प्रमाणमीमांसा (अपिस्टोमोलॉजी-Epistemology)	

उक्त विचारसरणी के आधार पर यह तो सर्वात्मना प्रमाणित है कि, तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) को ही सर्वेसर्वा मानने वाले प्रतीच्य विद्वानों ने भी पूर्वीय विद्वानों की भाँति किसी न किसी रूप से आप्तवचनप्रामाण्यरूपा 'प्रमाणमीमांसा' (Epistemology) स्वीकृत की है। किन्तु उनकी यह प्रमाणमीमांसा उनकी आचारमीमांसा (Ethics) की शिथिलता से अन्ततोगत्त्वा केवल 'मीमांसा' ही बनी रह गई। इस मीमांसात्मक वाद से उन्हें 'बोध' न हो सका। हाँ एक नवीनवाद इस मीमांसा ने और उत्पन्न कर दिया, वाद वादका ही जनक बनकर उपरत हो गया, जिसकी उपरति के दुष्परिणाम स्वरूप कालान्तर में धर्म्ममीमांसानुगता आचारमीमांसा में क्षणिक भूतविज्ञान (Matérealism) के आधारभूत उन दिग्-देश-काल (Time-Space-Causality) तीन सीमित भावों की अभिव्यक्ति हो पड़ी, जिस भावत्रयी का अव्यक्तरूप Greek विद्वान् दार्शनिक Plato के शिष्य एरिस्टाटिल (Aristotle) की दार्शनिक विचारमीमांसा (तत्त्वमीमांसा) में समाविष्ट हो चुका था। और यही तत्त्वमीमांसक पश्चिमी जगत् की तत्त्वमीमांसा-(दर्शनमीमांसा-ज्ञानमीमांसा) के ह्रास का उपक्रम बना, जिसने कालान्तर में इसे दार्शनिक से वैज्ञानिकभाव में परिणत कर डाला। यों मीमांसाचतुष्टयी के अन्त में प्रतिष्ठित आप्तवचनप्रमाणरूपा प्रमाणमीमांसा के अनुग्रह से ही परोक्षरूप से उस 'विज्ञानमीमांसा' (Scientific Outlook) का आविर्भाव हो पड़ा, जिसने न केवल प्रतीच्यदेश के सम्मुख ही, अपितु विश्व मानवकी सहजशान्ति के सम्मुख एक भयानक समस्या उपस्थित कर दी है। जिस विज्ञान को मनीषी विद्वान् लोकसुख का अन्यतम कारण घोषित करते आ रहे हैं आदियुग से ही, वह विज्ञान-वर्त्तमानविज्ञान-यों सहसा लोकध्वंस का निमित्त कैसे बन गया ?, इस समस्या का समाधान कोई कठिन मीमांसा नहीं है, जब कि हम वर्त्तमानविज्ञानवादियों की धर्म्मानुगता आचार-

कान्त के 'रिलीजन्' (Religion) शब्द से प्रभावित वर्त्तमान प्रतीच्य दार्शनिक, एवं तद्भक्त भारतीय दार्शनिक, दोनों ही प्लेटो-एरिस्टाटल-शॉपनहॉवर-आदि की तत्त्वमीमांसा को गौण मानते हुए वर्त्तमान पाठ्यग्रन्थों में युगधर्म्मप्रभाव से 'कान्तदर्शन' को ही प्रमुखता प्रदान करने के लिए आकुल-व्याकुल बनते प्रतीत हो रहे हैं। बहुत सम्भव है, हमारे इन उद्गारों के व्यक्त होने के साथ साथ ही यह प्रतीति शिक्षणालयों (College-कालेजों) में कार्य्यरूप में परिणित भी हो जाय। यद्वा तद्वास्तु। आरम्भ से अब तक की प्रतीच्य सरणी के दिग्दर्शन के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पश्चिमी विद्वानों में भी एक ओर जहाँ कान्तप्रतिद्वन्द्वी * सुप्रसिद्ध विज्ञानवादी 'ह्वाइटहेड्' (Whitehead) नामक विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही मानवजीवन के लिए चरमोत्कर्ष का साधन घोषित कर रहा है वहाँ दूसरी ओर कान्तसदृश प्रज्ञाशील मनीषी भारतीय अध्यात्मवाद को भी मानव जीवन में समाविष्ट करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं। बड़ी सकरुण अवस्था है इस दिशा में पश्चिमी तत्त्व-मीमांसकों की, आचारमीमांसकों की, एवं सर्वोपरि विज्ञानवादियों की, जिन्होंने अणुबम (Atom Bomb) आविष्कृत तो कर दिया, किन्तु इसके निरोध के उपाय में अद्यावधि असमर्थ बने रहते हुए भारी भया-शङ्का-परम्पराओं से सन्त्रस्त बनते हुए, सुनते हैं आज कल वे इस अन्वेषण में प्रयत्नशील बने हुए हैं कि, सूर्य्य से ऊपर की सूर्य्य से भी प्रबल किसी वैसी (पारमेष्ठ्य) शक्ति का सर्जन किया जाय, जो सौरी अणुशक्ति (सौर विद्युतशक्ति-भारतीयपरिभाषानुसार उल्कापुञ्जरूप धूमकेतु) का निरोध कर सके। जगदीश्वर इन्हें इस सर्जनकर्म्म में सफलता प्रदान करे, यही कामना है -।

---

* वस्तुतः कान्त के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, अपितु कान्त के सहयोगी, कान्तसदृश ही दार्शनिक विद्वान् ह्वाइट्हेड् की दृष्टि में जहाँ दिग्देशकालनिबन्धना 'फिजिक्स' (Physics) की मान्यता प्रधान बनी हुई है, वहाँ कान्त सांख्यदर्शनानुसार दिग्देशकालातीत 'तत्त्व' को प्रधानरूप से मान्य घोषित कर रहा है। 'फिजिक्स्' से सम्बन्धित विज्ञानवाद के कारण ही ह्वाइट्हेड विज्ञानवादी घोषित होगया है, अत-एव उसकी विज्ञानभाषापन्ना दार्शनिक भाषा दार्शनिक जगत् में 'दुरधिगम्या' मानी जा रही है।

- भारतीय नैगमिक वैकारिक सृष्टिविज्ञान (पृथिव्यप्तेजवायुराकाशात्मक पञ्चमहाभूतात्मक वैकारिक भूतविज्ञान) की शिरोभूता दृष्टि के अनुसार मस्तकस्थानीय सत्यस्वयम्भू से ऋत आपोमय परमेष्ठी का उद्गम हुआ है, जो परमेष्ठी 'सरस्वान् समुद्र' कहलाया है, एवं जिसके गर्भ में समष्टि सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता है, जो सत्ता समुद्र में एक बुद्बुद (बुलबुले) की रहती है। अतएव पुराण में सूर्य्य को 'बुद्बुद' नाम से भी व्यवहृत किया है। 'द्रप्समस्कन्द' (ऋग्वेद) रूप से श्रुति ने सूर्य्य को 'द्रप्स' (बृहद्बिन्दु-द्रप्स-द्राप्स-ड्राप्स) कहा है। एवं-'अपां गभस्तसीद' (ऋग्वेद) रूप से इस द्रप्सात्मक बुद्बुदसमतुलित सूर्य्य को पारमेष्ठ्य आपोमय सरस्वान् समुद्र के अन्तस्तल (गहराई) में प्रतिष्ठित माना है। 'असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार

वाद), 'शब्सोलिटिज्म' (Absolutism निश्चित एकतन्त्रवाद--साम्यवाद--Communism का मूलाधार), 'प्लूरलिज्म' (Pluralism-अनेककारणतावाद), 'थीज्म' (Theism-केवलेश्वरवाद), 'डीज्म' (Deism-देवसत्तावाद), अवान्तर विभेद उसी प्रकार मीमांस्य बन रहे हैं, जैसे कि आचार मीमांसाशून्य भारतीयतत्त्ववाद (दर्शनवाद) में सत्ताब्रह्म के अनेक विकल्प वो उपवर्णित हैं। किन्तु बिना निगमव्याख्यात्मक-प्राकृतसर्गात्मक-आचारधर्म्म के वे सब विकल्प मानव को वस्तुसत्ता का उपभोग करने में वञ्चित ही प्रमाणित हुए हैं। एवमेव जिस प्रकार भारतीयदर्शन-आचारधर्म्मशून्य दर्शन के अनुग्रह से उत्पन्न 'एकस्मिन्धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः' लक्षणोपेत संशयवाद (Scepticism) ने अनीश्वरवाद, तथा चार्व्वाकमूलादि सम्मत भूतवाद (जडात्मक प्रत्यक्षवाद) को उपोद्बलित कर रक्खा है, तथैव वहाँ भी 'अथीज्म' Atheism-अनीश्वरवाद), और 'मेटिरियलिज्म्' (Materialism-भूतवाद) आविर्भूत हो पड़े हैं, जिनकी निःसीम कृपा का ही सुपरिणाम भौतिक विज्ञानवाद' है।

पश्चिमी जगत् के सुप्रसिद्ध तत्त्वमीमांसक (दार्शनिक) सर्वश्री 'कान्त' (Kant-कैन्ट) महोदय ने अपनी व्यवस्थित-विकसित प्रतिभा के बल पर आदर्शवाद (Idealism-धर्म्म), और यथार्थवाद (Relaism-विज्ञानवाद), दोनों के समन्वय की चेष्टा करते हुए दर्शन के साथ धर्म्म का समन्वय करते हुए इसे विज्ञान के साथ समन्वित करने की चेष्टा की है। और इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के लिए कान्त ने उस 'रीजन्' (Reason-कारणतावाद-, भारतीयपरिभाषानुसार महद्गर्भिता स्वस्थ बुद्धि) को माध्यम माना है, जिसके क्रमविकास का इतिहास (फेनोमेनल-सिन्सिबिलिटी-Phenomenal-Sensibility-इन्द्रियजन्यज्ञान समतुलितज्ञान-बाह्यज्ञान), (न्यूमिनल अण्डरस्टेण्डिंग् कन्सेप्शन-Noumenal-Understanding-Conception-मनोजन्यप्रज्ञान समतुलित किंवा प्रज्ञात्मक संस्कारज्ञान समतुलित-अन्तःकरणानुभूतिज्ञान), इन दो शब्दों के इतिहास को मूल बना कर ही कान्तद्वारा प्रवृत्त हुआ है। कान्त की धारणा में 'रीजन' पूर्वक सब कुछ मान्य घोषित हुआ है यद्यपि, तथापि भारतीय धर्म्माम्नाय के सम्बन्ध में वह भी अपने उस अभिनिवेश का परित्याग करने में असमर्थ ही प्रमाणित हुआ है, जिसका दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। धर्म्माम्नाय के प्रति (किसी भी कारण से हो) कान्त ने फेथ' (Faith) को ही अपने मतवाद को ही आराध्य घोषित करते हुए भारतीयधर्म्म को (वर्त्तमान धर्माध-धर्म्माभिनिविष्ट-भारतीयों की आर्त्त-दीन हीन अवस्था के आधार पर) 'अकर्मण्यों का जीवनसाधन' बतलाते हुए कान्त ने पाश्चात्य के मनीषियों को इससे बचे रहने का ही आदेश दे डाला है, जिस आदेश का, आदेशप्रदाता कान्त का हम तो हमारी आस्था-श्रद्धा से आम्नायसिद्ध-'यस्मिन्देशे मृगः कृष्ण'-तत्र धर्म्मं निबोधत' इस घोषणा का संरक्षक मानते हुए हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे।

प्रतीच्य दर्शन तत्त्वत: धर्म्मशून्य, केवल तत्त्वमीमांसारूप । अतएव वहाँ परलोक-भय का आत्यन्तिक अभाव । वहाँ परलोक का उत्तरदायित्त्व न धर्म्म पर है, न आत्मस्वरूपबोध पर । अपितु एकमात्र 'क्राइस्ट' ही इनके अमुक अवसर पर बड़े से बड़े अपराध भी क्षमा करवा देते हैं । इस मान्यता के विरुद्ध एक शब्द भी बोलना वहाँ 'ब्लेस्फेमी' (Blasphemy) नामक महा अपराध माना गया है । इस दिशा में वहाँ का मानव विचारस्वातन्त्र्य-अभिव्यक्त करने में सर्वात्मना असमर्थ है । जिस प्रकार व्यक्तिनिन्दा (डिफेमेशन—Defamation)—राजनीतिनिन्दा (सेडीशन्-Sedition) वहाँ अपराध है, तथैव धर्म्मनिष्ठा भी 'ब्लेस्फेमी' नामक महा अपराध है, 'कुछ मत करो, केवल क्राइस्ट पर विश्वास रक्खो' इस प्रकार का निषेधभाव ही वहाँ धर्म्माचरण का एकमात्र इतिहास है, जब कि 'यह करो-यह न करो, ऐसे करो वैसे मत करो, अपने पर अपने आत्मस्वरूप पर—व्यापक सत्ता-ब्रह्म पर विश्वास रक्खो' इस प्रकार का विचारस्वतन्त्रात्मक विधिभाव ही यहाँ धर्म्माचरण का महत्त्व-पूर्ण इतिहास रहा है । यहाँ कभी विचार स्वातन्त्र्य पर किसी को 'वध' दण्ड नहीं दिया गया, जैसे कि वहाँ मान्यता के विरुद्ध शब्दोच्चारणमात्र से वधदण्ड निर्णीत बन जाता है । यही कारण है, ब्रॉडले (Bradley) जैसा तत्त्वज्ञ दार्शनिक वेदान्तनिष्ठानुगत धर्म्म का अतीन्द्रिय स्वरूप अंशतः जानता हुआ भी अपने देशानुगत धर्म्मदण्ड-भय से इस सम्बन्ध में न तो अपने विचार अभिव्यक्त ही करना चाहता, एवं न कुछ लिखना ही चाहता ।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि, वहाँ के तत्त्वज्ञ विद्वान् आचारमीमांसा, किंवा तद्रूप ईश्वरीय-पारलौकिक धर्म्म की, दूसरे शब्दों में अध्यात्म-निष्ठा की जिज्ञासा ही नहीं रखते । अवश्य ही वहाँ के कतिपय तत्त्वज्ञों का ध्यान इस भारतीय अध्यात्मवाद (Theism) की ओर आकर्षित हुआ है । इसी आकर्षण का यह सुपरिणाम है कि, वहाँ की तत्त्वमीमांसा में 'रियेलिटी' (Reality-वास्तविकता-सत्ता) के आधार पर उस 'एल्टीमेट्रीपोलिटी' (Elte-Metre-Polite) सत्तावाद (Existentialism) का आविर्भाव हो पड़ा, जिसके इनकी तत्त्वमीमांसा में 'मोनिज्म' (Monism-एक सत्तावाद अद्वयब्रह्मवादवादी)'ड्यूएलिस्ट' (Dualist-[illegible]

(३१२ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

पाश्चिमी जगत् ने आचारमीमांसा की उपेक्षा करते हुए भी [illegible]
द्वारा जहाँ कुछ समय के लिए भौतिक सुख-साधन जुटाने में [illegible]
दार्शनिक ने धर्म्माचारमीमांसा से असस्पृष्ट रहने के साथ साथ [illegible]
रहते हुए अपना ऐहिक जीवन भी कण्टकाकीर्ण बना लिया [illegible]
हम अभिनन्दनीय ही मान लेते हैं ।

मीमांसा का, दूसरे शब्दों में प्रतीच्य जगत् की धर्म्मपरम्परा के वास्तविक इतिहास का तथ्यपूर्ण समन्वय कर लेते हैं, तो।

प्लेटो (Plato) के सुयोग्य शिष्य Greek विद्वान् एरिस्टाटल ने जिस यथाशास्त्र तर्कशास्त्र (Logic) प्रणाली को अव्यक्तरूप से जन्म देने का प्रयास किया था, वही प्रयास कालान्तर में पश्चिमी विद्वानों के द्वारा दिग्देशकालसापेक्ष बनता हुआ 'विज्ञानवाद' का जनक बन गया, जिसका मुख्य आधार बना 'गणनात्मक काल'। आज जितने भी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार प्रचलित हैं, सबका मूलाधार 'गणितविज्ञान' (Mathematics) ही बना हुआ है। इसी गणनप्रक्रिया के आधार पर वर्त्तमानयुग का सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आइन्स्टीन' (Einstein) अपने सशान्त प्रासादकक्ष में बैठा हुआ अपने सापेक्षवाद (Relativity of kno) सिद्धान्त से विज्ञानवादियों को चमत्कृत कर रहा है। निश्चयेन उसकी यह गणनकालात्मिका अनन्य उपासना इसे शनैः शनैः साम्वत्सरिक काल की ओर आकर्षित करती हुई कालान्तर में कालातीत इन्द्रियातीत उस अभिन्न सत्तातत्त्व का बोध करा सकती है, यदि यह मतवाद के अभिनिवेश से अभिनिविष्ट न बना लिया गया तो। सत्ताब्रह्म हमारी यह धारणा चरितार्थ करे, यही कामना है।

तत्त्ववादाभिनिवेश के दुष्परिणाम से ही पश्चिमी विद्वानों की धर्म्मानुगता आचारमीमांसा दिग्देशकालसीमा से बाहिर न निकल सकी। वहाँ धर्म्म केवल 'अन्धविश्वास' (Blind faith) का ही कारण बना रह गया। अतएव वहाँ धर्म्म अतीन्द्रिय-पारलौकिक तत्त्व न रहकर केवल 'मतवाद' ही प्रमाणित हो सका। प्रतीच्य मानवने धर्म्म को आस्थाश्रद्धानुगत न बनाकर केवल लौकिक मान्यता का क्षेत्र मानते हुए इसका समस्त उत्तरदायित्व व्यक्तिविशेष पर (क्राइस्ट पर Christ) छोड़ कर निश्चिन्तता प्राप्त कर ली। सहजभाषा में हमें यह कह देने में भी कोई सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि, वहाँ धर्म्म (उपनाम मतवाद) केवल 'अन्धविश्वास' ही बना रह गया। धर्म्म है वहाँ मान्यतामात्र, जिसमें तर्क-युक्ति-विज्ञान-सबका प्रवेश सर्वात्मना निषिद्ध है। अतएव वहाँ की तत्त्वमीमांसा (दर्शनात्मिका ज्ञानमीमांसा) धर्म्ममीमांसा (आचारमीमांसा) से सर्वथा असस्पृष्ट ही बनी रह गई *।

---

* हमें यह स्पष्ट कर देने में अणुमात्र भी सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि, यही दोष भारतीय दर्शनशास्त्र में भी परोक्षरूप से विराजमान है। यहाँ का दर्शनशास्त्र भी आचारमीमांसात्मिका प्राकृतिकसर्गव्याख्यानुगता धर्म्माचरणात्मिका आस्थाश्रद्धा से वञ्चित ही रह गया है। निगमागमानुगत प्राकृतिकसर्गव्याख्यान की उपेक्षा ही यहाँ के दर्शनों की निःसारिता का मूल कारण बना है। निगमविज्ञानवञ्चिता भारतीयदर्शनशास्त्र की तत्त्वमीमांसा प्रतीच्यदर्शनशास्त्र की तुलना में ही प्रतिष्ठित है। दोनों में यह अन्तर अवश्य स्वीकार कर ही लेना चाहिए अपना अभिनिवेश छोड़ते हुए भारतीय दार्शनिकों को कि,

हाँ, तो हमनें यह अनुभव किया सगभावानुगता अपनी स्खलित स्मृति के आधार पर पश्चिमी जगत् की सरणी के द्वारा उनके एवंविध मनोभावों के सम्बन्ध में कि, भले ही अधिकांश में उनका समान विज्ञानवाद से आविष्ट रहता हुआ भारतीय नैगमिक-आगमिक आम्नायपरम्परा की पूर्व निर्दिष्टा तटस्थ-आलोचना करने की धृष्टता करता हुआ हमारी आम्नाय परम्परा को विज्ञानदम्भ के

(२१६ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश,)

अङ्गिरोऽग्नि-पुञ्जरूप सूर्य्य ही ताम्रवर्णात्मक विविधवर्णसमन्वित (रक्त-बभ्रु-नील-पीत-आदि युक्त) यह ऐन्द्रियिक तपुञ्ज है, जिसे संहारक 'रुद्र' माना गया है। जब तक पारमेष्ठ्य सोम का इसके साथ सम्बन्ध होता रहता है, तब तक 'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' (शत०) के अनुसार अग्नीषोमात्मक बने हुए सौर रुद्र 'शिव' भाव में परिणत रहते हैं, एवं तभी तक रोदसीत्रैलोक्यरूप पार्थिव विश्व का स्वरूप संरक्षण है। यदि कारणवश सौर रुद्र पारमेष्ठ्य सोम से पृथक् हो जाते हैं, तो तत्क्षण ये विश्वसंहारक बन जाते हैं। रुद्र की इस ध्वंसप्रवृत्ति के उपशम के लिए ही तो-'शान्तरुद्रिय' नामक यज्ञकर्म्म (शत रुद्रियकर्म्म), 'साम्बसदाशिवोपासना', 'जलाभिषेक' (सहस्रघट) आदि विधान विहित हुए हैं।

आपोमय परमेष्ठी भृगु-अङ्गिरोमय है। भृगु 'स्नेह' तत्त्व है, अङ्गिरा 'तेज' तत्त्व है, सुतीक्ष्ण है। आपोमय समुद्र में दोनों ऋतरूप से परिभ्रममाण हैं। इन दोनों में आङ्गिरोऽग्निमय ऋतपुञ्ज ही 'धूमकेतु' माने गए हैं, जिनके भारतीय विज्ञान ने 'सहस्रधूमकेतवः' रूप से सहस्र वर्ग माने हैं। पारमेष्ठ्य समुद्र में विचरणशील प्रचण्ड-घोरघोरतम उल्कारूप परिभ्रममाण यह अङ्गिरोऽग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है, जो कालान्तर में 'यज्ञवराह' नामक पारमेष्ठ्य सौम्य वायु से शनैः शनैः केन्द्राभूत होता हुआ सहसा 'सूर्य्यपिण्ड' रूप से अभिव्यक्त हो पड़ता है। यही सूर्य्यविर्भाव का एक प्राकृतिक क्रम है, जिसका शतपथभाष्य में विस्तार से निरूपण हुआ है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ४३ वे सूक्त में ४३ मन्त्रों में इसी पारमेष्ठ्य धूमकेतु का सविशद निरूपण हुआ है, जिसका एक मन्त्रमात्र यहाँ उद्धृत हो रहा है—

हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि।
यतन्ते वृथगग्नयः॥

—ऋक्संहिता ८।४३।४।

वक्तव्य यहाँ है कि, पारमेष्ठ्य अङ्गिरोमूर्त्ति लम्बलम्बायमान कटक अण्डाकार-चक्राकारादि विविधाकाराकान्त-उल्कापुञ्जलक्षण अग्निपुञ्ज ही धूमकेतु का स्वरूपपरिचय है, जिसके द्वारा पिण्डाभाव माध्यम से सूर्य्य का पिण्डस्वरूप विनिर्म्मित हुआ है। अवश्य ही यह धूमकेतुप्रतीकरूप सूर्य्य पार्थिव विश्व को क्षणमात्र में भस्मावशेष बना डालता, यदि इसके साथ पारमेष्ठ्य भार्गव-शान्तिपुञ्जरूप-सोम का सम्बन्ध न होता तो। देखना है, केवल अग्निपुञ्जात्मक, अतएव रुद्रात्मक, अतएव संहारात्मक अशुभ बन कर उन आविष्कारकों के द्वारा पारमेष्ठ्य सौम्य शक्ति से समन्वित बन कर विश्वभय का अभयरूप में परिणत करता है।

माध्यम से केवल 'अकर्मण्यों की कल्पना' कहने मानने का अक्षम्य अपराध करना ही अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रहा हो। किन्तु हैं वहाँ भी, उस समाज में भी वैसे यश शरीरी कतिपय मनीषी विचारविमर्शक नैष्ठिक परिगणित विद्वान्, जो भारतीय आम्नायपरम्परा को 'अध्यात्ममूलक' मानते हुए सतृष्ण दृष्टि से इसकी ओर जिज्ञासाभाव से अपना यह प्रणतभाव अभिव्यक्त कर देने में अणुमात्र भी सङ्कोच नहीं कर रहे कि, **"विज्ञान की इस चरम उन्नति के संघर्षकाल में भी अध्यात्मगुरु भारतवर्ष से आज भी हमें वह शान्ति सन्देश प्राप्त हो सकता है, जो मानव के वास्तविकरूप से अभ्युदय निःश्रेयस् साधन की क्षमता रखता है"। सर्वश्री प्लेटो, एरिस्टाटल, शॉपनहावर, डॉ साइल्स् (Sailes), गोस (Gose', एमर्सन् (Emerson), हक्सले (Huxley), श्रेगल (Shegal) वाल (Ball), रास्को Rasko), विल्सन् (Wilson), मैक्समूलर(Maxmuller) वेबर (Weber), सिसरो (Cicero), वेलेन्टिन (Walington), बॉप (Bopp), मिस कारपेन्टर (Miss carpenter), वेलेस (Wallace), फ्रेंचपण्डित लुई जेकोलियट (Lewis Jacolliot), क्रोभर (Crozor), विक्टरकजिन (Victor cousin), काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Sturjana), पालड्यूसन (Polldusion), काउण्ट जोनटोन, (Count Johnton), स्वेडिश काउन्ट (Swedish Count), कालब्रुक (Colebrook), मेगडानल्ड (Megdanald), हीरेन (Heeren), विलियमजोन्स (Williamjones), पायरी लॉटे (Pieree Late),** आदि विद्वान् उक्त प्रणतभाव के ही समर्थक हैं *।

पश्चिम की जिज्ञासा—

अशान आस्थाश्रद्धानुगत तथाकथित प्रणतभाव को चरितार्थ करने के लिए ही पश्चिम ने बड़ी ही आशा-उत्सुकता से पूर्व की ओर देखा। यहाँ उसे मिला क्या ?, मिल क्या रहा है ?, उत्तर स्पष्ट है। आस्था-श्रद्धा के नैगमिक आम्नाय में ही अपने षड्भावविकारों से पुष्पित-पल्लवित होने वाले भारतीय आस्तिक जिज्ञासुओं ने यहाँ के वर्त्तमान युग के-सन्यासी-साधू-सम्प्रदायाचार्य-मठाधीश-दार्शनिक विद्वान्-षट्शास्त्रपारङ्गत मनीषी-तान्त्रिक-सिद्ध-मौनी-तपस्वी-आदि आम्नायसंरक्षकों से विगत कतिपय शताब्दियों से जो कुछ जिज्ञासासमाधान के लिए मिला है मिल रहा है, और भगवान् जाने कब तक इसी प्रकार वही सब कुछ ? मिलता रहेगा, वही सब कुछ तो मिलना चाहिए था उन प्रतीच्य जिज्ञासुओं को भी। और परिणाम इस जिज्ञासा समाधान ? का वही तो होना था, जो परिणाम आज भारतीय आस्तिक प्रजा अश्रुपूर्णाकुलेक्षणा बन कर भोग रही है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेन दूरदर्शी दार्शनिक ईश्वरवादी कान्ट ने इसी परिणाम की, सुपरिणाम ? की भावी कल्पना के आधार पर ही यह कहना सामयिक माना होगा कि-"हम कृतज्ञ हैं भारतीयों की आत्मनिष्ठा से, तत्त्वमीमांसा से। किन्तु हमें उनकी आचारमीमांसा का कभी अनुगामी नहीं बनना चाहिए, जो मानव को अकर्मण्य बना देती

* इनके सोदाहरण निदर्शन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य हैं।

है" । विश्वास न हो तो प्रमाणमीमांसानुगता जिज्ञासा को सर्वात्मना उपशान्त करने के लिए कुछ ही समय पूर्व जिज्ञासु अतिथि बन कर समागत 'श्री पॉलब्रन्टन' (Paul Brunton) की अनुभूति से सम्बद्ध 'गुप्त भारत की खोज' नामक उनके ही लिखे निबन्ध में देखिए।

डॉ० पाल ब्रन्टन की खोज का परिणाम—

क्या मिला पॉल को इस भारत की गुप्त खोज से ?, प्रश्न का समाधान तो स्वयं पॉल से ही प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने उन क्रीड़ा-कौतुकों को-सामान्य गन्धर्वलीलाओं (बाजीगरी के प्रदर्शनों) को ही 'गुप्त भारती खोज' में विस्तार से उपवर्णित किया, जो यहाँ के नगर नगर में, ग्राम ग्राम में झोली झँडा लगाए इतस्ततः दंद्रम्यमाण बाजीगर कालबेलिया (सँपेरे) कुछ एक पैसों के आकर्षण से, खर्पट्टिकाखण्डाकर्षण (रोटी के टुकड़ों के) पर जीर्णशीर्ण वस्त्रों पर बिना निमन्त्रण के ही, बिना जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हुए ही न-न करते भी दिखलाते फिरते हैं। 'प्राणनिरोध' जैसे सामान्य शारीरिक कर्म्म को ही 'समाधि' जैसे लोकोत्तर शब्द से घोषित करने वाले योगीराज, सामान्य चेटकों को ही महासिद्धि घोषित करने वाले तान्त्रिक सिद्धियों के सिद्ध आचार्य्य, नारीकर्म्मसुलभ हंसात्मस्तम्भन (मेस्मेरेज्म-Mesmerism) को ही आत्मस्वरूपबोध करा देने की प्रक्रिया घोषित करने वाले तपस्वी-श्रेष्ठ, (अमुक किसी गुप्त खोज में ही तल्लीन) लोकसंग्रह-के निन्दक गिरिकन्दराओं में-शून्यपर्वत-कन्दराओं में परोक्षरूपेण अपने भक्तवृन्द से अहोरात्र संवेष्टितकाय मुनिराज, सभी के तो उपवर्णन हुए हैं 'गुप्त भारती की खोज में' । आलप्यालमिदं सर्वम् ।

पॉल महोदय को क्या विदित था कि, यहाँ कोई आम्नाय 'गुप्त' नहीं है, खनिजद्रव्यसम भूगर्भ में निहित नहीं है। अपितु यहाँ की सहज आम्नाय में सबकुछ स्फुटतमरूप से आचरण में समाविष्ट है (पूर्व में पुरुष समाज में, और है वर्त्तमान में भी अपठित कहे जाने वाले सहजजीवनानुगत-संघर्ष-परायण ग्रामीण मानव समाज में, एवं अपठित नारीसमाज के महासङ्गीतों की आम्नायानुगता आम्नायभाषा में)। निगमाम्नायानुगता सर्वथा सहज देवसिद्धियाँ, तदनुगत सहज आचरण, सब कुछ लुप्त हो गया निगमाम्नाय की विलुप्ति से। एवं स्खलित मान्यतारूपसे यत्र तत्र ग्रामीण समाज में, तथा नारीसमाज के महासङ्गीतों में जो निगमाम्नायशेष आज भी बचा रह गया है, उसे निगमाम्नायवञ्चित आज का मानव स्वयं समझने-समझाने में असमर्थ रहता हुआ इस ओर से उपेक्षा कर बैठा । इस दिशा में आकर ही अपने आप को शिक्षित-विद्वान्-सिद्ध-तान्त्रिक-दार्शनिक-वेदान्तनिष्ठ-योगी-महात्मा-मुनि-घोषित कर देने वाले भारतीय गुरुसम्प्रदाय को स्वप्रतारणापूर्वक परप्रतरणा से सम्बन्ध रखने वाली लोकैषणा के अनुग्रह से ही अपनी उन खोजों ? को खोज करने वाले जिज्ञासुओं के सम्मुख रख देना पड़ा, जिससे प्रभावित होकर अन्वेषक पॉल को अन्त में जो कुछ मनोभाव परोक्ष रूपसे इस

वर्त्तमान गुप्त भारत के सम्बन्ध में अभिव्यक्त करने पड़े, उन्हें यथासम्भव * न सुना जाय, इसी में आस्तिक भारतीय मानव का श्रेय है ।

स्तुत्य एवं सर्वात्मना स्पृहणीय है उन प्रतीच्य विद्वानों की जिज्ञासावृत्ति, जो विविध प्रकारों से सदा ही भारत के आमन्त्रण के लिए उत्सुक हैं । उसने शान्तिसंवाहक ? बौद्धमठों की धूलि को मस्तक पर लगाया, वाराणसी में रहकर मुण्डनपूर्वक काषायवस्त्र धारण कर तपःपूत कष्टसाध्य जीवन-यापन को अपनाया, भारतीय दार्शनिक ? विद्वानों को आमन्त्रित कर अपनी शिक्षासंस्थाओं में उनके विचारप्रवाहों का सर्वात्मना आतिथ्य किया, सभी कुछ किया, सभी कुछ हुआ, किया-जायगा, होता जायगा, करते ही रहेंगे वे जिज्ञासु कर्म्मठ । किन्तु ?, इस सर्वस्व घातक 'किन्तु-परन्तु' का इतिहास हम क्या निवेदन करें, जबकि स्वयं हम ही अपनी नैगमिक आम्नाय से परा पराङ्मुख बन गए हैं । "हमारे शास्त्रों में ऐसा, हमारे दर्शन ऐसे, हमारे वेदों में सब कुछ, यहाँ से सबने लिया, सब ने सीखा", इसी को क्या आम्नाय कहा जायगा ? । यही है वर्त्तमान युगके भारतीय विद्वानों की

---

* 'गुप्त भारत की खोज' नामक सामयिक निबन्ध के मूललेखक तरुणयुग सर्वश्री 'पाल ब्रन्टन' के गुप्त अन्वेषणों का 'श्री वी० वेङ्कटेश्वरशर्म्मा शास्त्री' द्वारा अनुवादित एतन्नामक हिन्दीग्रन्थ में जो उपवर्णन हुआ है, उसमें आदि से अन्त पर्य्यन्त भारतीय उस नैगमिक-आम्नायपद्धति का स्पर्श भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ, जो आम्नाय ही भारत का एकमात्र रहस्यपूर्ण अन्वेषण माना गया है । यही कारण है कि, डॉ० महोदय को यहाँ जिनसे जो कुछ उपलब्ध हुआ, उस से वे सन्तुष्ट न हो सके । अपनी सहज शिष्टता से भावुकतापूर्ण वर्त्तमान भारतीय मान्यताओं के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करने वाले इस शिष्ट मानव को मध्ये मध्ये अपने ये भी सहज उद्‌गार प्रकट कर ही देने पड़े कि—

(१) "बाकी रात मुझे तनिक भी नींद नहीं आई मैं जागता हुआ लेटा रहा, और कुम्भकोणम् के जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य, जिन्हें भारत की—भोली हिन्दू जनता ईश्वर का प्रतिनिधि मानती है—"
—इत्यादि (पृष्ठ २०६) ।

(२) "लेकिन किसी मनुष्य ने किसी जी उबाने वाले भारतीय गाने—भजन—टेक को उच्च स्वर से अलाप कर मेरी इस स्वर्गीय स्वाप्निक अनुभूति को बड़ी ही कर्कशता से ठेस पहुँचाई" ।
—इत्यादि (पृष्ठ ३२७) ।

(३) "मैं फिर एकबार मानवजीवन की अविस्मरणीय कथा सुनने लगा । स्पष्ट है कि, पूर्वी संसार में कहीं भी जाऊँ, इस कहानी से मेरा पिंड न छूटेगा । किन्तु क्या कभी इन कल्पनामय पुरुषों से भेंट होगी ? । क्या इस प्राचीन सिद्धान्त को विज्ञान और मानसिक शास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण मान कर पश्चिम कभी स्वीकार करेगा, या नहीं" (पृष्ठ ३८५) ।

शास्त्रभक्ति, दर्शनाभिनिवेश, वेदाम्नायघोषणा। आम्नाय का स्वरूप क्या है ?, वेद किन विद्याओं का किस पद्धति से प्रतिपादन करता है ?, उन स्वरूपों–विद्याओं–पद्धतियों–का मानवजीवन के साथ कैसे सहज सम्बन्ध है ?, यह है आचरणात्मिका नैर्गमिक आम्नाय का वास्तविक स्वरूप, जिसकी वैज्ञानिक पद्धति का एकमात्र स्रष्टा है—'निगमशास्त्र', जो आम्नायपरम्परा से भारतीय जीवन से अनेक शताब्दियों से सर्वथा विनिर्गत हो चुका है। व्यक्त बन गई है सर्वात्मना आम्नायविरुद्ध कल्पित मतवाद-परम्परा, कल्पित शास्त्राभास, आम्नायव्याख्यावञ्चित भारतीय दर्शनशास्त्र, और सर्वोपरि मूर्द्धाभिषिक्त बन गए हैं पूर्वोपवर्णित दीक्षाभय–समाकुलित सिद्धियों के आकार–प्रकार। क्या निगमाम्नायानुमोदित भावका अनुगामी नहीं बनेगा भारत ? । नेति होवाच। यह आम्नाय इसकी सनातन आम्नाय है। इसे दिक्–देश–कालसीमा कभी क्षत-विक्षत नहीं कर सकती। यही शाश्वत आम्नाय मानव की सहज जिज्ञासा का गुप्तरूप से नहीं, सर्वथा प्रकटरूप से आज भी समाधान करने के लिए सूर्यवत् जरीजागर्त्ति–जरीजागर्त्ति। ढूँढ़िए, सत्यनिष्ठा से अन्वेषण कीजिए, आस्थाश्रद्धापूर्वक अनुगगनप्रवृत्ति को जाग्रत बनाइए।

—उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! ! प्राप्य वरान्निबोधत ! ! !

क्या वर प्राप्त किया हमनें इस आम्नायमूलक उस समाधान से, जो तटस्थ आलोचकों की तटस्थ आलोचना के प्रसङ्ग से प्रतिज्ञात बना था ? । वरप्राप्तिमूलक समाधान एकमात्र है—ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण निगमशास्त्र का आम्नायनिष्ठा से–'स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़-भूमिः' नियमानुगतिपूर्वक आम्नायपरम्परात्मक स्वाध्याय, तत्त्वानुशीलन, तत्त्वचिन्तन। कथमपि सम्भव नहीं है भाषामय निबन्धों के माध्यम से, व्याख्यानपरम्परामाध्यम से, एवं तर्क–युक्तिलक्षणा वितण्डावादानुगति से आम्नायजिज्ञासाका वास्तविक समाधान। यही है तटस्थ–आलोचना का प्रासङ्गिक तटस्थ एकमात्र समाधान, जिसकी तटस्थता आपद्धर्मधिया निम्नलिखित पावन स्मृति के रूपसे दो शब्दों में निवेदन कर इस प्रासङ्गिक चर्चा से अवकाश ग्रहण किया जा रहा है।

अन्त से अनन्त की ओर—

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि, प्रतीच्य विद्वानों की तत्त्वमीमांसानुगता (आचारमीमांसात्मिका धर्ममीमांसा से सर्वथा असंस्पृष्टा) विचारसरणी के माध्यम से ही हमें तटस्थ आलोचना के प्रासङ्गिक समाधान की चेष्टा में प्रवृत्त होना चाहिए, एवं इस दृष्टिकोण–माध्यम से भौतिक विश्वकी स्वरूपानुगता केवल तत्त्वमीमांसा की सरणी से ही समाधानोपक्रम करना चाहिए (देखिए, पृ० सं० ३०६) । तुष्यद्दुर्जनन्यायेन थोड़ी देर के लिए हम भी भौतिक विश्व की तत्त्वमीमांसा को 'फेनोमेनल' सम्बन्धी प्रत्यक्षदृष्ट शरीरात्माधिकरण इन्द्रियजन्य ज्ञान का ही उपबृंहण मान लेते हैं, एवं इस दृष्टि से ही उनकी सरणी से ही 'अन्त से अनन्त की ओर' (सर्ग से प्रतिसर्ग की ओर, सञ्चर से प्रतिसञ्चर की ओर, विज्ञान से ज्ञान की ओर, अनेकत्त्व से एकत्त्व की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर, विनाश से सम्भूति की ओर, अविद्या

से विद्या की ओर, प्रकृति से पुरुष की ओर, कार्य्य से कारण की ओर, जड़ से चेतन की ओर, मेटर से फार्म्म * की ओर, फेनोमेलन से रीजन की ओर, मेटर से फोर्स की ओर, अथोम्म से थीज्म की ओर, निष्कर्षत विनश्वर जगत् से अविनश्वर जगदीश्वर की ओर) इस दृष्टिबिन्दु के माध्यम से ही हम आलोचना के संक्षिप्त समाधान में प्रवृत्त हो रहे हैं।

प्रगुणसर्गत्रयीमीमांसा—

'जो जिसका गुण, वही उसका दोष' इस पूर्वोपात्त लोकसूत्र का अपवाद ही माना जायगा भौतिक प्राकृतिक विश्वसर्ग। प्राकृतसर्ग में गुण गुण ही रहता है, दोष दोष ही रहता है। इसी दृष्टि से हमें विश्वेश्वर के गुणसर्ग की, एवं विकारसर्ग (दोषसर्ग) की दिशा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। कारणसमुदाय को ही कार्य्य के प्रति कारणता है अन्तमूला सर्गव्याख्या की दृष्टि से, जैसा कि शरीरात्माधिकरणवादिनी अतएव अन्तवादिनी प्रमाणमीमांसानुगता न्याय-वैशेषिक-सांख्यदर्शन से सम्बद्धा सृष्टिसर्गव्याख्याओंमें स्पष्ट घोषणा हुई है—। प्रत्यक्षदृष्ट भौतिकविश्व का स्वरूप क्या ?, संक्षिप्त उत्तर परस्पर प्रतिद्वन्द्विताक्रान्त, 'प्रतिक्षण विलक्षण परिवर्त्तन, सर्वैकरस अविलक्षण अपरिवर्त्तन'। परिवर्त्तन के कारण प्रत्येक भौतिक पदार्थ (जो कि इन्द्रियगोचर है) बदल रहा है, द्रुतवेग से परिवर्त्तित हो रहा है। तभी तो इसके 'अस्ति-जायते-वर्द्धते-अपक्षीयते-विपरिणमते-विनश्यति' इत्यादि षड्भावविकारात्मक स्थूल परिवर्त्तन प्रत्यक्षदृष्ट बन रहे हैं। किन्तु आश्चर्य, प्रतिक्षण विलक्षण परिवर्त्तन के विद्यमान रहते भी आदि से अन्तपर्य्यन्त "यह वही पदार्थ है, जो पहिले न था, आज उत्पन्न हुआ, यह वही है, जो पूर्वकाल में नवीन था, भावी काल में पुराना हो जायगा" इत्यादि रूप से परिवर्त्तनीय भागों के साथ साथ ही 'वही है-वही है' इस रूप से प्रत्यक्षसंस्थित इस अपरिवर्त्तनीय भाव का भी हमें साक्षात्कार हो रहा है, जो साक्षात्कार 'स एवायं देवदत्तः, यः पुरा मया मथुरायां दृष्टः' इत्यादि वाक्यमाध्यम से 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से प्रसिद्ध है, जिस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर (प्राणदृष्टि के आधार पर) सुप्रसिद्ध 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' का आविर्भाव हो पड़ा है। परिवर्त्तन, अपरिवर्त्तन, दोनों परस्पर तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरोधी, महान् प्रतिद्वन्द्वी, किन्तु दोनों का अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध से × एक ही बिन्दु में समसमन्वय, क्या यह आश्चर्य नहीं है-'ते हैते

*—'प्योपर मेटर, तथा प्योपर फार्म्म नाट्'। "फार्म्म (आकार-चेतन-अक्षर), और मेटर (आकारित-जड़-क्षर), दोनों का शुद्धरूप स्वतन्त्ररूप से अनुपलभ्य है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'।

—"यद्यत् कार्य्यं, तत्तत् कर्तृजन्यम्, कार्य्यत्वात्–घटवत्। क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यम्। कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्"।

× 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितः'।
'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'।

ब्रह्मणो महती अम्बे महती यत्ते' । जब कार्य्य का स्वरूप भावद्वयापन्न है, तो कारण भी अवश्य ही तद्रूप ही होना चाहिए। कारणात्मक वही स्वरूप कार्य्यरूप–भावद्वयात्मक–भौतिकजगत् का स्रष्टा प्रजापति हैं, जिस कारणरूप स्रष्टा प्रजापति के कारणात्मक अभौतिक दोनों रूप क्रमश: 'रस–बल' नाम से, 'आभू–अभ्व' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं निगमाम्नाय में ।

बलगर्भित रसात्मा वही स्रष्टा जहाँ मुक्तिभाव का अधिष्ठाता बनता है, वहाँ रसगर्भित बलात्मा वही स्रष्टा भुक्तिभाव का प्रवर्त्तक बनता है। भुक्ति–मुक्ति–अधिष्ठाता वह रसबलात्मक प्रजापति– 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्' इत्यादि रूप से तीन प्रकार से अपनी महिमा से–विभूति सम्बन्ध से–योग सम्बन्ध से–एवं बन्ध सम्बन्ध से–व्यक्त होता है। स्रष्टाप्रजापति के इन सम्बन्धों का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेना ही भौतिक विश्व का सर्वात्मना स्वरूपबोध प्राप्त कर लेना है।

अपने इन विभिन्न सम्बन्धों से प्रजापति तीन प्रकार के सर्गों में प्रवृत्त होता है, जो तीनों प्राजापत्य सर्ग (किंवा उपनिषदों की भाषा में 'महिमसर्ग') क्रमश १–'ऋषिसर्ग–२–'पितृसर्ग–३–देवसर्ग' नामों से प्रसिद्ध हुआ है–निगमाम्नाय में–, जिन इन तीनों नैगमिक श्रौत सर्गों का स्मृति में इसी नाम से, एवं पुराणपुरुष की भाषा में 'भावसर्ग गुणसर्ग–विकारसर्ग' नामों से उपवर्णन हुआ है (अ)। पुराणपरिभाषा में ये ही तीनों सर्ग 'मानसीसृष्टि–देवसृष्टि–'मैथुनीसृष्टि'–

÷(१)–असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् । ऋषयो वाव तेऽग्रे ऽसदासीत् । प्राणा वा ऋषयः । इदं (विश्वं) इच्छन्तः श्रमेण तपसा 'अरिषन्' (प्राणाः–असद्रूपाः–इति प्राणा एव) तस्मात्– 'ऋषयः' । (शत० ६।१।१।१)।

(२)–आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी । ता हि परमे स्थाने (सूर्य्यादपि परस्थाने–ऊर्ध्वस्थाने तिष्ठन्ति) (शत० ८।७।३।१३। तै० २।२।१०।४) ऋतमेव परमेष्ठी (तै० १।५।५।१)–स (ऋषिमूर्त्तिः स्वयम्भूः प्रजापतिः) पितृनसृजत । तत् पितृणां पितृत्वम् । (तै० २।३।८।२)–(शत० ११।१।६।१७)।

(३) स (परमेष्ठी) प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत्–'अनेन त्वा कामप्रेण यज्ञेन प्रजायानि, येन मां पिता प्रजापतिः (स्वयम्भूः–ऋषिः) अयीयजन्–इति । तथेति । ता वा एता देवताः– एतेन कामप्रेण यज्ञेन–अयजन्त" । (शत० ११।१।६।२०)।

(अ)–ऋषिभ्यः पितरो जाता, पितृभ्यो देवमानवाः
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः (मनुः)।
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ (गीता० १०।७।)
विकारांश्च गुणांश्चैतान् विद्धि प्रकृति–सम्भवान् (गीता०)

इन नामों से प्रसिद्ध हुई है। पञ्चदशकलाधारभूत निष्कल सर्वबलविशिष्टरसैकघन मायातीत परात्पर ब्रह्म की अखण्ड सत्ता से अनुगृहीत पञ्चकल अव्ययात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, पञ्चकल क्षरात्मा, की समष्टि रूप षोडशकल प्रजापति ही इस सर्गत्रयी का सर्वस्व बना हुआ है, इसी आधार पर–'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' यह निगमाम्नाय प्रतिष्ठित हुआ है ❀। पञ्चकल क्षरात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, दोनों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला अखण्ड परात्पराभिन्न 'पञ्चकल अव्ययात्मा ऋषिसर्ग का प्रवर्त्तक बनता है'। क्षर–अव्यय को गर्भ में निहित रखने वाला 'पञ्चकल अक्षरात्मा पितृसर्ग का प्रवर्त्तक बनता है'। एवं परात्पराव्ययाक्षरको स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला 'प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद्मूर्त्ति'-'पञ्चकल–क्षरात्मा देवसर्ग का आरम्भक (उपादान) बनता है'। इन तीन सर्गों में ही मुख्य आत्मसर्ग परिसमाप्त है, जिसका परिपूर्ण समन्वय हुआ है परिपूर्ण 'मानव' सर्ग में। इसीलिए भगवान् मनु ने–'पितृभ्यो देवमानवाः' रूप से आत्मसर्गत्रयी के अन्तिम देवसर्ग के साथ 'मानव' का भी संग्रह कर लिया है। इन तीनों आत्मसर्गों को अवधान पूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं इसी आधार पर अपनी तटस्थ आलोचना के प्रासङ्गिक समाधान का अन्वेषण कीजिए। अवश्य आप सर्वात्मना सुसमाहित बन जायँगे—

÷(१)–अव्ययात्मसर्गः—ऋषिसर्गः———मानसृष्टिः	–पुरुषसर्गः (१)		प्रथमसर्गः
(२)–अक्षरात्मसर्गः——पितृसर्गः————गुणसृष्टिः	–प्राकृतसर्गौ (२)		
(३)–क्षरात्मसर्गः———देव (देवमानव) सर्गः-विकारसृष्टिः			

—१—

१-परात्पराभिन्नः-पञ्चकलाक्षर-पञ्चकलक्षरगर्भितः-आनन्दविज्ञानमनोघनप्राणवाङ्मूर्त्तिरव्ययात्मा षोडशी

२-परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्यय-पञ्चकलक्षरगर्भितः-ब्रह्मेन्द्रविष्णुसोमाग्निमूर्त्तिरक्षरात्मा—षोडशकलः

३-परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्यय-पञ्चकलाक्षरगर्भितः-प्राणापोवागन्नान्नादमूर्त्तिः क्षरात्मा–षोडषकलोपेतः

—२—

❀ इसी निगमाम्नाय के आधार पर कुलस्त्रियों की देव–पितृकर्म्मानुगता महासङ्गीतव्यवस्था षोडश (१६) महासङ्गीतों से ही परिपूर्ण मानी गई है। 'देईदेवता' (देवपत्नियाँ–और देवता) ओं के गीत स्त्रियों की लोकाम्नाय में १६ गीतों में ही परिपूर्ण माने जाते हैं।

÷ इन आत्मसर्गों का विशुद्ध वैज्ञानिक विवेचन ईशभाष्य, आत्मपरीक्षात्मक गीताभूमिका 'क' विभाग, आदि अन्य निबन्धों में द्रष्टव्य है—

(१)–षोडशीप्रजापतिः—–ऋषिसर्गाधारः–स्वयम्भूब्रह्म एव ऋषिभावः (ज्ञानगम्यः)

(२)–षोडशकलप्रजापतिः—पितृसर्गाधारः–परमेष्ठी सुब्रह्म एव पितृभावः (औपासनिकः)

(३)–षोडशकलोपेतप्रजापतिः-देवसर्गाधारः–सूर्य्यस्त्रयीधन एव देवभावः (यज्ञाधिष्ठाता-कर्माधिष्ठाता)

—३—

वैशेषिक–सांख्य–वेदान्त के आलोच्य दृष्टिकोण—

सांख्याभिमत प्रकृति–पुरुषद्वन्द्व की अपेक्षा से नैगमिक सर्ग यद्यपि अव्याख्यात है। तथापि हम अपनी ओर से सांख्याभिमत प्राकृतिक सर्ग के साथ नैगमिक सर्ग का समन्वय करते हुए चार प्रकार के सर्गों का यहाँ प्रसङ्ग समन्वय की दृष्टि से संग्रह कर लेते हैं। सांख्य जिसे प्रकृति कहता है, निगमाम्नाय-दृष्टि से वह है वास्तव में 'वैकारिक पशु भाव'। एवं सांख्य जिसे 'पुरुष' कहता है, वह है निगमदृष्टि से वास्तव में 'विकृति' भाव, जो इत्थंभूत दृष्टिकोण अवश्य ही अन्यतन्नैष्ठिक प्राधानिकों की उत्तेजना का कारण बन सकता है। अणिमामहिमादि सम्पूर्ण सिद्धियाँ, भूतप्रेतसर्ग-आदि सब कुछ सांख्य के उस वैकारिक पशुसर्ग में ही अन्तर्भूत माने जायेंगे, जो पशुसर्ग वर्त्तमान दर्शन, किंवा तन्सम अन्य तन्त्रादि शास्त्रों में उपवर्णित सिद्धिपरम्पराओं के माध्यम से निगमाम्नाय से देवभाव में परिणत भी मानव की वैकारिक प्रवृत्ति का ही कारण प्रमाणित हो रहा है। निगमने इस वैकारिक दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया हो, यह बात तो नहीं है। अवश्य ही निगमशास्त्र ने विज्ञानात्मिका कारणता-मीमांसा-पूर्वक विस्तार से सांख्याभिमत वैकारिक सर्ग का भी निरूपण किया है।

निगमशास्त्र (मूलसंहिताओं) में विस्तार से सांख्यदृष्टिकोणनिबन्धन चतुर्दशविध उस भूतसर्ग का विस्पष्ट निरूपण हुआ है, जिसे हमनें पार्थिव चान्द्रसर्ग, किंवा चान्द्रगर्भित पार्थिवसर्ग कहा है। अतएव चतुर्दशविध भूतसर्गों के आदिभूत ब्रह्मादि आठ देवसर्ग निगम में 'पार्थिवदेवाः' कहलाए हैं, जो अपनी सहजसिद्ध प्राकृतिक सिद्धियों से यथाजात मनःशरीरपरायण चान्द्रपार्थिव 'नर' पर अनुग्रह किया करते हैं। तत्त्वगुणानुबन्ध से दिव्यभावापन्न इन पार्थिव अष्टविध चान्द्रदेवताओं का प्रादुर्भाव 'अत्रा ह गोरमन्वत–इत्था चन्द्रमसो गृहे०' (ऋग्वेद) इत्यादि मन्त्रानुसार चन्द्रानुगता–चन्द्रमण्डल-मुक्त सौररश्मियों से ही हुआ है। इसी सौरगौ (रश्मि) सम्बन्ध से इन दिव्य सत्त्वगुणक) पार्थिव-चान्द्रदेवों को 'गोजाताः' (सौररश्मि से चन्द्रमण्डल में उत्पन्न) कहा गया है। चन्द्रमा स्वयं 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णः०' के अनुसार आपोमय है। अतएव तद्रूप इन गोजात देवों को 'अप्याः' (आपोमय) कहा जायगा। पितृभावापन्न ये ही चान्द्रदेव 'नर' नामक पार्थिव यथाजात मानव को (मानवद्वारा मान्यता-आस्था श्रद्धापूर्वक तुष्ट तृप्त किए जाने पर) सम्पत्ति, पुत्रादि आशीर्भावों से समन्वित कर देते हैं। तभी तो इन्हें 'दातारः' कहा गया है। चान्द्रपितृदेवानुबन्धिनी आशीः

का इसी दृष्टि से-'दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्'-'गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्'-'बहुदेयं च नोऽस्तु' इत्यादि रूप से वर्णन हुआ है। स्वय मूलसंहिताने स्पष्ट रूपसे इस पार्थिवदेववर्ग का यों स्वरूपविश्लेषण किया है। देखिए !

ते नो रायो द्युमतो वाजवतो दातारो भूत नृवतः पुरुक्षोः ।
दशस्यन्तो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता अप्या मृलता च देवाः ॥
—ऋक् सं० ६।५०।११।

किन्तु तत्प्रतिपादक स्वय सांख्य नैगमिक आचारमीमांसा से, नैगमिक व्याख्या से असंस्पृष्ट रहता हुआ। जैसा कि सांख्य की त्रिगुणात्मिका अव्यक्तभाषा से प्रमाणित हो रहा है) इस नैगमिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एकान्ततः पराङ्मुख ही बना रह गया है। अवश्य ही सांख्य ने 'न वयं षट्पदार्थ वादिन:-वैशेषिकवत्' कहते हुए अपने लक्ष्य को वैशेषिक दर्शन से उच्च प्रमाणित करते हुए दिग्देशकालसीमा से निकलने का स्तुत्य प्रयास किया है। सम्भवतः सांख्य के इसी दृष्टिकोण के स्वाध्याय से प्रभावित पश्चिमी दार्शनिक (जिसे इस दृष्टिकोण से हम सांख्यवादी कह सकते हैं) सर्वश्री कान्त की तत्त्वमीमांसा अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित, अतएव वर्त्तमान दार्शनिक जगत् की दृष्टि में मान्या भी प्रमाणित हो रही है। किन्तु सांख्य का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, उसकी त्रिगुणात्मिका सर्गाधिष्ठात्री प्रकृति के माध्यम से सख्यात सिद्ध उसका पुरुषानुगत ज्ञान (तत्त्वमीमांसा) वस्तुतः पशुसर्ग के मूलाधारभूत विकारक्षर की ही मीमांसा है। अतएव सांख्य अध्यात्मज्ञानानुगता नैगमिक आचारमीमांसा से सर्वथा पराङ्मुख बनता हुआ दर्शनाभास ही प्रमाणित हो रहा है।

जब सांख्य की यह स्थिति है, तो अणुवादी उस विशेष-भूतपदार्थ की व्याख्या करने वाले दिग्देशकालसीमा में आमूलचूड निबद्ध वैशेषिकदर्शन के सम्बन्ध में क्या मीमांसा की जाय, जो नैगमिक प्रवर्ग्य (उच्छिष्ट) भूतभौतिक आत्यन्तिक वैकारिकसर्ग से समतुलित बन रहा है। शेष रह जाती है सुप्रसिद्ध वेदान्तनिष्ठा, तत्प्रतिपादक वेदान्तदर्शन। सचमुच हमें अन्तरात्मा से क्षुब्ध होते हुए इसके सम्बन्ध में भी यही भाव अभिव्यक्त करना पड़ रहा है कि, नैगमिक आचारमीमांसा प्राकृत सर्गव्याख्या से वैशेषिक-सांख्यवत् असंस्पृष्ट रहता हुआ यह दर्शन भी केवल 'क्षरब्रह्म' का ही स्पर्श कर पाया है, जो क्षरब्रह्म 'भूतं भविष्यद् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं-बहुब्रह्मैकमक्षरम्' इत्यादि निगम-वचनानुसार जन्मस्थितिभङ्गात्मक विश्व के मूलभूत क्षरब्रह्म को ही अपना मुख्य लक्ष्य बना रहा है, जिसे नैगमिक परिभाषानुसार 'विकृति' ही कहा जायगा। यही वहाँ का 'ब्रह्म' है, इसी की वहाँ प्रारम्भमूला जिज्ञासा है, यही वहाँ जन्मादि का कारण घोषित हुआ है, एवं यही शास्त्रसिद्ध ब्रह्म है वहाँ * ।

---

* "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्, तत्तु समन्वयात्"
—वेदान्तसूत्रचतुष्टयी

वेदान्त का विवर्त्तवाद—

वेदान्त का 'विवर्त्त' वाद ही इसका सूचक है कि, औपनिषद सिद्धान्त के माध्यम से सज्जीभूत वेदान्त ने उपनिषत् के 'महिमा' शब्द की उपेक्षा कर उस कल्पित 'विवर्त्त' शब्द की व्याख्या से वेदान्तनिष्ठा का समन्वय करने की चेष्टा की, जिस 'विवर्त्त' का समन्वय दार्शनिकों से अद्यावधि नहीं हो सका है। पश्चिमी विद्वान् भी सांख्यपर्य्यन्त तो यथाकथञ्चित् अनुधावन कर लेते हैं, किन्तु वेदान्त के 'विवर्त्त' शब्द से संत्रस्त बन कर उन्हें भी यहाँ हतप्रभ ही हो जाना पड़ता है। 'महिमा' शब्द जहाँ ब्रह्मसर्गव्याख्या को, नैगमिक सृष्टिविज्ञान को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता हुआ वेदान्तदर्शन की तत्त्वमीमांसा को आचरणात्मिका आचारमीमांसा से समन्वित करने की क्षमता रखता है, वहाँ 'विवर्त्त' शब्द 'मृगमरीचिका—वन्ध्यापुत्र—शशशृङ्ग—खपुष्प—स्थाणुपुरुष—स्वप्नजगत्'—जैसे बालभावापन्न लोकप्रतारणात्मक उदाहरणाभासों से प्राकृत नैगमिक सर्ग का मानों उपहास सा ही करता हुआ 'जगन्मिथ्यात्व' वाद की जो व्यञ्जना व्यक्त कर रहा है, उसी के अनुग्रह से 'भारतीय नैगमिक आम्नाय आज विस्मृति के गर्भ में विलीन होता हुआ भारतीयों को अभिशप्त—अभितप्त—लक्ष्यच्युत—अकर्मण्य ही बनाता जा रहा है। प्राकृतिकसर्गाम्नायमूलक नैगमिक पुरुषार्थ से वञ्चित वर्त्तमानयुग का भारतीय मानवसमाज एकहेलया वेदान्तनिष्ठ बनता हुआ उभयलोकसम्पत् से वञ्चित होता हुआ—'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' को अक्षरशः चरितार्थ कर रहा है। सर्वश्री कान्त ने यह ठीक ही कहा है कि, "पश्चिम को पूर्व की ऐसी आचारमीमांसा का अनुगामी नहीं बन जाना चाहिए, जो अकर्मण्यता का ही सर्जन करती है"।

सम्वत्सरचक्रत्रयी, और सर्गत्रयी—

निष्कर्षतः अणुवादी वैशेषिक ने पञ्चमहाभूतात्मक वैकारिकसर्ग को अपना प्रतिपाद्य बनाया दिग्देशकालानुगतिपूर्वक, जिसका 'पार्थिवसम्वत्सरचक्र' से सम्बन्ध माना जा सकता है। 'त्रिगुणवादी' सांख्य ने दिग्देशकाल को अमान्य ठहराते हुए 'विकारसर्ग' को अपना निरूपणीय माना, एवं इस 'विकार' को ही इसने 'प्रकृति' नाम से घोषित किया, जिसका 'चान्द्रसम्वत्सरचक्र' से सम्बन्ध माना जा सकता है। 'विवर्त्तवादी' वेदान्त ने 'परब्रह्म' को अपनी जिज्ञासा का लक्ष्य बनाया, एवं यही वहाँ जन्मस्थितिभङ्गाधार 'ब्रह्म' घोषित हुआ, जिसका 'अक्षराधिया' 'सौरसम्वत्सरचक्र' से सम्बन्ध माना जा सकता है। यह साथ ही स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, इस दर्शनत्रयी की क्षर-विकार-वैकारिकभावनिबन्धना तत्त्वमीमांसा इसकी अपनी काल्पनिक मीमांसा है, जिसके साथ निगमव्याख्यानुगता आचारमीमांसाभावापन्ना सौर—चान्द्र—पार्थिव-सम्वत्सरचक्रत्रयी से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसके बिना इस भारतीय दर्शनत्रयी का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान शेष नहीं रह जाता। तालिकाद्वारा समन्वय कर लीजिए इस दार्शनिक दृष्टिकोण का—

१	(१)–आत्मक्षर (अपराप्रकृति)—ब्रह्म (२)–विकारक्षर (पञ्चजनप्रकृति)—विश्वम्	वेदान्तनिष्ठा (विवर्त्तवाद)	—सौरसम्वत्सरात्मिका
२	(१)–विकारक्षर (गुणप्रकृति)—पुरुष (२)–वैकारिकक्षर. (भूतप्रकृति)—प्रकृति	साख्यनिष्ठा (गुणवाद)	—चान्द्रसम्वत्सरात्मिका
३	(१)–वैकारिकक्षर (पशुप्रकृति)—विकृति (२)–पञ्चमहाभूतानि (वैकारिकजगत्)–विकारा	वैशेषिकनिष्ठा (भूतवाद)	—पार्थिवसम्वत्सरात्मिका

'सेतु' माध्यम से मीमांसोपक्रम—

जिन नैगमिक भाव–गुण–विकार–नामक इन तीन ऋषि–पितर–देव–सर्गों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनके समतुलन की दृष्टि से ब्रह्म, किंवा 'पुरुष' किसे कहना चाहिए ?, एवं प्रकृति किसे मानना चाहिए ?, ये मीमांस्य प्रश्न हैं दार्शनिकों के लिए। दो शब्दों में इस समन्वयगर्भ की मीमांसा कर लेना भी अप्रासङ्गिक न होगा। इस समन्वय के लिए हमें किसी वैसे 'सेतु' (कूल-किनारे) को माध्यम बनाना पड़ेगा, जो वास्तव में–'यः सेतुरीजानानाम्' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार 'सेतु' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। 'मानव' दृष्टया हम मानवसर्ग को ही नैगमिक 'सेतु' कहेंगे, जो उस ओर की अमृतभावापन्ना वैज्ञानिकसर्गत्रयी (ऋषि–पितृ–देवसर्गत्रयी) का, एवं इस ओर की मर्त्यभावापन्ना दार्शनिकसर्गत्रयी का मध्यस्थ प्रेरक, वास्तव में मध्यस्थ बनता हुआ 'सेतु' प्रमाणित हो रहा है। यद्यपि चान्द्रसर्गवादी साख्य की दृष्टि से मानवसर्ग सत्त्वगुणप्रधान–अष्टविध–देवसर्ग से इस ओर, एवं तमोगुणप्रधान स्तम्बसर्ग के उस ओर मध्य में प्रतिष्ठित मर्त्य सेतु है, रजोगुणप्रधान सर्ग है। किन्तु निगमव्याख्या के अनुपात से मानवसर्ग का साक्षात् सम्बन्ध है 'सौरसम्वत्सरचक्र' से, जैसा कि–'अहं सूर्य इवाजनि' से प्रमाणित है। पूर्व में भी साख्यसर्गानुगत 'पितरपरिवार' की मीमांसा करते हुए हमनें दोनों दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण कर दिया है (देखिए पृष्ठसंख्या २८६)।

पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा—

विषय बहुत विस्तृत बनता जा रहा है। अत अब विशेष विस्तार की ओर न जाकर हमें 'पञ्चजन' शैली से अनुप्राणित उस 'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा' के माध्यम से इन नैगमिक

(वैज्ञानिक), तथा दार्शनिक सर्गों के तारतम्य की मीमांसा में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जो वल्शा (टहनी–शाखा) * अव्ययेश्वरषोडशप्रजापति–सहस्रवल्शामूर्त्ति–अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति की सहस्रवल्शाओं में से केवल 'पञ्चजन' नाम की एक वल्शा से ही सम्बन्धित है। अव्ययेश्वर से संयुक्त अक्षरद्वारा आत्मक्षरोपादान से उत्पन्न विकारक्षरों के पञ्चीकरण से जो पञ्च–पञ्चात्मक पाँच क्षर प्रादुर्भूत हुए, वे ही 'पञ्चजन' कहलाए। इन पञ्चीकृत पञ्चात्मक (प्रत्येक) पाँच क्षरों से (पञ्चजनों से) इन के पञ्चीकरण से पञ्चविंशति–पञ्चविंशति (२५–२५) कल पुरभावसमर्पक जो क्षर सम्पन्न हुए, वे 'वेदाः–लोकाः–देवाः–पशवः–भूतानि' नामक 'पुरञ्जन' कहलाए। इन पुरञ्जनों के पञ्चीकरण से जो पाँच पुर प्रादुर्भूत हुए, वे ही निगमपरिभाषा में क्रमशः 'स्वयम्भूः–परमेष्ठी–सूर्य्यः–चन्द्रमाः,–पृथिवी–' इन नामों से प्रसिद्ध हुए। इन पाँचों पुरों का इतिहास ही निगमाम्नायानुगत प्राकृत सर्गेतिहास है, जिसे हम निगम के शब्दों में 'ऋषि–पितर–देव–मानव–पशु–भूत' इन ६ भागों में विभक्त मानते हुए 'षड्विधप्राकृतसर्गेतिहास' भी कह सकते हैं। भूत, किंवा–पञ्चमहाभूतों का इतिहास ही 'पृथिवी का इतिहास' (१) है। पशु, किंवा प्रवर्ग्य का इतिहास ही 'चन्द्रमा का इतिहास' (२) है। मानव, किंवा मुक्त्यनुगत मानवात्मक लौकिक मानव का इतिहास ही सेतुस्थानीय 'मानव का इतिहास' (३) है। देव, किंवा मुक्त्यनुगत देवात्मक–देवभावापन्न अलौकिक मानव का इतिहास ही 'जलेतिहासात्मक सूर्य्य का इतिहास' है (४)। पितरों का इतिहास ही 'परमेष्ठी का इतिहास' (५) है। एवं ऋषियों का इतिहास ही 'स्वयम्भू ब्रह्म का इतिहास' है (६)। इस षड्विध इतिहास को मूल बना कर ही तो हमें आलोचना का समाधान करना है।

(१)—ऋषि—इतिहासः—(स्वयम्भू–इतिहास)——प्राणेतिहासः
(आकाशेतिहासः)

(२)—पितर—इतिहासः—(परमेष्ठी इतिहास)——आपेतिहासः
(वायुरितिहासः)

(३)—देव–इतिहासः
(४)—मानव–इतिहासः } —(सूर्य्य–इतिहास)——वागितिहासः
(तेज इतिहासः)

(५)—पशु—इतिहासः—(चन्द्रेतिहास)——अन्नेतिहासः
(जलेतिहासः)

(६)—भूत–इतिहासः—(पृथिवी–इतिहास)——अन्नादेतिहासः
(पृथिवीतिहासः)

सोऽयं–पञ्चपुरुषीप्रजापतिमूलकः प्राकृतसर्गेतिहासः
षड्विधः–पञ्चविधो वा

---

* यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

(१)–ऋषि इतिहासः–(स्वयम्भूः)

"प्राणा वा ऋषयः" (शत० ६।१।१।१)–"ब्रह्म वै स्वयम्भूस्तपोऽतप्यत । स सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि (हुत्वा)-सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं–स्वाराज्यं–आधिपत्यं पर्य्यैत्" (शत० १३।७।१।१)।

(२)–पितर-इतिहासः (परमेष्ठी)–

"आपो वा इदं सर्वं–यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति । तस्मात् 'परमेष्ठी' नाम" (शत० ११।६।१:१६।)–"तृतीये वा इतो लोके (सोमात्मके परमेष्ठिलोके–'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोमः') पितरः" (तै० ब्रा० १।३,१०।४।)।

(३)–देव इतिहासः (सूर्य्यः)–

"तं देवा अब्रुवन्–सुवीर्य्यो मर्य्या यथा गोपायत, इति-तत् सूर्य्यस्य सूर्य्यत्त्वम्" (तै० ब्रा० २।२।१० ४।)–"नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः"–"सूर्य्यो ह सर्वेषां देवानामात्मा" (शत० १४।३।२।६।)।

(४)–पशु-इतिहासः (चन्द्रमाः)–

"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" (शत० १।६।४।५।)–"असौ वै चन्द्रः पशुः, तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते" (शत० ६।२।२।१७।)।

(५)–भूत-इतिहासः (पृथिवी)–

"इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा" (शत० १४।१।२।१०–यजुः सं० ३७।४।)–"सर्वेषां-भूतानां पृथिवी रसः" । (छन्दोग्य उ० १।१।२।)–"इयं वा पृथिवी अन्नादी" (कौ०२६।४।)" । "अस्मिन् हि लोके–पृथिव्यामेव–सर्वाणि वियन्ति" (शत० १४।१।२।२४।) "।

दार्शनिकतत्त्वमीमांसा के अनुरोध से उक्त छओं ऐतिहासिक सर्गों को क्रमशः (१)–अव्ययात्मानुगत (षोडशीप्रजापत्यनुगत) ऋषिसर्ग को 'पुरुषसर्ग' कहा जायगा। (२)–अक्षरात्मानुगत (षोडशकल प्रजापत्यनुगत) पितरसर्ग को 'पराप्रकृतिसर्ग' कहा जायगा। (३ –आत्मक्षरानुगत (षोडशकलोपेत प्रजापत्यनुगत) देवसर्ग को 'पराप्रकृतिसर्ग' कहा जायगा। (४)–विकृतिक्षरानुगत सौर सम्वत्सर-चक्रात्मक मानवसर्ग को 'विकृतिसर्ग' कहा जायगा। (५)–विकारादि सामान्यक्षरानुगत चान्द्रसम्वत्सर-चक्रात्मक पशुसर्ग को 'विकृतिसर्ग' कहा जायगा। (६)–एवं वैकारिक विशेषक्षरानुगत पार्थिवसम्वत्सर-चक्रात्मक वैकारिक सर्ग को 'भूतसर्ग' कहा जायगा। इस निगमाम्नायदृष्टि से ६ ओं सर्गों का तात्त्विक (तत्त्वमीमांसासम्मत) समन्वय लोकसंग्रहविधया तालिकामाध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वित माना जा सकेगा—

१)–प्राकृतिकसर्गाधारः–सर्गनिमित्तः–सर्गोपादानः–सर्वमूर्त्तिः–सर्वेश्वरप्रजापतिपरिलेखः—

अर्द्धमात्रः–अमात्रः–सर्वमात्रः–मात्रातीतः–मायातीतः–परात्परः–विश्वातीतः–'अखण्डपरात्परः'

१	१ आनन्दः	२ विज्ञानम्	३ मनः	४ प्राणः	५ वाक्	अव्ययः 'पुरुषः' पञ्चकलः
२	१ ब्रह्मा	२ विष्णुः	३ इन्द्रः	४ सोमः	५ अग्निः	अक्षरः पञ्चकलः 'पराप्रकृतिः'
३	१ प्राणः (शुद्धः) (१)	२ आपः (शुद्धाः) (१)	३ वाक् (शुद्धा) (१)	४ अन्नम् (शुद्धम्) (१)	५ अन्नादः (शुद्धः) (१)	आत्मक्षरः-पञ्चकलः 'अपराप्रकृतिः'
४	१ प्राणः (पञ्चीकृतः) (५)	२ आपः (पञ्चीकृताः) (५)	३ वाक् (पञ्चीकृता) (५)	४ अन्नम् (पञ्चीकृतम्) (५)	५ अन्नादः (पञ्चीकृतः) (५)	विकृतिक्षरः पञ्चजनः 'विकृतिः'
५	१ वेदाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	२ लोकाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	३ देवाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	४ पशवः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	५ भूतानि पञ्चपञ्चीकृतानि (२५)	विकारकक्षरः पुरञ्जनम् 'विकारः'
६	१ स्वयम्भूः (आकाशात्मा) (१००)	२ परमेष्ठी (वाय्वात्मा) (१००)	३ सूर्य्यः (तेजोमयात्मा) (१००)	४ चन्द्रमाः (जलात्मा) (१००)	५ पृथिवी (पृथिव्यात्मा) (१००)	वैकारिकक्षरः पुराणि 'वैकारिकानि'
सैष एव सर्वमूर्त्तिः	पञ्चपञ्चीकृत-वेदपुरञ्जन प्रधानः शतमूर्त्तिः सर्वमूर्त्तिः १	पञ्चपञ्चीकृत-लोकपुरञ्जन प्रधानः शतमूर्त्तिः सर्वमूर्त्तिः २	पञ्चपञ्चीकृत-देवपुरञ्जन-प्रधानः शतमूर्त्तिः सर्वमूर्त्तिः ३	पञ्चपञ्चीकृत-पशुपुरञ्जन-प्रधानः शतमूर्त्तिः सर्वमूर्त्तिः ४	पञ्चपञ्चीकृत-भूतपुरञ्जन-प्रधाना शतरूपा सर्वरूपा ५	सैषा प्राजापत्यवंशा

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति
एष एव सर्वेश्वरः प्रजापतिः

(२) अश्वत्थवृक्षात्मनिबन्धनपुरुषप्रकृतिभावपरिलेखः—

१	(१)–परात्पराभिन्नः–पञ्चकलाक्षरपञ्चकलात्मक्षरगर्भितः— आनन्दविज्ञानमनोघनोवाक्प्राणमूर्त्तिः – अव्ययात्मा (१)		विश्वात्मा
	(२)–पञ्चकलात्मक्षर-परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्ययगर्भितः— ब्रह्मेन्द्रविष्णुघन.सोमाग्निमूर्त्तिः——अक्षरात्मा (२)		
	(३)–परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्ययपञ्चकलाक्षरगर्भितः—— प्राणापोवाग्घनोऽन्नाद मूर्त्तिः——आत्मक्षरात्मा (३)		
२	(४) अव्ययाक्षरात्मक्षरगर्भितः—पञ्चीकृत— माणापोवागन्नान्नादमयः——विकृतिभावः (३)		विश्वम्
	(५)–अव्ययाक्षरात्मक्षरपञ्चीकृतविकृतिक्षरगर्भित –पञ्चपञ्चीकृत- वेदलोकदेवपशुभूतमयः——विकारभावः (२)		
	(६)–अव्ययाक्षरात्मक्षरविकृतिविकारगर्भितः–शतमूर्त्तिः– स्वयम्भूपरमेष्ठीसूर्य्यचन्द्रभूमिमयः——वैकारिकभावः (१)		

—×—

(३) विश्वेश्वरात्मनिबन्धन–पुरुषप्रकृतिद्वन्द्वपरिलेखः—

१	(१) अव्ययात्मा—षोडशीप्रजापतिः———पुरुषः———औपनिषदः (ऋषिसर्गाधारः)		विज्ञानदृष्टिः
	(२) अक्षरात्मा—षोडशकलप्रजापतिः——प्रकृतिः परा—आरण्यकी (पितृसर्गाधारा)		
	(३) आत्मक्षरात्मा-षोडशकलोपेतप्रजापतिः—प्रकृतिरपरा–ब्राह्मणानुगता (देवसर्गाधारा)		
२	(३) विकृतिविश्वम्—विश्वम्———————विकृतिः——वेदान्तानुगता (मानवसर्गाधारा)		दर्शनदृष्टिः
	(२) विकारविश्वम्—जगत्———————विकारः—सांख्यानुगता (पशुसर्गाधारः)		
	(१) वैकारिकविश्वम्–संसारः———————वैकारिकः—वैशेषिकानुगता (भूतसर्गाधारः)		

—×—

(४) दार्शनिकदृष्टिकोणनिबन्धनप्रकृतिपुरुषद्वन्द्वपरिलेखः—

१ प्रकृतिरपरा (पराप्रकृतिरूपाक्षरानुगृहीतः क्षरः) एव विजिज्ञास्यं ब्रह्म——वेदान्तब्रह्म
विकृतिरेव—विश्वम्—महासर्गः——विश्वसर्ग——जन्मादिलक्षणः——वेदान्तसर्गाभासः

२ विकृतिरेव—संख्यातः सिद्धः———ज्ञानात्मकः———पुरुषः———सांख्यपुरुषः
विकार एव—पशुभाव एव—चतुर्दशविधसर्गाधिष्ठात्री प्रकृतिः—सांख्यप्रकृतिराभासिकी

३ विकारा एव—भौतिकं विश्वम्———धर्माधार—ईश्वरः——वैशेषिक—आत्माभासः
वैकारिक एव-भौतिकसर्गमीमांसा——धर्मसाधकाः पदार्थाभासाः—वैशेषिकविज्ञानाभासः

(५) नैगमिकदृष्ट्यनुगत—प्रकृतिपुरुषद्वन्द्वानुबन्धी—सर्गपरिलेखः—

स्वयम्भूः दम्पती	(१)—स्वयम्भूः—परमाकाशः—पुरुषः—'पुरुष एवेदं सर्वम्' (२)—परमेष्ठी——ऋतमेव——प्रकृतिः—प्रकृतिरेवेदं सर्वम्	ऋषिसर्गाधारः (पुरुषसर्गः) (ऋषिमानवाधिष्ठाता)
परमेष्ठी दम्पती	(१—परमेष्ठी—ऋतमेव——पुरुषः—प्रकृतिलक्षणः पुरुषः (२)—सूर्य्यः——पुराणाकाशः—प्रकृतिः—विकृतिलक्षणा प्रकृतिः	पितृसर्गाधारः (प्रकृतिसर्गः) (पितृमानवाधिष्ठाता)
सूर्य्यः दम्पती	(१)—सूर्य्यः——सत्यमेव—पुरुषः—प्रकृतिविकृतिलक्षण. पुरुषः (२)—चन्द्रमाः—ऋतमेव— प्रकृतिः -विकृतिलक्षणा प्रकृतिः	मानव-देवसर्गाधारः (विकृतिसर्गः) (मुनिमानवाधिष्ठाता)
चन्द्रमाः दम्पती	(१)-चन्द्रमाः—ऋतमेव ——पुरुषः—विकृतिविकारलक्षणः पुरुषः (२)—पृथिवी——भूताकाशः—प्रकृतिः—विकारलक्षणा प्रकृतिः	पशुसर्गाधारः (विकारसर्गः)
		लोक-मानवस्थानम्
पृथिवी दम्पती	(१)—पृथिवी——भूतम्- -पुरुषः—विकारवैकारिकलक्षणः पुरुषः (२)—भूतानि——सत्यमेव-प्रकृतिः—वैकारिकलक्षणा प्रकृतिः	भूतसर्गाधारः (वैकारिकसर्गः)

भारतीय दर्शन का आलोच्य दृष्टिकोण—

भारतीय दार्शनिकोंने जिस शैली से तत्त्वमीमांसा करते हुए अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को परम्परया आत्मबोध का साधक घोषित किया है, वह प्रथम तो पञ्चम परिलेखानुगत नैगमिक दृष्ट्यनुगता प्रकृति-पुरुषद्वन्द्वानुबन्धिनी पञ्चविधा सर्गमीमांसालक्षणा उस आचारमीमांसा (पञ्चविध-प्राकृतसर्गमीमांसा) से सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहा है, और यही आचारमीमांसा-बहिर्भूता भारतीय दार्शनिक तत्त्वमीमांसा की ऐकान्तिकी वह अनुपादेयता, तथा अनुपयोगिता है, जिसे मूल बना कर भारतीय आध्यात्मिक आचारमीमांसा के जिज्ञासु प्रतीच्य विद्वान् भारतीय दर्शनशास्त्रों से, तद्विज्ञ दार्शनिकों से बड़ी ही आशा-प्रतीक्षा के साथ समय समय पर अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त करते रहते हैं। केवल भारतीभाषा (संस्कृतभाषा) के विद्वान् भारतीय दार्शनिक प्रतीच्य विद्वानों की जिज्ञासा-शान्ति में असमर्थ इस लिए बने रह जाते हैं कि, न तो इनके द्वारा उनकी भाषा में भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही सम्भव, एवं न उनके द्वारा इन की भाषा (संस्कृत) में जिज्ञासा का ही स्पष्टीकरण सम्भव। अवश्य ही वैसे भारतीय दार्शनिक इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, जो संस्कृत-वाङ्मय के साथ साथ न केवल प्रतीच्यभाषा के ही, अपितु-प्रतीच्य दार्शनिक दृष्टिकोण के भी सुविज्ञ नहीं, तो विज्ञ अवश्य हों। होंगे अवश्य ही वैसे भी उभयनिष्ठ भारतीय दार्शनिक, किन्तु हम दुर्भाग्यवश वैसे उभयनिष्ठ भारतीय दार्शनिकों की अभिधा से अपरिचित ही हैं। यदि वैसे उभयनिष्ठों से परिचित होते, तो अवश्य ही उनसे यह जानने का प्रयास किया जाता कि, आचार-मीमांसावर्जिता प्रतीच्य-तत्त्वमीमांसा को ही लक्ष्य बनाने वाले उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के समतुलन में नैगमिकाचारमीमांसा (सृष्टिसर्गव्याख्या) से एकान्ततः असंस्पृष्ट केवल तत्त्वमीमांसात्मक ही भारतीय उस दार्शनिक दृष्टिकोण का क्या महत्त्व है, जो नैगमिक आचारनिष्ठा आचारव्यवस्था से पराङ्मुख रहता हुआ प्रतीच्य दर्शनवत् केवल नास्तिकता का ही उपोद्बलक प्रमाणित हो रहा है ? ❀ ।

❀ यह कटुसत्य है कि, जबतक दर्शनों का विज्ञानानुमोदित नैगमिक दृष्टिकोण से समन्वय नहीं कर लिया जाता, जब तक दर्शनशास्त्र का भारतीय शास्त्राम्नायपरम्परा में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं माना जा सकता। जो भारतीय विद्वान् अपने आप को उभयनिष्ठ मानते हुए विदेशों में ख्यातिलाभ प्राप्त कर चुके हैं, उन 'स्वामी (विवेकानन्दादि) परिव्राजकादि (सत्यदेवादि)' के यशःशरीर की कोई आलोचना न करते हुए इस दिशा में हमें वर्त्तमान युग की मान्यता के अनुसार सुप्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक सर्वश्री माननीय राधाकृष्णन् महोदय से सम्मानपूर्वक यह आवेदन कर ही देना चाहिए कि, विदेशियों को भी चमत्कृत कर देने वाली उनकी बड़ी ही ओजपूर्ण-गभीरार्थसमन्विता-महत्त्व-पूर्णा इस लिखवाक्-शैली, तद्रूपा ही लेखनशैली-मात्र का माध्यम स्वप्न में भी भारतीय दार्शनिक

तटस्थ आलोचना का मुख्य लक्ष्यविन्दु—

तटस्थ आलोचना का मुख्य लक्ष्यविन्दु बना हुआ है भारतीय श्रद्धालु-आम्नायभक्त (शास्त्र-भक्त) भारतीय मानव। आलोचना का प्रवर्त्तक बना हुआ है मुख्य रूप से भूतविज्ञानवादी प्रतीच्य

(३३४ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

दृष्टिकोण से सम्बन्धित आचारमीमांसा का पुनः-स्थापन जबतक करने में अणुमात्र भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा, जबतक कि वे भारतीय शिरोभूत नैगमिक आम्नाय का अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ समन्वय न कर लेंगें। क्या हमारा यह दृष्टिकोण सर्वश्री राधाकृष्णन् के सम्बन्ध में अन्वर्थ बन सकेगा ?, प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण इस लिए है कि, सम्भवतः सन् ३६-४० में (जबकि श्रीराधाकृष्णन् महोदय हिन्दूविश्वविद्यालय के 'वाइसचाँसलर' पद को समलङ्कृत कर रहे थे) महामना स्व० श्रद्धेय श्रीमालवीयजी महाराज के विशेष आग्रह से नैगमिक दृष्टिकोण के विचारविनिमय के लिए तत्रैव जब हम उनकी सेवा में उपस्थित हो कर संस्कृत में अपना मन्तव्य प्रकट करने का उपक्रम करने लगे, तो (सम्भवतः 'सर' महोदय के उस समय के प्राइवेट् सेक्रेट्री) श्रीपन्त महोदय ने इस भारतीय ? महान् दार्शनिक का यह अभिप्राय व्यक्त करने का निःसीम अनुग्रह किया कि, 'सर' महोदय संस्कृत में उत्तर नहीं देंगे ! हाँ, यदि " इंग्लिश के माध्यम से हम अपने विचार अभिव्यक्त कर सकें, तो हमें उनका इंग्लिश के माध्यम से ही उत्तर प्राप्त हो सकता है। इस दिशा में निरक्षरमूर्द्धन्य इस व्यक्ति का प्रणतभाव से 'कालाय तस्मै नमः' की अनुभूति को शिरोधार्य्य कर वहाँ से परावर्त्तित हो जाना ही परमपुरुषार्थ शेष रह गया था। यही हुआ भी। एवं इस प्रकार 'इंग्लिश' भाषा जैसी तत्त्वमीमांसा परिपूर्णा ? दार्शनिक-भाषा ? के बोध से वञ्चित रहने के कारण हमें उस महान् दार्शनिक, उस भारतीय दार्शनिकश्रेष्ठ के दार्शनिक-विचार-श्रवण-लाभ से वञ्चित ही रह जाना पड़ा, जो महान् दार्शनिक-सुनते हैं प्रतिवर्ष विदेशी विद्वानों से आमन्त्रित होकर वहाँ भारतीय उन दार्शनिक सिद्धान्तों से उन्हें चमत्कृत करता रहता है, जो भारतीय दर्शनशास्त्र हम जैसे भारतीयों के सौभाग्य से केवल-विशुद्ध उस भारतीय भारतीभाषा (संस्कृत) को ही समलङ्कृत कर रहे हैं, जिनके तत्त्वबोध की कथा तो दूर, बिना संस्कृत-भाषा की परिपूर्ण विज्ञता के जिन दार्शनिक सूत्रों का अक्षरार्थ भी समन्वित नहीं हो सकता। सम्भव है हमें अपात्र समझते हुए ही उस समय 'सर' महोदय ने 'इंग्लिश' के माध्यम की पहेली मध्यस्थ व्यक्ति के द्वारा हमारे सम्मुख उपस्थित करवादी हो। मान लेते हैं इस सम्भावना को भी लोकसंग्रहबुद्ध्या निश्चयात्मिका ही। तदपि हमारा यह आग्रह, किंवा दुराग्रह तो सर्वथा सुरक्षित ही है कि, निगमानुगता आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट भारतीय दर्शन भारतीभाषा के माध्यम से विज्ञात बनते हुए भी न तो हमारे (भारतीयों के) धर्म का ही संरक्षण कर सकते, एवं न इस केवल तत्त्वमीमांसात्मक भारतीय-दर्शन से भारतीय दार्शनिक विदेशी तत्त्वमीमांसकों का ही सम्यक् समाधान सम्भव बना सकते। इस दिशा में तो एकमात्र नैगमिक समन्वय ही भारतीय दर्शनप्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा करता हुआ इसे उपास्य बना सकता है।

मानव। अतएव आलोचना के सामयिक समाधान से पूर्व हमें इन दोनों विभिन्न ऐन्द्र-वारुण मानवों के प्राकृतिक तत्त्वात्मक स्वरूप को लक्ष्य में आरूढ़ कर लेना चाहिए, जो तात्त्विक स्वरूप-परिचय विस्तारभिया अन्य निबन्ध के तत्प्रकरणविशेष की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देता है ❀। ऐन्द्र भारतीय आस्तिक मानव का स्थान पञ्चविध, किंवा षड्विध प्राकृतिक सर्ग में कौनसा?, एवं वारुण प्रतीच्य मानव का (तथा तदुच्छिष्टभोगी तदनुवर्त्मा गतानुगतिक भारतीय वर्त्तमान उस मानव का-जो इस गतानुगतिकता से प्रभावित होकर अपने को वारुणभावात्मक वारुणपाश से आबद्ध करता हुआ प्रतीच्यमानववत् अपनी शास्त्राम्नाय का उनकी भाँति ही आलोचक बन गया है युगधर्मानुग्रह से) कौनसा स्थान?, सर्वप्रथम यही प्रश्न मीमांस्य है।

'सूचीकटाहन्याय' से सर्वप्रथम उस वर्त्तमान भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से मानव-स्थान का अन्वेषण कीजिए, जो आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट रहता हुआ समवर्त्तनात्मक सर्वस्वघातक 'साम्यवाद' की घोषणा कर रहा है। इस की दृष्टि में 'मानव प्रज्ञाशील बुद्धिनिष्ठ प्राणी है। स्थान इसका यही भूलोक। पुरुषार्थ इसका इस लोक में तत्त्वों का अन्वेषण-प्रचार, एवं सम्पूर्ण पृथिवी के मानवमात्र में समानदृष्टि, विश्वबन्धुत्वभावना, पारस्परिक सहयोगादानप्रदान''। अलमतिपल्लवितेन। एवंविध दार्शनिक मानव के स्थान की मीमांसा वर्त्तमान दार्शनिकों के अनुग्रह से बड़े आटोप के साथ मीमांसित है, उपवर्णित है, जिसके पुनरावर्त्तन से इस मानव का कोई सौहार्द नहीं है। इसे तो अपने भारतीय दृष्टिकोणात्मक नैगमिक दृष्टिकोण से ही, 'विषमवर्त्तनत्वे सति समदर्शनत्वम्' लक्षण नैगमिक मीमांसा के माध्यम से ही मानवस्थान का अन्वेषण करना है।

नैगमिकमानवचतुष्टयी—

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस नैगमिक अनुगम के आधार से मानव के चार स्थान मानव के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं पूर्वोक्त षड्विध, किंवा पञ्चविध प्राकृतिक धरातल में। पूर्णेश्वर प्रजापति के तीन विवर्त्तों का स्मरण कीजिए, जिनका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है (देखिए पृ० सं० ३२१)। षोडशीप्रजापति, षोडशकलप्रजापति, षोडशकलोपेतप्रजापति, तीनों क्रमशः अव्ययात्मा-अक्षरात्मा-आत्मक्षरात्मा-प्रधान बनते हुए क्रमशः ऋषिलक्षण भावसर्ग, पितृलक्षण गुणसर्ग, देवलक्षण विकारसर्ग के अधिष्ठाता बने हुए हैं। इन तीनों सर्गों के अधिष्ठान हैं क्रमशः 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य' ये तीन प्राजापत्य विवर्त्त (प्रजापतिमहिममण्डल)। इन तीन आत्मनिबन्धन सर्ग-पर्वों के सम्बन्ध में नैगमिक मानव के षोडशीप्रजापतिलक्षण-अव्ययात्मप्रधान-'स्वायम्भुवस्थान,' षोडशकल-

---

❀ देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्डान्तर्गत 'गौर-कृष्णरहस्य' ('हम काले, और वे गोरे') नामक परिच्छेद।

प्रजापतित्तण-अक्षरात्मप्रधान-'पारमेष्ठ्यस्थान,' एवं षोडशकलोपेतप्रजापतिलक्षण-आत्मक्षरप्रधान-'सौरस्थान,' ये तीन ही मुख्य स्थान प्रमाणित हो रहे हैं। निरूपणीय चतुर्थ स्थान तो निगमदृष्ट्या, किंवा निगमानुगत आत्मबोधदृष्ट्या अस्थान ही माना गया है, जिसका दिग्दर्शन अनुपद में ही कराया जाने वाला है। स्वायम्भुवस्थानवासी मानव स्वयमपि 'स्वयम्भू' है, पारमेष्ठ्यस्थान का मानव 'परमेष्ठी' है, एवं सौरस्थान का मानव 'सूर्य्य' है।

आत्मबुद्ध परिपूर्ण आरूढ़ सिद्ध सहज मानव 'स्वयम्भू' है। आत्मबोधसन्निकटवर्त्ती परिपूर्ण-पथवर्त्ती-आरूढ़वत्-सिद्धवत्-सहज मानव 'परमेष्ठी' है। एवं आत्मबोधपथानुगत-परिपूर्णपथानुगत-आरुरुक्षु-सिद्धिमार्गारूढ़-सहज भावारूढ़ मानव 'सूर्य्य' है।

आचारमीमांसात्मक स्मार्त्तदर्शनात्मक भगवद्दर्शन (श्रीमद्भगवद्गीता) की दृष्टि से ही पहिले उक्त मानवत्रयी की आम्नाय-प्रामाणिकता का अन्वेषण कीजिए। गीताने विस्पष्ट शब्दों में अनेकधा इन तीनों मानववर्गों का दिग्दर्शन कराया है। गीतादृष्टि के अनुसार उक्त तीनों मानव-श्रेणियों को क्रमशः 'ऋषिमानव, यतिमानव, मुनिमानव' नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। तीनों क्रमशः—'आरूढ़–मध्यस्थ–आरुरुक्षु' रूप से, 'युक्त–मध्यस्थ–युञ्जान' रूप से गीता में उपवर्णित हुए हैं। निम्न लिखित गीतावचन इन्हीं श्रेणिविभागों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१–ऋषिमानवः–स्वायम्भुवः

१—लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण "मृषयः" क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (गी० ५।२५)।

२—योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ (गी० ५।२४)।

३—योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (गी० ६।३)।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी 'योगारूढ' स्तदोच्यते॥ (गी० ६।४)।

२–यतिमानवः–पारमेष्ठ्यः

१—कामक्रोधवियुक्तानां "यतीनां" यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥ (गी० ५।२६)

२—प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ (गीता ६।१४)।

३—भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (गी० ५।२९।) ।

३-मुनिमानवः--सौरः

१—यतेन्द्रियमनोबुद्धि-"मुनि" र्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा, मुक्त एव सः ॥ (गी० ५।२८।) ।

२—यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गी० ६।४।) ।

३—आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्मकारणमुच्यते ॥ (गी० ६।३।) ।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ (गी० २।५०।) ।

—×—

तीनों नैगमिक मानवों का मूलप्रतिष्ठारूप नैगमिक आम्नाय है क्रमशः उपनिषत्-आरण्यक-ब्राह्मण । ब्राह्मणानुगत श्रौतदेवपितृ "यज्ञकर्म्म" सौर मुनिमानव की, आरण्यकानुगत श्रौत उद्गीथादि उपासनालक्षणा "तपश्चर्य्या" पारमेष्ठ्य यतिमानव की, एवं उपनिषदनुगत श्रौत शिरोव्रतलक्षण "आत्मबोध" स्वायम्भुव ऋषिमानव की सहज आम्नाय है । तीनों आम्नायों का एक ही भारतीय द्विजाति-मानव की 'गृहस्थाश्रम-वानप्रस्थाश्रम' संन्यासाश्रम' न तीन श्रौत आश्रमव्यवस्थाओं के साथ क्रमिक सम्बन्ध है । आत्मबोधपरायण परिपूर्ण भारतीय ऋषिमानव 'सन्यासी' है, तदभ्यर्थित परिपूर्णतानुगामी यतिमानव 'वानप्रस्थी' है, एवं आत्मबोधपथारुरुक्षु मुनिमानव 'गृहस्थाश्रमी' है । यही नैगमिकी प्राकृतिकसर्गनिबन्धना मानव की संक्षिप्त स्थानमीमांसा है, जिसके नैगमिक मूलों का निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जा सकता है—

१-षोडशीप्रजापतिरव्ययात्मप्रधानः--स्वायम्भुवः-

१—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—यजुःसंहिता ८।३६।

२—अथ तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥
—अथर्वसंहिता १०।७।४०।

३—प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
—ऋक्संहिता १०।१२१।१०।

२–षोडशकलः प्रजापतिरक्षरात्मप्रधानः-पारमेष्ठ्यः

षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ । इहैवान्तःशरीरे सोम्य ! स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" इति ।
—प्रश्नोपनिषत् ६।१।

२—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे । 'पुरुष' इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति (षोडशी भवति)" ।
— प्रश्नोपनिषत् ६।६।

३—अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा ॥
—प्रश्नोपनिषत् ६।६।

३–षोडशकलोपेतः-प्रजापतिः सौरसम्वत्सरात्मा-आत्मक्षरात्मप्रधानः-सौरः

१—स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (कलोपेतः) । —शत० १४।४।३।२२।

२—षोडशकलं वै ब्रह्म (क्षरात्मा) —जै० उ० ३।३८।८।

३—स प्रजापतिः षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत–१-भद्रं च, २–समाप्तिश्च । ३–आभूतिश्च, ४–सम्भूतिश्च । ५-भूतं च, ६–सर्वं च । ७–रूपं च, ८–अपरिमितं च । ९-श्रीश्च, १०–यशश्च । ११–नाम च, १२–अग्रं च । १३–सजाताश्च, १४–पयश्च । १५–महिमा च, १६–रसश्च ॥
—जै० उ० १।४६।२।

—×—

१–षोडशीप्रजापतिगर्भितः स्वायम्भुवः-ऋषिसर्गः--

१—विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥

२—यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

३—त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥

—ऋक्संहिता १०।८२ सूक्त ।

२—षोडशकलप्रजापतिगर्भितः-पारमेष्ठ्यः-पितृसर्गः -

१—अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

२—सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

३—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

—ऋक्संहिता १० । म० । १४,१५ सूक्त ।

३· षोडशकलोपेतप्रजापतिगर्भितः-सौरः देवसर्गः --

१—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥
अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

—ऋक्संहिता १ म० । ११५ सूक्त ।

——×——

१ अव्ययात्मा षोडशी	२ अक्षरात्मा षोडशकल	३ क्षरात्मा षोडशकलोपेत
स्वयम्भू (पितामह)	परमेष्ठी (पिता)	सूर्य्य [पुत्र]
ऋषिभाव (ऋषिसर्ग)	पितृभाव (पितृसर्ग)	देवभाव (देवसर्ग)
ऋषिमानव ऋषि आरूढ सन्यासी } आत्मनोपरायण परिपूर्णमानव पुरुषरूप –ज्ञानी	पितृमानव यति मध्यम वानप्रस्थी } आत्मबोधनिष्ठ परिपूर्णतानुगतमानव तपस्वी–उपासक	देवमानव देव आरुरुक्षु गृहमेधी } कर्मनिष्ठ मानव कृतकृत्यगृहस्थ
उपनिषदाम्नाय	आरण्यकाम्नाय	ब्राह्मणाम्नाय

त्रिविध प्राकृतिक स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर, इन तीन अव्यय अक्षर-आत्मक्षर-निबन्धन तीन-मानव संस्थानों के अतिरिक्त चतुर्थ क्रमप्राप्त चान्द्र-पार्थिवोभयसमष्टिरूप विकृति-विकारभावापन्न संस्थान चतुर्थ 'लोकमानव' का संस्थान (स्थानप्रतिष्ठा) बनता है, जिस में चान्द्र-रौद्र-भौम-पार्थिव चतुर्दशविध भूतसर्गों का समावेश माना गया है *। गृह्य स्मार्त धर्म्मात्मक लोकधर्म्म का इस चतुर्थ लौकिक मानव के साथ ही सम्बन्ध माना गया है, जिसके लक्ष्य बन रहे हैं प्रधानरूप से 'चन्द्रमा, तथा पृथिवी' नामक दो प्राकृतिक विवर्त्त। चन्द्रमा मन का प्रभव है, पृथिवी शरीर की अधिष्ठात्री है। मन शरीरप्रधान सामान्य लौकिक मानव ही लोकमान्यताओं का लक्ष्य बना करता है, एवं यही रात्रि जागरणात्मक लोकमान्यतानिबन्धन पितृकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली लोक-वित्त-पुत्रादि पार्थिवचान्द्र समृद्धियों का भोक्ता बना करता है। वक्तव्यांश प्रकृत में केवल यही है कि, पञ्चविध प्राकृतसर्गदृष्टि से मानव के चार स्थान हो जाते हैं, एवं इन स्थानचतुष्टयी के सम्बन्ध से ही मानव को चार श्रेणि-विभागों में विभक्त माना जा सकता है, जैसा कि पूर्वपरिलेखों से स्पष्ट है।

चेतन-अचेतनसर्ग मीमांसा—

इन चारों के अतिरिक्त पाँचवाँ पार्थिवसर्ग केवल जडसर्ग ही माना गया है, जिसे सांख्य परिभाषा में 'असत्-अचेतनसर्ग' भी कहा गया है। इस दृष्टिकोण से इस पञ्चविधसर्ग को हम क्रमशः

*"रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशं स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम्" यजुःसंहिता-९।३४।) इत्यादि यजुर्मन्त्राधारेण मीमांसित चतुर्दशाक्षर समन्वित आन्तरिक्ष्य चान्द्र चतुर्दशभूतसर्गों का पूर्वपरिच्छेदों में अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० २०४ से २१२ पर्य्यन्त)।

'आत्मसर्ग, महत्सर्ग, प्राणसर्ग, चेतनसर्ग, जडसर्ग' इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। ऋषि-सर्ग आत्मसर्ग है, पितृसर्ग महत्सर्ग है, देवसर्ग प्राणसर्ग है, पशुसर्ग चेतनसर्ग है भूतसर्ग जड सर्ग है। क्या ऋषि-पितृ-देवात्मक आत्म-महत्-प्राणसर्गत्रयी चेतन नहीं है?, प्रश्न का समाधान 'हाँ' में भी होगा, एवं 'ना' में भी। 'चेतन' का जैसा अर्थ दार्शनिकोंने मान रक्खा है, उस दृष्टिकोण से तो हम कहेंगे कि 'आरम्भ की सर्गत्रयी चेतन नहीं है'। यदि 'चेतन' का अर्थ निगमसम्मत 'आत्मा' है, तो अवश्य ही सर्गत्रयी ही चेतन है, एवं पशु-तथा भूत दोनों अध सर्ग निगमदृष्ट्या अचेतन हैं।

जड और चेतन की महत्त्वपूर्ण तत्त्वमीमासा नैगमिक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वञ्चित रहती हुई आज सर्वात्मना पदे पदे सदेह भाजना ही प्रमाणित हो रही है। यदि दार्शनिक 'मूढगर्भ' माध्यम से चेतन-जड मीमासा में प्रवृत्त हो जाते, तो कदापि उस सन्देहपरम्परा का जन्म न होता, जिसने सर्व साधारण की सहज आत्मबोधनिष्ठा को आज सर्वात्मना विकम्पित कर दिया है। जड़ भूत के साथ ओतप्रोत सम्बन्ध से समन्वित रहने वाली क्रियाशीला प्राणशक्ति को ही 'चेतनसर्ग' का मूलाधिष्ठान मानने की भयावह भ्रान्ति करते हुए तत्त्वमीमासकोंने जड-भूत-समतुलित पशु- (तदुपलक्षित चतुर्दशविध भूत)-सर्ग को भी जिस प्रकार 'चेतनसर्ग मानते हुए 'आत्मचैतन्य' रूप से पशुसर्ग की तत्त्वमीमासा कर डाली है, उसकी आलोचना का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। नापि प्रसङ्गावसर है उस चेतना-स्वरूपबोधानुगता महा भ्रान्ति की आलोचना का, जिस भ्रान्ति ने भारतीय नैगमिक सनातन-शाश्वत आम्नायसिद्ध नित्य धर्म्म के सम्बन्ध में धर्म्मानुगता अहिंसा-हिंसा व्याख्याओं में, लोक-परलोक-गतिभावों में, शुचि-अशुचि भावों में, सत्यानृतभावों में, दया-दानभावों में, सर्वत्र भ्रान्तिपरम्परा का सर्जन कर डाला है। और नाहीं हमें दार्शनिकों की (विशेषत गुणवादी-अव्यक्तनिष्ठ-साख्य दर्शन की) उस दृष्टि की ही आलोचना करनी है, जिन्होंने सर्वमूर्द्धन्य-सहजज्ञाननिष्ठ-ईश्वरप्रजापति समतुलित-परिपूर्ण-पुरुष (मानव) को चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक पशुसर्ग की श्रेणि में समुपस्थित करने की घोरघोरतमा भ्रान्ति करते हुए सहजपूर्ण-सहजसिद्ध भी मानव को भूतसर्गनिबन्धना भूतप्रेत भावापन्ना तान्त्रिक-सिद्धिपरम्पराओं के मोहजाल में आबद्ध कर, विविध योगानुगता विविध अणिमादि सिद्धियों के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त कर इसकी सहज शान्ति को विकम्पित कर डाला है। सर्वोपरि केवल भूतसर्गवादी ? भूततत्त्वमीमासक उन प्रतीच्य तत्त्वमीमासकों के सम्मान को भी हम अणुमात्र भी आलोचना का विषय बनाना सर्वथा निस्सार ही मानेंगे, जिन विदेशी तत्त्ववादियोंने 'मानव' का स्थान पशु-श्रेणि से भी निम्न भूतश्रेणि में नियत करते हुए जडवाद के माध्यम से 'मानव' के पुरुषार्थ को समन्वित करने में ही, अपने जड विज्ञानात्मक भौतिक आविष्कारों से मानव की नैसर्गिक सघर्ष मूला शान्ति का सघर्षशून्या मृतप्राया अनुकूलता का सर्जन करने में ही अपने आप को गौरवान्वित मान लिया है। प्रणम्य हैं सम्मानपूर्वक इत्थभूत ज्ञात-अज्ञात भारतीय दार्शनिकों का निष्कैवल्य

(आचारमीमांसारहित) तत्त्ववाद, मान्यतावादाभिनिविष्ट भारतीयों का सम्प्रदायवाद, एवं प्रतीच्य विद्वानों का केवल भूतवादानुगत तत्त्ववाद, तथा तदनुगत ही सर्वस्व विघातक जड़-विज्ञानवाद।

चेतनजडव्यवहारमीमांसा—

यद्यपि नैगमिक दृष्टि से 'चेतन'-'चित्'-'चिदाभास'-'जीव'-आदि शब्द सर्वथा महत्त्वशून्य हैं। तथापि प्रचलित मान्यता को विषयसमन्वय की दृष्टि से मान्यता प्रदान करते हुए हम 'आत्मा' के सम्बन्ध में 'चेतन' शब्द, एवं भौतिक विश्व के सम्बन्ध में 'जड' शब्द सग्राह्य मान लेते हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के अनुसार नैगमिकदृष्टि से चर-अचर-सबकुछ 'चेतन' हैं। आत्मव्याप्ति दृष्ट्या कोई जड नहीं है। इसी आधार पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि अद्वैत सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। क्या निगम में 'जड' व्यवहार का कोई महत्त्व नहीं है?, है, और अवश्य है। *किन्तु आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति-अनभिव्यक्ति रूप से। जिस भौतिक सर्ग में आत्मस्वरूप* (चेतनस्वरूप) अभिव्यक्त है, वह निगम परिभाषा में 'चेतन' (आत्मयुक्त) माना जायगा, एवं जिस भौतिक सर्ग में आत्मस्वरूप अनभिव्यक्त रहेगा, वह 'अचेतन' (विमूढात्मसर्ग) कहा जायगा। और घन्टाघोष पूर्वक हमें उस नैगमिक सिद्धान्त को नतमस्तक होकर स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि, यच्च यावत् प्राणी-सर्गों में केवल 'मानव' सर्ग में ही आत्मा स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। अतएव इसी के लिए 'पुरुषो व प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० ४।५।१।११) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अव्यय पुरुष ही 'पुरुष' है, यही 'चिदात्मा' है, जिसकी अभिव्यक्ति हुई है सहज रूप से एकमात्र मानव में ही। अतएव यच्च यावत् सर्गों में 'पुरुष' लक्षणा आत्म-अभिधा का सम्मान एकमात्र मानव को ही प्राप्त हुआ है। इस 'पुरुष' भाव के कारण ही एकमात्र मानव ही स्वतन्त्र पुरुषार्थद्वारा असम्भव को सम्भव, सम्भव को असम्भव बनाने की क्षमता रखता है, जब कि मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी केवल 'प्राकृत' बनते हुए प्रकृतिपरवश बने रहते हुए स्वतन्त्र पुरुषार्थ में एकान्ततः असमर्थ हैं। इन का उद्भव-विलयन-शरीरयापन-सब कुछ परतन्त्र है, प्रकृत्याधीन है। आत्मबोधस्वरूपा ब्रह्मविद्या के बल पर (स्वस्वरूप बोधाधार पर) मानव जहाँ कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ * है, वहाँ प्रकृति *मानावत् इतर सर्ग प्रकृत्यवयरूप बने रहते हुए प्रकृत्या नियन्त्रित हैं*, परतन्त्र हैं, जिन की भावुकता का संरक्षण निगमने-'स्वैपमेव चकार' रूप से किया है।

जड़चेतनानुगता महती समस्या—

बहुत बड़ी समस्या उपस्थित हो जायगी निगमरहस्यासरज्ञ केवल दर्शनभक्त-सम्प्रदायभक्त भारतीय आस्तिक मानव के लिए यह सुन कर कि, "मानवेतर सम्पूर्ण प्राणिसर्ग अचेतन हैं, पाषाण

*—'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' (शत० १४।३।२)।

लोष्ठवत् जड़ है' । समस्या वास्तव मे तदवधिपर्य्यन्त इसके लिए समस्या ही रहेगी, जब तक कि मानव भारतीय मूलसमस्यामीमांसक निगमशास्त्र के तात्त्विक स्वाध्याय मे प्रवृत्त नहीं हो जायगा। यही तो स्वत अपनी 'हमारी समस्या' है, जिसका समाधान विषयान्तरानुगत प्रस्तुत निबन्ध में शक्य नहीं है –। मानते हैं मानवेतर पशु-पक्षी-कीट-कृमि, आदि में ही क्या, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विताः–तस्मात् हसन्ति पादपाः–तस्माद्रुदन्ति पादपाः–तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः' (महाभारत) इत्यादि रूप से ओषधि वनस्पतियों मे भी सेन्द्रियमन प्रतिष्ठित है। इस सेन्द्रिय मन से इन्हें भी मानववत् सुख-दुःखानुभूति होती है। और सम्भवत एकमात्र इन्द्रियानुगत मनोभाव को ही 'चेतन' का लक्षण मानने की भयावह भ्रान्ति करते हुए अव्यक्तनिष्ठ दार्शनिकोंने, तथ तदनुगामी भारतीय शिष्टों ने ✱ इन्हें 'चेतन' मान लिया है। यदि 'चेतन' का अर्थ केवल 'क्रियाशीलतानुगता–सुखदुःखादि द्वन्द्वानुभूतियाँ' ही है, तब तो हमे कोई आपत्ति नहीं है। यदि 'चेतन' शब्द से 'आत्मसत्ता–आत्माभिव्यक्तिलक्षणा–आत्मबोधसत्ता' उनका अभिप्राय है, तो यह सर्वथा आपातरमणीय, अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा। अहिंसा-हिंसा-जनिता पुण्यपापव्यवस्था, सत्य-दया-दान-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रहादि लक्षणा धर्म्मव्यवस्था, ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञ-भूतयज्ञादिरूपा यज्ञव्यवस्था श्राद्ध पिण्ड दान-रात्रिजागरणादिरूपा प्रेतपितृकर्म्मव्यवस्था, अभ्युदय निःश्रेयस्-स्वर्ग-नाक-मुक्ति आदि आत्मगतिव्यवस्था (परलोकव्यवस्था) आदि आत्मस्वरूपानुबन्धिनी सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का एकमात्र उत्तरदायित्व 'मानव' से ही सम्बन्धित है, यही चिदात्मलक्षण पुरुष है, एव इस दृष्टि से एकमात्र यही 'चेतन' अभिधा का पात्र है। मानव ही परिपूर्णबोधावस्था में ऋषि है, बोधपथानुगतिकाल में मानव ही पितर है, और बोधपथसाधकमार्गानुगमनकाल मे मानव ही 'देव' है। यदि मानव अपनी आत्मानुबन्धिनी इस स्वरूपत्रयी के बोध से वञ्चित (पराङ्मुख) है, तो हमें निरतिशया दुःखानुभूतिपूर्वक इस सहजरूपेण परिपूर्ण भी मानव के लिए इस कटुसत्य की अभिव्यक्ति करनी ही पड़ती है कि, "अमुक आगन्तुक परधर्म्मों के आगमन से अपने आपको विस्मृत करते हुए मानव ने 'पशुभाव' का ही अभ्यास कर लिया है।"

पशुमानव की अनुभूतियाँ—

यही कारण है कि पशुभावाक्रान्त मानव की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ 'पशु' को, तदभिन्न जड़भूतवर्ग को मध्यस्थ बना कर ही प्रवृत्त हो रहीं हैं। न केवल अनुभूतियाँ ही, अपितु इत्थंभूत भावुक मानव की

– –इन समस्या परम्पराओं की आलोचना 'हमारी समस्या' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही तज्जिज्ञासुओं को देखनी चाहिए।

✱ 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'।
—चरकसंहिता

तत्त्वमीमासा का माध्यम भी पशु एव भूतसर्ग ही बनता है। परिणाम इस मध्यस्थता का यह होता है कि, पशुशरीर-पशुमन-पशुइन्द्रियाँ, तथा भूतानुगत अणु-परमाणु ही इसकी अपनी स्वरूपमीमासा के उदाहरण-दृष्टान्त-बनते हुए इसे सर्वात्मना लक्ष्यच्युत बना रहे हैं। परिपूर्ण मानव के आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-भागों का स्वरूपबोध प्राप्त करने के लिए यह भावुक मानव पशु एव भूतों के परीक्षण [एक्स्पेरीमेन्ट-Exprıment] में प्रवृत्त हो पडता है। एव पशु तथा भूतों के प्राकतिक परिवर्त्तनों के माध्यम से मानव अपने परिवर्त्तनों का समतुलन करता हुआ अपने आपको वैज्ञानिक तत्त्वमीमासक घोषित करने लगता है। यही एतद्विध मानव की पशु-भूतभावसमतुलिता चिकित्सा प्रणाली है, यही इसके सर्वविध अन्यान्य पुरुषार्थक्षेत्र हैं, जिनका आविष्कारक पशु-भूतवादी मानव मानव के सहज परिपूर्ण स्वरूप का आज के वर्त्तमान युग में उसीप्रकार मानो उपहास ही कर रहा है, जैसे कि विगत शताब्दियों से भारतीय दार्शनिक-साम्प्रदायिक-तान्त्रिक-योगपरायण भावुक मानव केवल चान्द्र सर्गानुगत पशु सर्गस्थान ही मानव का स्थान मानते हुए भारतीय आस्तिक किन्तु भावुक मानव के सम्मुख आचारशून्या (निगमाचारशून्या) तत्त्वमीमासा, केवल-मानसानुभूतिलक्षणा सम्प्रदायानुगता भक्तिमीमासा, भूतप्रेतपिशाचनिबन्धना सिद्धिमीमासा, चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणा-धारणाध्यानसमाधिरूपा योगमीमासा आदि (और और भी ज्ञात अज्ञात विविध प्ररोचनामीमासाएँ) समुपस्थित करते हुए इसकी सहज परिपूर्णता का उपहास ही करता आ रहा है।

पञ्चविध मानवसर्ग समन्वय—

यद्वा तद्वास्तु। प्रतिप्रश्नात्मिका उक्त सामयिक आलोचना से प्रकृत में हमें निगमानुगत उस पञ्च विध सर्ग को ही लक्ष्य बनाना है, जिसके आधार पर तटस्थ आलोचना का समाधान अवलम्बित है। अध्यात्मदृष्ट्या इस पञ्चविध सर्ग को हम दो भागो में विभक्त मानेंगे-पुरुषसर्ग, एव प्रकृतिसर्ग। पुरुषसर्ग को हम 'सर्वाधार' कहेंगे, एव प्रकृतिसर्ग को सर्वाधार पर प्रतिष्ठित 'सर्व' कहेंगे। इस प्राकृतिक सर्वसर्ग के चार विवर्त्त अध्यात्म में क्रमश 'महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूत' नामों से व्यवहृत होंगे, एव पॉचवॉ सर्वातीत पुरुष 'आत्मा' कहलाएगा। इस आत्ममहिमा (पुरुषात्ममहिमा) में प्रतिष्ठित महदादि क्रमश "महानात्मा-विज्ञानात्मा (बुद्धि)-प्रज्ञानात्मा (मन)-भूतात्मा (शरीर)" नामों से व्यवहृत होंगे। स्वायम्भुव पुरुषात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, इन पॉचों के साथ क्रमश ऋषि-पितर-देव-पशु-भूतसर्गों का सम्बन्ध है। इन पॉचों का उद्गीथ (केन्द्र) मध्यस्थ देवभावात्मक विज्ञानात्मा (बुद्धि) है, इसके उस ओर पुरुषात्मा महानात्मा, ये दो अमृतभाव प्रतिष्ठित हैं, इस ओर प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा, ये दो ❀ मर्त्य भाव प्रतिष्ठित हैं, मध्यस्थ सौर विज्ञानात्मा उभयात्मक है —। यह है पुरुष-प्रकृतिसमन्वित रूपात्मक परिपूर्ण मानव के-परिपूर्ण स्वरूप का एक नैगमिक दृष्टिकोण, जिसके आधार पर ही हमें तथाकथित मानव की चार स्थानमीमासाओं को अवधान पूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही समाधान के निकटतम पहुँचने का प्रयास करना है—

❀—"तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्" (शत० १०।५।१।४।)

——"आकृष्णेन रजसावर्त्तमानः-निवेशयन्नमृतं-मर्त्यञ्च" (यजु सहिता ३४।३१।)

सर्वसंग्रहस्वरूपः—परिपूर्णमानवस्वरूपपरिलेखः—(३)

(१)—

मण्डलम्			
१ स्वयम्भूमण्डलम्	१—स्वयम्भू—वृषा-पुरुष——पुरुष एव २—परमेष्ठी—योषा-प्रकृति—प्रकृतिरेव	प्रकृतिगर्भित पुरुषात्मा (आत्मा) —स्वायम्भुव—	अमृत सत्या
२ परमेष्ठिमण्डलम्	*—परमेष्ठी—वृषा-पुरुष——प्रकृति ३—सूर्य्य—योषा-प्रकृति—विकृति	प्रकृतिलक्षण-महानात्मा (सत्त्वम्) —पारमेष्ठ्य—	
३ सूर्यमण्डलम्	*—सूर्य्य—वृषा-पुरुष——प्रकृतिविकृति ४—चन्द्रमा—योषा-प्रकृति—विकृति	विकृतिलक्षण विज्ञानात्मा (बुद्धि) —सौर—	अमृत मर्त्यसत्य
४ चन्द्रमण्डलम्	*—चन्द्रमा—वृषा-पुरुष——विकृतिविकार ५—पृथिवी—योषा-प्रकृति—विकार	विकारलक्षण-प्रज्ञानात्मा (मन) —चान्द्र—	मर्त्यसत्य
५ पृथिवीमण्डलम्	*—पृथिवी—वृषा-पुरुष—विकारवैकारिक *—भूतानि—योषा-प्रकृति—वैकारिक	वैकारिकलक्षण-भूतात्मा (शरीरम्)	

इति नु—अधिदैवतम्	इति नु—अध्यात्मम्
प्रजापतिरीश्वर	पुरुषो मानव
पूर्णमद	पूर्णमिदम्

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठमित्याहुराचार्य्याः

(२)—

उपनिषदारण्यक ब्राह्मणानुगताः— नैगमिकमानवाः	१–स्वायम्भुवः–पुरुषात्मा–ऋषिप्राणावच्छिन्नः–तनुप्रधानः–ऋषिमानवः–ज्ञानपरायणः (१) २–पारमेष्ठ्यः–महानात्मा–पितृप्राणावच्छिन्नः–तनुप्रधानः–पितृमानवः–उपासनापरायणः (२) ३–सौरः–विज्ञानात्मा–देवप्राणावच्छिन्नः–तनुप्रधानः–देवमानवः–ऋषिपितृदेवकर्म्मपरायणः (३)
आगमिक– मानवाः	४–चान्द्रः–प्रज्ञानात्मा–पशुप्राणावच्छिन्नः ५–पार्थिवः–भूतात्मा– –भूतप्राणावच्छिन्नः } तनुप्रधानः–लोकमानवः–लोकपरायणः (४)

—२—

(३) –

सर्वो हि मानवः 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'	१–ज्ञानपरायणः–स एव पुरुषः–'सन्यासी'–'संविन्' शीलः (१००) २–उपासनारतः–स एव मानवः–'वानप्रस्थी'–'महिम' शीलः (७५) ३ कर्म्मानुगतः–स एव मनुष्यः–'गृहस्थी'–'निष्ठा' शीलः (५०) ४–लोकानुगः–स एव नरः–'लौकिकः'–निष्ठानुगतः (१–१००)	एकस्यैव भारतीयमानवस्य सैषा–पुरुषप्रकृत्यनुगता संस्थानचतुष्टयी

—३—

— प्रकृतिपुरुषरहस्यवेत्ता नैगमिक महर्षियोंने पुरुषाधार पर प्रतिष्ठित जिन आठ प्रकृतियों के आधार पर 'प्राकृतिक-वैकारिक-विमूढ' नामक तीन मानवसर्गों की रहस्यपूर्ण व्याख्या की है, उसके माध्यम से होने वाले इन तीनों मानवसर्गों के प्रत्येक के १६-१६-१६ विवर्त्त हो जाते हैं। सम्भूय सम्पूर्ण पार्थिव मानवों के ४८ वर्ग हो जाते हैं, जिनका स्वरूप परिचय 'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' में संक्षेप से, तथा 'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–सच्छूद्र, ये चार वर्णमानव, अन्त्यज-अन्त्यावसायी–दस्यु-म्लेच्छ-, ये चार अवर्ण मानव, सम्भूय आठ मानववर्ग वर्णावर्णसर्ग से सम्बद्ध हैं। वर्णमानव के ब्राह्मणादि चार वर्ग प्रत्येक चतुर्द्धा–चतुर्द्धा विभक्त होते हुए १६ अवान्तर सर्गों में विभक्त हैं, जिन्हें यहाँ 'पुरुष–मानव–

कृतकृत्यमानव—

यावज्जीवन सम्पूर्ण लोकमान्यताओं का सुप्रसिद्ध शास्त्रीय ※ लोकनीति के माध्यम से लो संग्रहभावना से भावुकतापूर्वक अनुगामी बना रहने वाला भारतीय-आस्तिक द्विजाति अपने प्रथमा (गृहस्थाश्रम) में श्रौत देव-पितृयज्ञकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ द्वितीय आश्रम में श्रौत उद्गी पासनापरायण बनता हुआ तृतीय (ज्ञानशिक्षणात्मक प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमापेक्षया चतुर्थ) आश्रम श्रौत ज्ञानपरायण बन जाता है। इस परम्परा से इस मानव की ईश्वरस्वरूपानुगता ज्ञानकर्म्मोभयात्मि परिपूर्णता सर्वात्मना संसिद्ध हो जाती है। यही इस नैगमिक परिपूर्ण मानव की कृतकृत्यता ऐसे ही महामानव के लिए-'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते'-घोषणा हुई है।

भारतीय प्राकृतिक सर्गनिबन्धन मानववर्ग के उपनिषदनुगत सन्यासी ऋषिमानव, एवं आर ण्यकानुगत वानप्रस्थी पितृमानव, इन दो के सम्बन्ध में, इन दोनों की जीवनैतिकर्त्तव्यता-मान्यताओं सम्बन्ध में हम अपने गृहमेधी भावानुबन्ध से कोई भी आलोचना-प्रत्यालोचना-मीमांसा करना लिए निगमाम्नायविरुद्ध मान रहे हैं कि, दोनों ही मानववर्ग-विधि-निषेध से परे रहते हुए धर्म्ममीमांसा, लोकमान्यता मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट हैं, जैसा कि निम्न लिखित शब्दों विस्पष्ट घोषणा हुई है—

(३४७ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

मनुष्य—नर' नामों से व्यवहृत किया गया है। 'चत्वारः पुरुषा इति बाध्वः' (ऐतरेय आरण्य. इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार पुरुषादि चारों-प्रत्येक-चार चार भागों में विभक्त होते षोडशविध (१६ प्रकार के) बन जाते हैं, यही प्रथम प्राकृतिक मानवसर्ग है, जिसके एव का एकमात्र श्रेय उसी पावन देश (भारतवर्ष) को है, जहाँ त्रयीवेदात्मक यज्ञ का प्रवर्त्तक भूत कृष्ण स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अन्त्यजादि रूप चतुर्थ अवर्ण सर्ग वैकारिक सर्ग है, जिस के प्र के ४-४ अवान्तर भेदों से सोलह अवान्तर वर्ग बन जाते हैं। तीसरा मानव विभाग विमूढात्मक जिसके चार विभाग मुख्य, अवान्तर १६ विभाग हो जाते हैं। इन अष्टाचत्वारिंशत् मानववर्गों तटस्थ आलोचकों का कौनसा स्थान है ?, प्रश्न को अभी हम मीमांस्य मानते हुए उपेक्षणीय ही ट देते हैं। कोई सा भी स्थान हो आलोचक मानव का। यह निश्चित है कि, प्राकृतिक वर्णानुगत सोलह प्रकार के वर्णविभागों से पृथक् ही उस आलोचक का-तटस्थ आलोचक का-स्थान माना जाय जो भारतीय निगमागमाम्नाय से एकान्ततः अपरिचित-असंस्पृष्ट-बहिर्भूत ही है।

※ न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ (गीता३।२६)।

(१)—यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्—तत् केन कं पश्येत्—जिघ्रेत्—अभिवदेत्—शृणुयात्—मन्वीत—विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्। (शत० १४।५।४।१६।)।

(२)—तद्वा अस्यैतत्—अतिच्छन्दः, अपहतपाप्मा, अभयं रूपं,अशोकान्तरम्। अत्र पिता अपिता, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, यज्ञा अयज्ञाः। स्तेनोऽस्तेनः, भ्रूणहा अभ्रूणहा, पौल्कसोऽपौल्कसः, चाण्डालोऽचाण्डालः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसो भवति। पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति। (शत० १४।७।१।२२)।

(३)—तत्र ब्रह्म (ब्राह्मणः) अब्रह्म भवति, चरमचरम्' इत्यादि।

अलौकिक मानव की लोकसंग्राहकता—

उक्त दोनों मानववर्ग (सन्यासी, एवं वानप्रस्थी आत्मबोधयुक्त मानव) लोकमान्यतामीमांसाओं से सर्वथा परापरागत हैं। भूत-प्रेतादि की कथा तो निदूर रही, सच्छिद्रसस्थानक देवता भी इन निर्गुणैरकान्तातीत परिपूर्ण मानवों पर दृष्टिनिक्षेप करने में असमर्थ हैं। अब शेष रह जाते हैं दो प्रकार के भारतीय मानववर्ग—देवभावात्मक गृहस्थी मानव, एवं लोकभावात्मक लोकमानव। श्रौतदेवपितृयज्ञ निष्ठ, नित्यान्तनैष्ठिक द्विजाति मानव ही देवभावात्मक गृहस्थी मानव हैं। इनके प्रचण्ड आध्यात्मिक सौर दिव्य नैगमिक तेज के सामने भी चान्द्रसर्गानुगत चतुर्दशविध भूतसर्ग उसी प्रकार अभिभूत हैं, जैसे कि अहःकाल में सौर आलोकमण्डलभुक्त चन्द्रमा सर्वात्मना अभिभूत-निस्तेज बना रहता है। देवभावापन्न यही गृहस्थी मानव अपने लोकनिबन्धन पारिवारिक जीवन की अपेक्षा से लौकिक मानव भी है, जिसके परिवार में चान्द्रसोमप्राणप्रधान बालवृन्द, तथा सौम्य नारीवृन्द भी समाविष्ट हैं, जो दोनों ही वर्ग श्रौत दिव्यसंस्कारात्मक-यज्ञकर्म्म में अनधिकृत माने गए हैं। रात्रिजागरणात्मक कर्म्म से चान्द्र-अन्न पितृपरिवार को तुष्ट-तृप्त बनाए रखना एक ओर जहाँ पारिवारिक कुलस्त्रियों का अनन्य कर्त्तव्य है, वहाँ लोकसमष्ट्यन्या नैगमिक देवमानव का इस पारिवारिक मान्यता में सहयोग प्रदान करना भी इसका लौकिक उत्तरदायित्व बन जाता है। देवमानव के वातावरण में सुरक्षित परिवार को भी यद्यपि कोई भय नहीं होना चाहिए चान्द्रभूतप्रेतबाधा का। किन्तु बालक स्वभावतः बालक (सौम्य-भावुक) ही हैं, स्त्रियाँ स्वभावतः स्त्रियाँ (सौम्या-भावुका) ही हैं। अतएव इन देवपरिवारानुगत, देवसंस्कारानुशयभावापन्न अतएव दिव्यसत्त्वसमतुलित निर्मल बाल-नारीवृन्द की ओर चान्द्रभूतसर्गात्मक प्रेतादि का आकर्षण सहज बना रहता है। इन अन्तरिक्षचारी उभयत -अमूर्त प्रेत-राक्षसगणों *

---

* "अमूर्त्तं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति"।
—शत० ३।१।-।०३।

के आकर्षण से त्राण पाने के लिए बाल-नारीवृन्द का सतर्क रहना। सर्वथा प्रकृति सम्मत है, जिसका आयु शास्त्र की सुप्रसिद्ध आर्षभाषात्मिका चरकसंहिता के 'भूतोपशमनीयाध्याय' में विस्तार से उप-बृंहण हुआ है। इस लोकमान्यता के साथ साथ पारिवारिक मृतप्राणियों के 'श्मशा' नामक पितृदेवता, के अनुशासन से अनुशासित गृह्य-पार्थिव पितरों की अनुग्रह प्राप्ति के लिए कुलस्त्रियों के द्वारा रात्रि जागरणमाध्यम से पितृकर्म्मानुगमन भी आवश्यक है। एवमेव भूतात्मानुगत हंसात्मा के बन्धनविमोक के लिए स्वयं श्रौतकर्म्माधिष्ठाता कुलपुरुष के द्वारा स्थानविशेष में गयाश्राद्धानुगमन भी सर्वथा अनिवार्य्य है।

लोकसंग्रहविघातक विमूढमानव—

"जो मानव ऐसा नहीं करते, नहीं कर सकते, उनका कोई अनिष्ट देखा सुना नहीं गया' इस आलोचना का केन्द्र मानवानुबन्धी वह पशुभाव है, जडात्मक भूतभाव है, जिसके वैकारिक-विमूढ नामक दो अवान्तर विभेद पूर्व में स्पष्ट हो चुके हैं। लक्ष्यभ्रष्ट भारतीय मानवसर्ग वैकारिक है, एवं पर लक्ष्यानुगत मानवसर्ग विमूढसर्ग है, जिसे 'आसुरसर्ग' 'वारुणसर्ग', आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। इस उभयविध मानवसर्ग की अध्यात्मसंस्था के आत्मा, आत्मनिबन्धना सत्त्वभावापन्ना विद्या-बुद्धि, दोनों दैवधर्म्म सर्वात्मना अभिभूत रहते हैं। अतएव 'आत्मज्ञान-बुद्धिविद्याविमूढ ऐसे मानव सर्ग के लिए अवतारपुरुषों के द्वारा यही व्यवस्था हुई है कि—'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्-विद्धि नष्टान-चेतसः' (*गीता ३।३२*)। *पशुसर्गवत् एवंविध विमूढ मानवों में सेन्द्रियमन, तत्कामनाभयरूप शरीर* ये दो ही भाव मुख्य बने रहते हैं। मनोवशवर्त्तिनी बनती हुई इन आसुरभावापन्न मानवों की बुद्धि तमोगुणबहुला बनती हुई 'अविद्या-अस्मिता आसक्ति-(रागासक्ति, एवं द्वेषासक्ति)-अभिनिवेश' इन चारों मायामय तमोमय भावों से सतत आक्रान्त रहती है। ऐसे ही मानवसर्ग के सम्बन्ध में नीति का यह सिद्धान्त सर्वात्मना समन्वित हो रहा है, भले ही वह भारतीय मानव हो, अथवा तो अभारतीय।

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
> धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

मन शरीरमात्रपरायण, तमोबहुलबुद्धि के परमाचार्य्य ऐसे विमूढ मानवों का चरम पुरुषार्थ है माया, तम, छल, कपट, मात्सर्य्य, पिशुनता असूया, आदि आसुरभावों के माध्यम से नानाविध उत्पात परम्पराओं के सर्जन द्वारा लोक में सहज प्राकृतिक अशान्ति का उद्भव करते रहना, एवं तद्द्वारा स्वार्थसाधनपूर्वक केवल शरीरपरायण, तदनुगत मन परायण (कामभोगपरायण) बने रहते हुए- "आज ऐसे यह प्राप्त कर लिया, वैसे वह प्राप्त कर लेंगे" इस चर्वणा में ही अहोरात्र आसक्त व्यासक्त बने रहना, जिन आसुर छलकपटादि समस्त आसुर भावों का स्रोत 'माया एवं तम' इन दो महा

अर्थों में अन्तर्भाव हो रहा है *। आत्मबोधस्वरूपविश्लेषिका, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्यलक्षणा विद्या-बुद्धिचतुष्टयी के द्वारा अभिनिवेशात्मक अधर्म, अविद्यात्मक अज्ञान, आसक्तिरूप रागद्वेष, अस्मिता-लक्षण अनैश्वर्यलक्षणा अविद्याबुद्धि-चतुष्टयी के निवृत्त्युपाय प्रदर्शक सर्वेश्वर-पूर्णेश्वर भगवान् ने यथोपवर्णित विमूढ आसुरभावापन्न मानवों के सम्बन्ध में जो निम्न लिखित उद्गार प्रकट किए हैं, सम्भव है उनके द्वारा स्वजनपथारूढ़ गतानुगतिक आज के युग के भारतीय मानव का उद्बोधन सम्भव बन जाय।

मानवोद्बोधक विभूतिद्वयवर्णन—

१—दैवमानवानुगता दैवीसम्पत् (विमोक्षाय)—

१—अभयं-सत्त्वसंशुद्धि-र्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं-दमश्च-यज्ञश्च-स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

२—अहिंसा–सत्य–मक्रोधः–त्यागः–शान्ति–रपैशुनम् ।
दया–भूतेषु–अलोलुप्त्वं–मार्दवं–ह्री–रचापलम् ॥

३—तेजः–क्षमा–धृतिः–शौच–मद्रोहो–नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !

—१—

२-आसुरमानवानुगता आसुरीसम्पत् (निबन्धाय)—

१—दम्भः–दर्पः–अभिमानश्च–क्रोधः–पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं–चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥

—२—

३—द्वयोः सम्पदोः उदर्कौ—

दैवीसम्पद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ॥

—३—

---

* अथ हैनं शरदप्यसुराः-उपसेदुः-इत्याहुः । तेभ्यस्तमश्च, मायां च प्रददौ । अस्त्यहैव-'आसुरमाया' इति-इव । पराभूता हत्वैव ताः प्रजाः । (शत० २।४।२।५।) ।

४–दैव-आसुरमानवभेदभिन्नप्राकृतिकसर्गद्वयस्वरूपमीमांसा–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव, आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्तः, आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥

—१—

५–आसुरमानवस्वरूपोपवर्णनम् (दैवमानवोद्बोधनधिया)–

१—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं, नापि चाचारः, न सत्यं तेषु विद्यते ॥

२—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥

३—एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

४—काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान-मदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद् ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

५—चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा 'एतावदिति' निश्चिताः ॥

६—आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

७—इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये 'मनोरथम्'।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

८—असौ मया हतः शत्रुः, हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं 'भोगी', सिद्धोऽहं, बलवान्, सुखी ॥

९—आढ्यो-ऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये-दास्यामि-मोदिष्ये-इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

१०—अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः 'कामभोगेषु' पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

११–आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
१२–अहङ्कारं–बलं–दर्पं–कामं–क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो ऽभ्यसूयकाः ॥
१३–तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
१४–आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता १६ अ० । १ से, २० पर्यन्त

—४—

"३–१–१–१–१४–"इन पाँच भागों में विभक्त विंशति (२०)-श्लोकात्मक 'देवासुरस्वरूप-निरूपण' नामक प्रकरण में भगवान् ने जिस उपनिषत् (रहस्यात्मक तत्त्वविज्ञान-मौलिकविज्ञान) का विश्लेषण किया है, उसका विशद निरूपण तो गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तत्प्रकरण में ही देखना चाहिए । प्रकृत में केवल अक्षरार्थ-समन्वय से ही सन्तोष मान लिया जाता है ।

(१)–दैवमानवानुगता दैवीसम्पत्–विभाषाय–

'त्रिःसत्या वै देवाः' इस नैगमिक आम्नायानुसार दैवीसम्पत्–स्वरूपपरिचयात्मक प्रथम-अवान्तर प्रकरण में तीन ही श्लोकों से भगवान्ने 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः०' इत्यादि रूप से जन्मजात दैव-भावापन्न मानव (द्विजातिमानव की उस दैवीसम्पत् के सहज गुणों (प्राकृतिक गुणों) का ही स्वरूप विश्लेषण किया है, जो दैवीगुण युगधर्म्मानुगत आसुरभावों के सम्पर्क में आकर भी 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति' इत्यादि के अनुसार येनकेनरूपेण सुरक्षित रहते ही हैं । 'त्रि परतस्तम्भ पडिमा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' (ऋक् सं०) —'अभयं वै ब्रह्म'—(बृह० उप० ४ । ४ । २५)—'ब्रह्म वै स्वयम्भु अभ्यानर्षत्' (शत० ब्रा०) इत्याद्यनुसार स्वायम्भुव 'पुरुषात्मा' ही १–'अभय' (पद) है, जिसकी अनुगति (बोध) के अनन्तर देवमानव सर्वात्मना स्वयम्भूवत् षट्-लोकात्मक (भूः–भुवः–स्वः–महः–जनः–तपः) रजों से अतीत 'विरज' बनता हुआ संसरण–कम्पन–शील सांसरिक यच्चयावत् भयभावों (कम्पनभावों) से पृथक् हो जाता है । 'या सम्भवत्यदितिर्देवतामयी'–(कठोपनिषत् ४ । ७ ।)–'महतः परमव्यक्तम्'–'सत्त्वादधि महानात्मा' (कठोपनिषत् ६।७।)—'सत्त्वस्थैः प्रवर्त्तकः' (उपनिषत् इत्याद्यनुसार–पारमेष्ठ्य 'महानात्मा' ही २–'सत्त्व' (पद) है, जिसकी अनुगति (बोध) के अनन्तर त्रिगुणात्मक विश्व के त्रैगुण्यभाव से

सम्बन्धित सम्पूर्ण पाप्मा–मलीमस विचार–मलिनता–सर्वात्मना पलायित हो जाते हैं। 'धियो यो न प्रचोदयात्'–'तेषामादित्यवज्ज्ञानम्' इत्याद्यनुसार सौर 'विज्ञानात्मा' ही ३–'ज्ञान' (योग) है, जिसकी अनुगति के अनन्तर अज्ञानावृत ज्ञानात्मक मोह एकान्ततः पलायित हो जाता है उसी प्रकार, जैसे कि उदित सूर्य्य से 'अन्धतमः' निःशेष बन जाता है। मर्त्यसूर्य्यानुगत प्लष ४–यज्ञ, चान्द्र 'प्रज्ञानात्मा' नुगत ५–'दान', एवं पार्थिव 'भूतात्मानुगत' '६–दम', ये तीनों मर्त्यकर्म्म-शक्तियाँ भी देवमानव में सहजरूप से उद्बुद्ध रहतीं हैं, जिनकी मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव अभय, पारमेष्ठ्य सत्त्व, अमृतसौरज्ञान ही माने गए हैं।

आत्मनिभूतयः—

१—स्वायम्भुव ब्रह्म	अभयाधारम्	(पुरुषात्मानुगतम्)।
२—पारमेष्ठ्य सत्त्वम्	सत्त्वसंशुद्धेराधारम्	(महानात्मानुगतम्)।
३—अमृतसौरज्ञानम्	ज्ञानयोगव्यवस्थितेराधारम्	(विज्ञानात्मानुगतम्)।
४—मर्त्यसौर-यज्ञ	यज्ञाधारः	(प्राणात्मानुगतम्)।
५—चान्द्र दानम्	दानाधारम्	(प्रज्ञानात्मानुगतम्)।
६—पार्थिव-दम	दमाधारः	(भूतात्मानुगतम्)।

—×—

आत्मनिभूतिप्राप्तिसाधनानि—

१—सर्वत्र सर्वावस्थासु स्थितिभाव	अभयम्	(निडर रहो)।
२—सर्वत्र सर्वावस्थासु विशुद्धभावना	सत्त्वसंशुद्धिः	(पवित्र रहो)।
३—सर्वत्र सर्वावस्थासु निर्णयबुद्ध्यनुगति	ज्ञानयोगव्यवस्थितिः	(ज्ञानोपासक बने रहो)।
४—सर्वत्र सर्वावस्थासु प्राकृतिककर्म्मानुगति	यज्ञ	(कर्म्म करते रहो)।
५—सर्वत्र सर्वावस्थासु आत्मपरिग्रहार्पणम्	दानम्	(आदान के लिए प्रदान करते रहो)
६—सर्वत्र सर्वावस्थासु इन्द्रियमर्य्यादानुगति	दम	(अपने को मर्य्यादित रक्खो)।

—×—

प्राप्त–आत्मनिभूतिसंरक्षणोपायाः—

(१)–सर्वत्र सर्वावस्थासु—प्रकृतिरहस्यानुशीलनपरायणता	(स्वाध्यायशील बने रहो)—	स्वाध्याय
(२) सर्वत्र सर्वावस्थासु—प्राकृतिकपरिश्रमानुगमनम्	(सदा प्राणदान करते रहो)—	तपः
(३)–सर्वत्र सर्वावस्थासु—ज्ञानक्रियार्थभावना ऋजुता	(सदा समत्त्व का अनुगमन करो)	आर्जवम्

—(१६)-१—

दैवभावसंरक्षकाः–सामान्योपायाः–(सामान्यवृत्तयो वा–सात्त्विकमानवस्य)

(१)–सर्वभूतहिते रतिः	सबको सहयोग प्रदान करो	अहिंसा
(२)–विज्ञानसम्मतो वाग्व्यवहारः	तत्त्वसम्मता भाषा बोलो	सत्यम्
(३)–शारीरिकोत्तेजनानियन्त्रणम्	उत्तेजित मत बनो	अक्रोधः
(४)–कामासक्तौ–अनासक्तिः	आसक्तिबन्ध से बचे रहो	त्यागः
(५)–मानसिकोत्तेजनस्योपेक्षा	मानसिक चञ्चलता की उपेक्षा करो	शान्तिः
(६)–परच्छिद्रान्वेषणे उपेक्षा	दूसरों के दोषदर्शन से बचे रहो	अपैशुनम्
(७)–असमर्थेषु सहयोगप्रदानम्	असमर्थों की सहायता करो	दया
(८)–वित्तपरिग्रहे लिप्साया अभावः	वित्तलालसापाश में न बंधो	भूतेष्वलोलुप्त्वम्
(९)–व्यवहारेषु कोमलता	लोकव्यवहार में उग्र न बनो	मार्दवम्
(१०)–निन्द्यकर्म्मसु लज्जाशीलता	असत्कर्म्मों में लज्जाशील बनो	ह्रीः
(११)–मनसः–इन्द्रियाणाञ्च बुद्ध्या नियन्त्रणम्	बुद्धि के स्थिरधर्म्म को अपनाओ	अचापलम्

——(१६)–२——

(१२)–व्यवसायबुद्धेः सुतीक्ष्णता	सूक्ष्मदर्शी बनो	तेजः
(१३)–अपराधोपेक्षा	अपराधों की उपेक्षा करो	क्षमा
(१४)–बुद्धेरकम्पनत्वम्	बुद्धि को सुस्थिर रक्खो	धृतिः
(१५)–बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धिः	उभयशुद्धि को अपनाओ	शौचम्
(१६)–अपकारिषु उपेक्षा	निन्दकों की उपेक्षा करो	अद्रोहः
(१७)–स्वशक्तेः परोक्षता	स्वशक्ति को प्रकट न करो	नातिमानिता

——(१६)–३——

जिस द्विजाति मानव की वंशपरम्परा में आम्नायसिद्ध निगमानुगत सनातनधर्म्म परम्परया प्रक्रान्त रहता है, वह कुलीन ही 'अभिजात' है दैवसम्पद्दृष्ट्या। उस मानव में जन्मतः उक्त दैवी-सम्पत् परम्परया प्रतिष्ठित रहती है—

"भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !"

——१——

२–आसुरभावानुगता आसुरीसम्पत्-निबन्धाय—

दैवीसम्पत् के अभयादि-दमान्त ६ विशेषधर्म, स्वाध्याय-तप-आर्जवरूप ३ संरक्षणोपाय, एवं अहिंसादि नातिमानितान्त १७ विशेषधर्म्म, सम्भूय इन २६ (छब्बीस) दैवीसम्पदाओं के अभयादि २६ ही

विपर्य्यय माने गए हैं, जिनका समावेश तो जन्मना आसुरीसम्पत्-युक्त मानव में रहता ही है। इनके अतिरिक्त 'दम्भ-दर्प-अभिमान-क्रोध-पारुष्य-अज्ञान' ये ६ विशेष धर्म्म इसमें और समाविष्ट हो जाते हैं। इस विशेषता के कारण ही तो देवासुरप्रतिद्वन्द्विता में आरम्भ में कुछ समय के लिए देवबल पराभूत सा प्रतीत होने लगता है, जबकि अन्त में असुरबल के लिए-'समूलस्तु निरस्यति' पुरस्सर ही सुरक्षित माना गया है। इसी आधार पर 'नलं सत्यादोनीयः'-'सत्यमेव जयते-नानृतम्' सिद्धान्त स्थापित हुए हैं—

आसुरीसम्पद्युक्तमानवस्य सामान्यविशेषधर्म्माः —

(१)-मनसि सदा विस्म्पनता	मनमें सदा भयसंत्रस्त हैं	भयम्
(२)-सन्त मलिनविचारानुगति	सदा अपवित्र हैं	मम
(३)-सदा अनिश्चितमत्यनुगति	सदा संशयशील हैं	अज्ञानम्
(४)-सदा विरुद्धकर्म्मानुगति	प्रकृतिविरुद्ध कर्म्म करते हैं	विकर्म्म
(५)-परपरिग्रहाकर्षणप्रवृत्ति	परसम्पत्ति अपहरण में कुशल हैं	अपहरणम्
(६)-सदा उन्मर्यादता	सदा अमर्य्यादित हैं	अमर्यादा
(७)-सदा आम्नायालोचना तद् विरोधश्च	शास्त्र धर्म्मविरोधी हैं	स्वाध्यायविरोध
(८)-उच्छृङ्खलश्रमानुगति	निरर्थक साहसों के अनुगामी हैं	आयास
(९)-सर्वत्र कुटिलव्यवहार	सर्वत्र कुटिलता रखते हैं	कुटिलता
(१०)-सर्वभूतोत्पीडनम्	सबको पीड़ित करते रहते हैं	हिंसा
(११)-स्वार्थसम्मतो वाग्व्यवहार	स्वार्थ में ही बात करते हैं	अनृतम्
(१२)-शारीरिकोत्तेजनानुगति	तत्क्षण उत्तेजित हो पड़ते हैं	क्रोध
(१३)-कामासक्तिपरायणता	कामभोग में तल्लीन हैं	आसक्ति
(१४) मानसिकोत्तेजनानुगति	मन से सदा अशान्त हैं	अशान्ति
(१५)-परदोषमीमांसानुगति	दूसरों को दोषी मानते रहते हैं	पिशुनता
(१६ -असमर्थेषु दण्डप्रदानम्	निर्बलों का दण्ड देते हैं	क्रूरता
(१७)-वित्तेषु लिप्सा	सम्पत्ति लालसा में लिप्त हैं	लिप्सा
(१८)-व्यवहारेषु रूक्षता	व्यापार में बड़े रूखे हैं	रूक्षता
(१९)-निन्द्यकर्म्मसु यश ख्यापनता	बुरे कर्म्मों को पुरुषार्थ मानते हैं	निर्लज्जता
(२०)-मनस इन्द्रियाणाञ्च चपलता	सदा चञ्चल बने रहते हैं	चपलता
(२१)-प्रत्यक्षबुद्धेरनुगति	सदा प्रत्यक्ष से प्रभावित रहते हैं	स्थूलदृष्टि
(२२)-अपराधिषु निर्म्ममव्यवहार	क्षमा करना जानते ही नहीं	क्रूरता

(२३) बुद्धेर्विकम्पनता	बुद्धि सदा डाँवाडोल रहती है	अव्ययसायिनः
(२४)–बाह्याभ्यन्तरमलिनता	सर्वात्मना मलिनविचार रखते हैं	अशुचयः
(२५)–उपकारिषु उपेक्षा	उपकारी को भूल जाते हैं	कृतघ्नाः
(२६)–स्वशक्तेर्घण्टाघोषः	सदा अपनी बड़ाई करते रहते हैं	स्वगुणख्यापकाः

—पूर्वनिपर्य्ययाः—

(२७)–१–स्वमहत्त्वख्यापनप्रवृत्तिः	अपने महत्त्वस्थापन के लिए आकुल हैं	स्वगुणकामुकाः
(२८)–२–परमहत्त्वनिन्दाप्रवृत्तिः	परमहत्त्व के विशिष्ट निन्दक हैं	परगुणनिन्दकाः
(२९)–३–भूतावेशवत्-आवेशानुगतिः	सदा भावाविष्ट रहते हैं	भावाविष्टाः
(३०)–४–मनसिवचसिकायेनिष्ठुरता	सर्वात्मना पाषाणहृदय हैं	पाषाणहृदयाः
(३१)–५–अविद्याचतुष्टय्यामासक्तिः	अविद्याचतुष्टयी के महापण्डित हैं	बुद्धियोगभ्रष्टाः

——(१६)–४——

—'अभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम्'

--- २---

(३) द्वयोः सम्पदोः-उदर्कौ–

प्रतिपादित उभयसम्पत्तियों का स्वरूप ही दोनों के उदर्कभावों (परिणामों) का स्पष्टीकरण कर रहा है। ऐन्द्री दैवीसम्पत् जहाँ पाशविमोचिका है, वहाँ वारुणी आसुरी सम्पत् पाशबन्धन-प्रवर्त्तिका है। यह ठीक है कि, जन्मना दैवीसम्पत्-युक्त मानव अपनी भावुकता के दोष से अर्जुनादिवत् परधर्म्माक्रान्त बनता हुआ, अपनी सात्त्विक आस्थानुगता-श्रद्धाश्लाघिता सहज निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ कुछ समय के लिए अवश्य ही उत्पथपथानुगामी हो जाता है। किन्तु कालान्तर में इसका उद्‌बोधन सहज है। यही भाव भगवान् के 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !'' (१६।५) इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है, जिसका अन्यत्र इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

* स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (गीता १८।६०।)

---

*–'ज्याँ का पड्या सुभाव (स्वभाव–प्रकृति) जासी जीवसे' (लोकोक्तिः)।
'प्रकृतिर्दुस्त्यजा' (साहित्यसूक्तिः)।
न धर्म्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ (नीतिसूक्तिः)।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ (गीता १८।५६।) ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (गीता ३।३३।) ।

ठीक इसके विपरीत जन्मना आसुरीसम्पत्-युक्त मानव अपनी स्वार्थलिप्सा परिपूर्णा आस्था श्रद्धा अप्रसन्ना जघन्यनिष्ठा (कुनिष्ठा) के माध्यम से केवल स्वार्थसाधन के लिए स्वार्थसाधन प्रसङ्गावसरों पर अपने आपको श्रद्धा शील-धर्म्मभक्त घोषित करता हुआ, 'मुखे रामः कक्षे छुरिका'* की अन्वर्थ बनाता हुआ कुछ समय के लिए अवश्य ही दैवीसम्पत्-युक्त सा प्रतीत होने लगता है। किन्तु कालान्तर में इसका व्याघ्रचर्म्मोपच्छन्नरासभ @ स्वरूप अवश्य ही सुव्यक्त हो जाता है। ऐसे प्रतारकों से दैवमानव को सर्वात्मना सतर्क रहना चाहिए, जिनका यशोवर्णन ? विस्तार से स्वयं भगवान् ही करने वाले हैं।

—(१६)-५—

--- ३ ---

(४)-दैव-आसुरभावभेदभिन्नप्राकृतिकसर्गद्वयस्वरूपमीमांसा—

स्वायम्भुव ब्रह्मात्मक ऋषिसर्ग, एवं पारमेष्ठ्य सुब्रह्मात्मक पितृसर्ग, दोनों कालचक्रात्मक सम्वत्सरसीम युगता विधि-निषेधसीमा से बहिर्भूत हैं — । अतएव तद्रूप सन्यासी, तथा तपस्वी, इन दो आश्रमसर्गों को भूतसर्गसीमा से पृथक् ही माना जायगा, जिन्हें भगवान्‌ने-'महर्षयः सप्त पूर्वे' इत्यादि रूप से भावात्मक मानससर्ग (अव्ययात्मकसर्ग-असर्गात्मक सर्ग) ही कहा है (×) । सर्गमर्य्यादा का उपक्रम होता है समष्टिलक्षणा 'सृष्टि' से। यह सृष्टि अवलम्बित है रयिप्राणात्मक दाम्पत्यभाव पर, मिथुनभाव पर। अतएव इसे-'मैथुनीसृष्टि' कहा गया है। यही समष्टिलक्षण-मिथुनभावात्मक-भूतसर्ग है, जिसका उपक्रम स्थान है देवप्राणघन विश्वकेन्द्रस्थ 'सूर्य्य'। यहाँ क्योंकि अधोभागावस्थित पार्थिव चान्द्र मर्त्यसर्ग का भी समन्वय है, अतएव सौर-भूतसर्ग के ही 'दैवसर्ग'

---

*—'मुख में राम, बगल में छुरी' (लोक आभाणक) ।

— यस्मादर्वाक् सम्वत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ (शत० १४।७।२।२०।) '

× महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषा लोक इमाः प्रजाः (देवप्रजा, असुरप्रजा च) ॥ (गी०१०।६)।

'आसुरसर्ग' ये दो विभाग मान लिए जाते हैं। सूर्य्य ही अपने सावित्राग्निमय कश्यप मण्डल से 卐 परमर्ष बनता हुआ 'कश्यपप्रजापति' है, जिसकी अदितिपत्नी से देवसर्ग, एवं दितिपत्नी से दानवसर्ग (आसुरसर्ग) का उदय हुआ है। इन दोनों सर्गों के उपबृंहणात्मकविवेचन का ही नाम सौरपुराण कार्यविज्ञाननिरूपक 'पुराणशास्त्र' है।

सौरसर्ग ही अदिति-दिति भेद से देव-आसुर इन दो सर्गों से परिणत हो जाता है, जिस के सूर्य-चन्द्रमा, चन्द्रमा-पृथिवी, पृथिवी-भूत, ये तीन अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं, जिन का दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है (देखिए पृष्ठ सं० ३३४ का परिलेख)। सूर्याचन्द्रमसौ चन्द्रमापृथिव्यौ, भूतपृथिव्यौ, ये तीनों दाम्पत्यभाव ही यहाँ क्रमशः देव, पशु, भूत, इन तीनों सर्गों के प्रवर्त्तक बतलाए गए हैं। चान्द्रपार्थिव पशुसर्ग ही लोकाभिमत चतुर्दशविधभूत-चेतनसर्ग है, एवं पार्थिव लोष्ट-पाषाणादि जडसर्ग ही अचेतनसर्ग है। इन दोनों सर्गों में क्रमशः तमोगर्भित रज, रजोगर्भित तम का प्राधान्य है। तमोभाव ही 'सर्वं वृत्वा शिश्ये' लक्षण आवरणधर्मा 'वृत्र' प्रमुख आसुरभाव है। एवं इस दृष्टिकोण से इस चान्द्र-पार्थिव उभयविध भूतसर्ग को हम 'आसुरसर्ग' ही मान सकते हैं। इसी आधार पर उभयसर्ग-मूलभूत चन्द्रमा को 'वृत्र' कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

(१)—वृत्रो ह इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये, तस्माद् वृत्रो नाम। (शत० १।१।३।४)।

(२)—पाप्मा वै वृत्रः (शत० ११।१।५।७)—स यद्वर्त्तमानः (प्रत्यक्षभूतानुगतः) समभवत्, तस्माद्—वृत्रो नाम (शत० १।६।३।१)।

(३)—वृत्रो वै सोम आसीत् (शत० ३।४।३।१३)। इन्द्रस्तं वृत्रं द्वेधा—अन्वभिनत्। तस्य यत् सौम्यं न्यक्तमास, तं चन्द्रमसं चकार। अथ यदस्य—आसुर्य्यमास, तेनेमाः प्रजा उदरेण (अशनायया बुभुक्षया) आविध्यत् (शत० १।६।३।१७)—"अथैष एव वृत्रः, यच्चन्द्रमाः (शत० १।६।४।१३)।

निष्कर्ष यह निकला कि, सौर-चान्द्र-पार्थिव-ये तीन सर्ग विवर्त्त ही क्रमशः देव, चतुर्दशविध-भूतात्मक चेतनपशु, एवं असंज्ञविशेषात्मक अचेतन भूत, इन तीन सर्गों के अधिष्ठाता बने हुए हैं, जिस में सौर 'देवसर्ग' का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं चान्द्र चेतनसर्ग (पशुसर्ग), तथा पार्थिव अचेतनसर्ग

卐 "एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत—अकरोत्तत्। यदकरोत्, तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। स यः स कूर्म्मः—असौ स आदित्यः" (शत० ७।५।१।५)।

(भूतसर्ग), दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही लक्ष्यात्मक वृत्रप्रमुख आसुरसर्ग है, जो देवसर्गानुबन्धिनी विज्ञानबुद्धि (विद्याबुद्धिचतुष्टयी) के नियन्त्रण में रहता हुआ जहाँ देवसर्गात्मक देवमावापन्न गृहस्थाश्रमी द्विजाति मानव की लोकानुगता चान्द्र-पार्थिव-पारिवारात्मिका स्वस्ति का संरक्षक बना रहता है, वहाँ अविद्याबुद्धि से संयुक्त होकर यही आसुरसर्ग द्विजाति के लिए-द्विजाति के भावुकता प्रधान सौम्यबाल-नारीवृन्द के लिए-सोमात्मक (चन्द्रात्मक) भावप्राधान्य से सजातीय सौम्याकर्षण के द्वारा अनिष्टकर बना रहता है, जिसके लिए नारीवृन्द लोकमान्दताओं का अनुगामी बना रहता है। तदित्थं, पञ्चविध प्राकृतिक सर्गों में आरम्भ के असर्गात्मक-भावात्मक दो सर्गों (ऋषि-पितृसर्ग) को मनूदितलक्षणा सर्गमर्यादा से पृथक् करते हुए भगवान्‌ने शेष रहे हुए देव-पशु-भूत, इन तीन सर्गों में से अन्त के 'पशु-भूत' दोनों सर्गों को एक मानते हुए दैव, आसुर भेद से दो प्रकार के ही निरवानुबन्धी भूतसर्ग स्वीकार किए हैं, जिनका पुराणपुरुष [व्यास] की "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्‌-दैव, आसुर एव च" इस वाणी से स्पष्टीकरण हुआ है।

दैविक सर्वत्यक्त [क] सर्गातीत	१-परमेष्ठिगर्भित —स्वायम्भुवसर्ग	[स्वयम्भु-परमेष्ठिरूप]— ऋषिसर्ग [ऋषिमानव-सन्यासी	सर्गातीती
	२-सूर्यगर्भित —पारमेष्ठ्यसर्ग	[परमेष्ठि-सूर्यरूप]— पितृसर्ग [यतिमानव-वानप्रस्थी	
आसुरिक सर्वसीमित [ख] सर्गानुगत	३-चन्द्रगर्भित —सौरसर्ग	[सूर्यचन्द्ररूप]— देवसर्ग [देवमानव-गृहस्थी	दैवसर्ग
	४-पृथिवीगर्भित-चान्द्रसर्ग [चन्द्रपृथिवीरूप]-पशुसर्ग	लोकमानव - लौकिक	आसुरसर्ग
	५-चन्द्रगर्भित — पार्थिवसर्ग [पृथिवी रूप]-भूतसर्ग		

—[१६]-६—

—८—

(५)-आसुरमानवस्वरूपोपवर्णनम् (दैवमानवोद्बोधनधिया)

(१)-प्रकृतिसम्मत अमुक कर्म्म करने से मानव का अभ्युदय निःश्रेयस् साधन होता है, एवं अमुक प्रकृति-विरुद्ध कर्म्म करने से मानव का सहज अभ्युदयरूप आवृत हो जाता है, इस प्रकृतिसिद्ध प्रवृत्तिरूप विधि, एवं निषेध का मर्म्म आसुर मानव नहीं जान सकते। (उनका एकमात्र पुरुषार्थ है

प्रकृतिसम्मत विधिकर्म्मों की उपेक्षा, एव निषिद्ध कर्म्मों का अनुगमन, अतएव) ऐसे आसुर मानव बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की पवित्रता से वञ्चित रहते हैं। अतएव इनका कोई आचारधर्म्म (सात्त्विक आचरणधर्म्म) नहीं है। अतएव ये प्राकृतिक नर उस सत्यनिष्ठा से सर्वात्मना वञ्चित ही रहते हैं, जिस सत्य का प्रतीक 'धर्म (प्राकृतिक आचरण, प्राकृतिकी मर्य्यादा) माना गया है। ※ (१६।७)।

(२)-(अपनी मानसिक अमर्य्यादित कामपरायणता, शारीरिक भोगपरायणता को ही 'मानव जीवन' का अनन्य पुरुषार्थ घोषित करने वाले इन विमूढ आसुर मानवों का कहना है कि) "ईश्वर-परमात्मा जगदाधार विश्वेश्वर नामक कोई वैसा सत्य तत्त्व नहीं है, (जो मानव के अच्छे बुरे कर्मों का साक्षी बनता हुआ मानव पर निग्रहानुग्रह करता रहता है)। सम्पूर्ण जगत् क्षणिक है, अनित्य है, मिथ्या है, ईश्वरनामक नियन्ता का यहाँ अभाव है। सम्पूर्ण जगत् केवल अपने समविषम (अपरस्पर) सयोग का परिणाममात्र है। प्राणियों की सहज मानसकामना (सेक्स्) ही सृष्टि (प्रजासर्ग) का मूल है। कामभाव के अतिरिक्त और (ईश्वरादि) कारण हो ही क्या सकता है।" (१६।८)।

(३)-इस प्रकार की अनीश्वरवादमूला प्रत्यक्षभूतमूला-असत्य अप्रतिष्ठात्मिका नास्तिकदृष्टि को ही अपनी तत्त्वमीमांसा का मुख्य आधार मानते हुए ये कामभोगपरायण पशुसमानधर्म्मा इन्द्रियाराम आसुर मानव अपने सहज परिपूर्ण आत्मस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर चुके हैं। विद्याबुद्धि का विशाल दृष्टिकोण इनका विलुप्त हो चुका है। नितान्त सीमित केवल प्रत्यक्षप्रभावानुगता इन विमूढों की तमोबहुला स्वल्पबुद्धि (स्थूलबुद्धि-लोकबुद्धि) अपनी कामभोगलिप्सा के उपशमन के लिए वैसे वैसे उग्र भयानक सर्वशान्तिविघातक सर्वसंहारक-भूतविज्ञानात्मक कर्म्मों की अनुगामिनी बनी रहती है, जिनसे परिणाम में जगत् (जङ्गमशील मानवसमाज) की सहजशान्ति का सर्वनाश ही निश्चित बन जाता है। ससार को अपने उग्रकर्म्मों से विनाशोन्मुख बनाते रहना ही इन आसुर मानवों की उत्पत्ति का एकमात्र परिणाम है। (१६।९)।

(४)-"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" के अनुसार कभी भी उपशान्त परिपूर्ण न होने वाली वह कामवासना भोगलिप्सा ही जिसकी परम्परा घृताग्निसयोगवत् शान्त होने के स्थान में उत्तरोत्तर प्रवृद्ध ही होती रहती है- — जिन मानवों की एकमात्र आश्रयभूमि बनी रहती है, जो आसुर मानव

※-"यो वै स धर्म्मः, सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः-'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तं-'सत्यं वदति' इति"।

—शत० ब्रा० १४।४।२।२३।

— न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

यश मान करूँगा, नट विट-गायक-गणिका-कोई याचक मेरे दान से वञ्चित न रहेंगे, और इस प्रकार इन सर्वविध लोकैषणाओं से मैं परम आमोद प्रमोद-मोद का उपभोग करता रहूँगा" अज्ञान विमूढ मानव इस प्रकार की दर्पानुभूतियों अभिमानात्मिका दर्पोक्तियों के द्वारा अपनी आत्म विमूढतालक्षणा-पशुसमतुलिता आसुरवृत्ति का उद्घोष करते हुए "इतस्ततो दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा भुवि कीट-पतङ्गादिवत्-अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" । (१६।१५)।

[१०]-विविध भ्रान्तियों से सतत उन्मत्तवत् विभ्रान्त दिङ्विमूढ-लक्ष्यच्युत बने रहते हुए, मोह परम्परापाश से आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य आबद्ध बने रहते हुए, कामवासनानुगता भोगलिप्सा में अहोरात्र आसक्त [मनसा], व्यासक्त [शरीरेण] ऐसे आसुर मानव [यहाँ तो इस जीवन में तो प्रलयान्तचिन्ता से संयुक्त रहते ही हैं, अनन्तर भी ये मानव] कुम्भीपाक-रौरव आदि भीषण पूतिगन्ध युक्त-मलीमस नरकपरम्पराओं में अपने प्रेतशरीर से निस्सीम परिताप का आस्वादन किया रहते हैं। [१६।१६]।

[११]-[शिष्ट सम्मान्य-योग्य आत्मबोधपथानुगत देवमानव यद्यपि जानते हैं इनके तथाविध स्वरूप को। किन्तु लोकसंग्रहविधया, एवं युगधर्मापेक्षया वे तटस्थ बने रहते हैं इनकी आलोचना से। पर कदा परोक्षप्रिय देवमानव परोक्षरूपेण इनके स्वरूप का उद्बोधनार्थ निरूपण भी करते रहते हैं, किन्तु इनका उद्बोधन तो होता नहीं, प्रतिक्रियात्मक अभिनिवेश अवश्य इनमें जागरूक बन जाता है। और इस दिशा में आकर ये] आसुर मानव अपने मनोराज्य में ही अपने आपको इतर सम्पूर्ण मानवों से श्रेष्ठ सम्पन्न कुलीन-ऐश्वर्यशाली मानने की अनुभूति में तल्लीन रहते हुए अपना स्वा-दम्भ दर्पपूर्ण वैखरी ध्वनिनाद [पशुनाद] से इस शून्य जघन्य अतिमलक्षणा अनुभूति की चाटुकार स्वनिर्वाचितपरायण जनमत मण्डल में घोषणा करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनत शिरस्क नहीं बन जाते ये एकान्तिक 'आत्मसम्भावित' स्तब्ध निर्लज्ज आसुर मानव।

अपने चाटुकारमण्डल में जहाँ इनकी वैखरी वाणी अट्टाट्टहासरूप उद्वेग कर निनाद से माता धरित्री की महत्‌शान्ति को निकम्पित करता रहती है, वहाँ शिष्ट-सात्त्विक-भद्र-आदर्शपरायण-विद्वान्-नैष्ठिक-देवमानवमण्डल में ये ही वाक्शूर अभिमानी आत्मसम्भावित आसुर मानव अपनी सम्पूर्ण योग्यता को सर्वात्मना विस्मृत कर अपने मुख को स्थिर नेत्रों से 'ख' प्रदेश (शून्याकाश) में योगसमाधिवत् स्थिरत्वपूर्वक सम्पोषित बनाते हुए 'मुहः खेऽन्यतरस्याम्' इस पाणिनिसिद्धान्त को अन्वर्थ बना देते हैं। मुख को 'ख' के अनुगत करने वाले शून्याकाशानुगामी ऐसे शून्य निरक्षर मूर्द्धन्य आसुर मानवों के लिए ही तो 'मूर्ख' शब्द का आविर्भाव हुआ है सर्वमान्यसम्प्राहक 'कोश' क्रोड में। युगधर्मानुग्रह से घुणाक्षरन्यायेन तथाविध शिष्टमण्डल में यदाकदा प्रवेश पा जाने वाले

लोकैषणाकामुक ये आत्मसम्भावित मानव वहाँ के सात्त्विक प्रभावपूर्ण वातावरण से अभिभूत होकर प्रथम तो सब कुछ विस्मृत करते हुए सर्वात्मना स्तब्ध बन जाने में ही अपना कल्याण समझते हैं। यदि किसी समानशीलव्यसन-धुरीण की प्रच्छन्न प्रेरणा से पंक्तिकष्ठस्थानुगति के आधार पर कभी ये कुछ तत्र शिष्टमण्डल में कुछ अनर्गल-असम्बद्ध बोलते हुए इस बुबुलिषा के माध्यम से इस मण्डल में भी अपने आपको मूर्द्धाभिषिक्त बनाने का दुस्साहस कर बैठते हैं, तो तत्क्षण ही हठात् सम्पूर्ण शिष्ट समाज को भी स्तब्ध करते हुए अपनी अनर्गलता से ये मूर्ख सहसा स्वयमपि सर्वात्मना 'स्तब्ध' ही बन जाते हैं।

हो जाना चाहिए था इस दिशा में पहुँचने ही इनका हार्द गत्यवरोध (हार्टफेल), किन्तु इनके आभ्यन्तर में धन-मान-मद-गर्व प्रतिष्ठित जो हो रहा है। वही आसुर मद [धन-मान-मद-गर्व, शरीर-सम्बद्ध शरीरभोगसाधनभूत धनगर्व, मन सम्बद्ध मानसकाम-साधनभूत मानगर्व, बुद्धिसम्बद्ध बौद्ध अतिमानसाधनभूत मदगर्व) इन आसुर मानवों की निर्लज्जता का संरक्षक बना रहता है, जिसके अनुग्रह से ये शिष्ट सांस्कृतिक मण्डल में स्तब्ध बने रहते हुए भी अपनी अतिमानभावा का उद्घोष प्रक्रान्त ही रखते हैं। अपनी इस प्रक्रान्ति को शिष्टसमाज के द्वारा घुणाक्षरन्यायेन सुरक्षित रखने के लिए ये

'धनमानमदान्वित'—

आसुरमानव लोकैषणात्मक अवैध काल्पनिक नामयज्ञों का दम्भ करते रहते हैं, जिन नामयज्ञों का स्वरूप वर्त्तमान में आबालवृद्धवनिता-सबके लिए प्रत्यक्षतम बना हुआ है। कहीं श्रौतस्मार्त्तपद्धति-नियम-मर्य्यादा-आदि का अनुगमन नहीं, कहीं नैगमिक आम्नाय का आधार नहीं, केवल मानस मान्यतानुगता लोकैषणा के आधार पर कहीं विश्वशान्ति की घोषणा से, तो कहीं 'अधर्म्मक्षय, धर्म्मस्थापन' के व्याज से आज नैगमिक पावन भारत के क्रोड़ में शलभदलवत् (टिड्डीदल की भाँति) यत्रतत्र सर्वत्र इन नामयज्ञों का ताण्डव प्रक्रान्त हो रहा है, जिन नामयज्ञ-ताण्डवों में 'दम्भ' लक्षण अविधि ही एकमात्र पद्धति है—"यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्" । (१६।१७)।

(१२)—हम से अन्य श्रेष्ठ कुलशीलशाली और कौन है, सर्वशास्त्रपारङ्गत-धर्म्मरहस्यवेत्ता-धर्म्मिष्ठ-सर्वोत्तम (देखिये शाङ्करानन्दी व्याख्या) और कौन है, इस प्रकार के 'अहङ्कार' में लिप्त शारीरनिबन्धन वित्तबल, प्राणनिबन्धन दर्पबल, मनोनिबन्धन काम-क्रोधबल, एवं बुद्धिनिबन्धन मोह-लोभ-पारुष्यादि-बल, इत्यादि मलीमस भावों में ही अहोरात्र ओतप्रोत सर्वव्यापक अन्तर्य्यामी सत्ता के ऐकान्तिक विरोधी आसुर मानव सदा सर्वदा अपने को सर्वगुणसम्पन्न, एवं दूसरों को सर्वदोषसम्पन्न प्रमाणित करते हुए-परगुणों की निःसार आलोचना करते हुए अपने ऐहिक-आमुष्मिक, दोनों भावों को पुरुषार्थ-साधन से वञ्चित बना रहे हैं। (१६।१८)

(१३)-जानते हो अर्जुन! सर्वशास्ता नियतिदण्डविधाता सर्वेश्वर अन्तर्यामी तथोपवर्णित आसुरमानवों के लिए परिणाम में क्या दण्डव्यवस्था व्यवस्थित करते हैं?। सुनो! प्राणिमात्र से द्वेष करने वाले (केवल अपनी कामनामना-भोगलिप्सा से ही अनुराग रखने वाले स्वार्थसाधनमात्र परायण) क्रूरकर्म्मा ऐसे नराधमों की सहजशान्ति, सहज सत्त्वबुद्धि, सहज ऋजुता, तो तत्क्षण ही आत्मस्वरूपविस्मृति से पूर्वकथनानुसार विलुप्त हो ही जाती है (१६।११), इसके अतिरिक्त अपनी नश्वरलीला समाप्त करते ही अन्तर्यामी का यममर्दनात्मक दण्डविधान इन्हें हीन-हीनतर-हीनतम श्वा-सूकर-सर्प-व्याघ्र-आदि योनियों का सम्पात्र बना देता है। (१६।१९)।

(१४)-और यों विविध आसुरी योनियों में भ्रम्यमाण ये मूढात्मा जन्म-जन्म-मृत्युपरम्पराओं में विचरण करते हुए उत्तरोत्तर निकृष्ट योनियों में परिणत होते हुए 'असूर्या' नाम की उस अन्ध तमोगति के गर्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ से त्राण नितान्त असम्भव है। तात्पर्य, 'यदि मानव अपने मानवजीवन में आत्मबोध प्राप्त न कर उत्पथानुगामी बना रह गया, तो इसका निःश्रेयस असम्भव बन जाता है' (१६।२०)। इस आसुरभावयुक्त का भगवान् ने अन्य स्थलों में भी यत्र तत्र आक्रोशपूर्वक स्वरूपविश्लेषण, एवं अन्तिम परिणाम व्यक्त किया है, जिसके कतिपय उदाहरण सम्भव है मानव की आसुरभ्रान्ति का अभिभव कर सकें।

१—ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

२—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः (७।१५)।

३—अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (९।११)।

४—मोघाशा-मोघकर्म्माणो-मोघज्ञाना-विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः (९।१२)

५—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (७।२५)।

६—त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (७।१३)।

७—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (७।२४)।

(१)–ये मे मतम्————अव्ययात्मस्वरूपानुगतं भगवन्मतम् ।

(२)–न मां दुष्कृतिनः——असत्कर्म्मरताः–आत्मस्वरूपं न विजानन्ति ।

(३)–अवजानन्ति मां मूढाः–मां–अव्ययात्मानं–अव्ययेश्वरमवामुपहसन्ति यथाजाताः—
नास्तिकाः । कथमीश्वराव्ययः–भौतिके शरीरे समाविष्टः ?,
असम्भवमेतत्–इति जल्पन्तः केवलप्रकृतिपरायणा
आत्मस्वरूपानभिज्ञाः–आसुरमानवाः

(४)–प्रकृतिं मोहिनीम्——वैकारिकभावात्मकाज्ञानावृतां प्रकृतिं मोहात्मिकां श्रिताः ।

(५)–नाहं प्रकाश.————भूतानुगताशनायालक्षणविष्णुमायया युक्तोऽयमव्ययात्मा न-विमूढ-
मनसि समायाति-'योगमाया हरेश्चैतत् तया सम्मोह्यते जगत्' ।

(६)–अव्यक्तं व्यक्तिम्——मूर्खाः–यथाजाताः–लौकिकाः 'प्रकृतिरेवेदं सर्वम् । प्रकृतेः–
सञ्चालको नान्यः–ईश्वरः,' इति उद्घोषयन्तः प्रकृतिमेव सर्व-
स्वमभिमन्यन्ते नराधमाः–आसुरमानवाः ।

-- -५----

पूर्णेश्वर अतिमानव (आधिकारिक मानव *–अवतारपुरुष) श्रीकृष्ण ने दैव आसुर सर्गभेद की मीमांसा के माध्यम से मानव स्वरूप की जो मीमांसा मानव के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए स्पष्ट की, उस पञ्चधा विभक्त दैवासुरसर्गस्वरूप-मीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मानव यदि अपना नैसर्गिक देवभावानुगत आत्मस्वरूप परिज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह चतुर्द्धा विभक्त उस मानव-श्रेणि–विभाग का क्रमशः अनुगमन करता हुआ लोकसंग्रहपूर्वक सहजभाव से ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय निःश्रेयस् का फलभोक्ता बनता हुआ अपनी सहज परिपूर्णता को सुरक्षित रख सकता है, जिस श्रेणिचतुष्टयी का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है (देखिए २४१ पृष्ठ)।

प्राकृतिक श्रेणिसंस्थानुगामी भारतीय द्विजाति मानव किस पद्धति आम्नाय एवं लोकमान्यतात्मक लोकाचार के अनुगमन से अपनी परिपूर्णता, अपने आत्मबोध को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है ?, प्रश्न का समाधान हीं निगमागमशास्त्र की रहस्यपूर्णा पारम्परिक–आम्नायानुप्राणिता सह तव्याख्या है, जो दुर्भाग्यवश सिद्धिकामुक योगप्रवर्तकों के प्रतारणात्मक समाधि–धारणा–ध्यानादि भावों से, तन्त्रभावानुगता दीक्षाप्रकारों से, पुराणमर्म्मज्ञता से वञ्चित कथावाचकों की मानसकाम-शारीरिकभोगभावानुगता

---

* "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (वेदान्तसूत्र)

व्याख्यापरम्पराओं से, मतवादाभिनिष्ट साम्प्रदायिकों की दासभावानुगता भक्तिपरम्परा से, लोकमान्यतानुगत आम्नायों के केवल मानस कल्पनानुगत रूढ़िवादों से, एवं अन्यान्य भी अनेक ज्ञात अज्ञात-परम्पराओं के निग्रहानुग्रह से आज अपने पारम्परिक आम्नायस्वरूप से सर्वात्मना अभिभूत हो गई है (रहस्यपूर्णा निगमागमव्याख्या) ।

आरम्भ की पञ्चविंशति में अक्षरब्रह्मविज्ञानात्मक सहजसिद्ध ÷ 'वर्णसमाम्नाय' लक्षणा ब्राह्मीभाषा ('भारती' नामक संस्कृतभाषा) के सुबोध पूर्वक 'पथ्यास्वस्ति' (=८८ वर्ण विभागों में विभक्त वैदिक वर्णमात्रिका से कृतस्वरूपा 'छन्दोम्यस्ता' नामकी वैदिकभाषा 'शिक्षा'-शास्त्रमाध्यम से अक्षरज्ञान को बुद्धिस्थ बनाते हुए, जिह्म-अनृत-माया-आदि मलीमस मार्गों से सर्वात्मना असंसृष्ट रहते हुए सत्त्वभावपूर्वक निगमागमशास्त्र का अनन्यनिष्ठा से ऋषिमानवाचार्य्य के सान्निध्य में स्वाध्याय करते हुए जो 'ज्ञानसम्पत्' प्राप्त की जाती है, वही मानव का प्रथम 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' है। 'आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य' (गुरुदक्षिणा प्रदान कर) सर्वज्ञाननिष्ठ युवापुरुष द्वितीय 'गृहस्थाश्रम' में प्रविष्ट होता हुआ उत्तर पञ्चविंशतिपर्यन्त (५० पर्य्यन्त) श्रौत स्मार्त्त सहज कर्म्मानुगतिपूर्वक (देवपितृयज्ञानुष्ठानपूर्वक) 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' इस आचार्य्यादेशानुसार पुत्रोत्पादनद्वारा पितृऋण से उऋण बनता हुआ मानव अपने ऐहिक गृहमेधी जन्म को सफल कर लेता है।

गृहस्थाश्रम की समाप्ति पर इस गृहमेधी (पारिवारिक गृहस्थी) का युवापुत्र पारम्परिक आम्नायानुसार इस के परिवार में पारिवारिक उत्तरदायित्त्वग्रहण-योग्यता सम्पादन कर ऋषिगृह से आजाता है। तत्काल +'नश्यन्ति बहुनायकाः' की लौकिक व्यावहारिक भावुकतापूर्ण व्यञ्जना का अनु-

---

÷"सिद्धो वर्णसमाम्नायः' (आम्नाय व्याकरण), जिसका प्रान्तीय विकृतरूप "सीधो वरणा, समाम्नाया" इत्यादि।

+ आज के भारतीय पारिवारिक जीवन में जो सर्वत्र- कौटुम्बिक-पारिवारिक क्लेश देखा सुना जारहा है, उसका मूल कारण है नैगमिक पारम्परिक जीवनव्यवस्था-गृहस्थव्यवस्था का अभिभव। प्रसिद्ध है कि—

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः ।
स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायकाः ॥

जिस परिवार में, संस्था में, किंवा सत्तातन्त्र में कोई नैष्ठिक नायक (सञ्चालक) नहीं होता, वे नष्ट हो जाते हैं। जिन में अनेक नायक हो जाते हैं, उनका विनाश भी निश्चित है। जहाँ प्रवृत्त्या भावुका स्त्री नायक बन जाती है, वह संस्था भी 'स्त्रीपुम्बच्च यद्धि गेहं विनष्टम्' (महाभारत) के

भवी प्रौढ गृहमेधी-'वनं पञ्चाशतो व्रजेत्' इस आदेश को शिरोधार्य्य कर आमुष्मिक आत्मचिन्तन-पथ में आरूढ़ हो जाता है, जो इस का 'वानप्रस्थाश्रम' नामक तृतीय आश्रम कहलाता है। इस आश्रम में यह अ.श्रमी वन्य-धर्म्मानुगता कामनात्यागमूला निवृत्ति के अभ्यासपथ का अनुगामी बनता हुआ शनैः शनैः शारीरिक भोग, मानसिक काम, दोनों के आसक्ति-पाशबन्धन से नैष्ठिकी योगात्मिका

(३६८ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

अनुसार नष्ट हो जाती है। एवमेव जहाँ प्रकृत्या भावुक बालबुद्धि (२७ वर्षपर्य्यन्त का कुमार) नायक बन जाता है, वह संस्था भी उन्छिन्न हो जाती है। वर्त्तमान भारतीय परिवारों-कुटुम्बों-संस्थाओं, एवं सत्तातन्त्रों में आज जो कलह-अशान्ति-श्रीसमृद्धिविहीनता दृष्ट-श्रुत है, उसका मुख्य कारण उक्त सूक्ति ही मानी जायगी। कहीं एक भी नैष्ठिक सञ्चालक नहीं है, तो कहीं अनेक सञ्चालक बने हुए हैं। जिन में प्रत्येक में लोक-वित्त-पुत्रैषणा, विशेषतः लोकैषणा जागरूक है। संस्था-सत्तातन्त्रादि की आलं चना तो अपराध माना जायगा। गृहस्थ को ही उदाहरण बना लीजिए। गृहस्थ में आमरणान्त मुमूर्षु वृद्ध भी अपना नायकत्त्व परित्याग करना नहीं चाहता। उसने तो श्रौत अग्निहोत्रवत् अपने अनुशासन के सम्बन्ध में 'जरया वा जीर्य्यते, मृत्युना वा शीर्य्यते'। इस सिद्धान्त को ही सर्वात्मना चरितार्थ कर रक्खा है। आज तो 'जरया' भी अपवाद ही है। मरणासन्न भी अपने अनुशासन-व्यामोह का परित्याग करने के लिए कदापि स्वीकृति नहीं देसकता। उधर परिवार में प्राप्तवयस्क युवापुत्र प्रकृत्या अपना अनुशासन चाहते हैं। इस प्रकार इन अनेक नायकों के बौद्ध मानसिक-शारीरिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप प्रथम तो सब में महान् विस्फोटन हो जाता है। यदि वृद्ध की निकृष्ट-जघन्य-प्रतारणा-भर्त्सना से प्रतारित भर्त्सित पारिवारिक अन्य व्यक्ति इस विस्फोट को सह्य बना लेते हैं, तो निश्चयेन इनका सहज बौद्धिक समतुलन-सहज मानसिक शान्ति-सहज शारीरिक स्वास्थ्य, सब कुछ नष्ट-प्राय बन जाता है, अथवा तो वे वृद्ध महाभाग अपने पुत्रों के द्वारा ही उपेक्षित प्रतारित-भर्त्सित बना दिए जाते हैं। परिणाम में गृहस्थ इस बहुनायक पद्धति से सर्वात्मना क्षत-विक्षत-अशान्त-दुःखी बना रहता है।

उधर पारम्परिक आम्नाय में ५० वर्ष की प्रौढ़ता के आगमन के साथ ही गृहस्थाध्यक्ष अपना अधिनायकत्त्व युवापुत्र को समर्पित कर इस गृहस्थोत्तरदायित्त्व से उन्मुक्त बनता हुआ आमुष्मिक पुरुषार्थ साधन में प्रवृत्त हो जाता है। भले ही वर्त्तमान में सत्तातन्त्र के दोष से इसे शान्त अरण्य उपलब्ध न हो, अतएव वनगमन भले ही इसका सम्भव न बन सके। किन्तु यह गृहस्थ में रहता हुआ भी 'पुष्करपलाशवन्निर्लेप' ही बना रहता है। किसी पारिवारिक वित्त-पुत्र-लोकैषणा-लालसा में इस की मानसिक वृत्ति का समावेश नहीं हो पाता। और इस प्रकार इस री भारतीय आम्नाय के सहज जीवन तन्त्र में कभी कलह-संघर्ष-अशान्ति, किंवा दुःखलेश का समावेश नहीं हो पाता।

(काशलात्मिका) बुद्धि के बल से विमुक्त होने का प्रयास करता हुआ क्रम क्रमश आत्मबोधानुशीलन परायण बन जाता है। आचारमीमांसात्मक आचरणात्मक बाह्य स्वरूप का (अपने स्थूल भौतिक रूप का) परित्याग करता हुआ क्रमश तत्त्वानुशीलनात्मक आभ्यन्तर सूक्ष्म-आचरण का अनुगामी बनने लगता है। यही इस वन्य,श्रमी की तत्त्वोपासनात्मिका आचारमीमांसा (सूक्ष्मधर्म्माचरण) है। तृतीय पञ्चविंशति (७५ वर्ष) के उपरत होते होते यह तत्त्वानुशीलन-तत्त्वोपासनारूप-आचार में सफलता प्राप्त करता हुआ सर्वात्मना चिरजलोकनिष्ठापथ का सफल यात्री प्रमाणित हो जाता है। यहाँ अब इस के शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक, तीनों तन्त्र (भूमोदर्कपद्धति के अनुपात से) आत्मसत्ता से अभिभूत हो जाते हैं। सम्पूर्ण परिग्रह-आसक्तिबन्धनरूपा कामासक्ति का परित्याग प्रकृत्या सहजभाव से हो जाता है, और यही चतुर्थी पञ्चविंशति से सम्बद्ध इस पुरुषधौरेय का चतुर्थ 'संन्यासाश्रम' कहलाया है, जिसके द्वारा 'ज्ञाननिष्ठा' लक्षण आत्मबोध की भावना से यह सर्वात्मना कृतकृत्य बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व के हितसाधन में विश्वेश्वरवत् अपने आपको समर्पित कर देता है। इन तीन आश्रमों के अनुबन्ध से ही मानव के तीन स्थान बन जाते हैं, जिनका 'स्वायम्भुवस्थान, पारमेष्ठ्यस्थान, सौरस्थान,' रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन तीनों अलौकिक स्थानों के अतिरिक्त एक चौथा 'चान्द्रगर्भित पार्थिव स्थान' रूप एक स्थान और है, जिसे हम 'लौकिक स्थान' कहेंगे। इसी स्थानापेक्षया अलौकिक भी द्विजातिमानव 'लौकिकमानव' बना रहता हुआ, यथा जात भावुकलोक समाज की दृष्टि में अपने आपको सर्वथा लौकिक ही प्रमाणित करता हुआ लोक मानवों में बुद्धिभेद उत्पन्न न कर परोक्षरूप से अपनी अलौकिकता के माध्यम से लोकमानवसमाज का उद्बोधन कराता हुआ लोक परलोक सग्राहक यह त्रिस्थान मानवश्रेष्ठ अपने मानवजीवन को वास्तव में धन्य बनाता रहता है। इस प्रकार ३ अलौकिक स्थान, १ लौकिक स्थान, रूप से द्विजातिमानव के चार स्थान हो जाते हैं, जिनका पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है (देखिये पृष्ठसंख्या ३२० से ३४२ पृष्ठ पर्यन्त)।

यद्यपि पूर्व में चारों स्थानों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। तथापि क्योंकि अब हम तटस्थ आलोचना-समाधान के सन्निकट पहुँच रहे हैं। अत सन्दर्भसङ्गति के लिए एक नवीन दृष्टिकोण से उस स्थानचतुष्टयी का सिंहावलोकन और कर लिया जाता है। श्रौतस्मार्त्त सहज संस्कारों से सुसस्कृत द्विजाति मानव इस प्रकार पूर्वोक्त अपने चार आश्रमों के द्वारा सहजरूप से कर्म्मज्ञानोभयलक्षण, अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्ति षोडशी षोडशकल षोडशकलोपेत प्रजापतिरूप, स्वायम्भुवपुरुषात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा रूप ऋषि पितृ देवमूर्त्ति आकृत विश्वेश्वर की पूर्णता सम्पादन करता हुआ गृहस्थ-वानप्रस्थ सन्यास, इन तीन आश्रमों का क्रमिक अनुगमन करता हुआ इन तीन आश्रमों के द्वारा क्रमशः 'मुनि यति ऋषि' पद प्राप्त कर लेता है, जिन इन तीन मानवपदों की संक्षिप्त स्वरूपदिशा का यों समन्वय किया जा सकता है।

(१)–'मुनिमानव' का अर्थ है घोषणा-कीर्त्ति-यश ख्यापन-लोकैषणा-आदि से सर्वात्मना अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वथा तूष्णींभाव (मौनभाव चुपचाप) से निगमागमाम्नायप्रामाण्य के द्वारा श्रौतस्मार्त्त देवपितृकार्य्यों का (कर्म्मकाण्ड का) अनुगमन। यही इस मानव का 'देवभाव' है। एवंविध द्विजाति मानव ही 'भूदेव' है, 'मुनि' है (वेदतत्त्वानुमन्ता-मननशील कर्म्मठ द्विजाति है)। यही मानव का गृहस्थाश्रमानुबन्धी द्वितीय पञ्चविंशति (२५ से ५० पर्य्यन्त ये सम्बद्ध 'प्रथमस्थान' है। यही षोडशकलोपेत आत्मस्वरूप अपराप्रकृतिलक्षण सौरसंस्थानलक्षण 'क्षरप्रजापतिस्थान' है, जिस का विद्याबुद्धिलक्षण-व्यवसायनिष्ठ सौर 'विज्ञानात्मा' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। यही प्रथम मानव 'मानव' अभिधा का सत्पात्र माना गया है। एवंविध द्विजातिमानव को हम धर्म्मतः 'लोकपिता' उपाधि से विभूषित मान सकते हैं।

(२)–'यतिमानव' का अर्थ है मनःशरीरानुगता कामभोगपरायणता से भूतात्मा को पृथक्कृत् अनुभूत करते हुए * रागद्वेषासक्तिबन्धनविमुक्तिपूर्वक सहजरूप से मानसिक-शारीरिक यात्राओं में प्रवृत्त रहते हुए आभ्यन्तर प्राणव्यापाररूप तपोऽनुष्ठान के द्वारा अपने अध्यात्म को तमोगुणात्मक दोषों से पृथक् करते हुए बुद्धिसहकृत भूतात्मा को 'क्षीणदोष' बना लेना। यही इस मानव का 'पितृभाव' है। एवंविध द्विजाति मानव ही 'भूपिता' है, 'यति' है (आरण्यकतत्त्वोपासक क्षीणदोष संयमी उपासक द्विजाति है)। यही मानव का वानप्रस्थाश्रमानुबन्धी तृतीय पञ्चविंशति (५० से ७५ पर्य्यन्त) से सम्बद्ध 'द्वितीयस्थान' है। यही षोडशकल अक्षररूप पराप्रकृतिलक्षण पारमेष्ठ्य संस्थानलक्षण 'अक्षरप्रजापतिस्थान' है, जिसका सत्त्वभावापन्न गुणत्रयाधिष्ठाता गुणातीत गुणमय पारमेष्ठ्य 'महानात्मा' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। महानात्म-सम्बन्ध से ही यह यतिमानव लोकाम्नाय में 'महानात्मा'–'महात्मा'–तपस्वी' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध है। यही द्वितीय मानव 'महामानव' अभिधा से सम्मान्य घोषित हुआ है। एवंविध द्विजातिमानव को हम धर्म्मतः 'लोकपितामह' उपाधि से विभूषित कर सकते हैं — ।

(३)–'ऋषिमानव' का अर्थ है–शरीरमनोबुद्धित्रयानुगता भोग–काम–तत्त्वचिन्तनवृत्तियों को निरतिशयरूपेण आत्मसविनधर्म्म की अनुगामिनी बनाते हुए सर्वत्र सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर-मूर्त्तामूर्त्त-

---

* रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता० २।६४)।

— आम्नायनिष्ठ जयपत्तन के संस्कारानुग्रह से अंशतः अनुप्राणित शेखावाटीप्रान्त में सम्मान्य द्विजाति के लिए इसी महानात्मसम्बन्ध से व्यवहार में 'बाबोजी' (बाबा–पितामह) शब्द प्रयुक्त हुआ है।

निरुक्तानिरुक्त-स्थूलसूक्ष्म-भावों में व्यापक 'पुरुषब्रह्म' चिन्तन का ही समावेश करते हुए (भूमोदर्क पद्धति से, क्योंकि क्षीणोदर्कपद्धति में ऐसा सम्भव नहीं है, जो साङ्ख्यनिष्ठा मानी गई है) सर्वभूतहित रतिपूर्वक सहजभाव से अपने आपको सहजनिष्ठ बना लेना। यही इस मानव का 'ऋषिभाव' है। एवंविध द्विजातिमानव (विधिवत् शिरोव्रतानुगामी दण्ड-कमण्डलुधारी वीतराग सन्यासी) ही 'सर्वपिता' है, 'ऋषि' है (औपनिषद तत्त्वानुशीलनपरायण ज्ञाननिष्ठ द्विजाति है) । यही मानव का सन्यासाश्रमानुबन्धी चतुर्थ पञ्चविंशति (७५ से १०० पर्य्यन्त) से सम्बद्ध-'तृतीयस्थान' है। यही षोडशी अव्ययरूप परापरप्रकृतिविशिष्ट-परापरप्रकृत्यतीत-सर्वात्मक सर्वातीत स्वायम्भुव स्वस्थान लक्षण 'पुरुषप्रजापतिस्थान' है, जिसे प्राप्त करने के अनन्तर मानव जन्म-मृत्युचक्रपरम्परा से अतिमुक्त बनता हुआ-'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते', जिस इस मानव का सत्यात्मा सत्यस्यसत्यात्मक सर्वेश्वर विरज-लोकातीत स्वायम्भुव 'पुरुषात्मा' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पुरुषात्मसम्बन्ध से ही यह ऋषिमानव लोकाम्नाय में 'पुरुषधौरेय'-'योगयुक्त'-'आरूढ'-'कृतात्मा' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। यह तृतीय मानव 'अतिमानव' अभिधा से उपस्तुत हुआ है। एवंविध द्विजाति मानव को हम धर्म्मेण 'लोकप्रपितामह' उपाधि से ही समलङ्कृत करेंगे।

(४)-'लोकमानव' का अर्थ स्पष्ट है पूर्व की मानवत्रयी से ही। निगमाम्नायपरायण द्विजातिमानव अपने चारों आश्रमों से क्रम क्रमशः अलौकिकता सम्पादित करता हुआ जिस लोक समाज में रहता है, उस लोक का संग्रह भी इसका अनन्य निष्ठाकर्म्म बना रहता है। इस दिशा में अलौकिक मानव को अपने आपको सर्वात्मना लौकिक ही प्रमाणित कर देना पड़ता है। यदि यह ऐसा नहीं कर सकता, तो इसकी अलौकिक साधना कभी सफल नहीं बन सकती। वैय्यक्तिक विकासानुगामी मानव प्रकृत्या सामाजिक प्राणी भी है। भले ही युगधर्म्मानुसार समाज का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, प्रत्यक्ष रूप से समाज का कथमपि विरोध नहीं किया जासकता, नहीं करना चाहिए। सहज भावुक लौकिक मानव समाज, सदा ही भावुकतावश प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला समाज प्रत्यक्षरूप से अपनी भावुकता पर किसी भी प्रकार के आक्रमण, आलोचना-आदि को सहन करने में असमर्थ है। जो व्यक्ति इस सामाजिक मन्दिबिन्दु को न समझ कर, किंवा समझ कर भी स्वयं अपनी ही भावुकता के आवेश में आकर प्रत्यक्षरूप से सामाजिक विधि-विधानों के लोक मान्यताओं के विरोधी बनते हुए आलोचना में प्रवृत्त हो जाते हैं, समाज ऐसे पथप्रदर्शकों के प्रति प्रतिक्रियावादी बन जाता है। इस से न तो व्यक्ति का ही कोई उपकार होता, नाहीं समाज का ही कोई हितसाधन होता। अतएव यह आवश्यक है कि-'न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्' * इत्यादि लोकनीति सूत्रादेश के अनुसार मानव को सदा परोक्षप्रिय बन कर ही

---

* न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्व्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ (गीता: ३।२६।)।

परोक्षरूप से ही सामाजिक उद्बोधन में प्रवृत्त होना चाहिए। यही अलौकिक मानव की, नैष्ठिक मानव की लौकिक समाजानुबन्धिनी चौथी लोकमानवता है। समाज-भावुक समाज-के भावुक व्यक्तियों की वैसी भावुकता-परम्पराओं-मान्यतापरम्पराओं का तो लोकनिष्ठ अलौकिक लोकमानव के द्वारा स्वप्न में भी समर्थन न होगा, जिन मान्यताओं का केवल भावुकतापूर्ण कल्पनाओं से ही सम्बन्ध है, जिन मान्यताओं से नैगमिक आम्नायपरम्परा का अनुमोदन-समर्थन-संरक्षण तो सुदूर, अपितु जिन से नैगमिक आम्नायपरम्परा का मूलोच्छेद सम्भावित ही क्या है, निश्चित है, कदापि 'लोकसंग्रह' जैसे निष्ठापथ के माध्यम से समर्थन नहीं किया जायगा, नहीं करना चाहिए। ऐसा श्रुत उपश्रुत है कि, हमें किसी मान्यता का प्रत्यक्ष विरोध इस लिए नहीं करना चाहिए कि, इस से 'बुद्धिभेद' उत्पन्न हो जायगा। क्या 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' का यह तात्पर्य्य है कि, "मान्यता भले ही सर्वथा निर्मूल हो, नैगमिक सिद्धान्तविरोधिनी हो, मानव का उत्तरोत्तर सर्वनाश करने वाली हो, तदपि हमें लोकसंग्रहदृष्टि से उसका विरोध न करते हुए 'जोषयेत् सर्वकर्म्माणि' इत्यादि उत्तरवाक्यानुसार स्वयं भी इन मान्यताओं का अनुगामी बना रहना चाहिए"। क्या भगवान् के 'लोकसंग्रह' आदेश का यही तात्पर्य्य है ?। वर्त्तमान में हम इस प्रश्न के 'ओमिति'-'नेति' दोनों ही समाधान करेंगे।

'ओमिति' (हाँ) इसलिए कि, गतानुगतिक एषणालिप्त असन्निष्ठ मानवों की ऐसी धारणा है कि, वर्त्तमानयुग 'अर्थतन्त्रप्रधान' युग है, भौतिक युग है, जिसमें केवल आत्मा-सत्त्वबुद्ध्यनुगत आदर्शों-नैगमिक आम्नायों के अनुगमन से कदापि आज के युग के अर्थसङ्कटग्रस्त मानव का परलोक साधन तो क्या, शरीरयात्रानिर्वाह भी तब तक असम्भव है, जब तक कि यह वर्त्तमानयुग के अर्थतन्त्राभिषिक्त सम्पन्न महानुभावों की, सदसत्-सर्वविध मान्यताओं का, भावुकताओं का अक्षरशः अनुमोदक-समर्थक-प्रशंसक बनता हुआ सर्वात्मना स्वयं को भी लोकसंग्रहदृष्ट्या इसी पथ का पथिक नहीं बना लेता। और इस दृष्टिकोण से हमें भी उन सभी मान्यताओं का बुद्धिभेदभय से (जो भय वास्तव में हमारे स्वार्थ से सम्बन्धित स्वयं हमारा अपना भय है) समर्थन-अनुगमन ही करना चाहिए, जैसा कि युगसम्भ्रान्त आज का मानव कर रहा है, एवं इसी पुरुषार्थ ? के बल पर तथाविध मानव शरीरयात्रानिर्वाह में सफल हो रहे हैं।

'नेति-नेति' (ना-ना) इसलिए कि, आम्नायानुगत एषणारुन्धुक सन्निष्ठ श्रेष्ठ मानवों की ऐसी निश्चित आस्था है कि, कैसा भी युग क्यों न हो, मानव सदा ही मानव ही है, आत्मबोधानुगता परिपूर्णता ही मानव का सर्वयुगानुगत परमपुरुषार्थ है। विज्ञानतन्त्र-कामतन्त्र-अर्थतन्त्र, किंवा और और भी वर्त्तमानयुगानुगत-प्रजातन्त्र-गणतन्त्र-आदि आदि तन्त्र कभी इस आत्मतन्त्रायी मानव की हृत्तन्त्री को, इस तन्त्री की सहज सत्त्वनिष्ठा को यत्किञ्चित् भी विकम्पित नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। शरीरयात्रानिर्वाह जैसे नगण्य-प्रश्न की तो कथा ही दूर है, विश्व के अन्य सुसमृद्ध सुमहदा-

कर्षण भी निगमाम्नायनिष्ठ इस सहज मानव को अणुमात्र भी प्रभावित नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। घुणाक्षरन्यायेन सम्भव है अपने भावुक परिवार की भावुकतापूर्ण मनोवृत्तियों के उत्तरदायित्व के नाते ऐसे आम्नायनिष्ठ को यदाकदा लौकिक-व्यावहारिक सङ्कटों का अनुगमन करना पड़े। किन्तु एतावता ही इसकी सहजनिष्ठा की कोई क्षति नहीं हो सकती, नहीं हो सकती। ऐसे नैगमिक मानवश्रेष्ठ केवल उन्हीं मान्यताओं के लोकसंग्राहक बना करते हैं, जो मान्यताएँ निगमाम्नायानुशय से अनुप्राणित रहतीं हैं।

आम्नायविरुद्ध, अतएव आदर्शविरुद्ध किसी भी युगधर्म्मानुगता काल्पनिक मान्यता का समर्थन तो क्या, श्रवण भी इन्हें अप्रिय ही प्रतीत होता है, और ऐसे अप्रिय-श्रवण प्रसङ्गों पर ये 'शान्तं पापम्'-'आलप्यालमिदम्' * रूप से तत्क्षण आत्मभावानुगत बन जाते हैं। अपनी निगमनिष्ठा, तत्स्वरूपसंरक्षिका निगमागमशास्त्र-स्वाध्यायनिष्ठा ही इन मानवश्रेष्ठों की एकमात्र अनन्यनिष्ठा बनी रहती है जरामर्य्यसत्रवत्। विश्व का कोई भी प्रावाहिक-युगधर्म्मानुगत भावुकतापरिपूर्ण कामार्थाकर्षण इन्हें इस निष्ठा से विच्युत नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। केवल एकमात्र 'परात्परात्परमा' भावानुगता इष्टदेवानुगता मानसिक भावुकता ही इनकी भावुकता है, जिसके द्वारा निष्ठा को आत्यन्तिक रूप से तत्र समर्पित करते हुए ये नैगमिक मानव अहोरात्र सतत अपनी उपास्या इस परात्परात्परमा निगमाम्नायसम्मता हैमवतीउमा भगवती (वागाम्भृणीसमन्विता सौरी इन्द्रवाग्रूपा बृहतीवाग्लक्षणा गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्वानुगता सत्यब्रह्माभिन्ना हिरण्मयी–हैमवती–महाशक्ति) के द्वारा राद्धान्तित 'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्' (केनोपनिषत्) इस वेदान्तसिद्धान्त (उपनिषत्सिद्धान्त) वेदान्तनिष्ठा को ही अपना लक्ष्य बनाए रहते हैं। इसी इष्टदेवभावुकतानुगता निरतिशया सविलक्षणा निष्ठा से इनकी सम्पूर्ण लोकयात्राएँ सहजरूप से प्रारब्धकर्म्मानुसार नियतिचक्र के द्वारा परिपूर्ण बनती रहतीं हैं। अतएव तात्कालिक असुविधा–परम्पराएँ इन्हें कथमपि अपनी स्वाध्यायनिष्ठा से विच्युत नहीं कर सकतीं, नहीं कर सकतीं। वैसे युगधर्म्मानुगत–एषणालिप्सापरिपूर्ण सम्पूर्ण आर्थिक आकर्षण इन अनन्य नैष्ठिकों के लिए अहिकञ्चुकिवत् त्याज्य ही बने रहते हैं, जो अर्थाकर्षण स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्नपरम्परा का सर्जन करते हुए इनकी सत्त्वबुद्धि को मलीमस कर देने की व्यर्थचेष्टा किया करते हैं 卐। यही है लोकसंग्राहक अलौ

---

* आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत् स दारानपाहरत्।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥
—महाभारत

卐 सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥
—मनु

किर लोकमानव को उस लोकसग्रहवृत्तिदिशा की रूपरेखा, जिसके माध्यम से यह आम्नायविरुद्ध सग्रहवृत्ति के प्रति विस्पष्ट शब्दों में-'शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि' इस धर्म्मनीति का अवलम्बन करता हुआ अपने नैष्ठिक प्राङ्गण में आततायी का प्रवेश नहीं होने देता, नहीं होने देता, भले ही वह आततायी कैसा ही क्यों न हो — ।

भगवान् के लोकसग्रहात्मक भावुकतासरक्षण आदेश से सम्बन्ध रखने वाले नैगमिक मानव श्रेष्ठ के इस 'नेति-नेति' राद्धान्त के सम्बन्ध में हमें उक्त कैसरीवाक् का आश्रय इसलिए लेना पड़ा कि, 'लोकसग्रह' के नैगमिक आम्नायरहस्य को विस्मृत कर काल्पनिक 'ओम्' रूप लोकसग्रहभाव का अनुगमन करने वाले भारतीय भावुकमानव ने न केवल धर्म्मक्षेत्र में ही, अपितु नितान्तभावुक पाण्डवों की भाँति तद्युग से ही आरम्भ कर वर्त्तमानयुग पर्य्यन्त सभी क्षेत्रों में अपने आपको सर्वात्मना पराजित कर लिया है । इसी लोकसग्रहकभावपरम्परा के द्वारा भारतीय मानव की नैगमिक आम्नाय परम्परा में प्रत्यक्ष-प्रच्छन्नरूप से स्वार्थससाधक विविध मतवाद, सम्प्रदायवाद-रूढिवाद-काल्पनिक मान्यतावाद प्रविष्ट होते गए हैं । जिसका ही यह दुष्परिणाम है कि, नैगमिक आम्नायपरम्परा अपने स्वरूप से इन आगत-समागत-लोकसग्रहद्वारा आमन्त्रित निमन्त्रित मतवादादि-परधर्म्मावरणों से अभिभूत हो चली है । इसी का यह दुष्परिणाम है कि, आज नैगमिक महामहर्षियों की पावनगाथा ही क्या, केवल नामस्मरण भी जहाँ विलुप्त है, वहाँ निगमाम्नायविरोधी बुद्धादि की अस्थियों को भी यह पूर्वयुग का नैगमिक भारतीय भावुक मानव अपने शिरोऽनुगत बनाता हुआ अपने आपको धन्य घोषित करने का जघन्य कर्म्म कर रहा है । निष्कर्षत यदि हमें भारतीय नैगमिक आम्नाय के स्वरूपदर्शन करने हैं, तो हमें एकहेलया झटिति इन सब निगमविरुद्ध लोकसग्रहतन्त्रों का परित्याग कर ही देना पड़ेगा । 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' । यदि हम ऐसा नहीं करते, नहीं कर सकते, नहीं कर पाते, तो ऐसे लोकसग्रह के द्वारा तो लोकविघात पूर्वक सर्वविघात ही प्रोत्साहित होता रहेगा।

यह तो हुई चर्चा अपने नैगमिक आवेश की, जिसका नैगमिक मानव ही स्वागत कर सकता है । किन्तु निगमशास्त्र की वर्णमाला से भी अपरिचित, किन्तु गतानुगतिक, भावावेशद्वारा केवल गीताभक्त आज का भारतीय भावुक मानव तो हमारे तथोक्त नैगमिक भावावेश का इसलिए समादर ही क्या न करेगा, विरोध कर देगा। क्योंकि ऐसा न करने से इस की भावुक-मान्यतापरम्पराएँ उच्छिन्न हो जातीं हैं । वह साभिनिवेश हमारे सम्मुख गीता के आधार पर यह तर्क समुपस्थित करने का

— गुरुं वा, बालं वा, अपि वेदान्तपारगम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । यतो हि—
मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।



निरर्थक साहस कर ही बैठेगा कि, 'अज्ञानाम्' पद स्पष्ट ही यह घोषणा कर रहा है कि, "जो मूर्खता वश शास्त्रविरुद्ध पथों के अनुगामी बन जाते हैं, वे न करने वाले अकर्म्मण्यों की अपेक्षा तो अच्छे हैं। कर्म्म में तो सङ्ग रखते हैं। अतएव ऐसे 'अज्ञ कर्म्मसङ्गी' मानव में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं कराना चाहिए', एवं इस गीतासिद्धान्त के अनुसार सभी मान्यताओं का लोकसंग्रहदृष्ट्या सम्मान करना ही चाहिए'। वैसा ही तो आज हम (निगमाम्नायभ्रष्ट, अतएव सर्वलक्ष्यभ्रष्ट, अतएव सर्वशून्य बने रहते हुए वर्त्तमानयुग के गतानुगतिक भावुक भारतीय मानव) कर रहे हैं, जो कर्त्तव्य गीताशास्त्रसम्मत बनता हुआ सर्वथा प्रामाणिक ही माना जायगा।

निगमशास्त्र के नितान्त रहस्यपूर्ण उपनिषच्छास्त्र की रहस्यव्याख्यारूपा पुराणपुरुषद्वारा वैखरीवाणी से उपनिबद्धा गीतोपनिषत् का निगमशास्त्र से अणुमात्र भी सम्पर्क न रखते हुए केवल आवेशद्वारा यों गीता की मनोऽनुगता भावुक-व्याख्याएँ करने का हम इस लिए विरोध नहीं करेंगे कि, इन की इन व्याख्याओं से नैगमिक आम्नाय का कुछ भी तो बनता बिगड़ता नहीं। अज्ञ कौन, और कर्म्मसङ्गी कौन ?, प्रश्न का समन्वय कर लीजिए, समाधान हो जायगा। निगमशास्त्र का विरोधी किंवा निगमशास्त्र को कुछ न जानने वाला, एवं अपनी कल्पना से ही काल्पनिक मनमाने कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव क्या 'अज्ञ और कर्म्मसङ्गी है'। यदि ऐसा होता, तो अवश्य ही अर्वाचीन व्याख्यानाओं की, पश्चिमानुगता 'अच्छे-बुरे' की परिभाषा * को मान्यता प्रदान करने वाले भारतीयों की मान्यता का हम भी लोकसंग्रहबुद्ध्या समादर कर लेते। किन्तु तथ्य है कुछ और ही। जिन्होंने स्वयं निगमशास्त्र का विधिपूर्वक स्वाध्याय न कर केवल उपदेश श्रवण के आधार पर निगमशास्त्रीय कर्म्मों पर श्रद्धा कर ली है, एवं जिन भारतीय स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं को निगमशास्त्र-स्वाध्याय का उत्तरदायित्व तो प्राप्त नहीं है, किन्तु हैं नैगमिक पारम्परिक कर्म्मों के जो समर्थक, ऐसी दोनों श्रेणियों को ही हम यहाँ 'अज्ञकर्म्मसङ्गी' कहेंगे। प्रथमश्रेणि अपूर्ण-अर्द्ध-ज्ञानात्मक अज्ञानभाव से-'अज्ञ' है, द्वितीय श्रेणि सर्वथा ज्ञानाभाव से 'अज्ञ' है। किन्तु हैं दोनों ही श्रेणियाँ निगमशास्त्र पर, तदाम्नायसिद्ध कर्म्म पर आस्था श्रद्धा रखने वाली। श्रौतस्मार्त्त-वैधविधि से दोनों ही श्रेणियाँ नैगमिक कर्म्मानुगमन में असमर्थ हैं। किन्तु आस्थाश्रद्धा के आकर्षण से प्राज्ञ पुरुषवर्ग भी श्रौतस्मार्त्त कर्म्मों का अनुष्ठान करने लगते हैं, एवं अनधिकृत स्त्रीशूद्र-वर्ग भी श्रौतस्मार्त्ताम्नायानुगत चान्द्र-पितृकर्म्मादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है। दोनों ही अज्ञ, दोनों ही कर्म्मसङ्गी, दोनों ही निगमागमशास्त्र के प्रति आस्था श्रद्धा रखने वाले। यहाँ इन दोनों के सम्बन्ध में ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या इन

---

* 'सम् थिंग इज़् बैटर-दैन्-नथिंग' (Something is better than nothing) न करने से कुछ तो भी करना अच्छा है।

दोनों का इस अवैध (यथापद्धतिपूर्वक न किए जाने वाले) कर्म्म से कुछ उपकार सम्भव है ?। यह स्मरण रहे कि, ये दोनों ही श्रेणियाँ श्रौतस्मार्त्त आम्नायसिद्ध श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रादि पद्धतियों के प्रति ही आस्थाश्रद्धा रखती हैं। अभिनिविष्ट वेदभक्तों की भाँति इनकी पद्धतियाँ कोई नवीन नहीं हैं। अपितु प्रथमश्रेणि पद्धति का स्वरूप यथावत् जानती नहीं, द्वितीय श्रेणि श्रौतस्मार्त्तपद्धति के अनुसार कर्म्म कर सकती नहीं। इसी दृष्टि से इन दोनों को अज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। उपकार-अपकार की मीमांसा करना तो लोकसंग्रह का विघात ही माना जायगा।

वस्तुतस्तु यदि देवयुग में दर्भास्तरण से पूर्व वेदि के स्पर्शमात्र से इष्टकामसिद्धि के स्थान में यज्ञ इष्टविनाशक बन जाता है, तो पद्धतिपूर्वक न किया जाने वाला श्रौतस्मार्त्तकर्म्म कदापि अभ्युदय का साधक नहीं माना जा सकता। 'जहाँ लाभ नहीं, वहाँ हानि निश्चित है' इस लोकसूत्र के अनुसार यदि अभ्युदयात्मक उपकार नहीं, तो प्रत्यवायरूप अपकार निश्चित है। इस सम्बन्ध में तो हमें यह भी स्पष्ट कर देने में कोई संकोच नहीं है कि 'अतिथि को निमन्त्रण न देना उत्तम पक्ष है। किन्तु निमन्त्रण देकर उसके स्वरूप के अनुरूप आतिथ्य न करना सर्वनाश का ही कारण है। 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' * के अनुसार यदि केवल मन्त्रोच्चारण से सम्बन्धित उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों में भी स्खलन हो जाता है, तो यज्ञकर्म्म अभ्युदय के स्थान में नाश का ही कारण बन जाता है। अतएव प्रथमश्रेणि के अज्ञवर्गात्मक पद्धतिविरुद्ध कर्म्मानुष्ठाता यजमान, तथा पुरोहित, दोनों का ही सर्वनाश विनिश्चित माना जायगा। एवं इस दिशा में कभी प्रथमश्रेणि-सम्बद्धा अज्ञातमूला कर्म्मसङ्गिता क्षम्य न मानी जायगी। कदापि अज्ञानमूलक, अतएव पदे पदे स्खलित कर्म्मकाण्ड का कभी लोकसंग्रहधिया समर्थन नहीं किया जायगा, नहीं किया जायगा ×। हमारी नहीं, अपितु शास्त्र की यह निश्चित धारणा है कि, भारतवर्ष की आस्था-श्रद्धाशीला आस्तिक प्रजा का अहोरात्र 'धर्म्म-धर्म्म' की घोषणा करते हुए भी, ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे स्थाने स्थाने निरन्तर यज्ञोत्सवानुगमन करते हुए भी, देवपितृकार्य्यानुगमन करते हुए भी दिन दिन जो पराभूति अश्रद्धा, दीनता होती जा रही है, उसका एकमात्र कारण अज्ञातमूला कर्म्मसङ्गता ही माना जायगा। आस्तिक प्रजा की आस्था श्रद्धा का जहाँ हम अभिनन्दन करेंगे, वहाँ इसकी अज्ञातमूला कर्म्मानुगति को हम सर्वात्मना घातक ही उद्घोषित करेंगे, फिर चाहे लोकसंग्रह सुरक्षित रहे, स्वरक्षितमात्र रहे, अथवा तो अरक्षित। (देखिए शतपथब्राह्मण १।८।३।२६)।

---

* दुष्टः शब्दः-स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः (वृत्रः) स्वरतोऽपराधात्॥

× ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत, नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

दूसरा अज्ञ–कर्म्मसङ्गीवर्ग है स्त्री, शूद्र, एवं द्विजबन्धुवर्ग। इसकी अज्ञता का मूल है श्रौतस्मार्त वैध पद्धतियों में इनका अनधिकार। अतएव इन्होंने अपनी मान्यताओं के अनुसार (किन्तु निगमाम्नाय के विरोध में न जाने वाली आस्था तथा श्रद्धा के आधार पर) जो कर्म्मसङ्गिता परम्परा स्वीकृत कर ली है, वह अवश्य ही लोकसंग्रहधिया अलौकिक लोकमानव के द्वारा परोक्षरूपेण–तटस्थरूपेण अनुमोदनीया मानी जा सकती है। नैगमिक आम्नाय की पारम्परिक प्रतिच्छाया से अनुप्राणिता गृहपितरतुष्टिनिमित्तक लौकिक–पार्थिव–भौम–गृहपितरस्वरूपानुगता महासङ्गीतनिबन्धना (निगमाम्नायसम्मत देवभाषात्मक लोकगीतसमन्विता) पितृस्वरूपनिबन्धन श्वेतरक्तवस्त्र–धूम्राकाशीलगोधुन्थद्वारा निष्पन्न शोभादि परिग्रहसमन्विता अमावास्याकालरात्रिजागरणात्मिका गृहपितरकर्म्मसङ्गिता इसलिए लोकसंग्रहधिया स्वीकार्य मान्य मान ली जायगी कि, इसका शरीरानुगता केवल मानसी श्रद्धात्मिका मान्यता से ही सम्बन्ध है, जिससे इस निगमाम्नायानुगमानुप्राणिता लोकमान्यता से पारिवारिक स्वस्तिभाव सुरक्षित रहता है। यहाँ लोकसुखसाधनता के अतिरिक्त किसी अनिष्टता का समावेश नहीं है। दूसरे शब्दों में 'थाँ डीम्याँ म हारो मन भर जाय' ही यहाँ कर्म्मसङ्गिता का फल है, जिसे निगम ने 'स्वस्त्ययन-कर्म्म' रूप से इष्टसाधक ही घोषित किया है *। इसी प्रकार स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धुवर्गत्रयी के अन्यान्य स्वस्तिभावात्मक आगमानुमोदित–मानसभावानुगत अश्वत्थ–वट–बिल्व–तुलसी–सिञ्चन, कार्त्तिक–माघादि-स्नान–आगमानुगत प्रदोष–अष्टमी–नवमी चतुर्दशी–शिवरात्रि–नवरात्र–पूर्णिमा–आदि व्रतानुष्ठान, सूर्य्यार्घ्यप्रदानादि कर्म्म शालग्रामशिलादर्शन–शिवदर्शन–नर्म्मदागङ्गायमुनास्नान–दिव्यप्राणाविशयानुप्राणित पुष्कर–कुरुक्षेत्र–नालवाश्रम–बदरिकाश्रम–आदि तीर्थानुगमन–आम्नायानुगत शमभावना से समन्वित केवल भगवन्महिमावर्णनात्मक स्तुतिगान–आदि आदि स्वस्त्ययनात्मक कर्म्म भी इस अज्ञ–अनधिकृतत्रयी के लोकसंग्रहधिया मान्य कहे जा सकेंगे। क्योंकि केवल मनःशरीरानुबन्धी स्वस्तिभावात्मक इन कर्म्मों में इष्ट ही सम्भावित बना रहता है यदि आस्था श्रद्धा है, तो।

इस दृष्टि से अब हम 'अज्ञकर्म्मसङ्गी' के तीन श्रेणिविभाग मान लेंगे, जिन तीनों में ही निगमाम्नायानुगता आस्था–श्रद्धा का समावेश है। एक वैसा अज्ञकर्म्मसङ्गी-वर्ग माना जायगा, जो आस्था–श्रद्धाशील 'द्विजाति' है, अतएव श्रौतस्मार्त्त सौर दिव्यकर्म्म (यज्ञ) का अधिकारी है। किन्तु स्वयं न तो वह इस वैदिक कर्म्म का रहस्य ही जानता, न पद्धति से ही परिचय रखता। अपितु अपने आवेश से–श्रद्धावेश से–अपने सदृश ही योग्यता रखने वाले पुरोहितों के सहयोग से श्रौतस्मार्त्त कर्म्मों में

---

* असंख्य स्वस्त्ययनात्मक मान्यतात्मक लौकिक नैगमिक कर्म्मों में से कुछ एक स्वस्त्ययनकर्म्मों का स्वरूप उपपत्तिपूर्वक गीताभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड के तृतीय 'ग' विभाग के 'स्वस्त्ययनकर्म्मपरिगणना' नामक अवान्तर प्रकरण में द्रष्टव्य है।

प्रवृत्त हो जाता है। निश्चयेन ऐसे यज्ञकर्त्ता यजमान का, तथा यज्ञकारयिता पुरोहित का, दोनों का अनिष्ट अनिवार्य्य बन जाता है। ऐसे अज्ञकर्म्मसङ्गी में तो बुद्धिभेद अवश्य ही उत्पन्न करा देना चाहिए, जिससे यह वर्ग अनिष्ट से बचा रह जाय। हाँ, यदि अज्ञकर्म्मसङ्गी यजमान को विज्ञ कर्म्मठ पुरोहित सौभाग्य से उपलब्ध हो जाय, तो इसके द्वारा ऐसे अज्ञकर्म्मसङ्गी यजमान का भी कर्म्म विज्ञ ऋत्विजों के देवयजनात्मक अनुग्रह * से इष्टसाधक बन जाता है। एवं ऐसे यजमान–अज्ञकर्म्मसङ्गी यजमान–के सम्बन्ध में विज्ञ ऋत्विक् के माध्यम से 'न बुद्धि भेदं जनयेत्०' इत्यादि आदेश समन्वित हो जाता है।

दूसरा अज्ञकर्म्मसङ्गी–वर्ग निगमाम्नायपरायण परिवारों का श्रौतस्मार्त्तानधिकृत कुलस्त्रीवर्ग है। यदि इसकी मान्यताएँ, कर्म्मसङ्ग (लौकिक स्वस्त्ययनकर्म्म) नैगमिक आम्नाय के विरोध में नहीं जाता, तो इनकी सब मान्यताएँ लोकसंग्रहधिया परोक्षरूपेण मान्य हैं। तीसरा वर्ग द्विजबन्धु (यथाजात–संस्कारशून्य–निरक्षरमूर्द्धन्य ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य), तथा शूद्रवर्ग का है, जिसकी नैगमिक आम्नाय के संरक्षण के लिए ही पुराणपुरुष के द्वारा 'आर्य्यसर्वस्वसंहिता' (पुराणसंहिता) का आविर्भाव हुआ ÷ है। इन दोनों अज्ञकर्म्मसङ्गी–वर्गों की मान्यता भी लोकसंग्रहरूपेण संग्राह्य मानी जा सकती है। एवं यहाँ आकर 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार तीन के स्थान में चार अज्ञ–सङ्गीवर्ग प्रमाणित हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अज्ञसङ्गी–वर्गचतुष्टयपरिलेखः—

१—विज्ञर्त्त्विग्युक्तः——द्विजातिर्यजमानः——अज्ञः कर्म्मसङ्गी——लोकमान्यः
२—अविज्ञपुरोहितयुक्तः——द्विजातिर्यजमानः—— अज्ञतमः कर्म्मसङ्गी–उपेक्षणीयः
३—लोकाम्नाययुक्तः———शूद्राः–द्विजबन्धवश्च–अविज्ञातः कर्म्मसङ्गी–लोकसंग्राह्यः
४—कुलाम्नाययुक्तः———कुलस्त्रीवर्गः———अविज्ञातः कर्म्मसङ्गी–लोकानुगतः

—— × ——

* "ऋत्विजो ह वै देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति (यजमानं–अज्ञं कर्म्मसङ्गिनम्), सैव 'अह्वला' (वैधकर्म्मणः साङ्गोपाङ्गपरिपूर्णता)। तन्नेदिष्ठामिमिव मन्यामहे" (शत० ब्रा० ३।१।१।५।)।

÷ आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
'पुराणसंहितां' चक्रे भगवान् बादरायणः॥
स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। (तेषामेवैतत् पुराणशास्त्रम्)।

चारों में १-३-४, ये तीन वर्ग लोकसमाह्य, एवं द्वितीय वर्ग सर्वात्मना आलोच्य-एवं उपेक्षणीय, यह निष्कर्ष निकला पूर्व के सन्दर्भ का। इस प्रकार चारों में तीन वर्ग ही 'न बुद्धि भेदं जनयेत्०' इत्यादि भगवदादेश के लक्ष्य माने जायँगे। मन शरीरानुगता जिस मान्यता का (निगमाम्नायपरम्परा नुप्राणिता आस्थाश्रद्धायुक्ता मान्यता का) अज्ञकर्म्मसङ्गी त्रिविध वर्ग की अपेक्षा से जिस लोकसंग्रह का आदेश दिया, उस लोकसंग्रह का नैगमिक मर्म्म ही, नैगमिक आम्नाय ही भगवान् की दृष्टि में लोक समाह्य माना जायगा। अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति इस लोकमान्यता क्षेत्र में भी वर्त्तमान युग में जो नैतिक पतनानुगता स्खलनपरम्पराएँ (सर्वथा काल्पनिक, किंवा दूषित निगमविरुद्ध कल्पनाएँ) प्रविष्ट हो गई हैं, उनके प्रति भी लोकसंग्रह उसी प्रकार सर्वथा उपेक्षणीय ही माना जायगा, जैसा कि अविज्ञ पुरोहितयुक्त अज्ञतम कर्म्मसङ्गी वर्त्तमान युग के अवैध श्रौतस्मार्त्तकर्म्मानुगत द्विजातियजमान की मान्यता सर्वथा उपेक्षणीय ही मानी गई है।

चान्द्र-पार्थिव-रौद्र-मर्मनिबन्धन भूतप्रेतावेशलक्षण-परकायप्रवेशात्मक-मानसिक मान्यता भावों का जिस स्त्रीशूद्रद्विजबन्धुवर्गत्रयी की मान्यता से पूर्व में सम्बन्ध बतलाया गया है, इस मान्यता के माध्यम से इस वर्गत्रयी में असंख्य कल्पनाभावों का समावेश और हो गया है। साधारण सा ज्वराश, अमुक साधारण रक्तचापानुगत उत्तेजन, हृदयदौर्बल्यानुगता मूर्च्छा, आदि आदि मानसिक-शारीरिक रोग भी आज दुर्भाग्यवश अपठित स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धु-परि. वारों में 'भूतप्रेतबाधा' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। बड़े बड़े हीनकर्म्मा कुत्सितवृत्तिपरायण-झाड़ा-फूँका करने वाले आसुर मानवाधम परप्रतारणा-परव्यामोहनमात्र के लिए शिर-हस्त-पादादि के विकम्पन पूर्वक-"ओं-ओं-हूँ-हूँ-हाहा-हीही-लेना लेना-पकड़ना पकड़ना-बाँध दें लटकादें-मारो मारो-खाऊँगा-लेजाऊँगा-नहीं-छोड़ूँगा-बकरा लाओ-मदिरा लाओ-रत जगा करो-भेंट धरो-चौराहे में कलसी रक्खो-श्मशान में भूत को तृप्त करो" इत्यादि घोषणा करते हुए नितान्त अज्ञों का विमोहन करते रहते हैं। पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लिप्सु अज्ञजन अज्ञ स्त्रियाँ अधिकांश में एवंविध नीचकर्म्मा प्रतारकों के द्वारा अहर्निश प्रतारित होते हुए अपना सर्वनाश कराते रहते हैं। काय-शिरो-ग्रीवा-विकम्पनकुशल ये धुडले, डोरा-डोडाबन्धननिपुण ये प्रेतविद्याविशारद, नानाविध उत्तालतरङ्गायिता ये जीवित भूतनियाँ, इनको वश में करने वाले ये सिन्दूरललाटी घूर्णितनेत्र महाअमाङ्गलिक पिशाचाकृतिदुष्ट नराधमसिद्ध (स्याणा भोपा आदि नामों से अज्ञप्रजा में प्रसिद्ध) आज अज्ञकर्म्मसङ्गियों की भावुकता से अनुचित लाभ उठाते हुए भारतीय नैगमिक लोकाम्नाय की ओर सहज श्रद्धालुओं की श्रद्धा को उत्तरोत्तर स्खलित करने के जघन्य कर्म्म का अनुगमन कर रहे हैं। आस्तिक लोकप्रजा को सदा सतर्क-सावधान रहना चाहिए इन प्रतारकों से, एवं इनकी प्रतारणाओं से। मान्यता वही अनुगमनीया बननी

बनानी चाहिए इस प्रजावर्ग को, जिसका आधार निगमाम्नाय है। अतएव जो बिना किसी जघन्य–हीन–कुत्सित प्रवृत्ति के सहजरूप से मान्यता का संरक्षण करती हुई स्वस्तिभावापन्ना ही बनी हुई है। जहाँ जिस परिवार में निगमाम्नायनिष्ठ देवभावापन्न श्रौत पुरुष सञ्चालक–नेता–नायक हैं, वहाँ प्रथम तो चान्द्री भूतबाधा का अवसर ही नहीं है। यदि पारिवारिक भावुक स्त्री–बालवृन्द के स्खलन से क्वाचित्क कहीं कभी भूतबाधा का आक्रमण हो भी जाता है, तो निगमोक्ता (अथर्ववेदीया घोराङ्गिरा) विद्या–देवविद्या से तत्क्षण ऐसी तात्कालिक भूतबाधा उपशान्त हो जाती है। अन्य कोई नैगमिक उपाय उपलब्ध न भी हो, तो आगमीय स्वल आत्मशक्ति के संस्मरण * से राक्षस भूतात्मा तत्क्षण पलायित हो जाते हैं, निश्चयेन पलायित हो जाते हैं। ऐतरेय–शाङ्खायनादि ब्राह्मणग्रन्थों में, विशेषतः उपासनाकाण्डप्रधान तैत्तिरीयारण्यकग्रन्थ में मानस–मान्यतानुबन्धी असंख्य नैगमिक उन प्रकारों का सहजभावेन स्पष्टीकरण हुआ है, जो नैगमिक विद्वानों के द्वारा स्वतन्त्र 'संग्रहग्रन्थ' रूप से समाजानुबन्धी सामूहिक लोकाभ्युदय के लिए शीघ्र अभिव्यक्त हो जाने चाहिए।

बुद्धिभेदसंरक्षणात्मक 'लोकसंग्रह' के प्रसङ्ग में इस चतुर्थ स्थानीय 'लोकमानव' के विश्लेषण में हमें इस लिए विशेष आवेदन करना पड़ा कि, अपने मुक्त जीवन में हम स्वयं 'लोकसंग्रह' माध्यम से तथाविध उन प्रतारकों का सम्मान करते रहे हैं, जो वस्तुतः 'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' रूप से वाणी-सम्मान के भी पात्र नहीं हैं। युगधर्म्मानुसार प्रत्यक्ष में हम उन प्रतारकों का लोकसंग्रहधिया सम्मान करते रहे इसलिए कि, दुष्टबुद्धि के अन्तिम परिणाम को जानते हुए भी भारतीय आम्नाय में अपनी शिष्टता के स्वरूप संरक्षण के लिए अन्तिम क्षणपर्य्यन्त उस के स्वरूपोद्बोधन के लिए उसका बुद्धिभेद संरक्षण शिष्टपरम्परा–सम्मत माना गया है। भगवान् कृष्ण का आततायी दुष्टबुद्धि दुर्योधन को अन्तिमक्षण पर्य्यन्त उद्बोधन कराने का प्रयत्न करना, चैद्य (शिशुपाल) की असुरसंख्यासम्मित नवतीनंर (९९) परुषवाणी की उपेक्षा करते रहना, आदि निदर्शन ही अत्र प्रमाणम्। किन्तु उस पूर्वयुग में, तथा वर्त्तमान नितान्त स्खलित युग में अहोरात्र का व्यवधान हो गया है। अतएव वर्त्तमान युग में उस भूतयुगानुगता शिष्ट मान्यता का नितान्त अशिष्ट–अशुचि–अभद्र–अमङ्गल–भावापन्न हीन-

---

* स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ (गीता-११।३६।)

इस श्लोक को भूर्जपत्र पर लिख कर ग्रीवा में बांध देने मात्र से वर्षों का 'कुक्कुरकास' (कूकरखाँसी-काली खाँसी) अविलम्ब स्मृतिगर्भ में विलीन होती देखी गई है।

कर्म्मा निकृष्टकर्म्मा स्वस्त्ययनकर्म्मपराङ्मुख–शील–विनय–सौजन्यादि सद्गुणबहिर्मुख असामाजिक वेशभूषापरायण–उद्वेगकरी अश्लीलभाषा के प्रयोक्ता–निगमागमाम्नायविरोधी–सर्वज्ञानविमूढ–आसुरमानवों के लिए कोई महत्त्व शेष नहीं रह गया है। अब, वैसे प्रतारक–दम्भी–धनमानमदान्ध–लोकैषणालिप्सु निगमाम्नाय–विरोधी हीनकर्म्मा अज्ञ कर्म्मसङ्गियों के सम्बन्ध में 'लोकसंग्रह' जैसे शिष्ट–पावन आदेश का स्वप्न में भी उपयोग नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए नैगमिक शिष्ट श्रेष्ठ मानवों को। लक्षीभूत मानव की आभ्यन्तर–बाह्य–स्थिति–परिस्थिति का आमूलचूड अन्वेषण करते हुए आस्थाश्रद्धा की अनुगति उपलब्ध होने पर ही निगमाम्नायपरायण उन मानवों की मान्यता का ही लोकसंग्रह होना चाहिए, जो स्वयं विज्ञ नहीं है, अथवा तो अल्पज्ञ है, अकृत्स्न हैं, साथ ही जिज्ञासा रखते हैं, इसे आस्था–श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव से अभिव्यक्त करते हुए जानना चाहते हैं निगमागमरहस्यों को आम्नायविधिपूर्वक। ऐसे अकृत्स्न–मन्द–जिज्ञासु मानव ही कृत्स्न नैष्ठिकों के द्वारा लोकसंग्राह्य माने जायेंगे। परप्रतारक वञ्चकों की सहज आसुरवृत्ति के पूर्णज्ञाता भगवान् को स्वयं ऐसी आशङ्का हुई होगी कि, कहीं उनके–'न बुद्धिभेदं जनयेत्०' आदेश का यह अर्थ न लगा लिया जाय कि, एकहेलया वे सभी व्यक्ति लोकसंग्राह्य हैं, जो निगमाम्नाय से विरोध करते हुए यथेच्छ कल्पित मान्यताओं से अपने आपको–'कर्म्मवीर–'कर्म्मठ'–'निष्कामकर्म्मयोगी' घोषित करते हुए विश्वक्षय के निमित्त बने हुए हैं। इसी लिए भगवान् को अन्यत्र इस 'लोकसंग्रह' आदेश का पूर्वोक्त नैगमिक दृष्टिकोण के माध्यम से निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण करना पड़ा। यथाह!

१–सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

२–न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् !
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

३–प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु ।
"तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्"॥

——गीता ३।२५,२६,२९।

अप्रतमनुसराम। मानव के चतुर्थ संस्थानरूप 'लोकमानव' का क्रमसिद्ध प्रसङ्ग प्रक्रान्त है जिस के मध्य में ही प्रसङ्गविधया उपात्त 'लोकसंग्रह' की मीमांसा का स्पष्टीकरण करना पड़ा। अब पुनः प्रकृत की ओर लोकनिष्ठ मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जैसा कि स्पष्ट किया गया है, मानव के तीन अलौकिक स्थानों (ऋषि–पितृ–देवस्थानों) से ही मानव का प्रकृत चतुर्थ स्था

(माग्यमम्मत चतुर्दशविध भूतसर्ग के मध्य में प्रतिष्ठित रजोविशालसर्गात्मक मानवस्थान) न्याग्यात बन रहा है । अपने गृहस्थानुबन्धी ब्राह्मणग्रन्थनिबन्धन कर्म्मकाण्ड में तत्पर देवमानव (मुनिमानवरूप श्रेष्ठमानव) वानप्रस्थानुबन्धी आरण्यकग्रन्थनिबन्धन उपासनाकाण्ड में आत्मपर पितृमानव (यतिमानवरूप महामानव), सन्यासानुबन्धी उपनिषद्ग्रन्थनिबन्धन ज्ञानकाण्ड में तत्पर ऋषिमानव (अतिमानव) अपने आश्रमानुगत इन तीनों संस्थानों में क्रमश निष्ठापूर्वक आरूढ रहता हुआ *'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि' इस आदेश को शिरोधार्य कर केवल चान्द्र-पार्थिवसर्गनिबन्धनात्मक—मनःशरीरमात्रपरायण- किन्तु आस्थाश्रद्धायुक्त-रजोविशालसर्गात्मक-निगम-परम्परानुगत से अनुप्राणित-एवं अत्र पूर्वोपवर्णित त्रिविधकर्म्मसङ्गी-यथाजात लोकमानवों-एवं लोकमानवियों (कुलस्त्रियों) की आम्नायानुगता मान्यता के प्रति परोक्षरूप से लोकसंग्राहक बनता हुआ, स्वयमपि बुद्धिभेदनियन्त्रणदृष्टि से गतानुगतिक बनता हुआ ही 'लोकमानव' कहलाएगा, जो इसका संक्षिप्त स्वरूपपरिचय माना जायगा, जिस स्वरूपपरिचय का इस लोकमानव के त्रिविध नैगमिक अलौकिक स्वरूपों के साथ यों समसमन्वय किया जासकेगा—

'लोकमानव' का अर्थ है— 'मनःशरीरमात्रानुगता वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रिय नैगमिक मान्यताओं की अनुभूति-अनुमोदन-समर्थन-(गतानुगतिकतारूप से अनुगमन भी) करते हुए मान्यतासक्ति-मान्यताचर्वणा-घोषणा-नियुक्तिपूर्वक सहजरूप से सर्वथा परोक्षरूप से-अपनी आभ्यन्तर-आत्मा-बुद्ध्यनुगता संविन् एवं निष्ठा पर आरूढ रहते हुए (श्रौतस्मार्त्ताम्नायपरायण ही बने रहते हुए) केवल लोकसंग्रहबुद्ध्या प्रत्यक्ष में सर्वथा गतानुगतिक बने रहते हुए (अपने आप को लौकिक-व्यावहारिक-सर्वसमानधर्म्मा ही प्रमाणित करते हुए) यथाजात कर्म्मसङ्गी लौकिक मानवों की मान्यता को क्रम क्रमशः नैगमिक निष्ठा की ओर आरूढ करने के लक्ष्य से अपने मन-शरीरात्मक प्रज्ञानगर्भित भूतात्मा (शारीरिक आत्मा-प्राणात्मा) को ही लक्ष्य बनाए रखना" ।

यही इस लोकमानव का 'मानवभाव' है । एवंविध द्विजाति मानव ही 'लोकनेता' है, 'मानव' है [मनःशरीरानुगत-प्रज्ञानभूतात्मानुगत लोकनिष्ठ द्विजाति है] । यहां इस मानव का सर्वाश्रमानुबन्धी सर्वायु से सम्बद्ध (सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध) 'चतुर्थस्थान' है । यही त्रि प्रजापतियों (अव्ययात्मक षोडशी, अक्षरात्मक षोडशकल, आत्मक्षरात्मक षोडशकलोपेत तीनों प्रजापतियों) से गर्भित विकृति क्षरलक्षण चान्द्र-तथा विकारलक्षण पार्थिव-प्रज्ञानात्मभूतात्मस्वरूप 'विकृतिविकाररूप विश्वस्थान' (लोकस्थान) है, जिसका सर्वभावापन्न-सर्वगुणात्मक चान्द्रपार्थिव 'प्रज्ञानगर्भितभूतात्मा' से ही सम्बन्ध माना गया है । प्रज्ञानगर्भित भूतात्मसम्बन्ध से ही यह लोकमानव लोकाम्नाय में 'प्राज्ञ-मनीषी-महाप्राज्ञ-महासत्त्व' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है । यही चतुर्थ मानव 'मानव' अभिधा से मान्य घोषित हुआ है । एवंविध द्विजातिमानव को ही हम 'लोकबन्धु' उपाधि से विभूषित कर सकते हैं । ऐसे ही त्रिस्वरूपगर्भित श्रेष्ठमानव-अतिमानव-महामानवात्मक लोकमानव के लिए पुराणपुरुष की यह घोषणा हुई है कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—
नहि "मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" ।
——महाभारत

चतुर्विधमानवसंस्थानपरिलेखः—सर्वसंग्रहात्मकः—(निगमागमपरायणभारतीयद्विजातिमानवस्य अवस्थाचतुष्टयी)

'चत्वारः पुरुषा इति बाध्वः'

१—अध्यात्मरूपषोडशीप्रजापति—लक्षणः—स्वायम्भुवः—पुरुषात्मा—तदभिन्नोऽतिमानवः—सन्न्यासी—ज्ञाननिष्ठः—
प्रपितामहो लोकस्य—ऋषिः—ऋषिः (प्रथमस्थानः)।

२—अक्षरात्मरूपषोडशकलप्रजापति—लक्षणः—पारमेष्ठ्यः—महानात्मा—तदभिन्नो महामानवः—वानप्रस्थी—तपोनिष्ठः—
पितामहो लोकस्य—यतिः—पितरः (द्वितीयस्थानः)।

(१ और २: अलौकिकमानवत्रयी)

३—आत्मक्षरात्मरूपषोडशकलोपेतप्रजापति-लक्षणः—सौरः—विज्ञानात्मा—तदभिन्नः श्रेष्ठमानवः—गृहस्थी—कर्मनिष्ठः—
पिता लोकस्य—मुनिः—देवः (तृतीयस्थानः)।

४—विकृतिविकारक्षररूपमिश्र—लक्षणः—चान्द्रपार्थिवः—प्रज्ञानगर्भितभूतात्मा—तदभिन्नो मानवः—
सर्वाश्रयी—लोकनिष्ठ—बन्धुर्लोकस्य—मानवः

चतुर्थस्थानः—सर्वस्थानो वा — लोकमानवः

(१)—महापुरुषः—तस्यासावादित्यो रसः (ऋषिमानवः—सर्वज्ञ)
(२)—वेदपुरुषः—तस्यैतस्य ब्रह्म रसः (पितृमानवः—सुज्ञः)
(३)—छन्दःपुरुषः—तस्यैतस्याकारो रसः (देवमानवः—विज्ञः)
(४)—शरीरपुरुषः—तस्याशरीरः प्रज्ञात्मा रसः (मानवमानवः—प्राज्ञः)

—'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'

'चत्वारः पुरुषाः' इति बाध्वः (महर्षिः)—
'शरीरपुरुषः—छन्दःपुरुषः—वेदपुरुषः—महापुरुषः' इति।
—ऐतरेय आरण्यक ३।२।३

'मानव' के चार स्थानविभागों के सम्बन्ध में यद्यपि तालिका प्रदर्शिता भगवान् ऐतरेयसम्मता वर्गचतुष्टयी के अनन्तर अन्य नैगमिक प्रमाण अनपेक्षित हैं। तथापि निगमस्वाध्याय से वञ्चित, किन्तु परप्रतारणामात्र के लिए निगमभक्तिप्रदर्शक अभिनिविष्ट निकृष्ट नर भावुकप्रजा में इस दृष्टिकोण से भी व्यामोहन उत्पन्न कर सकते हैं। अतएव तन्मुखनन्धनाय यहाँ कुछ एक जैसे वचन उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिन से पूर्वोपवर्णित मानव के चारों संस्थान स्पष्टरूप से प्रमाणित हो जाते हैं।

(१)–ऋषिमानवसंस्थासमर्थकानि–निगमागमप्रमाणानि–

(अव्ययात्मनिष्ठा महर्षयः)

१–ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्द्धयन् गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः॥(ऋक्सं०९।११४।२)।

२–यो वै ज्ञातोऽनूचानः, स ऋषिरार्षेयः(शत०४।३।४।१९)–ऐते वै विप्राः, यद्-ऋषयः (शत १।४।२।७)।

३–सप्त–(अवान्तरविभागाः–ऋषीणाम्)–यथा———
"—ब्रह्मर्षि–देवर्षि–महर्षि–परमर्षयः।
काण्डर्षिश्च–श्रुतर्षिश्च–राजर्षिश्च" क्रमावराः॥
——आगमः

४–लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
—गीता ५।२५।

(इसी प्रमाण सम्बन्ध में देखिए पृष्ठसं०३३७)

(२)–यतिमानवसंस्थासमर्थकानि–निगमागमप्रमाणानि–

(अक्षरात्मनिष्ठा यतयः)

१–तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥
——ऋक्सं.८।३।९।

२–वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्–यतयः–शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
————मुण्डकोपनिषत् ३।२।६।

३–अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारस्तु न विद्यते।
यतिभिर्मोक्षकामैश्च अविमुक्तं निषेव्यते॥
—मत्स्यपुराण १५६ अ०।

४–यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवीमि॥
————गीता ८।११।

(देखिए–पृष्ठसं० ३३७)

——२——

(३)–देवमानवसंस्थासमर्थकानि–निगमागमवचनानि–
(द्वाग्रत्मनिष्ठा देवाः)

१–एतेन वै अष्टरात्रेण देवाः (आप्तरूपाः) देवत्त्वमगच्छन्। देवत्त्वं गच्छति–यो यज्ञियमानवः–एवं वेद। (ताण्ड्यमहाब्राह्मण २२।११।२,३,)।

२–आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानान्। (शत० २।२।२।६)। विद्वांसो वै–याज्ञिकाः–देवाः। (शत० ३।७।३।१०)

३–द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः। तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञः। आहुतय एव देवानां, दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषामनूचानानाम्। त एते (यजमानं) उभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति। (शत० ४।३।४।४।)।

(देखिए पृष्ठ सं० ३३८)।

——×——

(४)-पार्थिवमानवसंस्थासमर्थकानि-निगमागमवचनानि

(विकृतिविकारनिष्ठा मानवाः)

* १-बृहती इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दक्षः ।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वी वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः ॥ (ऋक् १।५९।४)
—मनुष्यो लौकिको बन्दी दातारं बहुविधया स्तुत्या स्तौति-इति तद्भाष्ये सायणः

२-"पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा—
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः-सोमात्-पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥
सम्वत्सरं-चान्द्रं-यजमानश्च-लोकाः-सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ।
तस्माच्च देवा बहुधा (अष्टविधाः) सम्प्रसूताः—
मनुष्याः-पशवो-वयांसि-प्राणापानौ
व्रीहियवौ
तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च" ।
—मुण्डकोपनिषत् २।१।

३-मादुषं वै नामैतद्यन्मानुषम् । तन्मादुषं (निर्दुष्टं दोषरहितं) सन्तं 'मानुष' मित्याचक्षते । (ताण्ड्यमहाब्रा० १५।१।१२।) ।

४-मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ।
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ॥
—महाभारत १।७५।

—×—

---

* यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्याः, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।

इन चतुर्विध मानवों को हम गीतोपनिषत् परिभाषा के अनुसार क्रमशः 'मद्याजीमानव, पितृयाजीमानव, देवयाजीमानव, भूतयाजीमानव' इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। स्वायम्भुव आत्मपरायण ऋषिमानव ही 'मद्याजीमानव' है । पारमेष्ठ्य पितृतत्त्वपरायण यतिमानव ही 'पितृयाजीमानव' है । सौर देवयज्ञपरायण मुनिमानव ही 'देवयाजीमानव' है । एवं चान्द्रपार्थिव भूतपरायण (लोकपरायण) लौकिक मानव ही 'भूतयाजीमानव' है जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

चतुःसंस्थान भारतीय द्विजाति मानव, तदनुगत वर्णशूद्र, तदनुगता अवर्णचतुष्टयी के अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छ, इन चार विभागों में से आदि के तीन भारतीय अवर्णविभाग निगमागमाम्नायसम्मत लोकमान्यताओं के संग्राहक बनते हुए भी यदि वर्त्तमानयुग में मान्यताविरोधी वर्गों के समतुलन में दुःखी-दीन-हीन-से प्रतीत हो रहे हैं, तो यह मान्यता का अपराध नहीं माना जा सकता। इस सम्पूर्ण दयनीय दशा का एकमात्र उत्तरदायी है वह राज्यसत्तातन्त्र, जिसने अज्ञता से, किंवा स्वार्थसाधन के लिए भारतीय आस्तिक प्रजा की धार्मिक मान्यताओं को निगमागमाम्नाय से पृथक् कर दिया है। "राजा एव कालस्य कारणम्-इति ते संशयो माभूत्" (महाभारत)।

आपिपीलिकाभ्यः-कीटपतङ्गेभ्यः-अन्तःसञ्ज्ञसत्त्वेभ्यः (चींटी-कीट-पतङ्ग-वृक्षादि) के लिए भी तुष्टि-तृप्ति के साधन-परिग्रह समुपस्थित करते रहने वाला आस्तिक भारतीय मानव, आनृशंस्यधर्मपरायण भारतीय हिन्दू मानव आज अपनी मूलाम्नायप्रतिष्ठा (वेदप्रतिष्ठा) से स्खलित होता हुआ, किंवा सत्तानुगत घातक राजनैतिकतन्त्र से लक्ष्यच्युत कर दिया हुआ आज अपनी शरीरयात्रा के निर्वाह में भी यों असमर्थ बन जायगा, यह क्या कम प्रायश्चित्त है इसके आम्नायविरोधरूप महतोमहीयान् पातक कर्म्म का ?।

भारतीय मानव की शाश्वतनिष्ठा—

कोई इसे अन्ध श्रद्धालु कह कर इसका उपहास कर रहा है, कोई इसे रूढिभक्त प्रमाणित कर रहा है, तो कोई विज्ञान-तर्क-युक्ति-हेतुवादशून्य निरक्षरमूर्द्धन्य। और यह सनातन भारतीय मानव सब आक्रोशों को अवनतशिरस्क बना रहता हुआ तूष्णीं रूप से सहन करता हुआ मानो अपनी 'वृक्ष इव स्तब्धः' इस शाश्वतनिष्ठा को ही अभिव्यक्त कर रहा है। क्षणिकमदान्धजातियाँ प्रचण्डवेग से इस पर आक्रमण करतीं हुई कालान्तर में विनिष्ट होतीं रहीं। किन्तु यह अमृतपुत्र सनातन मानव अश्माखण्डवत् अपनी निष्ठा पर, आस्था-श्रद्धा पर हिमगिरिसम निश्चलता से निश्चल बना रहा, एवं निश्चल ही बना रहेगा, भले ही इसका वर्त्तमान विचलित माना जाता रहे। यह

(३८७ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

(१) स्वायम्भुव—अव्ययात्मपरायणाः—मद्व्रताः—मद्याजिनः

(२) पारमेष्ठ्य—महानात्मपरायणाः—पितृव्रताः—पितृयाजिनः

(३) सौर—विज्ञानात्मपरायणाः—देवव्रताः—देवयाजिनः

(४) चान्द्रपार्थिवः-प्रज्ञानभूतात्मपरायणाः—भूतव्रताः—भूतेज्याः

ठीक है कि, वर्त्तमानयुग के भौतिक-विज्ञानचाकचिक्य ने इसे कुछ समय के लिए प्रभावित कर लिया है। किन्तु अब भी यह अपने शाश्वत-नैगमिक विज्ञान की ओर, तद्रूपा देवविद्यादि की ओर दैवानुग्रह से आकर्षित हो पड़ेगा, तत्क्षण आत्मबोधपथारूढ बनता हुआ यह इस प्रभाव से अपने आपको अहिःकञ्चुकिवत् उन्मुक्त करता हुआ उभयलोक की समृद्धि-शान्ति का अनन्यभोक्ता बन जायगा, निश्चयेन बन जायगा, निकट भविष्य में ही बन जाने वाला है। अपनी विस्मृत उस ज्ञानविज्ञाननिधि की स्वाध्यायपरम्परा का अनुगमन करने के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही यह भारतीय मानव उस **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** का शाश्वत अधिकारी प्रमाणित हो जायगा, जिस नित्यविज्ञान का उपक्रम हुआ है 'वाग्ब्रह्म' से, एवं उपराम हुआ है—'प्राणब्रह्म' पर। यही प्राणब्रह्मात्मक प्राणविज्ञान इसे महा-प्राण बनाता हुआ इसे महाप्राणशक्ति से समन्वित कर देगा, जिसके अच्छेद्य-अदाह्य-अक्लेद्य-अशोष्य-सनातनस्वरूप में अव्याहत होने वाली एक ही तटस्थ आलोचना नहीं, अपितु परमपरार्द्ध मिता आलोचना-परम्परा भी इसकी मान्यता का यत्किञ्चिन भी अहित न कर सकेगी, इसी माङ्गलिक सनातन भावना के माध्यम से अब तक के सन्दर्भ से परोक्ष-प्रत्यक्षरूप से सर्वात्मना भी समाहित तटस्थ आलोचना वैखरी वागाश्रय के द्वारा दो शब्दों में समाहित करते हुए यह प्रासङ्गिक अप्रिय चर्चा समाप्त की जाती है।

अवधेय भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण—

भारतीय विज्ञान की दिशा का पूर्व में दिग्दर्शन कराते हुए **'यज्ञविज्ञान'** को ही नैगमिक विज्ञान घोषित किया गया है, जिसके गर्भ में खण्ड-खण्डात्मक असंख्य विज्ञान, एवं विज्ञानानुप्राणिता देव-विद्यान्विता अवान्तर उपनिषत् (रहस्यात्मिका मौलिक विद्याएं) समाविष्ट हैं। अनन्त असंख्य इन देव-विद्यात्मक खण्ड विज्ञानों में से अभी भारतीय मानव को-**'नायमात्मा-बलहीनेन लभ्यः'** इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम निगमाम्नाय-परम्परानुगत वेदस्वाध्याय के द्वारा आत्मस्वरूपबोधोपयिक उस आध्यात्मिक विज्ञान के अनुशीलन में ही सर्वतोभावेन प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिस आध्यात्मिक विज्ञान का उपक्रम-उपराम-बिन्दु माना गया है-"वाग्ब्रह्मानुगत-प्राणब्रह्म"।

सर्वखण्डविज्ञानात्मक स्वायम्भुव * 'सर्वहुत' नामक 'यज्ञकाण्ड' के माध्यम से पूर्व में जिस भारतीय विज्ञानकाण्ड की स्वरूपदिशा का दिग्दर्शन कराया गया है, शब्दद्वयात्मिका तटस्थ-आलोचक-

---

* "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्, यजुस्तस्मा-दजायत्" (यजुःसंहिता)। ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि हुत्वा सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। स वा एष सर्वमेधः—सर्वहुतः-दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। परमो वा एष यज्ञक्रतूनां, यत् सर्वमेधः—सर्वहुतः"। (शत० १३।७।१।१,२,)।

समाधानात्मिका आस्थाश्रद्धाशून्या अप्रियचर्चा से पहिले भारतीय मानव के नैगमिक स्वरूपोद्बोधन के लिए, साथ ही भूतविज्ञानवादी वर्त्तमान तटस्थ आलोचक की सर्वविनाशकारिणी ध्वंसात्मिका भूतविज्ञान दृष्टि के अतिमानोद्बोधन के लिए आस्थित श्रद्धालु भारतीय की उस प्रिय विज्ञानचर्चा या माङ्गलिक संस्मरण को शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया जाता है, जिस आध्यात्मिकी श्रेय प्रेयोभावात्मिका हितकर-रुचिकर-प्रियचर्चा का स्वरूप विस्मृत कर सचमुच भारतीय श्रद्धालु ने अपना महुत बड़ा अहित कर लिया है।

पावन आध्यात्मिकचर्चा का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है देवविद्यानिष्णात आधिदैविक-आधिभौतिक मन्त्रविज्ञाननिष्ठ देवर्षिनारद की अध्यात्मविज्ञानमूला पावन जिज्ञासा के आधार पर विनिसृता तत्समय के अध्यात्मविज्ञाननिष्ठ सर्वविज्ञानज्ञाननिष्णात भगवान् 'सनत्कुमार' महर्षि की वाणी के द्वारा। देवर्षि नारद ने अनन्यनिष्ठा के द्वारा चिरकालिक स्वाध्याय-अनुशीलनात्मिका तत्त्वचर्य्या के माध्यम से आधिभौतिक पार्थिव, एवं तन्मूलमूलभूत आधिदैविक सौर, दोनों यज्ञविद्याओं का, तदाधाररूप ऋग्यजु सामतत्त्वात्मक पार्थिव छन्दोमात्रिक वेद, एवं ऋग्यजु सामतत्त्वमय सौर * गायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व का स्वरूपबोध प्राप्त किया। और यों नारद ने द्यावापृथिव्य-सौरपार्थिव रोदसी-त्रैलोक्य के अधिभूत-अधिदैवत यज्ञ का, तदनुगता सम्पूर्ण मन्त्रात्मिका देवविद्याओं का स्वरूपज्ञान प्राप्त कर अपनी 'देवर्षि' अभिधा को अन्वर्थ बना लिया। अब नारद के अन्तःकरण में जिज्ञासा उत्पन्न हुई उस 'ब्रह्मर्षि' पद के स्वरूपबोध की, जिस ब्रह्मर्षिपद का अधिष्ठान माना गया है अधिभूत-अधिदैवतमूलरूप-किंवा सर्वमूलभूत अध्यात्मविज्ञान। इसके स्वरूपबोध के लिए ही नारद समिध ग्रहण कर ब्रह्मर्षि सनत्कुमार के सम्मुख प्रणतभाव से विधिवत् — उपसन्न होते हुए कहने लगते हैं—

'अधीहि भगव! (भगवन्!) इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः'

---

* "यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः—सो ऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या—गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्वरूपा—तपति—योऽसौ सूर्य्यः। तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः (मूर्खाः—लौकिका अपि जानन्तिस्म तद्युगे, यत्—सूर्य्यः खलु त्रयीविद्यात्मकः—का कथा तद्युगानुगतानां तत्त्वविदुषाम्)-'त्रयी वा एषा विद्या तपति' इति। 'वाक्' हैव तत् पश्यन्ती वदति" (शत० १०।५।२।१,२,।)।

— सार्द्धदशाङ्गुलमित (१०॥ अङ्गुलपरिमित) आध्यात्मिकप्राण-समिन्धन की प्रतीकभूता तत्परिमाणरूपा ही प्रादेशमिता 'समिधा' हाथ में लेकर ही पुरायुगे जिज्ञासु शिष्य आचार्य के सम्मुख प्रणतभाव से उपस्थित होता हुआ अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त किया करता था।

समित्पाणी देवर्षि नारद से नैष्ठिक ब्रह्मचारी वीतराग ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने प्रश्न किया कि, 'यद्वेत्थ, तेन मोपसीद । तत ऊर्ध्वं वक्ष्यामि' इति । तात्पर्य्य, 'अब तक तुमने जो कुछ अध्ययन किया है, उसका स्वरूप अभिव्यक्त करो । तब मैं तुम्हें उससे आगे का स्वाध्याय बतलाऊँगा । नारद अपनी पठित विद्याओं की तालिका सनत्कुमार के सम्मुख अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

"भगवन् ! मैंने ऋग्-यजु -साम-अथर्व-इतिहासपुराण पित्र्यराशि दैवनिधि-वाकोवाक्य-एकायन-देवविद्या (आत्मक्षरविद्या-सौरविद्या)-ब्रह्मविद्या । क्षरविद्या पार्थिवविद्या-(चान्द्रविद्या)-क्षत्रविद्या-नक्षत्रविद्या-सर्पदेवजनविद्या'-इत्यादि सम्पूर्ण (आधिदैविक-आधिभौतिक, सौर पार्थिव) विद्याओं का स्वरूप जान लिया है' ।

अपनी ज्ञात-विज्ञात विद्यातालिका उद्धृत करने के अनन्तर नारद कहने लगते हैं, "भगवन् ! मैं केवल 'मन्त्रवित्' (वाग्ब्रह्मात्मिका शब्दविद्यावित) ही हूँ । मैंने अभी तक अध्यात्मस्वरूप नहीं प्राप्त किया है । आप जैसे ब्रह्मर्षि आत्मवेत्ताओं से ऐसा सुनता आरहा हूँ कि, आत्मस्वरूपबोध प्राप्त किये विना मानव अशान्तिरूप शोक से सन्तरण नहीं प्राप्त कर सकता । इसी आत्मबोध के अभाव से और सब कुछ (दैवत-भौतिक विद्याएँ) जानता हुआ भी मैं नैष्ठिकी आत्मशान्ति प्राप्त नहीं कर सका हूँ । किन्तु मुझे विश्वास है कि, आप अवश्य ही मुझे शोकसागर से पार लगा देंगे" । सनत्कुमार कहने लगे, "ठीक है नारद ! वास्तव में आत्मस्वरूपबोध के विना शोकसन्तरण सम्भव नहीं है । अब तक तुमने जो कुछ पढा और जाना है, वह तो केवल अध्यात्म का सर्वथा बाह्य भौतिक 'नामात्मक' स्वरूप ही है । अवश्य ही नामभावात्मक दैविक-भौतिकविज्ञान से जो भी लौकिक पारलौकिक फल मिलने चाहिएँ, अवश्य मिल जाते हैं । किन्तु ये सब फल- प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' इत्यादि के अनुसार नश्वर हैं । अतएव इन नामात्मक विज्ञानों से कदापि शाश्वत शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । शान्ति प्राप्त होती है उससे, जो इन सम्पूर्ण नामभावों का—दैविक भौतिक सौर पार्थिव खण्ड-खण्डात्मक-यज्ञविज्ञानों का-अवारपारीण एक आलम्बन-आधार-अधिष्ठान है, अतएव जो इन नामभावात्मक दैविक-भौतिक-विज्ञानों की अपेक्षा महतोमहीयान् है" ।

वाग्ब्रह्म ही नामप्रपञ्च का सर्वाधार है, जो 'वषट्कार' रूप से 'यावद्ब्रह्मविष्ठितं-तावती वाक्' रूप से भूकेन्द्र से आरम्भ कर स्वायम्भुव परमाकाशपर्य्यन्त समुद्ररूप से अभिव्याप्त है । इसी वाक् समुद्र में सम्पूर्ण नाम (नामभावात्मक आधिदैविक सौर-आधिभौतिक पार्थिव विश्व) प्रतिष्ठित है । देवता-असुर-राक्षस-गन्धर्व-सब कुछ, सम्पूर्ण चर अचर प्रपञ्च इसी लोकवेदसमन्विता साहस्री-वाक् पर प्रतिष्ठित हैं । इसी वाक् की स्तुति करते हुए ऋषि ने कहा है—

१—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥
किं तत् सहस्रमिति ?, इमे लोकाः-इमे वेदाः—
अथो वागिति ब्रूयात् ।

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

३—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे ऽस्तु ॥

इस वाग्ब्रह्म से ही अध्यात्मविज्ञान का उपक्रम किया भगवान् सनत्कुमार ने। अनन्तर क्रमश सूक्ष्म आध्यात्मिक पर्वों का स्वरूप अभिव्यक्त करते हुए सर्वान्त में सनत्कुमार ने 'प्राणब्रह्म' को उपराम बनाते हुए यह 'अध्यात्मविज्ञान' दिशा नारद के सम्मुख रक्खी। वाग्ब्रह्म का आधार 'मनोब्रह्म', इसका आधार-'संकल्पब्रह्म', तदाधार 'चित्तब्रह्म', तदाधार 'ध्यानब्रह्म', तदाधार 'विज्ञानब्रह्म', तदाधार 'बलब्रह्म', तदाधार 'अन्नब्रह्म', तदाधार 'आपोब्रह्म (भृग्वङ्गिरोब्रह्म), तदाधार 'तेजोब्रह्म', तदाधार 'आकाशब्रह्म', तदाधार 'स्मरब्रह्म', तदाधार 'आशाब्रह्म', एवं सर्वान्त का सर्वाधार वाक्शरीरी 'प्राणब्रह्म', इस प्रकार वाग्ब्रह्म से आरम्भ कर प्राणब्रह्मपर्य्यन्त इस अध्यात्मविज्ञान के सम्भूय चतुर्दश विभाग हो जाते हैं। जिस प्रकार चान्द्र-पार्थिवसर्ग चतुर्दशविध है, तथैव अध्यात्मसर्ग भी इस प्रकार चतुर्दशविध ही बना हुआ है। रहस्यपूर्ण छान्दोग्योपनिषत् के इस चतुर्दशविध आत्मसर्ग का स्वरूप भारतीय द्विजाति को आत्मस्वरूप बोध के लिए अवश्य ही जान लेना चाहिए।

अध्यात्म अधिभूत अधिदैवत, तीनों की मूलप्रतिष्ठा अध्यात्मविज्ञानोपक्रमरूपा वाग्देवी ही है, जिसका ऋग्वेद के 'आम्भृणीसूक्त' में विस्तार से उपवृंहण हुआ है। भगवान् ऐतरेय के—'सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था' इस वाक्य का समन्वय करने पर हमें तीनों विज्ञानतन्त्रों के समसत्यासमन्वय से आश्चर्य्यविभोर हो जाना पड़ता है। १५ उक्थ सहस्रमहिमाओं में परिणत हो रहे हैं तीन स्थानों में। वेदस्थान, लोकस्थान, वाक्स्थान, तीनों क्रमश अधिदैवत अधिभूत अध्यात्मविवर्त्त हैं। तीनों के लिए ही पूर्वोपात्त मन्त्र में-"किं तत् सहस्रमिति ?, इमे वेदा, इमे लोका, अथो वाक्-इति ब्रूयात्" यह कहा गया है। वेदसाहस्री, लोकसाहस्री, वाक्साहस्री से समन्वित, पञ्चदश उक्थ (१५ उक्थ) जिस महतोमहीयान् अणोरणीयान सर्वेश्वर में 'अरा रथनाभौ इव' अर्पित हैं, वही 'महदुक्थ' है, जिसके आधार पर 'उक्थवैराजिक' नाम की मानवानुगता अध्यात्मबोधविद्या प्रतिष्ठित हुई है * । समष्टि व्यष्टिरूप से यह साहस्रीत्रयी पञ्चदश-पञ्चदश पञ्चदश-सख्याओं में विभक्त है, जिनमें १ १-१ सख्या समष्टिभाव की सूचिका है, एवं १४ १४ १४ सख्याएँ व्यष्टिभाव की सूचिकाएँ हैं। वेदसाहस्रीरूप पञ्चदशोक्थलक्षण आधिदैविकसर्ग भी समष्टिव्यष्टिरूप से १५ भागों में विभक्त है। लोकसाहस्रीरूप आधिभौतिकसर्ग भी इन्हीं भागों में, एवं वाक्साहस्रीरूप आध्यात्मिकसर्ग भी इन्हीं भागों में विभक्त है। इसी समसमन्वय के आधार पर हम इन तीनों सर्गों के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि—

(१)-चतुर्दशविध एव-अध्यात्मसर्गः (आत्मसर्गः)।

(२)-चतुर्दशविध एव-अधिदैवतसर्गः (देवसर्गः)।

(३)-चतुर्दशविध एव-अधिभूतसर्गः (भूतसर्गः)।

त्रिकाण्डात्मक यही त्रिविध निष्ठ न भारतीय विज्ञान है, जो सहस्रवल्शामूर्त्ति 'ब्रह्मोक्थ' के आधार पर प्रतिष्ठित है। समतुलनभावानुरक्त मानव की सुविधा के लिए यहाँ इस सर्गत्रयी की तालिका मात्र उद्धृत करदी जाती है, जिसके आधार पर वह नैगमिक मानव विज्ञानस्वाध्याय में सुविधापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है।

---

* इसी नैगमिकयाम्नाय के आधार पर सकल्पित मानवाश्रमविद्यापीठ का नैगमिक सर्वथा परोक्ष नामकरणसंस्कार हुआ है 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मीय'।

१ वाक्साहस्री		२ वेदसाहस्री		३ लोकसाहस्री		३	१
१ १-षोडशी अव्ययः-पञ्चदशः		२ १-षोडशकलः-अक्षरः-पञ्चदशः		३ १-षोडशकलोपेतः-क्षरः-पञ्चदशः		३	२
१ १—प्राणब्रह्म		२ १—सूत्रब्रह्म		३ १—ब्रह्मब्रह्म		३	३
१ २—आशाब्रह्म		२ २—नियतिब्रह्म		३ २—प्रजापतिब्रह्म		३	४
१ ३—स्मरब्रह्म		२ ३—अत्रिब्रह्म		३ ३—इन्द्रब्रह्म		३	५
१ ४—आकाशब्रह्म		२ ४—अङ्गिराब्रह्म		३ ४—पितृब्रह्म		३	६
१ ५—तेजोब्रह्म		२ ५—भृगुब्रह्म		३ ५ गन्धर्वब्रह्म		३	७
१ ६—आपोब्रह्म		२ ६—आयुर्ब्रह्म		३ ६—यक्षब्रह्म		३	८
१ ७—अन्नब्रह्म		२ ७—गौब्रह्म		३ ७—मानवब्रह्म		३	९
१ ८—बलब्रह्म		२ ८—ज्योतिर्ब्रह्म		३ ८ पिशाचब्रह्म		३	१०
१ ९—विज्ञानब्रह्म		२ ९—यशोब्रह्म		३ ९—राक्षसब्रह्म		३	११
१ १०—ध्यानब्रह्म		२ १०—श्रद्धाब्रह्म		३ १०—पशुब्रह्म		३	१२
१ ११—चित्तब्रह्म		२ ११—रेतोब्रह्म		३ ११—पक्षिब्रह्म		३	१३
१ १२—संकल्पब्रह्म		२ १२—द्यौब्रह्म		३ १२—कीटब्रह्म		३	१४
१ १३—मनोब्रह्म		२ १३—गौब्रह्म		३ १३ कृमिब्रह्म		३	१५
१ १४—वाग्ब्रह्म		२ १४—वाग्ब्रह्म		३ १४—स्तम्बब्रह्म		३	१६
चतुर्दशविधः आत्मसर्गः अध्यात्मम्	ब्रह्मदशाप्युरुषा	चतुर्दशविधः देवसर्गः आधिदैवतम्	[illegible]दशाप्युरुषा	चतुर्दशविधः भूतसर्गः अधिभूतम्	पञ्चदशाप्युरुषाः	५८ कलाजगत्	षोडशीपुरुषः

ईशावास्यमिदं सर्वं यदि किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

यस्मादन्यो न परो अस्ति जातः—य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

आलोचनासमाधानोपराम—

मानव ने अपना स्थानपरिचय प्राप्त किया। इस स्वात्मानुगत-आत्मानुगत-सुपरिचित पूर्वोक्त चार स्थानों में अपने आपको सन्यास-वानप्रस्थ-गृहस्थ-लोकतन्त्र में प्रतिष्ठित किया, एवं तदनुपात से ही औपनिषद् आरण्यक ब्राह्मणभागानुगत, तथा लोकमान्यतात्मक चतुर्विध पथों पर व्यवस्थितरूप से अपने आपको मर्य्यादित किया सर्वथा सहज रूप से। एवंविध व्यवस्थित मर्य्यादित मान्यतानुगत परिपूर्ण मानव क्या कभी श्री-समृद्धि-शान्ति तुष्टि पुष्टि से वञ्चित रह सकता है। ऐसा मानव तो जिस वातावरण में विचरण करता है, जहाँ निवास करता है, वहाँ सर्वसमृद्धि अयाचित रूप से सुप्रतिष्ठित हो जाती है। जिसे आज का आलोचक समृद्धि सुख कहता है, वह तो है प्रकृत्या पशुधर्म्म, अमर्य्यादिता इन्द्रियपरायणता। ऐसी आसुरवृत्ति-पशुवृत्ति ही जब सर्वश्रेष्ठ ज्येष्ठ अभीष्ट है, तो इससे अधिक इस का और क्या अनिष्ट होगा। पाषाणलोष्ठसम जडवत् आत्मस्वरूपविस्मृत पशुओं पर भूत बाधा क्यों होने लगी जबकि ये स्वयं ही भूतयोनि का चरितार्थ कर रहे हैं। श्वेत-स्वच्छ वस्त्र पर ही मलिनता का आक्रमण प्राकृतिक है। कृष्ण-मलिनवस्त्र पर मलिनता क्या आक्रमण करेगी। मर्य्यादा शील के लिए ही पतनभय भावुक माना जायगा। उन्मर्य्याद मानव को पतन से भय होगा ही क्यों। एक ओर का ऋषिसंस्थान यदि अभयपद है, तो दूसरी ओर का विमूढ आसुरमानव भी अभयपद ही माना जायगा *। वह आत्मबोध द्वारा अभयपदारूढ है, तो यह आत्मस्वरूपविस्मृति के द्वारा अभय निर्भय बनता हुआ स्वैराचारपरायण है, स्वच्छन्दविचरणशील है। भय है अस्मदादि सदृश मध्यस्थ गृहस्थ मानव को, जिसे निगमाम्नायनिष्ठा प्राप्ति के लिए, आस्था श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, '**श्रद्धा च नो मा व्यगमत्**' भय से, एवं लोकसंग्रहधिया निगमाम्नायानुगता लोकमान्यताओं का गतानुगतिक बनना ही पडता है, बनना ही चाहिए। यही है एकमात्र समाधान उन तटस्थ आलोचकों की तटस्थ आलोचना का, जिससे वे सन्तुष्ट हों, अथवा न हों, इसकी हमें अणुमात्र भी चिन्ता नहीं है। हमारा तो एकमात्र लक्ष्य है श्रद्धापूर्वक निगमागमाम्नायसम्मत लोकमान्यताओं का लोकसंग्रहधिया अनुगमन, जिसके आधार पर प्रस्तुत नैगमिक निबन्ध में हमनें 'महासङ्गीत' माध्यम से पितृकर्म्मानुबन्धिनी रात्रिजागरणरूपा पितृकर्म्ममान्यता को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य्य माना है।

समाप्ता चेयं प्रासङ्गिकी
तटस्थालोचकस्य तटस्थसमाधानपरम्परा
सामयिकी

—×—

* यश्च मूढतमो लोके, यश्च बुद्धेः परङ्गतः।
द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

पुनः प्रकृतानुसरण, एवं सन्दर्भसङ्गति—

'ऋणमोचनोपायोपनिषत्' नामक प्रक्रान्त द्वितीय परिच्छेद के सपिण्डीकरणात्मक आनृण्यभाव, प्रजोत्पादनात्मक आनृण्यभाव, पार्वणश्राद्धादिरूप आनृण्यभाव, इन तीन आनृण्यकर्म्मों के स्वरूपविश्लेषण के अनन्तर (पृष्ठ सं० ८५ से १८१ पृष्ठ पर्य्यन्त) पार्थिव प्रेतरूप औपपातिक महानात्मा के बन्धनविमोक से सम्बन्ध रखने वाले क्रमप्राप्त चतुर्थ 'गयाश्राद्धानुगत आनृण्यभाव' नामक अवान्तर प्रकरण का उपक्रम हुआ। पृष्ठ १८२ से १८८ पर्य्यन्त गयाश्राद्ध के वैज्ञानिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया। इसी प्रसङ्ग में लोकमान्यतात्मक गृहाग्नेनपितरसन्तर्पक-रात्रिजागरणात्मक वह प्रासङ्गिक प्रकरण उपस्थित हो गया, जिसकी लोकमान्यता के सम्बन्ध में आस्तिकप्रजा का वर्त्तमान में विमोहन देखा सुना गया है। जिस नैगमिक आम्नायपरम्परा को मूल आधार बना कर इस लोकमान्यता को लोकसम्बुद्ध्या नैगमिक नैष्ठिक विद्वानोंने लोकमान्या घोषित किया था, परप्रतारकों के निग्रहानुग्रह से उसमें अनेक प्रकार की निगमविरुद्ध मान्यताओं का समावेश हो गया। फलस्वरूप लोकपरिवार की इष्टसाधनता के स्थान में यह लोकमान्यतात्मक पितृसन्तर्पण कर्म्म अनिष्ट का कारण बन गया, जिसका गयाश्राद्धाधारभूत पार्थिव औपपातिक महानात्मा की सामयिक तृप्ति से सम्बन्ध माना गया है। अतएव प्रक्रान्त चतुर्थ गयाश्राद्धानुगत आनृण्यकर्म्म प्रकरण के मध्य में ही इस प्रासङ्गिक लोककर्म्म का 'तृणस्पर्शन्याय' * से समावेश कराना अनिवार्य्य समझ लिया गया। "कुलस्त्रियों के प्रासङ्गिक महासङ्गीत की पावन स्मृति" नाम से यह प्रासङ्गिक प्रकरण पृष्ठ संख्या १८६ से २६४ पृष्ठ पर्य्यन्त उपवर्णित हुआ।

भारतीय नैगमिक शास्त्रीय विधिविधानों पर, तन्मूलाधारत्त्वेन प्रतिष्ठित निगमाम्नायानुप्राणित लोकमान्यताओं पर भारतीय शास्त्र-लोकसूत्रों से सर्वथा अपरिचित तटस्थ आलोचनों की ओर से जो निर्म्मम कटु आलोचना-परम्परा वर्त्तमान में श्रुत उपश्रुत है, प्रसङ्गोपात्त उसका स्वरूप परिचय, एवं निराकरण भी अनिवार्य्य बन गया। अतएव महासङ्गीत की प्रासङ्गिक पावन स्मृति के अनन्तर ही "पावनस्मृति के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकी तटस्थ आलोचना, और तत्-समाधान" नाम से इस अवान्तर प्रकरण का भी उसी तृणस्पर्शन्यायमाध्यम से समावेश करना अनिवार्य्य मान लिया गया, जिस अनिवार्य्यता की पूर्ति पृष्ठ संख्या २६४ से आरम्भ कर पृष्ठ संख्या ३६४ पर्य्यन्त समन्वित बनी।

---

* संस्कृत साहित्य में 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' न्याय सुप्रसिद्ध है, जिसका तात्पर्य्य स्पष्ट है। ग्रामयात्रा करता हुआ पथिक मार्ग में आगत समागत वृक्ष-लता-गुल्म-तृणादि का भी कौतूहल रूप से अन्वेषण स्पर्शादि करता जाता है। मुख्य उद्देश्य ग्रामगमनानुगत पथसन्तरण ही है। किन्तु मध्ये मध्ये प्रसङ्गरूपेण समागत तृणादिस्पर्श भी इसके कौतहलात्मक गौण उद्देश्य बनते जाते हैं।

यह है सन्दर्भसङ्गति, जिसके अनन्तर ऋणत्रयनिपातरूप गयाश्राद्धकर्म्म के शेष निरूपणीय विषय का दिग्दर्शन कराता हुआ 'ऋणमोचनोपायोपनिपत्' नामक द्वितीय परिच्छेद उपरत हो रहा है।

औपपातिक प्रेतात्मबन्धनविमोचक गयाश्राद्ध—

प्रकृत गयाश्राद्ध से इन आगन्तुक पितरों की मुक्ति हो जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, पार्वणादि श्राद्ध जहाँ केवल स्व पितरों की ही मुक्ति के कारण बनते हैं, वहाँ गयाश्राद्धकर्त्ता स्वागन्तुक पितरों के बन्धन-विमोक के साथ साथ अन्यों की भी विमुक्ति का निमित्त बन सकता है। स्थानविशेष के माहात्म्य से आस-पडौस के बन्धु-बान्धवों के प्रेतात्मा आशोन्मुख बन कर श्मशानपरिक्रमा के साथ ही गयाश्राद्धकर्त्ता के अनुगामी बन जाते हैं। स्वप्न में अपने लिए याञ्चा करते हैं। एवं यह इन का भी सन्तोष कर सकता है, करना चाहिए।

गयाक्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूपपरिचय—

उक्त 'गयाश्राद्ध' कर्म्म के लिए ऋषियोंनें सुप्रसिद्ध 'गया' स्थान ही उपयुक्त माना है, जिसके कई एक प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष कारण हैं। भौगोलिक विद्वानों को विदित है कि, गयास्थान सुप्रसिद्ध 'फल्गु-नदी' के सम्बन्ध से तीर्थ बन रहा है, एवं पितरप्राण के साम्राज्य से क्षेत्र बन रहा है। इस प्रकार यह स्थान 'गयातीर्थ' भी है, 'गयाक्षेत्र' भी है। फल्गुनीनक्षत्रप्राण के सम्बन्ध से ही यह नदी फल्गु कहलाई है। तत्तत् पदार्थविशेषों में जो एक प्रकार का श्लथभाव उपलब्ध होता है, वह इसी नाक्षत्रिक प्राण का माहात्म्य है। तूल (रुई), भुर्भुर पाषाण, श्लथावयव शर्करा, आदि इसी प्राण से युक्त हैं। जातिविशेष के पाषाण भी इसी प्राणसमन्वय से कालान्तर में सर्वथा श्लथावयव (फोसरे) बन जाते हैं। श्लथभाव ही फल्गु है, फल्गुभावसम्पादन से ही यह नक्षत्र 'फल्गुनी' कहलाया है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

> "गवां पतिः फल्गुनीनामसि त्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु।
> तं त्वा वयं सनितारं सनीनां जीवा जीवन्तमुपसंविशेम॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मण)

फल्गुभावसम्पादक फल्गुनीनक्षत्रप्राणातिशय से ही यह नदी 'फल्गु' कहलाई है। गङ्गा-यमुना-सरस्वती गोदावरी-नर्म्मदा-सरयू-आदि नदियाँ तत्तत्प्राणातिशय-सम्बन्ध से ही तत्तत् नामों से व्यवहृत हुई हैं। इस जलातिशय से ही वह प्रदेश 'तीर्थ' कहलाया है। एवं भूमि के सम्बन्ध से वह 'क्षेत्र' कहलाता है। जिस प्रदेश मे जो कार्य्य चिरकाल पर्य्यन्त हो जाता है, वहाँ उस कार्य का अनुशय (प्राणरूप से) प्रतिष्ठित हो जाता है। यदि किसी प्रदेश में कोई तपस्वी चिरकाल पर्य्यन्त तपोसाधन करते रहते हैं, तो उनका विभूतिप्राण विभूति-सम्बन्ध से तत् प्रदेश के कण कण में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से व्याप्त हो जाता है। इसी तप प्राण-प्रभाव से वहाँ का वातावरण शान्त-निरापद बन जाता

है। हिंसक जन्तु भी ऐसे स्थानों में अपना सहज वैर छोड़ देते हैं। कलुषितान्तःकरण मनुष्य भी ऐसे स्थान पर पहुँच कर शान्तिलाभ करने में समर्थ हो जाता है। ऐसे पवित्र भूप्रदेश ही शास्त्र में 'क्षेत्र' नाम से व्यवहृत हुए हैं। वाराणसी का भूप्रदेश पवित्र है। गङ्गातोय ब्रह्म का साक्षात् द्रवरूप है, अतएव यह क्षेत्र भी है, तीर्थ भी है। परन्तु कुरुक्षेत्र केवल क्षेत्र ही है।

गयास्थान गयाप्राण के सम्बन्ध से क्षेत्र भी है, फल्गु नदी के सम्बन्ध से तीर्थ भी है। हमें प्रेतात्मा का बन्धन-विमोक अभीष्ट है। फल्गुभाव इसी इष्टसिद्धि का सहायक है। वह यहाँ फल्गु नदी के अनुग्रह से प्रकृत्या प्राप्त है। इन्हीं सब कारणों से गयाश्राद्ध के लिए यही स्थान उपयुक्त माना गया है। परन्तु ये सब सिद्धान्त हैं किन के लिए?, कौन इन पर विश्वास करेगा?, उत्तर-'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' यही भगवद्वचन है। आस्तिक श्रद्धालुओं के लिए जहाँ केवल आप्त वचन ही पर्य्याप्त है, वहाँ नास्तिक-श्रद्धाशून्य अभिनिविष्टों का अनुरञ्जन स्वयं ब्रह्मा से भी सम्भव नहीं है।

आगन्तुक महानात्मा के लिए होने वाला गयाश्राद्ध इस औपपातिक महानात्मा की भी मुक्ति का कारण बन जाता है, एवं परम्परया कर्म्मात्मबन्धनासक्ति विमोक का कारण भी बन जाता है, यह कहा गया है। यदि जीवनदशा में ही कर्म्मात्माने विदेहभाव प्राप्त कर लिया, तो ऐसे मुक्तात्मा के लिए गयाश्राद्ध एकान्ततः अनपेक्षित बन जाता है। शास्त्रविहित निवृत्तिमूलक निष्कामकर्म्मों के सम्यगनुष्ठान से कर्म्मात्मा का विद्यारूप ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह प्रज्वलित ज्ञानाग्नि— 'सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते' सिद्धान्तानुसार कर्म्मात्मा के प्राज्ञ भाग पर प्रतिष्ठित भावना-वासनात्मक सम्पूर्ण सञ्चित कर्म्मों को निःशेष कर डालता है। ऐसा निष्कामयोगी, गीतापरिभाषानुसार बुद्धियोगी इस प्रकार ज्ञानाग्निप्रभाव से निर्धूतकिल्बिष बनता हुआ विदेहभाव प्राप्त कर सर्वबन्धनविमोक-प्रभाव से अन्तकाल में— 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति, न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते'।

दूसरा उपाय है—योगमार्ग। योगी कायाकल्प के द्वारा एक ही क्षण में अनेक शरीर धारण कर सर्वकर्म्मभुक्ति का अनुगामी बनता हुआ मुक्त हो जाता है। उक्तलक्षण ज्ञानाग्नि केवल सञ्चित कर्म्मापाय में ही समर्थ है। प्रारब्ध कर्म्मव्यूह को सहस्र ज्ञानाग्नि भी क्षीण नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है। एक व्याध मृग पर बाण चलाने के लिए सन्नद्ध खड़ा है। यदि आपने प्रक्षेप से पहिले उसे उपहृत कर लिया, तब तो मृगरक्षा सम्भव है। यदि तीर उसके हाथ से निकल गया, तो फिर कोई उपाय नहीं है। इस दशा में केवल तूणीर के शेष बाणों को अपहृत कर आप आगे का हिंसाकर्म्म अवरुद्ध कर सकते हैं। ठीक यही अवस्था कर्म्मव्यूह की है। जो व्यूह चल पड़ा, उसका निरोध असम्भव है-जैसा कि— 'प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः' से स्पष्ट है। योगी लोगों को इसी प्रारब्धकर्म्मभुक्ति के लिए कायाकल्प का अनुगमन करना पड़ता है।

गयाश्राद्ध, दोनों के लक्ष्यीभूत पितर भिन्न भिन्न हैं। पार्वणादि श्राद्ध होता है—चान्द्रलोकस्थ उन पितरों के लिए, जो सातपुरुषपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखते हैं। गयाश्राद्ध होता है—कर्म्मात्मानुगत उन पितरों के लिए, जो आगन्तुक हैं। इस कर्म्म से केवल इसकी मुक्ति सम्भव है। प्रजातन्तुप्रवर्त्तक चान्द्र पितर तो यद्वधिपर्य्यन्त सपिण्डता है, तद्वधिपर्य्यन्त के लिए बद्ध हैं। सातवीं सन्तति से आठवें परपुरुष का बन्धन-विमोक होता है। यद्वधिपर्य्यन्त चान्द्रप्रेतपितरों का एक भी सहःपिण्ड तन्यरूप से भूमि पर सन्तान में प्रतिष्ठित है, तद्वधिपर्य्यन्त पिण्डलालसा अनिवार्य है। एवं तद्वधिपर्य्यन्त श्राद्धकर्म्म भी अनिवार्य्य है।

इति—गयाश्राद्धात्मकं चतुर्थमानृण्यं कर्म्म

— ४ —

——×——

※—द्वितीयपरिच्छेदोपसंहार—

ऋणरूप से प्राप्त ५६ कलाओं में से ३५ से आनृण्यभाव प्राप्त करने के लिए प्रजोत्पादन कर्म्म आवश्यक है, शेष २१ ऋणकलाओं के परिशोध के लिए सपिण्डीकरण स्वतःसिद्ध है, चान्द्रलोकस्थ प्रेतपिण्डतृप्ति के लिए पार्वणादि श्राद्धकर्म्म अपेक्षित है, प्रेत-कर्म्मात्मानुगत आगन्तुक-औपपातिक महानात्ममुक्ति के लिए, एवं परम्परया कर्म्मात्मबन्धविमोक के लिए 'गयाश्राद्ध' अपेक्षित है, आवश्यकतम है। इन चारों आनृण्यकर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा प्रजातन्तुवितान (पुत्रपौत्रादिरूप वंशवितान) ही माना गया है। इसी आधार पर आचार्य्य कहते हैं—

१—"एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥

२—अपुत्रेण सुतः कार्य्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः।
पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसङ्कीर्त्तनाय च॥

३—सर्वं ह्यपत्यमोजश्च शौर्य्यं चेत्रं बलं तथा।
पुत्रश्रैष्ठ्यं च सामान्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभाम्॥

४—प्रवृचकतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्"॥

—संग्रहः

श्राद्धसम्बन्धी अतीन्द्रिय रहस्यों का यथावत विश्लेषण कर देना मादृश अनापदृष्टियुक्त व्यक्ति के लिए असम्भव है। गुरुप्रसाद के बल पर जैसा जो कुछ ध्यान में आया है, वह परीक्षा के लिए श्रद्धालु जगत् के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। सर्वान्त में इस सम्बन्ध में अपनी ओर से केवल यही निवेदन करना शेष रह जाता है कि, श्राद्धकर्म्म अतीन्द्रियभावापन्न है। अत इस सम्बन्ध में तत्वाद को प्रणाम कर अनन्य श्रद्धा का ही अनुगमन करना चाहिए। एव देवकार्य्य से भी अधिक माहात्म्य रखने वाले सर्वाभीष्टफल देने वाले इस पितृकार्य्य की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निम्न लिखित वचन श्राद्धकर्म्म के इसी माहात्म्यातिशय का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—"श्राद्धात् परतर नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः ॥" (सुमन्तु)

२—"तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि ।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥"

३—आचारमाचरेत्तत्र पितृमेधाश्रितं नरः ।
आयुषा-धन-पुत्रैश्च वर्द्धते नैव संशयः ॥" (ब्रह्मपुराणम्)।

४— 'आयु'-पुत्रान्-यशः-स्वर्गं-कीर्तिं-पुष्टिं-बलं-श्रियम् ॥ ।
पशून्-सौख्यं-धनं-धान्यं-प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥" (यम)

५—"अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्र-पौत्रवान् ।
अर्थवानर्थभोगी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥
परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान् ।
श्राद्धकृत् समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥" (देवल)

६—"ब्रह्मे-न्द्र-रुद्र-नासत्य-सूर्या-ग्नि-वसु-मारुतान् ।
विश्वेदेवान्-ऋषिगणान्-वयांसि-मनुजान्-पशून् ॥
सरीसृपान्-पितृगणान्-यचान्यद् भूतसंज्ञकम् ।
श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् तर्पयत्यखिलं हि तत् ॥" (विष्णुपुराणम्)

७—"धनं-वेदान्-भिषक्-सिद्धिं-कुप्यं-गा-अप्यजाविकम् ।
अश्वानायुश्च विधिवद्यः-"श्राद्धं सम्प्रयच्छति" ॥

८—"कृषिवाणिज्यगोरक्ष्यं स कामानाप्नुयादिमान् ।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥"

९—"आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥"

१०—"यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥"

११—"देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ (मनुः) ।

'पितरो वाक्यमिच्छन्ति' इस श्रद्धेय वचन को आधार मान कर उक्त वाङ्मय पिण्डद्वारा श्रद्धेय पितृपिण्ड की पूर्णतृप्ति करते हुए, उनसे निम्न लिखित अनुग्रह की कामना करते हुए द्वितीय परिच्छेद उपरत किया जा रहा है—

"कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा—
आयुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा—
"महां"-स्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि" (अथर्व ९।२।१९)

"गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्"

'दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां—वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्—बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥
अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च नः सन्तु—मा च याचिष्म कञ्चन"
ओम्—शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!
समाप्ता चेयं—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्
द्वितीयपरिच्छेदात्मिका

?

आनृण्यं करोत्वनया पितृदेवता

—×—

श्री

श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत—

'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक

तृतीयखण्डान्तर्गत

"ऋणमोचनोपायोपनिषत्" नामक

द्वितीय परिच्छेद उपरत

१



श्री:

अथ–श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत—

'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक

तृतीयखण्डान्तर्गत

"आशौचविज्ञानोपनिषत्" नामक

तृतीय परिच्छेद

३

——※——

श्रीः

अथ–मापिएड्यविज्ञानोपनिषदि

आशौचविज्ञानोपनिषत्

परिभाषाज्ञान की विलुप्ति, एवं सांस्कृतिक पतन–

यद्यपि निबन्ध आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है, तथापि आवश्यकतम विषयों की दृष्टि से विवश होकर इस विस्तारभाव का आश्रय लेना अनिवार्य्य बन रहा है। सनातन-मानव-धर्म्मशास्त्र से सम्बन्ध रखनें वालीं परिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से, परिभाषाओं के विश्लेषक वेदशास्त्र के पारम्परिक अध्ययनाध्यापन के उच्छिन्न हो जाने से, अनार्षग्रन्थों की अनन्यता से, और और भी कई एक ज्ञात-अज्ञात कारणों से आज सनातन विधि-विधान विचारशील विद्वानों की दृष्टि में भी जब मीमांस्य बन रहे हैं, तो ऐसी दशा में साधारणवर्ग यदि इनकी उपादेयता के सम्बन्ध में व्यामोह में पड़ जाय, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। प्रकृत प्रकरण में जिस विषय को लेकर हमें विचार करना है, उस विषयने वर्त्तमान युग में एक ऐसा तूलरूप धारण कर रक्खा है, जिसे देखकर भारतीय सांस्कृतिक पतन का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में राष्ट्रिय दृष्टिकोण–

तत्त्वानुगत अशुचिभाव को लक्ष्य में रखते हुए शास्त्रकारोंनें असच्छूद्रों (अन्त्यज-अन्त्याय-मायी-दस्यू-म्लेच्छों) को अस्पृश्य माना है। शास्त्र के इस अस्पृश्यता-सिद्धान्त को लेकर भारतवर्ष के राष्ट्रिय प्राङ्गण में आज पर्य्याप्त कोलाहल मचा हुआ है। कहा जा रहा है कि, "अस्पृश्यता ही हिन्दूजाति का एकमात्र ऐसा कलङ्क है, जिसने भारतश्री का, भारतस्वातन्त्र्य का अपहरण किया है"। अपने आपको ईश्वर के निकटतम सम्बन्धी समझने का अभिमान करने वाले, वर्णाश्रमव्यवस्था के अनन्यसमर्थक-शास्त्रप्रमाणैकशरण गीताशास्त्र जैसे शास्त्र को अपनी प्रातिस्विक सम्पत्ति उद्घोषित करने वाले, गीता-प्रतिपादित कर्म्ममार्ग को ही एकमात्र जीवन का परम पुरुषार्थ कहने वाले कतिपय राष्ट्रिय नेता ही आज 'अस्पृश्यता' जैसे विज्ञानसिद्धान्त को, शास्त्रसिद्धान्त को, अतएव इस ईश्वरीय आदेश को हिन्दूजाति का कलङ्क मान रहे हैं, और मनवा रहे हैं। 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' रूप से 'शिक्षित' कहलाने वाला वर्त्तमान युग का शिक्षितवर्ग भी इन कल्पित राष्ट्रिय प्रवादों की ओर क्रमशः आकर्षित होता जा रहा है।

हमारे वे कर्णधार, एवं तदनुगत शिक्षित-मानव असच्छूद्र की अस्पृश्यता का इसलिए विरोध कर रहे हैं कि, उनकी विशाल-उदार-तत्त्वपूर्णा दिव्यदृष्टि में 'असच्छूद्र-मानव' और वर्णमानव के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। इसी आधार पर उनकी यह तात्त्विक घोषणा है कि— 'वह भी उनके जैसा ही मनुष्य है। उसी शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव से उत्पन्न होने वाला, उन्हीं आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियवर्गों से युक्त रहने वाला, उसी ईश्वरीय समानक्षेत्र (भूक्षेत्र) को अपनी आवासभूमि बनाने वाला असच्छूद्रवर्ग हम से सर्वात्मना समतुलित है। जैसे हम हैं, ठीक वैसा ही वह है। हमें जो प्राकृतिक अधिकार, जो सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, अवश्यमेव वह भी इनका पूर्ण अधिकारी है। 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इस गीतासिद्धान्त से भी इस समानाधिकारता का समर्थन हो रहा है।"। इस प्रकार के समदर्शन के आधार पर समानाधिकार-प्रदान की व्यवस्था करने वाले आवेशाभिनिविष्ट हमारे ये आत्मबन्धु परोक्षदृष्टि से जिस सर्वनाश का बीजवपन कर रहे हैं, हन्त ? उन्हें यदि यह विदित हो जाता, अथवा तो विदित करा दिया जाता कि, उन्होंने जिस समदर्शन के आधार पर जिस समानाधिकारता का सिद्धान्त स्थापित करने की जो भूल की है, वही भूल उनके अनुग्रह से, परमात्मा न करे वैसा हो, भारतीय प्रजा को ऐसे गर्त्त में डाल देगा, जिससे परित्राण पाना एकमात्र अवतारपुरुष पर ही निर्भर होगा।

हमारे ये विचारशील बन्धु जिसे समदर्शन कर रहे हैं तत्त्वतः वह विषमदर्शन है, यह उस समय भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, जब इस शब्द के प्रयोक्ता शास्त्र से हम इसकी परिभाषा करने आगे बढ़ते हैं। "श्रोत्र-चक्षु-नासिका-मुख-हस्त-पादादि-युक्त स्थूलशरीर की दृष्टि से हम सब समान हैं", इत्याकारक समदर्शन तो भारतीय तत्त्वदृष्टि से, तथा उनकी आराध्या प्रतीच्य तत्त्वदृष्टि से भी एकान्ततः विषमदर्शन ही है। वैषम्य ही सृष्टि का मूल उपादानकारण माना गया है। प्रकृति रहस्यवेत्ता प्राधानिकों (सांख्यों) का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, प्रकृति के 'सत्त्व-रज-तम' नामक तीनों गुणों की विषमता ही, दूसरे शब्दों में गुणत्रयरूपा प्रकृति का वैषम्य ही इस स्थूलजगत् का उपादान बनता है। क्योंकि स्थूलजगत् का उपादान विषम प्रकृति है, अतएव 'कारणगुणा' कार्यगुणानारभन्ते' न्याय से स्थूल प्रपञ्च का अणु अणु इस प्राकृतिक विषम भाव से नित्य आक्रान्त बना रहता है। जिस दिन प्रकृति, किंवा प्रकृति के गुणत्रय अपनी विषमता छोड़ कर साम्यभाव में परिणत हो जायेंगे, उसी क्षण समस्त भौतिक प्रपञ्च प्रलयगर्भ में विलीन हो जायगा, जिसके उपक्रम को हमारे ये नवबन्धु श्रेय पन्था मानने की भयङ्कर भूल कर रहे हैं।

समानाधिकारव्यामोहन—

जिस प्रकृतितन्त्र में तन्त्रायी पूर्णेश्वरपुरुष भी आबद्ध हैं, जिस विषम प्रकृति को, किंवा प्रकृति की विषमावस्था को आगे कर परपुरुष (अव्ययपुरुष) विश्वसृष्टा विश्वप्रजा के निर्माण में समर्थ होता है, जो

विषमा प्रकृति-"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गीता ९।१०) के अनुसार विश्व का मूलकारण बनी हुई है, जिस प्रकृतिपाश में आबद्ध पुरुष को भी 'परवश' रहना पड़ता है, उस भिन्नप्रकृतिमूलक भिन्नवाद को सम देखने वाले तत्त्वदृष्ट्या सचमुच प्रणम्य हैं, इन का समदर्शन प्रणम्य है, और प्रणम्य है तदाधारेण (कल्पिताधारेण) प्रतिष्ठित उनका कल्पित समानाधिकारवाद। क्या पशु पक्षी-कृमि-कीटों में आँख नाक-कान मन बुद्धि नहीं है ?। क्यों नहीं इन्हें भी समानाधिकार दे दिया जाता ?। उस समदर्शी ईश्वर के साम्राज्य में उत्पन्न होने वाले अन्न का सारभाग तो हम निगरित कर जायँ, और पशुओं को केवल निस्तत्त्व तृण खाने मात्र का अधिकार दिया जाय, यह कैसा समदर्शन है ?, कैसा समानाधिकार है ?। आप हम शीत-ग्रीष्म-वर्षा से बचने के लिए सावरण प्रासादों में सुख भोगें, और ये बेचारे पशु-पक्षी हमारे जैसे ही आँख-नाक-कान-आदि रखते हुए भी शीतातपवर्षा के कष्ट सहते रहें। अवश्य ही आज से ही इसी क्षण से तृण के स्थान में इनके लिए न केवल जौ-गेहूँ की ही, अपितु उन सब तिक्त मधुर-लवणादि युक्त भोज्य पदार्थों की व्यवस्था करनी ही चाहिए। इनके लिए भी भव्य अट्टालिकाओं का निर्म्माण होना ही चाहिए। प्राणिमात्र की हितैषिता की घोषणा करने वालों की सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-सत्ता में यह अनाचार ?, यह अत्याचार ?, यह विषम वर्त्तन ? अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

जात्युपजातिमीमांसा—

हम भूल कर रहे हैं। हमें इतनी विदूर अनुधावन न कर केवल मनुष्यजाति को ही विचारविषय का केन्द्र बनाना चाहिए। अभ्युपगमवाद से अपनी भूल स्वीकार करते हुए थोड़ी देर के लिए ऐसा भी माना जासकता है। अभ्युपगमवाद इस लिए कहना पड़ रहा है कि, जिन 'पशु'-'पक्षी' आदि-जातियों को एक एक जाति मानने की भूल की जा रही है, उनमें प्रत्येक में उसी प्रकृतिवैषम्य से अनेक जात्युपजातियाँ व्यवस्थित हैं। अश्व गौ गर्दभ सिंह-मृग-वराह-आदि पशुजाति की अनेक अवान्तर जातियाँ हैं। अर्वा-वाजी-श्यामकर्ण-आदि अनेक अश्वोपजातियाँ हैं, जिनका 'अश्वशास्त्र' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में निरूपण हुआ है। वशा-कपिला-कामधेनु-धूम्रा-आदि भेद से गौजाति भी अनेक भागों में विभक्त है। गर्दभ की अवान्तर उपजातियों का अन्वेषण कर्म्म तो आज के युग में सुकर है ही। इसी प्रकार सिंहादि की व्यवस्था समझिए। पक्षियों में अवान्तर असंख्य जाति-उपजातियाँ। कृमियों में यही व्यवस्था। सर्प नामक केवल एक कृमिविशेष की १ सहस्र उपजातियाँ। क्या महाभारत के सर्प-सत्र को देखने का कष्ट करेंगे ?। इसीलिए हम अपनी भूल को अभ्युपगमवादमूला बतला रहे हैं। विशेष जिज्ञासा की पूर्त्ति के लिए गीताभाष्यभूमिका-कर्म्मयोगपरीक्षा प्रकरण का 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक प्रकरण देखने का कष्ट कीजिए। यदि पशुजाति की अवान्तरजातिमूला अश्व-गर्दभादि जातियों में प्रकृतिभेदद्वारा असङ्ख्य उपजातियाँ हो सकती हैं, तो अवश्य ही मनुष्यजाति की अवान्तर जातिभूता हिन्दूजाति में भी प्रकृतिभेदमूला ब्राह्मणक्षत्रियादि-अनेक उपजातियाँ हो सकती हैं।

सर्वोच्छेदक दृष्टिकोण—

जाति-तत्त्व का भी तो समन्वय करना पड़ेगा। 'जाति' शब्द का मूलप्रभव कौन ?, महत्-प्रकृति-रूप वह महानात्मा, जिसका इस श्राद्धविज्ञाननिबन्ध में आरम्भ से यशोगान किया जारहा है। "आकृति, प्रकृति, अहङ्कृति" एवं 'सत्त्व-रज-तम-' इन ६ भावों के सम्बन्ध से यह जाति-(जाति—आयु—भोग)-प्रवर्त्तक षड्गुणक महानात्मा ही कार्यविश्व का मूलप्रवर्त्तक है। आकृति का तमोगुण से, प्रकृति का रजो गुण से, अहङ्कृति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है। आकृति की प्रतिष्ठा प्रकृति है, प्रकृति की प्रतिष्ठा अहङ्कृति है। अतएव सत्त्वगुणानुगत अहंभाव-(आत्मभाव)-मूला-आत्मदृष्टि ही बाह्यदृष्टियों की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। आकृति-साम्य समदर्शन का मूल नहीं है, अपितु प्रकृतिसाम्य समदर्शन का मूल है। नहीं, नहीं, प्रकृति तो पूर्वकथनानुसार स्वयं विषमा है। भला वह समदर्शन का मूल कैसे बन सकती है। तो क्या अहं-साम्य समदर्शन का मूल है ?। नहीं, महत्प्रकृत्यनुगत यह अहंभाव भी तो प्राधानिक सिद्धान्त के अनुसार प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न ही है। प्रत्येक का सविशेष आत्मा अपने-अपने सुखदुःखादि द्वन्द्वों से पृथक्-पृथक् अतिशय रख रहा है। इस प्रकार महत्प्रकृति से सम्बद्ध, अतएव सर्वथा विषम आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति (सविशेष आत्मा), तीनों में से किसी को भी समदर्शन का मूल नहीं माना जासकता। जब ये तीनों ही समदर्शन के मूल नहीं, तो इनके आधार पर समानाधिकार की कल्पना केवल खपुष्पकल्पना-स्वरूप में शेष रह जाती है। हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा स्वभाव, हमारा सविशेष-कर्मफलभोक्ता-कर्मकर्त्ता भूतात्मा-प्रति-योगमाया के भेद से परस्पर एक दूसरे से विषम है। इन विषम उपकरणों के सम्बन्धी यावन्मात्र लौकिक जड़-चेतन पदार्थ विषम हैं। इसी विषमता से सब के अधिकार परस्पर विषम हैं। इस प्रकार जिसे हम चलते फिरते समदर्शन कर रहे हैं, वह तो तत्त्वतः आत्यन्तिक रूप से विषमदर्शन है। एवं ऐसे विषमदर्शनात्मक समदर्शन के आधार पर जिसे हम समानाधिकार कहने चले हैं, वह तो वस्तुगत्या विषमाधिकार है। तत् को तद्रूप से देखना, एवं-तत् को तदधिकार में ही सुरक्षित रखना सृष्टि की स्वरूपरक्षा है। एवं तत् को अतद्रूप से देखना, एवं तत् को अतदधिकार के लिए प्रोत्साहित करना ही सृष्टिस्वरूप का उच्छेद करना है। यह उच्छेद विश्वोच्छेद का कारण तो नहीं बनता, हाँ हमारे स्वरूप का उच्छेदक अवश्यक बन जाता है।

समविषयभाव मीमांसा—

तत्त्वदृष्टि को छोड़ कर भूतदृष्टि से ही विचार कीजिए। आपके आग्रह दुराग्रह-विशेष से मान लिया हमने कि मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं, समान हैं, जब कि तत्त्वतः पूर्वकथनानुसार इस मान्यता में कोई सार नहीं है। क्या आप इस समदर्शन के आधार पर मनुष्यमात्र को समानाधिकार दे सकेंगे ?, क्या आपने कभी किसी को ऐसा अधिकार दिया है ?। अधिकार का अपहरण ही किया

होगा आपने। अधिकार-प्रदान की शक्ति आप में है ही कहाँ। आप नहीं जानते, आप में एक बहुत बडी निर्बलता है। उसी निर्बलता का नाम है—सविशेष आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला आत्माभिमान, जो कि आत्माभिमान साधारणभाषा में 'व्यक्तिप्रतिष्ठा' कहलाया है। स्वभावत प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को इतर व्यक्तियों की तुलना में आगे बढा हुआ देखना चाहता है। समदर्शन का वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह भी मानव का इस प्रलोभन से त्राण नहीं कर सकता। निरोध कर सक्ती है इस प्रलोभन का एकमात्र यह ब्रह्माद्वैतभावना, जिसे प्राप्त कर लेने पर मानव भेद की तो क्या कथा, जड-चेतन का वैषम्य भी विस्मृत कर देता है। परन्तु जबतक हम व्यवहारजगत् में प्रतिष्ठित हैं, जबतक हम राष्ट्र समृद्धि के इच्छुक हैं, समानोन्नति के पक्षपाती हैं, वैय्यक्तिक विकास के अनुगामी हैं, तबतक उक्त प्रलोभन से पीछा छुडाना सर्वथा असम्भव ही है। यही आत्माभिमान आगे जाकर विषमाधिकार का प्रवर्त्तक बन जाता है।

आपादमस्तक इस विषमदर्शन, तथा समानाधिकार के कुचक्र में चङ्क्रमण करते रहने वाले, केवल वाङ्मात्रेण 'समदर्शन-समानाधिकार' शब्दों का उद्घोष करने वाले उन कर्णधारों को सभामञ्च के उच्च पीठ पर बैठने का अधिकार किसने दिया? उन्हीं के समान आँख नाक वाले दर्शक नीचे अप्रतिष्ठा से बैठें, और वे समदर्शी भगवत्प्रतिमावत् पीठ पर विराजमान रहें, यह कैसा समदर्शन?, और कैसा यह समानाधिकार?। गतानुगतिक इन दर्शकों का भगवद्दर्शनाधिकार सम्भवत सुलभ है। किन्तु ये श्रद्धालु उन सत्तापीठाधीश्वरों के दर्शनाधिकार के लिए विदित नहीं, कितना कष्ट उठाते रहते हैं। अनुग्रहदृष्टि तो असम्भव ही है। वे उपदेशक हैं, हम उपदिष्ट हैं। वे पथप्रदर्शक हैं, हम पथिक हैं। वे अनुशासक हैं, हम अनुशासित हैं। हमारी थोडी भी भूल हमारा महा अपराध है, उनकी महाभूल भी हमारी दृष्टि में कोई गुप्त मङ्गलप्रद परोक्ष रहस्य है। और यह दर्शन अधिकार-वैषम्य इसलिए स्वाभाविक है कि, उनकी जन्मदात्री प्रकृति स्वयं विषमा है। अपने इस स्वाभाविक विषम-दर्शनात्मक समदर्शन के आधार पर इनकी ओर से जिस कल्पित समदर्शन का सूत्रपात हो रहा है, उसके दुष्परिणाम आज हमारे सामने उपस्थित हैं। राष्ट्रिय व्यवस्था से आरम्भ कर व्यक्तितन्त्र पर्य्यन्त अनधिकार-चेष्टाओं का साम्राज्य हो रहा है। जो कल राष्ट्रवादी था, वही आज राष्ट्रविरोधी बन रहा है। आज्ञाएँ निकलती हैं, दण्डविधान बनते हैं। 'अनुशासन भङ्ग कर दिया' का करुण क्रन्दन आरम्भ होता है, परन्तु सब निष्फल। सामाजिक व्यवस्था में भी यही दुर्गति सामने आ रही है। समाज के शिष्टों का अनुशासन आज वात्याहित तूल-तृणादि की अपेक्षा से भी निर्भार (हल्का) प्रमाणित हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने सामाजिक विचार अपने अपने लिए नियत हैं। एक एक व्यक्ति एक एक समाज बनता हुआ 'सममजति' लक्षण 'समाज' शब्द का गला घोंट रहा है। व्यक्तिप्रतिष्ठा की रक्षा के नाते समयोचित आकर्षक प्रभावोत्पादक वेश धारण कर यत्र तत्र सभा समितियों में पहुँचने वाले ये बन्धुगण आदर्शवाद के-धर्म्म वीरता के-समानाधिकार के-समदर्शन के उद्घोषों से जहाँ गृहभारवाही

गोपमस्तक को स्वपदाघातों से कम्पित करते रहते हैं, मुष्टिप्रहारों से काष्ठमञ्च के अङ्ग प्रत्यङ्ग विदीर्ण करने का परमपुरुषार्थ करते रहते हैं, वहाँ आस पड़ौस के दु खी आर्त्त बन्धुओं के लिए ये ही पुरुष पुङ्गव गजनीमीलिकान्याय की उपासना करते रहते हैं। अधिक हुआ तो समाज के नियमों का भङ्ग कर उसे जलाञ्जलि से तृप्त करने का अनुग्रह कर देते हैं। व्यक्तिगत मर्यादा आवश्यकताओं की उद्दाम वासनाओं से भावितान्तःकरण इन समाजनेताओं की दिव्यदृष्टि में भारतीय सभी सामाजिक नियमोपनियम रूढ़िवाद हैं, व्यर्थ के आडम्बर हैं।

आदर्श समतुलन—

'एको गोत्रे य भवति पुमान् सः कुटुम्बं बिभर्ति' से सम्बद्ध कौटुम्बिक व्यवस्था के एक सामाजिक नियम रूढ़िवाद, एवं 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (गीता ३।१३।) के अनुसार केवल व्यक्तिगत पापमयी तुष्टि तृति के अनुगामी इन दिव्य पुरुषों का आदर्श आदर्श है। देशभक्ति स्वदेशभक्ति पर यत्किञ्चित् भी प्रहार न करने वाले ? ध्वनियन्त्र (रेडियो) की उपासना तो आदर्श है, जिसे समाज के सभी व्यक्ति सुलभतया प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु विवाहादि उत्सवों में भेरी ताल झाङ्कार आदि वाद्यों का वादन इनकी दृष्टि में रूढ़िवाद है। बन्धु बान्धवों के साथ सोत्साह गज तुरग पदाति द्वारा वरयात्रादि के प्रदर्शन तो रूढ़िवाद है, किन्तु विशुद्ध विदेशी जड़ यानसाधनों का परम्परा का ग्रहण आदर्श है। वर वधू के सम्मुख उपस्थित होकर उनके प्रणामभाव से प्रसन्न होकर साक्षात् रूप से उन्हें आशीर्वाद देना तो रूढ़िवाद है किन्तु 'मेरे अमुक का विवाह है, कृपया आशीर्वाद भेजिए' वाली आशीर्वादपद्धति—आदर्श है। भारतीय शिष्टमर्यादा में आसनादि लगाकर भारतीय भोज्य पदार्थों से अतिथियों का सम्मान करना तो रूढ़िवाद है, किन्तु विद्युत्प्रदीपाच्छादित वातावरण में कुर्सी टेबुल आदि के महार्घ विन्यास द्वारा विविध प्रकार के प्रसून, और सर्वतो मुख्य यह भारतीय पेय, जो गर्मी में भी बहुत ठँडक पहुँचाने वाला माना जा रहा है, आतिथ्य के लिए उपस्थित करना आदर्श है। यही दुर्व्यवस्था आज हमारी कौटुम्बिक व्यवस्थाओं की है।

मानवीय मर्यादा का आत्यन्तिक स्खलन—

बात अप्रासङ्गिक होती हुई भी हमारी सङ्कुचित दृष्टि में लाभ की है। हमारे एक अनन्य मित्र ने जो वैदिक साहित्य के अनन्य प्रेमी हैं, जिनका नामोल्लेख शिष्टता के नाते अप्रासङ्ग है, एक बार हमारे सामने 'पॉलिसी' (बीमा) का महत्त्व उपस्थित किया। "वर्त्तमान दशा में सभी व्यवस्थाओं के अस्तव्यस्त हो जाने से भले ही कुछ समय के लिए इस बीमापद्धति से हमें कहने भर को अर्थसुविधा मिल जाय, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण से, विशेषतः भारतीय कौटुम्बिकव्यवस्था के दृष्टिकोण से यह व्यवस्था सर्वथा घातक है" इस प्रतिवाद से कहीं बड़ा कठिनता से उन्होंने अपना मन्तव्य बदला। पति-पत्नी-माता-पिता-पुत्र कन्या-भ्राता-भगिनी-बन्धु-आदि की समष्टि से सम्बन्ध रखने वाली

कौटुम्बिक व्यवस्था एक प्रकार का शासनतन्त्र है, राज्यतन्त्र है। कुटुम्ब के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति के आधार पर सम्पूर्ण कुटुम्ब का उत्तरदायित्व निर्भर है। उधर उक्त पॉलिसी व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रोत्साहन देती हुई इस व्यवस्था पर पूर्णरूप से आघात करती है। अपनी व्यक्तिगत अर्थलालसा को उत्तेजित करने वाली यह पॉलिसी पिता को पुत्र से, भाई को भाई से पृथक् कर देती है। उदाहरणों की दुर्भाग्य से आज कोई न्यूनता नहीं है। भारतीय आध्यात्मिक आदर्श (जिसने भारतीय मानव को— **'अमृतस्य पुत्रा अभूम'** यह दीक्षा दी है, जिस दीक्षा से दीक्षित यह सदा 'अमर-भावना' का उपासक बना रहता है, ऐसे इस दिव्य सांस्कृतिक आदर्श) को अपनी मूलप्रतिष्ठा मानने वाले आस्तिक भारतीय मानव को, अपनी प्रकृतिसिद्ध कौटुम्बिक व्यवस्था के पारम्परिक आदर्श को लक्ष्य बनाते हुए इस आदर्श की महत्ता को परोक्षरूपेण आमूलचूड़ विनष्ट कर देने वाली घातक 'पॉलिसी' के व्यामोहन से इसे अपने आपको अस्पृष्ट ही बनाए रखना चाहिए। व्यक्तिगता वित्तैषणा को प्रोत्साहित करती हुई यह प्रतीच्य 'पॉलिसी' रूपा 'पॉलिसी' कालान्तर में लोकैषणा की जननी बनती हुई कौटुम्बिक व्यवस्था के उच्छेद के साथ साथ व्यक्ति के आध्यात्मिक निःश्रेयस् भाव का भी मूलोच्छेद कर डालती है।

अज्ञानुगत समदर्शन—

कौटुम्बिक व्यवस्था की दुर्दशा का प्रत्यक्ष निदर्शन आज भारतवर्ष का प्रायः प्रत्येक (शिक्षित) गृहस्थ है। "हम भी मनुष्य, हमारा भी स्वतन्त्र स्वत्त्व" इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित विपाक समदर्शन-भावना के अनुग्रह से आज पारस्परिक सद्भाव उच्छिन्न हो गया है। पुत्र कहता है—'इसे न भूलिए, मैं प्रथम मनुष्य हूँ, पुनः आपका पुत्र हूँ'। कन्या कहती है—'सावधान ! मैं शिक्षित हूँ, मेरे कार्य्यों में हस्तक्षेप करने की भूल न कर बैठना'। पत्नी कहती है—'नारीजाति-को पददलित करने का युग बीत गया है। हम देश की सम्पत्ति हैं। जितना जो अधिकार तुम्हारा है, उतना वही अधिकार हमारा है'। तदित्थं, आज सभी व्यक्तिवर्ग इस प्रकार अधिकारव्यामोहन से आत्मस्वरूपविमुग्ध बन रहे हैं। पारस्परिक मानमर्य्यादा-संयम-आदर्श सब कुछ स्मृतिगर्भ में विलीन है। और राष्ट्र-समाज कुटुम्ब की इन उक्त अव्यवस्थाओं का श्रेय है एकमात्र उस व्यक्तितन्त्र को, जिसने समदर्शनात्मक विषम दर्शन की भावना से अपना स्वरूप विस्मृत कर दिया है। हमारा व्यक्तित्त्व आज 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामान्ति' इस श्रौत उद्गार को चरितार्थ कर रहा है। आज हम स्वयं अपनी अधिकारमर्य्यादा से वञ्चित हैं। कब-किस प्रकार-कहाँ-कबतक-क्या करना चाहिए ?, इस कर्म्मोपनिषत् के ज्ञानाभाव से आज स्वयं हम अपना भी नियन्त्रण करने में असमर्थ होते हुए उत्पथ-गमन के अनुगामी बन रहे हैं। यही महादोष सर्वप्रथम व्यक्ति में, तद्द्वारा व्यक्तिसमष्टिरूप कुटुम्बों में, कुटुम्बसमष्टिरूप समाजों में, समाजसमष्टिरूप राष्ट्र में सांक्रामिक महामारी की भाँति व्याप्त होगया है। अमर्य्यादित व्यक्ति-समष्टिरूप कुटुम्ब-तत्समष्टिरूप समाज-तत्समष्टिरूप राष्ट्र का यह समदर्शन, और यह समानाधिकार, कौन कह सकता है कि, हमारा सर्वनाश करके ही विश्राम न लेगा।

प्रचलित समदर्शन के (जो आज उन्हीं समदर्शियों की भाषा में साम्यवाद नाम से पुष्पित पल्लवित हो रहा है), तथा तत्प्रतिष्ठ समानाधिकारतत्त्व के उक्त इतिवृत्त से पाठकों को सम्भवतः यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, भारतीय ऋषियोंने जिसे-समदर्शन कहा है, उसका प्रकृतितन्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस गीतावचन के आधार पर अपनी कल्पना से मान्य विचारकोंनें समदर्शन की उक्त परिभाषा की है, उसी गीताशास्त्र से इस की परिभाषा का समन्वय कराना चाहिए। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च को गीतादृष्टि से-पुरुषदृष्टि, प्रकृतिदृष्टि, भेदसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पुरुषदृष्टि के अव्ययदृष्टि, ईश्वरदृष्टि, ब्रह्मदृष्टि, समदृष्टि, आदि विविधरूप हैं। एवं प्रकृतिदृष्टि के ही अक्षरगर्भिता क्षरदृष्टि, जीवदृष्टि, विषमदृष्टि, विश्वदृष्टि, आदि अनेक विवर्त्त हैं। समपुरुषतत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित विषमा प्रकृति ही विश्व का निर्म्माण करती है। प्रकृति-पुरुष के समन्वित रूप का ही नाम 'इदं विश्वम्' है। फलत. विश्व में परस्परात्यन्तविरुद्ध-भावों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। जड़-चेतन-सर्वविध पदार्थों में वह अभिन्न-अविभक्तरूप से व्याप्त है। इस अभिन्ना-अखण्डा-पुरुषसत्ता के आधार पर भेदमूलक-भेदभावापन्न प्राकृतिक पदार्थ प्रतिष्ठित हैं। अपनी विज्ञानदृष्टि से सर्वानुस्यूत इस अभिन्नब्रह्म की भावना रखना ही समदर्शन है। इसी समदर्शन का नाम वास्तविक समदर्शन है। 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' से ब्रह्मदर्शन अभिप्रेत है। क्योंकि यही ब्रह्म 'सम' नाम से प्रसिद्ध है। निम्न लिखित वचन सर्वव्यापक ब्रह्म के इसी समत्व का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (गी० ६।२६।)।

२—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (गी० १३।२७।)।

३—समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ (गी० १३।२८।)।

४—यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (गी० १३।३०।)।

५—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ (गी० १३।३४।)।

६—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गी० ६।२६।)।

७—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ (गी० ६।३०।) ।

८—इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः (गी० ५।१६।) ।

अर्जुन, विचारशील अर्जुन समदर्शन की भावना को लेकर आगे बढ़ा था । "ये सब हमारे ही तो बन्धु बान्धव हैं, भला इन्हें मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं' यही तो अर्जुन की समदर्शन मूला दयामयी भावना थी । परन्तु भगवान्ने इसका लेशतोऽपि समादर न किया । कारण, अर्जुन का यह समदर्शन वस्तुतः विषमदर्शन था प्रकृतिविरुद्ध दर्शन था । जो जैसा है, उसे वैसा न समझना ही प्रकृति-विरोध है । अर्जुन ने स्वयं अपने आपको ही समझने में भूल की । यह भूल गया कि, "मैं क्षत्रिय हूँ, क्षात्रवीर्य्य मेरी प्रकृति है, जिसकी स्वरूपरक्षा एकमात्र आततायी वध पर ही अवलम्बित है "। अर्जुन की दृष्टि विषमा थी, वर्त्तन सम था । विषमदर्शन-समवर्त्तन का अनुगामी बना हुआ अर्जुन इस प्रकार जब कर्त्तव्यविमुख हो जाता है, प्रकृतिधर्म्मविरूद्ध अधर्म्म जब इस पर आक्रमण कर लेता है, तो भगवान् इसके सम्मुख प्रकृति पुरुष के विवेक का विश्लेषण करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि, वास्तविक समदर्शन अव्ययात्मानुगत है, एवं वास्तविक वर्त्तन प्रकृत्यनुगत है । ब्रह्म सम है, अत. इसे मूल बना कर सर्वत्र आत्मभावना का अनुभव करना चाहिए । प्रकृति विषमा है, अतः इसे मूल बना कर विषमवर्त्तन का अनुगामी बनना चाहिए । समदर्शन का सर्वशरीरों में समानरूप से व्याप्त अखण्डब्रह्म से सम्बन्ध है, पुरुष से सम्बन्ध है, जो कि जन्म-मृत्युप्रवाह से असंस्पृष्ट रहता हुआ विभूतिसम्बन्ध से सर्वत्र समरूपेणावस्थित है । समदर्शनमूलक इसी अखण्डपुरुष को लक्ष्य बना कर भगवान् ने यह व्यवस्था की कि—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
—गीता २।२०।

विश्वानुगत विषमवर्त्तन—

कर्म्मप्रधान व्यावहारिक जगत् का सत्पात्र है प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न प्राकृतिक सोपाधिक भूतात्मा, जो महानात्मा, विज्ञानात्मा, भूतादि से नित्य सम्परिष्वक्त रहता है । यह प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है । इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी का तन्त्र स्वतन्त्र है । इसका जन्म होता है, मृत्यु होती है । उस निर्विशेष के लिए जहाँ एक ओर भगवान् 'न जायते म्रियते' कहते हैं, वहाँ इस सविशेष आत्मा के लिए निम्न लिखित सिद्धान्त स्थापित करते हुए इसे जन्म-मृत्युप्रवाह से आक्रान्त बतला रहे हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
—गीता २।२७।

विषमभावापन्न विषम विश्व की मर्य्यादा-रक्षा के लिए व्यवहार के अनुबन्ध से इसे लक्ष्य बनाना चाहिए, एवं पराशान्ति के लिए व्यवहारातीत उस समब्रह्म को लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि हम केवल विश्वासक्ति में अनुरक्त हो गए, तो सर्वनाश है। साथ ही यदि केवल ब्रह्मभावना में ही विलीन बने रह गए, तो लोकसंग्रह लोकमर्य्यादा विश्वस्वरूप का उच्छेद है। क्या करना चाहिए ?, भगवान् उत्तर देते हैं-सम ब्रह्म को आधार बनाओ, विषम विश्व को आधेय बनाओ। व्यवहारजगत् में सविशेष आत्मा को प्रधान बनाओ, इससे तो लोकसंग्रह सुरक्षित रहेगा, मर्य्यादा सुव्यवस्थित बनी रहेगी। एवं अपने व्यवहारकाल के साथ साथ ही उस समब्रह्म की भावना सुरक्षित रक्खो। इससे विश्वासक्तिमूलक बन्धन अपना प्रभाव न डाल सकेगा। इस प्रकार समब्रह्ममूलक समदर्शन के आधार पर विषम प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन से उभयलोकनिष्ठा सुरक्षित बनी रहेगी।

फलत सुपरिणाम होगा— ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
—गीता ५।१०।

ऐच्छिक सर्वनाश का आमन्त्रण—

भारतीय प्रजा ने उक्त आदेश का मूल्य समझा, और ऐसा समझा कि, सम्भवत किसी अन्य जाति को इस समझ का सौभाग्य न प्राप्त हुआ होगा, न भविष्य में ही कोई आशा है। इसका समदर्शन केवल चेतन-जगत् पर ही विश्रान्त नहीं हो गया, अपितु जडपदार्थों में भी इसकी यह ब्रह्मभावना व्याप्त हो गई। इस समदर्शन के साथ इसने विषमवर्त्तनद्वारा लोकनिष्ठा का भी संग्रह किया। एकत्व में अनेकत्व स्थापित कर, एवं अनेकत्व में एकत्व के दर्शन कर आर्यप्रजा ने उभयलोकनिष्ठा को सफल बना लिया। समदर्शन के प्रभाव से जहाँ इसने आध्यात्मिक आत्मजगत् पर विजय प्राप्त किया, वहाँ विषमवर्त्तन से आधिभौतिक बाह्यजगत् को पुष्पित-पल्लवित किया। एक ओर विषमवर्त्तनपक्षपाती भगवान् जहाँ अर्जुन को-'युद्धाय कृतनिश्चयः' यह आदेश दे रहे हैं, वहाँ समब्रह्ममूलक समदर्शन के पक्षपाती भगवान् साथ साथ ही-"समः शत्रौ च मित्रे च" (१२।१८) यह भी आदेश देना अनिवार्य्य मान रहे हैं। विषमवर्त्तनानुगत ऐसा समदर्शन जहाँ उभयलोककल्याणकर भारतीय साम्यवाद है, वहाँ समवर्त्तनानुगत विषमदर्शन तमोगुणमूलक, अतएव अधर्म्ममूलक सर्वथा काल्पनिक ज्ञान के माय दस्युओं का ज्ञान का सर्वनाशक वह साम्यवाद है, जिसके व्यामोह में पड़कर हम अपने सर्वनाश का इच्छापूर्वक आमन्त्रण कर रहे हैं।

शूद्र, वैश्य स्त्री, क्षत्रिय, ब्राह्मण, राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक, पुत्र पिता, भ्राता, भगिनी, आदि भेदों का मूल प्रकृतितन्त्र है। प्रकृतितन्त्र से सम्बद्ध सविशेष भिन्न आत्माने ही इनके स्वरूपभेद को प्रतिष्ठित कर रक्खा है, यही भेद इनका स्वरूपरक्षक है। जिन नियम-व्यवहार-अधिकार-मर्य्यादाओं से इनका यह विशेषभाव सुरक्षित रहता है, वे ही इनके लिए धारणलक्षण धर्म्म हैं, विपरीत अधर्म्म हैं। ब्रह्म क्षत्र विट् शूद्र-आदि विशेषताओं का प्राकृतिक वैशिष्ट्य से सम्बन्ध है। विज्ञानानुगत प्राकृतिक इस भेदवाद मूलक वैशिष्ट्य के आधार पर व्यवस्थित स्पृश्य अस्पृश्य-व्यवस्था का मूल धरातल प्राकृतिक जगत् है। एक वृक्षपत्र के ताडन से जिस भारतीय का हृदय कम्पित हो जाता है, जो भारतीय कृमि-कीटादि तक के लिए अन्न व्यवस्था करता है, वह समस्त जातीय शूद्रवर्ग के लिए घृणा के आधार पर उन्हें अस्पृश्य मान बैठेगा, यह कौन विचारशील स्वीकार करेगा ?। 'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'-'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'-'शूद्रोऽपि दशमी ज्यायान्' आदर्श को सर्वप्रथम स्थापित करने वाली भारतीय प्रजा शूद्रास्पृश्यता के सम्बन्ध में घृणा को मूल मानती है, उनसे उद्वेग करती है, यह उन अभिनिविष्टों के प्रचार का कुफल है, जो अपने कल्पित सिद्धान्त की रक्षा के लिए शास्त्र के नाम से मिथ्या प्रचार कर सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। अवश्य ही यह अस्पृश्यता-विज्ञानमूला है, अतएव अवश्य ही स्पृश्य-अस्पृश्य दोनों भावों की स्वरूपरक्षिका है। स्त्री शूद्र वैश्यों को पापयोनि बतलाने वाले भगवान् से उन कृपालुओंने प्रश्न नहीं किया कि, भगवन् ! आप तो समदर्शी हैं, आपने इन्हें पापयोनि कैसे, क्यों कह डाला ?। सम्भवत भगवान् उस समय यही उत्तर देते कि, समदर्शन हमारी अव्ययकला से सम्बन्ध रखता है, जिसका व्यावहारिक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार-काण्ड में तो विषमा प्रकृति का ही साम्राज्य है। एव तमोगुणप्रधाना रात्रि के कृष्णसोम से उत्पन्न स्त्री, दितिप्रधिवीमूलक तमोभूत आसुरप्राण से उत्पन्न शूद्र, एवं सायकालीन क्षयिष्णु छायामय जागतप्राण से उत्पन्न वैश्य अवश्य ही पापयोनियाँ हैं।

प्राकृतिक विधिविधानों की उपयोगिता–

यह स्पष्टतम विषय है कि, सनातनशास्त्र का प्रत्येक विधि-विधान प्रकृति को, वस्तु के आभ्यन्तर स्वरूप को, स्वभाव को, स्वरूपधर्म्म को आधार बना कर ही उसकी रक्षा के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। विज्ञानानुगता नित्या नियति इन विधि-विधानों का नियमन कर रही है, जिसे हम अन्तर्य्यामी का शासनसूत्र भी कहा करते हैं। इन्हीं नियतिमूलक नियत धर्म्मों (स्वधर्म्मों) की रक्षा के लिए वेदमूलक धर्म्मभेद प्रवृत्त हुआ है। विभिन्न अधिकारमर्य्यादा से सुरक्षित यह धर्म्मभेद आध्यात्मिकदृष्ट्या समदर्शन को अपनी आधारशिला बनाता हुआ अवश्य ही हमारा आराध्य है, एव यही भारतीय धर्म्म (प्राकृतिकधर्म्म) का इतर समयानुबन्धी मानवमतों की तुलना में वैशिष्ट्य है, जिसका गीता-उपनिषदादि भाष्यों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। समदर्शन की भावना से घृणा को प्रवेश करने का

अवसर नहीं मिलता, पारस्परिक सद्भाव सुरक्षित रहता है, 'समानानि मनांसि वः' मूलक पारस्परिक सहयोग सुरक्षित रहता है। कोई भी अपनी प्रातिस्विक वर्णाधिकारमर्य्यादा को परस्पर की तुलना में हीन-श्रेष्ठ समझने की भ्रान्ति नहीं करता। अपने अपने स्थान पर सुरक्षित रहने वाले इन सबका आलम्बन एक ही बिन्दु में समन्वय हो रहा है। ऐसा समदर्शन-विषमवर्त्तनमूलक 'समग्रभक्ति' लक्षण समाज ही भारतीय कौटुम्बिकसमाज-ग्रामसमाज-नगरसमाज-तथा राष्ट्रियसमाज है। आँख-नाक मुख-उदर-पाद-आदि सभी परस्पर में अपना पृथक्-पृथक् स्वरूप रखने वाले हैं, सब का स्वरूप परस्पर में भिन्न, नाम-आकृति-गुण-जाति-कर्म्म-स्वभाव-सब कुछ भिन्न भिन्न। परन्तु कोई किसी के अधिकार पर आघात कर परस्पर अधिकार-विनिमय की वाञ्छा नहीं कर रहा। सब अपने अपने अधिकार पर सुरक्षित रहते हुए अहं-मात्रात्मिका एक आध्यात्मसंस्था के लिए आत्मसमर्पण किए हुए हैं। सब का आलम्बन एक है, लक्ष्य एक है, प्रातिस्थान एक है। परन्तु इस एक आलम्बन पर आलम्बित सबका स्वरूप अधिकार भिन्न-भिन्न है। अपनी, अपनी अधिकारमर्य्यादा से कोई छोटा बड़ा नहीं है। सबका स्व स्वस्थान पर समान महत्त्व है। कोई परस्पर ईर्ष्या-घृणा-अहमहमिका नहीं करता। एवं जबतक पाञ्चभौतिक आध्यात्मिक क्षेत्र में समानदर्शनमूला, तथा विभिन्नाधिकारमूला यह समाजव्यवस्था सुरक्षित है, तभी तक शरीर-समाज स्वस्वरूप से सुरक्षित है। दुर्भाग्य से यदि शरीरसमाज के व्यक्तिस्थानीय चक्षु-श्रोत्र-पाद-उदरादि में कहीं अधिकारसाम्य को लेकर संघर्ष उपस्थित हो जाय, तो क्या परिणाम हो ?, इसका समाधान उन्हीं सम-अधिकारमर्य्यादा के पक्षपातियों से ही कराना चाहिए। इसी व्यक्तित्व-लक्षण आध्यात्मिक क्षेत्र के आधार पर हमारी कुटुम्ब-समाज, तथा राष्ट्रिय अधिकारमर्य्यादाओं की प्रतिष्ठा हुई है। कहना न होगा कि, इन सब वर्त्तमान अव्यवस्थाओं का मूल एकमात्र व्यक्तिविकास का उच्छेदमात्र है। आज हमारा व्यक्तित्व आहारादि की विषमता से, परशिक्षासंस्कार से सर्वथा विकृत हो गया है, विकृत व्यक्तित्व ने हमारे कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र सबको विकृत कर डाला है। यही है वर्तमान युग का कलुषित व्यक्तित्व, दारुण कुटुम्बव्यवस्था, मर्य्यादातिक्रान्त समाज, एवं अप्राकृतिक-धर्म्मविरुद्ध-समानाधिकारमूला राष्ट्रवादियों की राष्ट्रियभावना, जिसे बड़े अभिमान से वे 'साम्यवाद' जैसे पवित्र शब्द से उद्घोषित करने का दुःसाहस कर रहे हैं। इन दुर्दान्त वासनाओं का, इनके भीषण दुष्परिणामों का उत्तरदायित्व किस पर है ?, प्रश्न की मीमांसा स्वयं उन्हें ही अपने अन्तर्जगत् में मुकुलितनयन बन कर करनी चाहिए।

तत्त्वमूला अस्पृश्यता—

किसी प्राकृतिक कारण से असङ्कुद्ध अस्पृश्य है, एवं अवश्य ही अस्पृश्य है। इस अस्पृश्यता के मूल में 'घृणा' है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। हमें तो यह कहने में भी सङ्कोच नहीं करना चाहिए कि, आज जो वर्ण-प्रजाओं में परस्पर ईर्ष्या-द्रोह-घृणा-आदि कुत्सित भावनाएँ जागृत हो रहीं हैं, इसका एकमात्र कारण विषमदर्शन ही है, एवं विषमदर्शन को प्रोत्साहित करने वाला आत्माति

मान ही है। साथ ही उन समानाधिकारियों के प्रचार का कुफल। नहीं तो आज के २०० वर्ष पहिले के भारत पर दृष्टि डालिए। जिस अन्त्यज प्रश्न ने उनकी कृपा से आज ऐसा भीषणरूप धारण कर रक्खा है, उसका उस युग में नामशेष भी न था। सम्भव भी कैसे होता, जब कि सभी अपनी अपनी अधिकार-मर्य्यादा पर आरूढ थे। आज तो सभी सब कुछ बन जाना चाहते हुए, किंवा बने हुए सम्पूर्ण राष्ट्रवैभव के विलयन के महानिमित्त प्रमाणित हो रहे हैं। देखिए!

> 'सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
> सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति तत्र सर्वं विलीयते॥

उक्त भावना से जिस दिन से इस अधिकारमर्यादा पर आघात हुआ, उसी क्षण से दुर्दिन का श्रीगणेश हो गया। चतुर राजनीति-विशारदोंने गजनिमीलिका का आश्रय लेते हुए राष्ट्रवादियों की इस लक्ष्यच्युति को परोक्षापरोक्षरूपेण उत्साहित किया। परिणामस्वरूप हमारा राष्ट्रियसमाज मूल लक्ष्य से पराङ्मुख बन कर आज इस गृहकलहप्रवृत्तिका कारण बन गया। भारतीय संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, लोक-राज-धर्म्मनीति, आदि किसी भी आवश्यक तथा उपादेय राष्ट्रिय कर्म्म की ओर आज हमारा ध्यान नहीं है। ध्यान है-एकमात्र हिन्दूजाति के उस कलङ्कमार्जन पर, जो वस्तुगत्या सर्वस्व का मार्जन करने वाला बन रहा है। और यही है वर्त्तमान युग के 'रचनात्मक कार्य्य' का जर्ज्जरित संक्षिप्त इतिवृत्त, जिसकी कृपा से—

समानाधिकारपङ्कनिमग्नता—

ब्राह्मणों का ब्रह्मवीर्य्य पद्दलित है, क्षत्रियों का शौर्य्य-पराक्रम पराजित है, वैश्यों का अर्थोपार्ज्जन संकटापन्न है, एवं शूद्रवर्ग का शिल्प-कला-कौशल स्मृतिगर्भ में विलीन है। मानों किसी राष्ट्र का अपनी राष्ट्रसमृद्धि के लिए ब्रह्मवीर्य्यानुगत सर्वाधारा ज्ञानराशि, क्षत्रवीर्य्यानुगत प्रवृद्ध शौर्य्य, विड्वीर्य्यानुगत प्रभूत अर्थ, एवं शूद्रानुगत शिल्प-कला-आदि कुछ भी अपेक्षित नहीं है। बहिरागमनों के भञ्झावातों से शताब्दियों से टक्कर लेते हुए भी भारतवर्ष ने अतीत शताब्दियों में समर्थरामदास, ज्ञानेश्वर, तुकोबा, तुलसी, सूर, जैसे सन्देशवाहक ब्राह्मण एवं साधु उत्पन्न किये,'शूद्राणामनिरवसितानाम्' वाले युग ने तक्षशिला-नालन्दा जैसे सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्रों को जन्म दिया, शिवाजा, प्रताप, हमीर, छत्रसाल जैसे वीरक्षत्रिय उत्पन्न किए, देश के कलाकौशल ने विदेशी शासकों को चकाचौंध में निमग्न बनाया। और आज !!! क्यों वह विशिष्ट-उत्पादन क्रम टूट गया ?, क्यों आज हमारी धमनियाँ शिथिल हो गई, आघात के प्रत्युत्तर न देने को ही अहिंसा मानने की भूल हम क्यों कर रहे हैं ?, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्" वाला आदर्श कहाँ विलीन हो गया ?, उत्तर एकमात्र वही समानाधिकार-पङ्क। सब कुछ आज इसी महापङ्क में निमज्जित हो गया है।

शुचि-अशुचिभावमीमांसा—

जिस प्राकृतिक प्राणभेद के आधार पर स्पृश्य-अस्पृश्य-व्यवस्था प्रतिष्ठित है, उस प्राणभेद के सम्यक्-बोधानन्तर ही आज का यह कोलाहल शान्त किया जा सकता है। मलशोधन, मलिन-तामस पदार्थों का सान्निध्य, आदि सामयिक दोषों का सर्वथा निराकरण न करते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, अस्पृश्यता का मूल वस्तुतः प्राकृतिक 'अशुचि' भाव है, जिसका कि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। अशुचिभाव का तद्रूप प्राण से सम्बन्ध है। इस प्राण का जिनमें जन्मतः प्राधान्य है, वे मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी (काक-श्वान-आदि) अशुचिभावापन्न होने से शुचिभावापन्न स्पृश्य प्राणियों के लिए अस्पृश्य हैं। साथ ही कर्म्मणा-क्रिया समयविशेषानुगत प्रकृति के सहयोग से जन्मतः स्पृश्य कहलाने वाले मनुष्यों में भी जब कभी यह अशुचिभाव प्रविष्ट हो जाता है, तब वे भी उस समय के लिए अस्पृश्य बन जाते हैं। जिन ब्राह्मणों पर अस्पृश्यता की प्रवृत्ति का कलङ्क लगाया जाता है, वे ब्राह्मण भी समय विशेष में अपने आपको अस्पृश्य कहने में अणुमात्र भी तो सङ्कोच नहीं करते। जिन ब्राह्मणोंनें जिस प्राणानुगत अशुचिभाव को लक्ष्य में रख कर जिन जन्मजात अशुचिप्राणावच्छिन्न असच्छूद्रों के लिए अस्पृश्यता की व्यवस्था की है, उन्हीं ब्राह्मणोंनें अशुचिभावप्रवर्त्तक कारणों के अनुगमन से स्वयं अपनी स्पृश्य जाति के सम्बन्ध में क्या उद्गार प्रकट किए हैं?, यह देख कर सम्भवतः कलङ्कमार्ज्जकों को यह बोध हो सकेगा कि, अस्पृश्यता घृणामूलिका नहीं है, अपितु प्रकृतिमूला है, प्राणदोषमूला है। शुचिभावापन्न ब्राह्मण किसे माना गया है ?, पहिले यही सुनने का अनुग्रह कीजिए।

> १—जातकर्म्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
> वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्म्मस्ववस्थितः॥
>
> २—सत्यवाक्-विघसाशी तु शीलवांश्च गुरुप्रियः।
> सत्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥
>
> ३—तपःश्रुते च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
> सत्यं दानं तपो होम आनृशंस्यं क्षमा नृणाम्॥
> तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
>
> ४—देवेभ्य
> दृष्वा ॥

जात्या शुचिभावप्रवर्त्तक ब्रह्मवीर्य्य से युक्त रहता हुआ ब्राह्मण उक्त नियमोपनियमों की रक्षा से ही अपना शुचिभाव सुरक्षित रख सकता है। विपरीत पथानुगमन से इसका शुचिभाव मलिन हो जाता

है, एवं अशुचि-अस्पृश्य शूद्र की भाँति यह भी अन्यवहार्य्य बन जाता है, शूद्रसम स्थिति में आ जाता है। असद्वृत्तानुगामी शूद्रसम अब्राह्मणलक्षण इसी ब्राह्मण का इतिवृत्त बतलाते हुए धर्म्माचार्य्यों ने अब्रह्मणात्मक ब्राह्मण के सम्बन्ध में ६ प्रकार के वर्गीकरण माने हैं। देखिए !

१—अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिः शातातपोऽब्रवीत्।
आद्यो राजभृतस्तेषां, द्वितीयः क्रयविक्रयी॥

२—तृतीयो बहुयाज्यः स्यात्, चतुर्थो ग्रामयाजकः।
पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च॥

३—अनागतां तु यः पूर्वां सादित्यां चैव पश्चिमाम्।
नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतः॥

४—अब्रह्मबीजमुत्पन्नो मन्त्रसंस्कारवर्जितः।
जातिमात्रोपजीवी च भवेदब्राह्मणस्तु सः॥

५—कूपमात्रोदकग्रामे विप्रः सम्वत्सरं वसन्।
शौचाचारपरिभ्रंशाद् ब्राह्मण्याद्धि प्रमुच्यते॥

६—वृषो हि भगवान् धर्म्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवाः सर्व्वधर्म्मबहिष्कृतः॥

७—अनुपासितसन्ध्या ये नित्यमस्नानभोजनाः।
नष्टशौचाः पतन्त्येते शूद्रतुल्याश्च धर्म्मतः॥

८—ये व्यपेत्य स्वकर्म्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत्॥

९—न यस्य वेदो न जपो न विद्या च विशाम्पते।
स शूद्र इव मन्तव्य इत्याह भगवान् मनुः॥

१०—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

११—हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम्॥

१२—"अथ योऽयमनग्निकः स कुम्भे लोष्टः । यथा वा कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते, नैव शस्यं निर्वर्त्तयति, एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकः । तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव दैवं दद्यात्, न पित्र्यं, न चास्य स्वाध्यायाशिषः, न यज्ञ आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति"

—गो० ब्रा० पू० २।२३।

१३—"अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो वा शूद्रसधर्म्माणो भवन्ति ।
विद्वद्भोज्यान्यविद्वांसो येषु राष्ट्रेषु भुञ्जते ।
तान्यनावृष्टिमृच्छन्ति महद्वा जायते भयम्" ॥

—वसिष्ठ ।

उक्त वचनों के आधार पर यह मान लेने में अब सम्भवतः (उन्हें ?) कोई आपत्ति न होगी कि, अस्पृश्यता प्राणाशुचिमूला है । इसी आधार पर प्रत्येक मास में परिगणित दिनों के लिए प्रत्येक स्त्री अशुचिभावापन्न होती हुई अस्पृश्य मानी गई है । रजस्वला स्त्री के स्पर्श का निषेध क्या घृणामूलक है ?। मार्गपतित केश, अस्थि, चर्म्म, आदि का स्पर्शनिषेध क्या घृणामूलक है ?। साथ ही चमरीगौकेश, शङ्खास्थि, कृष्णमृगचर्म्म का उपासनाकाण्डानुगता उपादेयता क्या ऋषियों की उन्मत्तता है ? । मानना पड़ेगा, ये सब प्राणमूलक विधि-विधान है । साधारण अस्थि का प्राण-चर्म्मप्राण-केशप्राण जहाँ अशुचिभाव का प्रवर्त्तक है, वहाँ चमरी शङ्ख-मृगचर्म्म के प्राण शुचिभाव के प्रवर्त्तक है । इस प्रकार एकमात्र प्राणविज्ञान के तारतम्य से व्यवस्थित अशुचि-शुचिभावमूला अस्पृश्यता-स्पृश्यता का उपहास करना क्या उन्मत्तप्रलाप नहीं है ? ।

बाह्य-आभ्यन्तर-शुचिभाव—

प्राणविचाररहस्य से सर्वथा अपरिचित केवल भूतासक्त महानुभावों की दृष्टि में जहाँ केवल बाह्य अशुचि ही प्रधान है, वहाँ प्राणाचार्य्यों की दृष्टि में प्राणाशुचि का ही प्राधान्य है, जिसको हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । फिर स्थूलभूतों की अपेक्षा सूक्ष्मभूतानुगत कीटाणुगत अशुचिभाव की मान्यता तो वे भी कर रहे हैं । शुभ्राम्बरधर-स्वच्छ-भव्याकृति-व्यक्ति भी सूक्ष्म कीटाणु के दोष से अस्पृश्य मान लिया जाता है । न कीटाणु आँख से दिखलाई पड़ते, न उनका असर प्रभाव ही तत्काल दृष्टिगोचर होता । फिर क्या ऐसे रोगियों से सर्पवत् बचने का प्रयास किया जाता है ?। "कालान्तर में इस स्पर्श का रोगोदय से प्रत्यक्ष हो जाता है" इस समाधान का भी कोई तत्त्व नहीं है, जब कि यही समाधान हमारे पक्ष में भी सुरक्षित बन रहा है । कितने एक कीटाणुलेप बचपन में सक्रान्त होते हैं, वृद्धावस्था में उनका प्रतिफल प्रकट होता है । कितने एक कीटाणुओं का वापन होता है मूलपुरुष में, विकास होता है सन्तति में । यही व्यवस्था हमारी प्राणसक्रान्ति में घटित है । प्राणसक्रान्ति का विरोपन आध्यात्मिक प्राण पर ही प्रभाव होता है । कालान्तर में यह प्रभाव भूतात्मा के

पतन का कारण बन जाता है। प्राणों के जातिभेद ही इस कालभेद के नियामक बनते हैं। किसी का कुफल इहैव प्रकट हो जाता है, तो किसी का जन्मान्तर में। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में तत्काल कुछ भी परिवर्त्तन न देखते हुए भी हमें कीटाणुपरीक्षक वैज्ञानिकों के वचनप्रामाण्य के आधार पर विश्वास करना पड़ता है, कर रहे हैं, वैसे ही इन्द्रियातीत प्राणों के उच्चावचभावपरिवर्तनों को न देखते हुए भी प्राणपरीक्षक वैज्ञानिकों के वचनप्रामाण्य पर क्या हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए?। स्मरण रखिए! प्राणतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले इन उच्चावचभावों का यद्यपि तत्काल हमारी दृष्टि में कोई परिणाम उपस्थित नहीं होता, परन्तु कालान्तर में यही प्राणक्षोभ सर्वनाश का कारण बन जाता है। जिस प्रकार गौपशु सद्यः दुग्धफल प्रकट कर देता है, तथैव प्राणवैषम्य तत्काल फलप्रद प्रतीत नहीं होता, जबकि फलक्रिया आरम्भ तत्काल ही हो जाती है। जब कालान्तर में प्राणविरूर्य का भूत पर आक्रमण होता है, तभी यह फलाफल हमारी भूतदृष्टि के सामने आता है। प्राणतत्त्वानुगता इसी फलाफल-व्यवस्था का निम्न लिखित शब्दों से समर्थन हुआ है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ (मनु ४।१७२) ।

प्राणतत्त्वानभिज्ञ जिन राष्ट्रोंने विशुद्ध भूतदृष्टि के आधार पर अपने आपको प्रतिष्ठित किया, जो जातियाँ भूतजगत् को अनन्योपास्य बना कर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुई, उनका आज नामशेष भी नहीं है। किन्तु प्राणतत्त्व को प्रतिष्ठा बना कर भूतक्षेत्र का अनुगमन करने वाली भारतीयप्रजा ने आज तक अपना जीवनसूत्र सुरक्षित रक्खा, जिसे आज उसी जाति के वे महानुभाव, जिनकी दृष्टि संसर्गदोष से भूतप्रधाना बन गई है, विच्छिन्न करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, यह देखकर किस आर्षव्यक्ति को कष्ट न होगा। प्राणवञ्चिता भूतानुगति तमोगुणप्रधाना बनती हुई अवश्य ही कुछ काल के लिए भूतसमृद्धि का कारण बन जाती है। दूसरे शब्दों में विशुद्ध बाह्यदृष्टि के उपासक भूतासक्त महानुभाव अवश्य ही भूतवैभव प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु परिणाम में समूलविनाश का भी निश्चयेन अनुगमन करना ही पड़ता है। अस्तु-प्राणविभूति से वञ्चित इनकी यह क्षणभङ्गुरात्मिका तमसमृद्धि ही क्षणमात्र में इन्हें स्मृतिगर्भ में विलीन कर देती है, जिसके क्षणिक प्रलोभनाकर्षण से आकर्षितमना अद्यतनप्राणानुगत भारत अपने आपको भी क्षणधर्म्मा का पथिक बनाने की महाभूल करने जा रहा है। परिणाम क्या होगा?, यह प्राण-आर्यों के ही मुख से सुनिए—

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥ (मनुः ४।१७४) ।

अशुचिभाव, और आशौच—

अस्पृश्य शूद्रवर्ग से सम्बन्ध रखने वाले उक्त सन्दर्भ से प्रकृत में हमें कहना केवल यही था कि, 'अस्पृश्यता' का अशुचिभाव से सम्बन्ध है, एवं यह अशुचिभाव प्राणभाव से सम्बद्ध है। भौतिक

शुचि इसे दूर नहीं कर सकती, भौतिक अशुचि इसे दृढमूल अवश्य बना देती है। फलतः भौतिक अशुचि से अपनी जन्मजात अशुचि को दृढमूल बनाए रखने वाले अवश्य ही अस्पृश्य माने जायँगे। यही अशुचिभाव हमारे प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखता है। जन्म से तथा मृत्यु से तद्वंशजों में नियत समय पर्य्यन्त के लिए अशुचिभाव का समावेश हो जाता है, अतएव तत्समयपर्य्यन्त के लिए वे अशुचिभावापन्न बनते हुए अस्पृश्य-अव्यवहार्य्य बन जाते हैं। अशुचि से सम्बन्ध रखने वाला यही प्राकृतिक धर्म्म 'आशौच' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत तृतीयपरिच्छेद इसी जन्म-मरणाशौच की मीमांसा करने के लिए प्रवृत्त हुआ है।

आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा

किसी सद्गृहस्थ के घर में पुत्र की, स्वयं की, अथवा किसी सगोत्र-सोदक-सपिण्ड बन्धु की स्त्री ने प्रकृतिनियमानुसार सन्तान प्रसव किया। इस उत्पन्न सन्तति से इन सब सपिण्डों में अपवित्रता कैसे आगई ?, किस अंश में ये अपवित्र हो गए ?। इसी प्रकार किसी के मर जाने से १० अहोरात्र के लिए सब वंशज अपवित्र कैसे, क्यों हो गए ?, सचमुच यह प्रश्नपरम्परा हम स्थूलदृष्टि-दर्शकों के लिए एक जटिल समस्या है। इस जनन तथा मरण से पाञ्चभौतिक शरीरों की तो कोई क्षय-वृद्धि देखी नहीं जाती। शेष रहा आत्मा। आत्मा सर्वथा असङ्ग है, निर्लेप है। "असङ्गोऽयं पुरुषो न हि सज्जते न व्यथते, न रिष्यति" इत्यादि श्रुति के अनुसार, तथा "शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते" इत्यादि वचन के अनुसार आत्मा पर भी इस अशुचि का सम्बन्ध असम्भव है। फिर 'अशौच का क्या अर्थ ?'। इस प्रश्न समाधि के लिए सर्वप्रथम पात्रता की ही मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

शरीर पर आशौच धर्म्म का प्रत्यक्ष में कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता, शरीराधिष्ठाता आत्मा स्व-स्वरूप से सर्वथा असङ्ग है, ऐसी दशा में आशौच का भोक्ता-पात्र कौन ?, इस प्रश्न की समाधि के लिए 'अध्यात्मविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले तीन आत्मविवर्त्तों की ओर शुचिभावप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। "१-विशुद्धआत्मा, २-अन्तरात्मा, ३-शरीरात्मा" इन तीनों में से सर्वप्रथम विशुद्ध आत्मस्वरूप का ही विश्लेषण कीजिए। (महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शात्मक महाविश्व की अपेक्षा से) सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) महामायावच्छिन्न, असदयोगमायाप्रवर्त्त, षोडशीपुरुषपुरुषात्मक अखण्ड (विश्वस्रष्टा) आत्मतत्त्व ही विशुद्ध आत्मा है। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'-(गीता १३।१६।) 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी०१३।२७।)इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्तानुसार विभक्त भौतिक पदार्थों में अविभक्तरूप से-समानैकरसरूप से-विभूति सम्बन्धेन व्याप्त रहता हुआ, पदार्थोपाधिभेद से भिन्नवत् प्रतीत होता हुआ, अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट (क्षराक्षर विशिष्ट) परात्परानुगृहीत अव्ययपुरुष ही विशुद्ध आत्मा है। वासना-भावनात्मक कर्म्म-ज्ञानसंस्कारों

से सत्कृत संस्कारमय भौतिक विश्व का समष्टि-व्यष्टिरूप से यथयथा सर्वप्रपञ्च का आलम्बन बनता हुआ भी यह विशुद्ध अव्ययात्मा विभूति नामक असङ्ग-बन्ध के कारण कर्म्मलेप से पृथक् रहता हैं। इस षोडशी आत्मा का अव्ययभाग ही यद्यपि चरकला के द्वारा भूतभावन बनता है, अक्षरकला के द्वारा भूतभृत बनता है। तथापि स्वस्वरूप से (अव्ययरूप से) यह भूतप्रपञ्च में आसक्त नहीं होता। अतएव भूतों में आधार रूप से नित्य प्रतिष्ठित रहता हुआ भी यह भूतस्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि आलम्बनरूप यह विशुद्धात्मा व्यापक है, विभूति-सम्बन्ध से सर्वत्र समरूप से अवस्थित है अतएव उपाधिलक्षणा परिच्छिन्ना योगमाया से अनुगृहीत भूतसृष्टि के सदसद्भाव, सुकृत-दुष्कृत पाप-पुण्य इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। फलत यह अपने स्वरूप से सर्वथा निर्लिप्त है विशुद्ध अव्ययात्मा की इसी अलिप्तता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान ने कहा है—

१—न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बद्धयते ॥ (गी०४।१४)।

२—न कर्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ (गी०५।१४)।

३—नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (गी०५।१५)।

४—अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ (गी०२।१७)।

५—य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (गी०२।१९)।

६—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (गीता २।२०)।

६—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ (गीता २।२४)।

७—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (१३।२२)।

८—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ (१३।१३)।

९—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (१३।१४)

१०—बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (१३।१५)।

११—अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ (१३।१६)।

१२—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (१३।२७)

१३-यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (१३।३०)।

१४—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ (१३।३१)।

१५—यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ (१३।३२)।

१६—यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! ॥ (१३।३३)।

१७ क्षेत्र—क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (१३।३४)।

उक्त श्लोकों में जिस आत्मतत्त्व का विश्लेषण हुआ है, वह वही विशुद्ध व्यापक अव्ययात्मा है, जिसका जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वभावों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त श्लोकों में से १६ वें श्लोक की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। भगवान् ने सूर्य्य को दृष्टान्त बनाते हुए इस आत्मतत्त्व का विश्लेषण किया है, जो कि दृष्टान्त विज्ञानदृष्टि से सर्वात्मना समतुलित है। जिन तीन आत्मसंस्थाओं का पूर्व में नामोल्लेख हुआ है, उनके स्वरूप-परिचय के लिए सूर्य्य से अतिरिक्त अन्य विशिष्ट उदाहरण का अभाव है। भिन्न भिन्न प्रदेशों में अनेक जलपूरित पात्र रक्खे हैं। प्रत्येक जलपात्र में सूर्य्य प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। जितने पात्र हैं, उतने ही प्रतिबिम्ब हैं। साथ ही पात्रों के आयतन भेद से, तथा पात्रस्थित जलों के मलिन-स्वच्छ-तारतम्य से तत्प्रतिष्ठ प्रतिबिम्ब भी तद्रूप में ही परिणत हो रहे हैं। प्रत्येक प्रतिबिम्ब के साथ त्रैलोक्य व्यापक सौर-

ज्योति का बहिर्य्याम सम्बन्ध से भी समावेश हो रहा है। पात्रस्थ प्रतिबिम्ब अवश्य ही सौर प्रकाश से भी अनुगृहीत है। प्रतिबिम्ब पृथक्-पृथक् हैं, विभूतिरूपेण व्याप्त सौरप्रकाश इन भिन्नों में अभिन्नवत् व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार व्यापक सौर ज्योति, सूर्य्यप्रतिबिम्ब, जलपूर्णपात्र, भेद से एक ही सूर्य्य त्रिसंस्थ बन रहे हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं, पृथिवी पिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है। ऋषि कहते हैं-पृथिवी सूर्य्य का ही प्रवर्ग्यांश (उच्छिष्ट-भाग) है। सूर्य्य में अमृत-मर्त्य भेद से दो तत्त्वों का समन्वय है, जैसा कि 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' (यजु संहिता) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। मर्त्यभाग क्षरप्रधान है, अमृत भाग अक्षरप्रधान है। मर्त्य क्षरभाग ही सर्वप्रथम रश्मिसंघर्ष से पानी के रूप में परिणत होता है। सूर्य्यरश्मिसंघर्षोत्पन्न यही पानी 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी मरीचि-मण्डल में दधि-मधु-घृतात्मक 'कश्यप' का उदय होता है। एवं यही कश्यपप्रजापति रोदसी-त्रैलोक्य के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण बनते हैं। इस प्रकार सूर्य्य ही अपने क्षरप्रधान मर्त्यभाग से परम्परया पार्थिवविवर्त्त-स्वरूप में परिणत हो रहे हैं। 'तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' (शतपथ ब्राह्मण) इत्यादि निगम ही प्रमाणभूमि है। जलपात्र पार्थिव है, पार्थिवपात्र में भरा हुआ जल पार्थिव है। इस प्रकार सूर्य्यप्रतिबिम्बग्राहक जलपूरित पार्थिवपात्र परम्परया सूर्य्यांश (क्षरात्मक सूर्य्य का प्रवर्ग्य भाग) ही है। अक्षरप्रधान (प्राणप्रधान) सूर्य्य का भाग इसमें प्रतिबिम्ब-रूप से प्रतिष्ठित है। इस भाँति एक ही सूर्य्य प्रकाश, प्रतिबिम्ब, जलपूरितपात्र भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत हो रहे हैं। जलपूरितपात्र शरीरात्मा है, प्रतिबिम्ब अन्तरात्मा है, प्रकाश विशुद्ध आत्मा है। ठीक यही अवस्था आत्मक्षेत्र में समझिए। क्षरप्रधान मर्त्य प्रवर्ग्य भाग से वही भौतिक-शरीरानुबन्धेन शरीरात्मा बना हुआ है, अक्षरप्रधान अमृतभाग से वही अन्तरात्मा बन रहा है, एवं अव्ययप्रधान विभुभाव से वही विशुद्ध आत्मा बना हुआ है। विश्वमध्यस्थ सूर्य्य ही पार्थिव संस्था-नुगत आत्मत्रयी-भोग का कारण बनते हैं, जैसा कि-"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुःसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। एकमात्र इसी आधार पर भगवान् ने सूर्य्यदृष्टान्त का समावेश उचित माना है।

तीनों में से अव्ययप्रधान विशुद्ध आत्मतत्त्व द्वन्द्वातीत है। इस के साथ जब अन्तरात्मा का अद्वैतभाव हो जाता है, तो उस दशा में पिता-पुत्र-भ्राता-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-सुरापो-तल्पग-भ्रूणहा, आदि सब विशेष व्यवहार उच्छिन्न हो जाते है। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"-"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्" इत्यादि के अनुसार सर्वव्यापक उस विशुद्ध-अद्वयलक्षण-अव्ययात्मप्रतिपत्ति के अनन्तर भेदमूलक मोह-शोक-द्रष्टा-दृश्यादि सम्पूर्ण द्वन्द्वभाव उच्छिन्न हो जाते हैं। इस समब्रह्मभाव में परिणत होकर यह कृतात्मा द्वन्द्वातीत बनता हुआ जीवन्मुक्त

लक्षण विदेह-भाव में परिणत हो जाता है। इसी शरीर में इस का देहाभिमान पलायित हो जाता है। ऐसे विदेह जीवन्मुक्त महापुरुष ही 'परमहंस' कहलाए हैं, जो विधि-निषेधमात्रानुगत अन्तरात्मा को विधि निषेधातीत विशुद्ध आत्मसम्पत् में अर्पित करते हुए विधि-निषेध से बहिर्भूत हो जाते हैं। ऐसे द्वन्द्वातीत, अतएव अलौकिक परमहंस विशुद्ध ब्रह्मवत्-नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं। व्यापक सूर्य्यप्रकाश जिस प्रकार अशुचि-शुचि-उभयस्थानों में समरूप से व्याप्त रहता हुआ इनके पुण्य-पापातिशय से असंस्पृष्ट रहता है, एवमेव ऐसे परमहंस भी सर्वत्र समवस्थित बनते हुए लोक-आसक्ति से बहिर्भूत हैं। इनके साथ कभी अशुचि का सम्बन्ध नहीं हो सकता। नाहीं इन पर शुचि का ही कोई प्रभाव सम्भव। इनकी दृष्टि में सब स्पृश्य हैं, सब शुद्ध भक्ष्य हैं, सब बुद्ध ग्राह्य हैं। निम्नलिखित उपनिषत्-ब्राह्मणश्रुतियाँ अव्ययविभूतिप्रातकर्त्ता ऐसे ही मुक्तात्मा-कृतपुरुषों का स्वरूप स्पष्ट कर रही हैं—

१-यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

—कठोपनिषत् ४।१५।

२-सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः—
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा—
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

३-नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां—
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरा—
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

—कठोपनिषत् ५।११, १३,।

४-यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्यो ऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

—कठोपनिषत् ६।१४।

"(१)-जिस प्रकार लोटे में भरा हुआ शुद्ध पवित्र जल आपूर्य्यमाण-प्रवहणशील शुद्ध-पवित्र सामुद्र जल में प्रविष्ट होकर अपनी सीमा तोड़कर तद्रूप (असीम) बन जाता है, एवमेव आत्मज्ञ मुनि का अन्तरात्मा सर्वभूतान्तरात्मा में लीन होकर तद्रूप ही बन जाता है।" "(२,-जिस प्रकार

सर्वलोकचक्षु बना हुआ सूर्य्य बाह्य चाक्षुष दोषों से असंस्पृष्ट रहता है, एवमेव सम्पूर्ण भूतों में समरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी वह सर्वभूतान्तरात्मा अपने विभुलक्षण एकत्वधर्म्म से लोकदुःखों से सर्वथा बहिर्भूत रहता है" ॥ (३)-"नित्य-सविशेष अन्तरात्माओं की वह विशुद्ध आत्मतत्त्व नित्य विभूति है, चेतन-चिदाभास-लक्षण अन्तरात्माओं का वह चिदंश है, एक साथ वह सबकी कामनाओं का प्रवर्त्तक बन रहा है। नित्य-चेतनालक्षण अन्तरात्मा में विभूति-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित जो विद्वान इस विशुद्ध आत्मतत्त्व के दर्शन कर लेते हैं, वे ही पराशान्ति के अधिकारी बनते हैं। इतर अनात्मज्ञ सर्वथा अशान्त रहते हैं" ॥ (४)-जिस समय निष्काम-कर्म्मलक्षण बुद्धियोग के सम्यगनुष्ठान से ज्ञानलक्षण हृद्ग्रन्थि के विमोक हो जाने पर इस अन्तरात्मा के कामबन्धन विमुक्त हो जाते हैं, अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह अमृतसम्पत्ति में लीन हो जाता है, एवं इसी स्थिति में आकर समब्रह्म के साथ सायुज्यमुक्ति का अनुगामी बन जाता है" ॥

५-"तद्वा-अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा-अस्यैतत्-आप्तकामं, आत्मकामं, अकामं रूपं, शोकान्तरम्।"

६-"अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता भवति, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः (भवन्ति)। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः, (भवति)। अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति"।

७-"यद्वै तन्न पश्यति-पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्। यद्वै तन्न जिघ्रति, न रसयते, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति-जिघ्रन्-रसयन्-वदन्-शृण्वन्-मन्वानः-स्पृशन्-विजानन् वै तन्न जिघ्रति०। नहि-घ्रातुर्घ्रातेः, रसयितु रसयतेः, वक्तुर्वक्तेः, श्रोतुः श्रुतेः, मन्तुर्मतेः, स्प्रष्टुः स्पृष्टेः, विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। नतु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं-यज्जिघ्रेत्, यद्रसयेत्, यद्वदेत्, यच्छृणुयात्, यन्मन्वीत, यत् स्पृशेत्, यद्विजानीयात्।

= यत्र वा अन्यदिव स्यात्, तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्, जिघ्रेत्, रसयेत्, वदेत्, शृणुयात्, मन्वीत, स्पृशेत्, विजानीयात्। सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्-इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"।

—बृ० आ० उ० ४।३।

५- 'सो यह इस अन्तरात्मा का अतिच्छन्दा (निःसीम-व्यापक), पाप्मसम्पत्ति से विरहित (विशुद्ध) कम्पनरहित (स्थाणु अभयरूप है (जो कि विशुद्ध आत्मा है)। अर्थात् अन्तरात्मा उसीका स्वच्छन्दक-पाप्म-सभयरूप है, एवं विशुद्धआत्मा छन्दोऽतीत-शुद्ध-अभयरूप है। जिस प्रकार अभिलषित स्त्री से संश्लिष्ट (दाम्पत्यभावापन्न) पुरुष तन्मयता के कारण अपने आपको भूल जाता है, एवमेव प्राज्ञस्थित विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न अपने इस अतिच्छन्दा-अपहतपाप्मा-अभयलक्षण विशुद्ध चिदात्मा से सम्परिष्वक्त होकर यह अन्तरात्मा अपने आपको भूल जाता है। यही अद्वयावस्था इस अन्तरात्मा की आप्तकामावस्था है, आत्मकामावस्था है, अकामावस्था है। इस अवस्था में आत्म-अनात्म-कामप्रपञ्चों से पृथक् होकर निष्काम बन कर यह सर्वशोक-सम्प्लव से सन्तरण कर जाता है"।

६-"जब सविशेष अन्तरात्मा इस निर्विशेष-समब्रह्मभाव में लीन हो जाता है, तो उस स्थिति में पिता अपिता बन जाता है, माता अमाता बन जाती है, लोक (गृहस्थसस्था) अलोक बन जाते हैं, देवता (इन्द्रियगण) अदेवता बन जाते हैं। यहाँ आकर स्तेन (चोर) अस्तेन, भ्रूणहा अभ्रूणहा, ⊛ चाण्डाल अचाण्डाल, + पौल्कस अपौल्कस, × श्रमण अश्रमण, ÷ तापस अतापस, हो जाता है। शास्त्रविहित सत्कर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न पुण्यातिशय से, तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध असत्कर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न पापातिशय से, दोनों से 卐 पृथक् हो जाता है। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त होकर यह इस अवस्था में धर्म्म, अधर्म्म, कृत-अकृत, भूत-भव्य, पुण्य-पाप, वर्ण-अवर्ण, शुचि-अशुचि, सत्-असत्, आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों से पृथक् हो जाता है। फलतः तन्मात्रानुगत द्वन्द्व से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण शोकों का सन्तरण कर जाता है। यह अवस्था सर्वथा मर्य्यादातिक्रान्त है, यही तात्पर्य्य है। क्या ऐसा परमहंस सर्वथा अमर्य्यादित आचरण करता है ?, 'नेति होवाच'। समब्रह्म

⊛ "शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुरुष चाण्डाल है। + शूद्र से क्षत्रिय में उत्पन्न पुरुष पौल्कस है। × परिव्राट्। ÷ वानप्रस्थी।

卐 उभे पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।

के आंशिक अनुग्रह से अनुगृहीत नियति (प्रकृति) जब मर्य्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकती तो स्वयं मर्य्यादाप्रवर्त्तक ब्रह्म अमर्य्याद कैसे बन सकता है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, विधि-निषेध की मर्य्यादा उन्हें अपेक्षित है, जो सविशेष आत्मानुगामी बनते हुए मर्य्यादा का अतिक्रमण किया करते हैं। अव्ययोगप्रभाव से (बुद्धियोगप्रभाव से) जो-मर्य्यादा प्रवर्त्तक विश्वेश्वर से अभिन्न बन गए हैं, उनके सम्बन्ध में अमर्य्यादा की आशङ्का ही नहीं है।

श्रुति ने एक स्थान पर यह कहा है कि, इस स्थिति पर पहुँचने वाले विदेहमुक्त के द्वारा से यदि उसकी माता, किंवा पिता का भी वध हो जाता है, तब भी उसे पातक नहीं लगता। यही क्यों-आत्मवित् यदि चोरी करेगा तो उसे कोई पाप नहीं लगेगा। यह भ्रूणहत्या कर सकता है, बुरे से बुरा काम कर सकता है। जिस प्रकार साधारण मनुष्यों का मुख उक्त पापकर्म्मों के करने से मलिन हो जाता है, वैसे घोरातिघोर दुष्कर्म्मों में प्रवृत्त रहने से भी इसका मुखकान्ति ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती है। देखिए !

"स यो मां विजानीयात्, नास्य केन च कर्म्मणा लोको मीयते।
न मातृवधेन, न पितृवधेन, स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया (लोको-
मीयते)। नास्य पापं, न चक्रुषो मुखान्नील वेतीति"।
—कौ० ब्रा० उ० ३।१।—।

क्या विदेहमुक्त मुक्तात्मा के सम्बन्ध में आप यह कल्पना कर सकते हैं कि, वह अपने माता, पिता का वध कर सकता है, चोरी कर सकता है, घोर से घोर दुष्कर्म्म कर सकता है ?, प्रश्न के हाँ-ना-दोनों उत्तर हो सकते हैं। यदि समब्रह्म पर प्रतिष्ठित, अतएव प्रकृति-पुरुष के समन्वित रूप से अभिन्न ऐसा कृतात्मा अपनी ब्रह्मदृष्टि (जोकि एकान्तत निर्भ्रान्त है,) से यह देखता है कि मेरे माता-पिता के वध मात्र से संसार का अभ्युदय हो सकता है, तो निश्चयेन उस दशा में सर्वनिश्वरता के नाते वह इन का वध कर डालेगा। और उस दशा में निश्चयेन यह विभु-'नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः' न्याय से मातृ पितृवध-जनित पाप से सर्वथा असंस्पृष्ट रहेगा। इसी प्रकार स्तेयकर्म्म से, भ्रूणहत्या से, किंवा और किसी भयङ्कर दुष्कृताचरण के गर्भ में कोई विश्वाभ्युदय-भावना छिपा हुई है, तो अवश्यमेव वह इन का भी अनुगामी बन जायगा। अवश्य ही हम सविशेषों की विशेष-स्थूलदृष्टि में उसके ये अमर्य्यादित कार्य्य हैं, परन्तु तत्त्वत इन का उद्देश्य विश्वमर्य्यादा की रक्षा ही माना जायगा। वीतराग कृतात्मा कब किस उद्देश्य से क्या लीला कर डालते हैं, इसका रहस्य हम लौकिक मनुष्य नहीं समझ सकते। हम जिसे धर्म्म मानते हैं, विशेष परिस्थितियों में वही अधर्म्म है, एवं उसका निरोध अवश्यमेव उनकी ओर से उन उपायों से होता है, जो उपाय हमें अधर्म्मवत् प्रतीत होने लगते हैं। अपने डन्डों की मार से

असाध्य रोगों का निवारण करने वाले बाबा भारती की गाथायें हमारे प्रान्त में आज भी श्रद्धा से गाई जाती हैं। भगवन्नामस्मरण में लीन शम्बूक का अवतारपुरुष (भगवान राम) द्वारा वध कर दिया जाता है। स्वपितानुशासन से महात्मा परशुराम अपनी माता का वध कर डालते हैं। इस प्रकार धर्म्मसंस्थापक अवतारपुरुषों के, एवं तत्सम कृतात्माओं के कर्त्तव्यों में विशुद्ध लोका-अभ्युदयभावना निहित रहती है। एवं इसी दृष्टि से उक्त प्रश्न का 'हाँ' में उत्तर दिया जा सकता है।

एक सामान्य लौकिक पुरुष क्रोध-रागादि के आवेश में पड़कर यदि मातृवधादि अप-अपराध कर बैठता है, वह यदि शास्त्रसिद्ध स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था का अतिक्रमण कर वर्णधर्म का अतिक्रमण करने लगता है, अपने प्रच्छन्न पाप को प्रच्छन्न बनाने की कामना से ऐसा व्यक्ति यदि भ्रूणहत्या करता है, तो अवश्यमेव वह दोषभाक् है। एवं अवश्य ही उसे इन पापकर्म्मों का फल भोगना पड़ता है। परन्तु जो रागद्वेषादि पाप्माओं से सर्वथा पृथक होकर वीतराग बन चुका है, 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि' न्याय से जो कृतात्मा विशुद्ध लोकाभ्युदय के नाते, लोकनिष्ठारक्षा के नाते अनासक्त बन कर कर्म्ममार्ग का अनुगामी बन रहा है, वह उक्त कर्म्म कर बैठेगा, स्वार्थ भावना से कर बैठेगा, इस की सम्भावना भी हमें प्रायश्चित का भागी बना रही है। एवं इसी दृष्टिकोण से उक्त प्रश्न का 'ना' में समाधान किया जासकता है। निष्कर्ष प्रकृत वचन का यही है कि, उस स्थिति में पहुँचने के अनन्तर वह मनुष्य मनुष्य न रह कर साक्षात्-ब्रह्म बन जाता है। अतएव उसके चरित्रों की नकल करना सर्वथा निषिद्ध है। उसके आदेशरूप शब्द ही हमारे लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य में प्रमाण हैं, जैसा कि-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इत्यादि से प्रमाणित है।

७-८-ऐसे कृतात्मा का देखना-सुनना-सूँघना स्वाद लेना-स्पर्श करना-बोलना-मनन करना-जानना सब कुछ न सुनने-सूँघने आदि के समान है। क्या उस की इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं ?, क्या उस का मन, उस की बुद्धि अपना स्वरूप खो बैठते हैं ?, नहीं, अपितु जिस प्रकार द्वैतसम्पत्ति में आसक्त अस्मदादि लौकिक मनुष्य इन्द्रियों के दास बन कर लालसानुगता इन्द्रियासक्ति में आसक्त रहते हैं, वैसे वह इन्द्रियों का दास नहीं है। अपितु उसकी दृष्टि में दृश्य-द्रष्टा-सब का अभेद है। उस के लिए सौन्दर्य-और विद्रूप दोनों समतुलित हैं। गन्ध-दुर्गन्ध समान हैं। ये भेद तभी तक हैं, जबतक कि हम भेद-प्रवर्त्तक सविशेष आत्मा के पाश में बद्ध रहते हैं। जिस प्रकार एक आपूर्य्यमाण समुद्र स्वरूप से सर्वथा अतिच्छन्दा है, अपहतपाप्मा है, एकद्रष्टा है, जब कि उसके गर्भ में विदित नहीं कितने दृश्य अन्तर्लीन हैं, तथैव वह भी उन सब भेददृष्टियों को अपने अद्वैत समुद्रगर्भ में लीन रखता हुआ लोकाभ्युदयभावना से कर्म्मानुगति का अनुगामी बना रहता है। उस स्थिति पर पहुँचने वाला यदि कुछ न भी करे, तब भी उसकी कोई हानि

नहीं है। परन्तु लोक का सर्वनाश निश्चित है। अतएव–'उत्सीदेयुरिमाः प्रजाः' की रक्षा के लिए उसे अवश्य ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना पड़ता है। अवश्य ही इस की यह लोकशिक्षा सर्वथा मर्य्यादित ही रहती है। परन्तु किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के नाते कभी कभी इस के द्वारा ऐसे भी लोकोत्तर कर्म–जिन्हें हम अपनी स्थूलदृष्टि से अमर्य्यादित समझने की भ्रान्ति कर बैठते हैं–हो जाते हैं, जिन के सत्परिमाणों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। समब्रह्म (अव्ययब्रह्म) के पूर्णावतार भगवान् कृष्ण की रासक्रीडादि लोकोत्तर लीलाएँ ही इस सम्बन्ध में कतिपय उदाहरण हैं, जिनका गीताभाष्यान्तर्गत आचार्यरहस्य के 'वैहायसकृष्णरहस्य' में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है।"

भौतिक दृष्टि में अहोरात्र आसक्त रहने वाले सामान्य मनुष्य जैसे कृतात्माओं के चरित्र रहस्यों को समझने में असमर्थ हैं, एवमेव उन कृतात्मा महर्षियों की आर्षदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले ऋतम्भराप्रज्ञाजनित शब्दादेशों के रहस्य को यथावत् समझ लेना भी अस्मदादि साधारणों के लिए दुःसाध्य बना रहता है। उक्त दो वचनों में से प्रथम वचन के द्वारा 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्' कहते हुए रतिलक्षण दाम्पत्यसुख के साथ ब्रह्मानन्द के सम्बन्ध में विषयैषणाप्रधान स्त्री–प्रसङ्गलक्षण विषयानन्द को दृष्टान्त बनाना हम सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में अखरता है, अखरना चाहिए। बहुत सम्भव है, भारतीयता के नाते एक भारतीय इस दृष्टान्त को भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करले। परन्तु एक पर–सम्प्रदायानुवर्ती अभारतीय इसे देख कर निश्चयेन यह कल्पना किए बिना न रहेगा कि, भारतवर्ष आत्मक्षेत्र की उच्चभूमिका में पहुँचकर भी विषयासक्ति की भावना से अपने आपको एकान्ततः पृथक् न रख सका। क्या उनकी यह कल्पना तथ्यपूर्ण मानी जायगी।

यह तो निर्विवाद है कि, ब्रह्मानन्द की तुलना किसी भी लौकिक आनन्द से नहीं की जा सकती। श्रुति को स्वयं यह भय था कि, कहीं 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया०' इत्यादि दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्मानन्द को सचमुच लौकिक मानुष–विषयानन्द–समकक्ष न मान लिया जाय। यदि यह मान्यता हो गई, तो स्वभावतः विषयाहृत मानव हृदय ब्रह्मानन्द प्राप्ति लक्षण परम पुरुषार्थ से वञ्चित रह जायगा। एवं हम आर्षप्रजा के जीवन का भी वही लक्ष्य बन जायगा, जो लक्ष्य अनार्षप्रजा में प्रतिष्ठित है, जिसका कि अनार्षप्रजा द्वारा–'खाना पीना मौज उड़ाना' इन शब्दों में साभिमान अभिनय होता रहता है। इसी भयनिवृत्ति के लिए–एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" कहने के साथ ही, तदव्यवहितोत्तरकाल में ही–'स यो मनुष्याणां राद्धः०' इत्यादि रूप से आनन्दश्रेणियों की मीमांसा करना आवश्यक होगया–

शोभना सुशीला–गुणवती–पतिव्रता–कामिनी, एतद्गुणयुक्त पुत्र, तद्गुणवती कन्या, पूर्ण स्वास्थ्य, पूर्ण भोग्यसम्पत्ति, पूर्ण आयु, पूर्ण भोगशक्ति, इत्यादि परिपूर्ण मानुष–भोगसम्पत्तियों से युक्त

गृहस्थी-मनुष्य पूर्ण सुखी माना जायगा। यही मानवसम्प्रदाय में मानुष परमानन्द माना जायगा। मनुष्य-मनुष्यता के नाते इससे अधिक कुछ न चाहेगा। यही 'मानुष (पार्थिव) आनन्द' नामक प्रथम आनन्दकक्षा है। ऐसे मानुष आनन्द को शतगुण (सौगुणा) बना दीजिए। ऐसी १०० आनन्द मात्रा एक स्थान पर समन्वित कर दीजिए। यह पितलोक पैत्र्य (चान्द्र) आनन्द कहा जायगा, यही आनन्द की दूसरी कक्षा होगी। ऐसे १०० पैत्र्य आनन्द मिल कर एक गन्धर्व (चान्द्र अन्तरिक्ष) आनन्द होगा। ऐसे १०० गान्धर्व आनन्दों के मिलने से एक वह देवानन्द (सौर आनन्द) होगा, जो विद्यासमुच्चितकर्म्म से देवयोनि में प्राप्त होने वालों की सम्पत्ति बनता है। ऐसे १०० दैवानन्दों की समष्टि एक आजानदेवों का आनन्द होगा, जो प्रहस्था सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। ऐसे १०० आजानदेवानन्दों की समष्टि एक प्राजापत्य (पारमेष्ठ्य) आनन्द होगा। एवं ऐसे कल्पनातीत १०० प्राजापत्य आनन्दों की समष्टि एक ब्राह्म (स्वायम्भुव अव्यक्त) आनन्द होगा। यही परमानन्द माना जायगा। इस प्रकार पृथिवी, चन्द्रमा, चान्द्र-अन्तरिक्ष, मर्त्य सूर्य्यसंस्था, अमृतसूर्य्यसंस्था, परमेष्ठी, स्वयम्भू, भेद से मानुष-पैत्र्य गान्धर्व-कर्म्मानुगतदैव, आजानभावानुगत दैव-पारमेष्ठ्य-स्वायम्भुव भेद से आनन्द को सात धाराओं में विभक्त किया जा सकता है। 'पडि मा रजांसि' (ऋक्संहिता) के अनुसार आरम्भ के ६ आनन्द तो मात्रानन्द हैं, रजोरूप हैं, सामित आनन्द हैं। एवं-'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' वाला सातवाँ ब्रह्मानन्द अमात्र है, परम है। उसीके अंश-प्रत्यंश से ये ६ ओं तारतम्येन आनन्दयुक्त बन रहे हैं। वे ६ आ जहाँ आनन्दवान् हैं, वहाँ यह परमानन्द आनन्दघन है। विज्ञानभाषा के अनुसार ६ आनन्द-समष्टि समृद्धानन्द हैं, ब्रह्मानन्द शान्तानन्द है। समृद्धानन्द भेदसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ अनुभव का विषय बन जाता है। परन्तु ब्रह्मानन्द अद्वयभावानुगति से केवल स्वानुभवैकगम्य है, किंवा स्वानुभूति से भी परे की वस्तु है। इस दृष्टि से शान्तलक्षण ब्रह्मानन्द की समृद्धिलक्षण इन ६ ओं में किसी भी आनन्द के साथ तुलना नहीं की जा सकती। जबकि इस आनन्दमीमांसा के द्वारा श्रुति विस्पष्ट शब्दों में ब्रह्मानन्द, तथा मानुष विषयानन्द का अहोरात्रवत् अन्तर बतला रही है, तो इस दशा में आर्ष-अनार्ष कोई भी व्यक्ति इस कल्पनापथ का उत्थापक नहीं बन सकता कि, ऋषिदृष्टि उच्चभूमिका पर पहुँच कर भी विषयवैदना से अपने आपको एकान्तत सुरक्षित न रख सकी।

प्रश्न यह उपस्थित है कि, जब मानुषानन्द की तुलना में ब्रह्मानन्द सातवीं कक्षा पर प्रतिष्ठित है, तो ऐसी दशा में मानुषानन्द की अपेक्षा शत-सहस्रगुणित मध्य की पाँच संस्थाओं में से किसी एक को दृष्टान्त न बनाकर सर्वत अधोऽवस्थित पार्थिव मानुष आनन्द को ही क्यों दृष्टान्त बनाया गया ?। 'उपदेश मनुष्य को दिया जा रहा है, पितर-गन्धर्व-कर्म्मदेवादि को नहीं। मानवीय दृष्टि से वे इतर मध्यस्थ आनन्द सर्वथा परोक्ष हैं। फलत उन्हें दृष्टान्त बनाना आनन्दमात्रादृष्टि से उपयुक्त होता हुआ भी लक्ष्यदृष्टि से व्यर्थ है। एकमात्र इसी दृष्टि से श्रुति ने मानुषदृष्टान्त को लक्ष्य बनाना न्यायसङ्गत समझा है" यह समाधान ठीक ही है।

"ठीक ही है" इस अरुचि का कारण यही है कि, क्या दाम्पत्यभाव ही एकमात्र मानुष आनन्द है ?। हम तो देखते हैं कि, पुत्रवात्सल्य गुरुश्रद्धा, मित्रस्नेह, रसना-घ्राणेन्द्रियादि को आनन्द पहुँचाने वाले और और जडवर्ग, सभी तो मानुषानन्द हैं। इनमें से यदि किसी को दृष्टान्त बना दिया जाता, तो लक्ष्यसिद्धि भी हो जाती, एवं स्त्री-सम्परिष्वक्त जैसी वैषयिक वृत्ति से भी मानव समाज बचने की शिक्षा ग्रहण कर लेता। कम से कम शिष्टता के नाते तो अवश्य ही ऋषि को और ही कोई दृष्टान्त उपस्थित करना था।' क्षमा कीजिए! ऋषियों को आप की शिष्टता मान्य न थी, जो वाणीमात्र से 'शिष्टता' शब्द का प्रयोग करते हुए आज के युग की अशिष्टता के जन्मदाता बने हुए हैं। जिस जिनकी स्वैरनुपिना दृष्टि में भारतीय शिष्टता अशिष्टता बन रही है एवं भारतीय शिष्टता-सभ्यता क्षेत्र की अपेक्षा सर्वथा अशिष्टता असभ्यता कहलाने योग्य वह वास्तविक अशिष्टता शिष्टता बन रही है। जो दाम्पत्यभाव सृष्टि का मूल है, उसे दृष्टान्त मान लेना अशिष्टता है, एवं बिना सोचे समझे अपनी दोषदृष्टि से मलिनान्तःकरण बन कर इस पवित्र प्रजातन्तुवितानप्रतिष्ठालक्षण दाम्पत्यभाव के दृष्टान्त का विरोध करना शिष्टता है। सच बात तो यह है कि हमारी वर्त्तमान दृष्टि में 'स्त्रियया सम्परिष्वक्तः' का यही अर्थ समझ में आता है कि, मानो 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' ही हमारा लक्ष्य हो। हमारे ये शिष्टबन्धु यह भूल जाते हैं कि, जिस युग के ऋषि जिस युग में यह दृष्टान्त दे रहे हैं, उस युग का—"न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' यह आदर्श था। लैङ्गिक सम्बन्ध की अशिष्टता-शिष्टता अमर्यादा-मर्यादा भावों पर अवलम्बित है। मातापिता पुत्र-पुत्रवधू के सुखी दाम्पत्यजीवन से अपने आपको पितृऋण से उन्मुक्त समझते हैं। ऐसी दशा में इस पवित्रतम दृष्टान्त के सम्बन्ध में हीनचरित्र स्वैरी मनुष्य के अतिरिक्त और कौन अशिष्ट- अशिष्टता का लाञ्छन लगा सकता है ?।

अस्तु। अभ्युपगमवाद से मान लेते हैं दृष्टान्त सर्वथा अशिष्ट है। फिर भी यह इस लिए उपादेय है कि जिस ब्रह्मानन्द के स्वरूपबोध कराने के लिए आप को लक्ष्यीभूत मनुष्यप्रजा के लिए तत्समतुलित जिन मानुषानन्दों में से किसी एक को लक्ष्य बनाना है, उनमें से एकमात्र यह अशिष्ट उदाहरण ही सर्वाङ्गीण दृष्टान्त बन सकता है। एवं इसी तत्त्वदृष्टि से ऋषि ने और कोई मानुषानन्द उदाहरण न मान कर एकमात्र इस अशिष्ट दृष्टान्त को ही प्रमुख स्थान दिया है। अवश्य ही तत्त्वापेक्षया यह अशिष्टता कम से कम अशिष्ट भारतीयों के लिए तो सर्वात्मना माध है। जो इस अशिष्टता से क्लान्त हैं, वे इस ब्रह्मानन्दमीमांसा में ही जब अनधिकृत हैं, तो उनके अवाच्य वाद में समय नष्ट क्यों किया जाय।

चान्द्ररसमय प्रज्ञानमन से युक्त इन्द्रियों के द्वारा भूतात्मा का किसी अभिलषित भौतिक विषय की ओर उन्मुख बन कर स्नेहगुणप्रधान प्रज्ञानरस की कृपा से उस विषय के साथ बद्ध हो

जाना ही 'प्रेम' की वैज्ञानिक परिभाषा है। यही प्रेमलक्षण मानससम्बन्ध आनन्दानुभूति का कारण बनता है। आनन्दानुभूतिजनक मनोव्यापारलक्षण इस प्रेम-व्यापार में-"ओकः सारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, ऐन्द्र तत्परं गच्छति" (शत०ब्रा०) सिद्धान्तानुसार प्राज्ञ इन्द्रयुक्त प्रज्ञानमन का सोमरस, किंवा सोमरसमूर्त्ति मन विषय के साथ बद्ध हो जाता है लक्षीभूत विषय, तथा मन, दोनों का पारस्परिक रसानुगमनागमन ही प्रेम है। यह विषय (जिनके साथ प्रेम होता है) जड़-चेतन भेद से दो भागों में विभक्त है। चेतन प्राणियों के प्रति भी मनोरस प्रवाहित रहता है, एवं अचेतन-जडभूतों के प्रति भी मनोरस प्रवाहित रहता है। इन दोनों विभागों के लौकिक-अलौकिक भेद से दो दो विवर्त्त हैं। ईश्वर, अवतारपुरुष, योगी, सन्त, आदि चेतनवर्ग अलौकिक चेतनविभाग है, एवं शेष मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि लौकिक चेतन-विभाग है। अश्वत्थ, वट, शालग्रामशिला, तुलसी, गङ्गा, यमुना, यज्ञाग्नि, आदि अलौकिक अचेतन विभाग है, एवं शेष जड पदार्थ लौकिक अचेतन विभाग है। अलौकिक चेतनवर्ग, तथा अलौकिक अचेतनवर्ग (अपने अभिमानी देवता के सम्बन्ध से) दोनों क्रम से उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन दो वर्गों के प्रति तो केवल 'श्रद्धा' नामक प्रेम का ही सम्बन्ध रहता है। शेष लौकिक चेतनवर्ग तथा लौकिक अचेतनवर्ग, दो विभाग बच रहते हैं। इनमें से लौकिक चेतन वर्ग की प्रेमधारा पाँच भागों में प्रवाहित रहती है, एवं लौकिक अचेतन वर्ग की प्रेमधारा एक ही स्वरूप में परिणत रहती है।

लौकिक चेतन वर्ग में प्राणिमात्र का समावेश है। तत्तदाराध्य प्राणदेवताओं के विशेषाधान से तत्तत्प्राणप्रधान बने हुए पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि भी भारतीय आर्यप्रजा की दृष्टि में उच्च श्रेणि में प्रतिष्ठित रहते हुए श्रद्धेय माने जा रहे हैं। गौपशु हमारा श्रद्धेय है, श्याम-शबल जाति के श्वान याम्यप्राण सम्बन्ध से हमारे श्रद्धेय हैं, हम श्रद्धापूर्वक इनके लिए पिण्डपितृयज्ञ (श्राद्ध) में बलिविधान करते हैं। शीतलावाहनत्वेन गर्दभपशु भी इस दृष्टि से कम श्रद्धेय नहीं है। अम्बावाहन सिंह का पूजन भी हम उसी प्रणतभाव से करते हैं। वराहप्राणमूर्त्ति शूकर भी हमारी दृष्टि में नमस्य है। बलिसम्बन्धेन काकपक्षी, दृष्टिसम्बन्धेन नीलकण्ठपक्षी, विष्णुवाहनसम्बन्धेन गरुडपक्षी, आदि पक्षिविशेष भी हमारे लिए श्रद्धेय हैं। एवमेव आगन्तुक महत् सम्बन्धेन सर्प विशेष आदि कृमि भी हमारे लिए श्रद्धेय हैं। सुप्रसिद्ध नागपञ्चमी इसी श्रद्धाभाव को प्रकट करने के लिए नियत है। निष्कर्षत.-"यद्यद्-विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा' न्याय से विभूतिप्राण-विशिष्ट प्राणिविशेष भी इस प्राणदृष्टि से हमारे लिए श्रद्धेय हैं। इस श्रद्धा के अतिरिक्त गौ-पशु गौवास आदि के साथ हमारा वात्सल्य भी रहता है। गृहस्थाश्रम में चिरकालिक सद्भाव से इनके साथ स्नेह भी प्रक्रान्त है। एवं दुग्ध-गोमयादि की दृष्टि से इनके साथ काम सम्बन्ध (जड़प्रेम)

भी सुरक्षित है। इस प्रकार मानव-वर्गातिरिक्त अन्य लौकिक चेतनवर्ग के साथ 'श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम' इन चार प्रेमक्षेत्रों का समन्वय हो रहा है। जो विशुद्ध लौकिक अचेतनवर्ग है, उसके साथ (द्रव्य-भवन अन्न-आभूषण-और और जड़परिग्रह के साथ) न श्रद्धा है, न वात्सल्य है, न स्नेह है। है केवल काम सम्बन्ध। क्योंकि श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह, तीनों में प्रेमकर्त्ता, तथा प्रेम-पात्र, दोनों का चेतन होना आवश्यक है। जड़पदार्थों के साथ प्रेम करने वाला चेतन अवश्य है, किन्तु ये स्वयं अचेतन हैं। अस्तु, इन सब रहस्यों का गीताभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक ६ ठे खण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में हमें विचारविषयीभूत केवल मानुष-प्रेमधारा की ही मीमांसा करनी है।

(१)-यदि हमारा मन (मानसवृत्ति, मनोमय श्रद्धासूत्र) अपने से उच्चश्रेणि के व्यक्ति के प्रति (माता, पिता, गुरु, जेष्ठभ्राता, अन्य श्रेष्ठ पुरुष आदि के प्रति) प्रवाहित है, तो यही 'अवर-प्रतियोगिक-परानुयोगिक' प्रेम 'श्रद्धा' कहलाएगा। सीधे शब्दों में अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित व्यक्ति से प्रेम करता है, तो उसका यह प्रेम 'श्रद्धा' कहलाता है। प्रेमकर्त्ता का आसन नीचा है। जिसके साथ प्रेम किया जा रहा है, वह उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित है।

(२)-यदि हमारा मन अपने से अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित पुत्र-पौत्र-कनिष्ठभ्राता-शिष्य-आदि की ओर प्रवाहित है, तो यही प्रेम 'वात्सल्य' कहलाएगा। सहजभाषा में उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित व्यक्ति से प्रेम करता है, तो वह प्रेम 'वात्सल्य' कहलाता है। अतएव इसे 'अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक' प्रेम माना गया है। इस प्रेमक्षेत्र में प्रेमकर्त्ता उच्चासन पर प्रतिष्ठित हैं, एवं प्रेमपात्र नीचे स्थान में प्रतिष्ठित हैं।

(३)-यदि हमारा मन अपने समकक्ष बन्धु-सखा-मित्र आदि की ओर प्रवाहित है, साथ ही उस समकक्ष का मन भी हमारी ओर प्रवाहित है, तो समानशीलव्यसनानुगत यही प्रेम 'स्नेह' कहलाएगा। सहजभाषा में समानवयस्क-समानार्थस्थिति-समानव्यसन-शील दो व्यक्तियों का पारस्परिक समानाकर्षण ही स्नेह है। अतएव इसे 'समानानुयोगिक-समानप्रतियोगिक' माना गया है। इस प्रेमक्षेत्र में दोनों ही प्रेमकर्त्ता हैं, दोनों ही प्रेमपात्र हैं। न दोनों में कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। उच्चावचभाव के समाविष्ट होते ही यह स्नेहबन्धन उच्छिन्न हो जाता है। अतएव स्नेहबन्धनोपक्रम से पहिले 'समानशीलव्यसनेषु मैत्री' निर्णय कर लेना श्रेयःपन्था माना गया है।

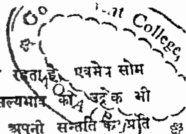
(४)-यदि हमारा मन वस्त्र-गृह-आभूषण-पुस्तक-आदि जड़पदार्थों के साथ प्रवाहित है, तो यही प्रेम 'काम' नाम से व्यवहृत होगा। सहजभाषा में जड़प्रेम ही काम-प्रेम है। इस प्रेमक्षेत्र में

प्रेम कहा जाता है। कामप्रेम आत्मशान्ति का अनन्य विघातक है। कामानन्द आनन्द नहीं, मोह है, मूर्च्छा है, मृत्यु का निमन्त्रण है। शरीरयात्रानुबन्ध अनुभाव से सुरक्षित रहे, तत्पर्यन्त तो जडकाम उपादेय है। दूसरे शब्दों उचिताकाङ्क्षानुगत जडकाम जहाँ शरीरयात्रानिर्वाहक बनता हुआ, आध्यात्मिक यज्ञसंस्था को सुरक्षित रखता हुआ अबन्धन है, वहाँ अत्याकाङ्क्षानुगत जडकाम आसक्ति-बन्धन का कारण बनता हुआ- 'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः' के अनुसार बन्धन का ही प्रवर्त्तक माना गया है।

(५)-हमारा मन एक ही व्यक्ति को अपने आप से उच्चश्रेणि में भी प्रतिष्ठित मानके रहा है, अवरश्रेणि में भी मान रहा है, समानश्रेणि में भी मान रहा है, अज्ञात जडश्रेणि में भी मान रहा है। इस प्रकार 'उच्च-अवर-समान-जड' चारों का लक्ष्य एक ही को मान कर मन उसके प्रति आसक्त है, तो वही सर्वसमन्वितलक्षण, अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रेम 'रति' नाम से व्यवहृत होगा। इस रतिप्रेम में विरुद्धाविरुद्ध सब धर्मों का समन्वय हो रहा है। अतएव 'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (वेदान्तसूत्र) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह प्रेम भगवन् सर्वधर्म्मोपपन्न बन रहा है।

इस रतिप्रेम के ऐसे सर्वधर्म्मोपपन्न क्षेत्र केवल दो हैं। प्रथम तो ईश्वर के साथ ही रति सम्भव है, अथवा दूसरा क्षेत्र एकमात्र धर्म्मपत्नी ही बन सकती है। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' रूप से ईश्वर की श्रद्धारूप से उपासना होती है। 'गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः' न्याय से नन्दनन्दनस्वरूपद्वारा वात्सल्यभाव से भी उसकी उपासना शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय (वल्लभ सम्प्रदाय) में प्राह्य है। नरावतार अर्जुन की भाँति नारायणावतार भगवान् कृष्ण की मित्ररूप से भी उपासना सम्भव है। एवं जडप्रतिमोपासना से सम्बन्ध रखने वाला कामप्रेम तो आज पुष्पित पल्लवित हो ही रहा है। इस प्रकार सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म की चारों ही प्रकार से उपासना सम्भव है। एक लक्ष्य में चारों का समन्वय हो रहा है।

दूसरा क्षेत्र धर्म्मपत्नी है। 'गृहिणी गृहमुच्यते'-के अनुसार धर्म्मपत्नी घर की अधिष्ठात्री है। गृहस्थसंस्था में इसका वही महत्त्व है, जो महत्त्व पुरुष का बाह्य लोकसंस्था में है। स्वयं पुरुष इस क्षेत्र में इसका आसन अपने से ऊँचा समझता है। 'नार्यस्तु पूज्यन्ते' इस भावना से इसकी मानसिक पूजा करता है, इसे शक्ति-प्रतिमूर्त्ति मानता है। (हन्त !) कहीं आज का पुरुष समाज भी ऐसा मानता होता तो ???) । गृहिणी जीवनयात्रा में समय समय पर उपस्थित होनें वाली विषम समस्याओं को (सन्मार्गप्रदर्शनपूर्वक) सुलझाने वाली उपदेशिका है, पूज्या है, गृहलक्ष्मी है। एवं इस अंश में अवश्य ही यह श्रद्धाप्रेम की अनुगामिनी बनी हुई है। असमर्थ-बालावस्थापन्न-सौम्य



पुत्र-कन्या आदि के प्रति जिस प्रकार आपका स्वाभाविक वात्सल्यप्रेम रहता है, एवमेव सोम प्रधाना, अतएव अबला, अतएव आश्रयाकांक्षिणी स्त्री के साथ वात्सल्यभाव का उद्रेक भी स्वाभाविक है। वात्सल्यप्रेममूलक लालन-पालनादि जो कर्म्म एक पिता अपनी सन्तति के प्रति करता है, वह सम्पूर्ण कर्म्म स्त्रीक्षेत्र से भी सम्बद्ध है। आप पति हैं, पालक हैं। वह पत्नी है, पालिता है। आप आश्रय हैं, वह आश्रिता है। आप स्वामी हैं, वह सेविका है। एवं इसी दृष्टि से वह वात्सल्यप्रेम की भी अनुगामिनी बन रही है। गृहस्थ के प्रत्येक कर्म्म में 'सहधर्म्मं चरताम्' इस आदेश के अनुसार स्त्री जीवनसङ्गिनी है। आप उसके सहयोग के बिना यज्ञ, दान, यात्रा, अन्य उत्सवादि में कभी भाग नहीं ले सकते। एक सन्मित्र की भाँति आपके शील-व्यसन-अर्थ-स्थिति-पारिवारिकस्थिति आदि से समतुलित रहती हुई वह जीवनपर्य्यन्त आप का साथ निभाती है। एवं इसी दृष्टि से यह स्नेहप्रेम की भी अनुगामिनी बन रही है। धर्म्मपत्नी के नूपुरों की ध्वनि, कङ्कण-कुण्डलादि की आभा, अलक्तक की लालिमा, केशपाशों का आकर्षक विन्यास, वस्त्रादि की भव्यता, आदि जडपदार्थ भी पति के मानस क्षेत्र के आकर्षक बने रहते हैं। यही चौथे कामप्रेम का सर्वोत्तम निदर्शन है। इस प्रकार प्रेमचतुष्टयोपलक्षण पाँचवाँ यह रतिप्रेम ईश्वर क्षेत्रवत् स्त्रीक्षेत्र में भी सर्वात्मना चरितार्थ हो रहा है।

श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम, चारों में आरम्भ के तीन प्रेम उभयनिष्ठ चेतनधर्म्म से युक्त हैं, एवं चौथा कामप्रेम जडानुगत है। अपने अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहते हुए ही चारों का विशेष महत्त्व है। आज चारों में से किस प्रेम का प्राबल्य है ?, उत्तर है—'काम'। यदि किसी पर श्रद्धा की जाती है, तो आत्मोद्धार के लिए नहीं, अपितु कामानुगता अर्थलालसा की समृद्धि के लिए। साधु-सन्त-महात्मा-विद्वान्-आदि श्रद्धेयोंनें यदि इस प्रेमपात्र को लोक-भूतलिप्सा-पूरक कोई उपाय बतला दिया, तो वे श्रद्धेय हैं। अन्यथा अन्यथासिद्ध हैं। यही दुर्दशा वात्सल्यप्रेम की है। पिता अपनी सन्तति से आज विशुद्ध अर्थ कामना रखता है, मास्टर (गुरू) का लक्ष्य केवल मासिक वेतन है। निष्काम वात्सल्यप्रेम सर्वात्मना पददलित है। स्नेह के सम्बन्ध में तो कुछ न कहना ही अच्छा है। आज मित्रता उन्हीं के साथ निभती है, जो मित्र की अर्थलालसा में सहयोग देता है। उधर सर्वधर्म्मोपपन्न स्त्रीक्षेत्र भी केवल कामक्षेत्र बनता हुआ सर्वथा जर्ज्जरित हो रहा है। इस प्रकार आज चेतनप्रेमत्रयी का स्थान जड कामप्रेमने ग्रहण कर भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र को सर्वथा ऊसर बना डाला है।

अस्तु जिस उद्देश्य से इस प्रेमपञ्चक की अप्रासङ्गिक गाथा गाई गई है, उस उद्देश्य पर दृष्टि डालिए। श्रद्धा-वात्सल्यादि पाँचों में स्त्रीक्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाला केवल रतिक्षेत्र ही ऐसा है, जो अद्वैतानन्दवत् आत्मविस्मृति का कारण बन रहा है। रतिप्रेमासक्त उसी प्रकार अपने

आप को भूल जाता है, जैसे कि एक ब्रह्मरति-आसक्त आत्मकाम मुमुक्षु उस विशुद्ध आत्मतत्त्व के साथ रतिभाव प्राप्त करता हुआ अपने सविशेषरूप को भूल जाता है। लौकिक विषयानन्दों में एकमात्र यह 'स्त्रियया सम्परिष्वक्त' लक्षण रतिप्रेम ही ऐसा प्रेमानन्द है, जिस में द्वैतभाव नहीं रहता। अन्य श्रद्धा-वात्सल्यादि में द्वैतानुभूति सरक्षित रहती है। पारलौकिक पितृ-देवस्वर्गादि आनन्दों में एकमात्र ब्रह्मानन्द ही ऐसा है, जिसमें द्वैतभाव का आत्यन्तिक उच्छेद है। इस प्रकार द्वैतविच्युतिलक्षण-अद्वैतभावात्मक विषयानन्दों में रत्यानन्द, पारलौकिक आनन्दों में ब्रह्मानन्द, दोनों समतुलित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, स्त्री-सम्बन्धी रतिप्रेम इच्छाप्रधान बनता हुआ बन्धन का कारण है, क्षणिक है। एवं परमात्मसम्बन्धी रतिप्रेम निष्कामप्रधान बनता हुआ मुक्ति का प्रवर्त्तक है, शाश्वत है। इस सम्बन्ध में भी यह संशोधन कर लेना चाहिए कि, स्त्रीरति-शास्त्रानुगता बनती हुई, केवल प्रजातन्तुवितानोद्देश्य को लक्ष्य में रखती हुई यदि वैषयिक-इच्छा-भाव से पृथक् है, तो ऐसा अकाम श्रोत्रिय विद्वान् इस पद्धति से भी क्रमगति का आश्रय लेता हुआ ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। इसी संशोधन को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

"अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः।
यश्च श्रोत्रियः, अवृजिनः, अकामहतः" (बृ० आ० उ०४।३।३३)।

यदि विशुद्ध इच्छाभाव का ही साम्राज्य है, तो उस दशा में अवश्य ही स्त्री-रति बन्धन का मूल बन जाता है। ऐसी स्त्री-रति जहाँ बन्धनमूल है, वहां प्रत्येक प्रकार की आत्मरति मुक्ति का मूल है। एक विषयानन्द की पराकाष्ठा है, दूसरी आत्मानन्द की चरमसीमा है। कामानुगता वही वैषयिक रति जिस दिन आत्मरतिरूप में परिणत हो जाती है, बन्धन-विमोक हो जाता है। इसी भाव का बड़ा सुन्दर निरूपण करने वाला निम्न लिखितसूक्ति लोक में प्रचलित है। गोस्वामी जी की धर्मपत्नी इन्द्रासक्त तुलसी की मोहनिद्रा भङ्ग करती हुई कहती है—

"जितनो हेत हराम सों, उतनो राम से होय।
चल्यो जाय बैकुण्ठ में रोक न राखे कोय"॥

विषयानन्द की उक्त मीमांसा से विज्ञ पाठकोंने अब भलिभाँति यह जान लिया होगा कि, ब्रह्मानन्द के साथ ऋषियोंने स्त्री-रति का क्यों समतुलन किया?। दृष्टान्त एकमात्र यही ऐसा है जिसमें क्षणमात्र के लिए अद्वैतानुभूति है। एक दूसरा दृष्टान्त 'सुषुप्ति' है। 'स्वमपीतो भवति' के अनुसार सुषुप्तिकाल में भी अद्वैतसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। अतएव अन्यत्र उपनिषदों में ही यह दृष्टान्त भी उद्धृत हुआ है। परन्तु आनन्दानुभूतिलक्षण आनन्दमीमांसा में जैसा

जाग्रदवस्थानुगत उदाहरण समतुलित बनता है, वैसा सुषुप्ति का नहीं । अत. ऋषि ने इस प्रकरण में यही दृष्टान्त देना अन्वर्थ समझा है । यही अन्वर्थता आज की कल्पित अशिष्टता का सम्यक् समाधान है ।

"शतप्रजापति के आनन्द से समतुलित, वर्ण-अवर्ण, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, स्थावर, जङ्गम आदि आदि यच्चयावत् पदार्थों में समरूप से व्याप्त रहने वाला परात्परगर्भित अव्यय ही पहिला 'विशुद्ध' आत्मा है, यही हमारे सविशेष आत्मा का निर्विशेष अतिच्छन्दा-अपहतपाप्मा-अकाम रूप है" उक्त उपनिषद्-ब्राह्मण-श्रुतिवचनों का यही निष्कर्ष है । यही यह आत्मतत्त्व है, जो प्राणियों, अप्राणियों में सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित है । शरीरोपाधियुक्त अन्तरात्मा का साक्षी बनता हुआ यह इन सोपाधिक सविशेष अन्तरात्मा की दृष्टि से विभक्तवत् प्रतीत होता हुआ भी स्व-स्वरूप से सर्वथा अविभक्त है । 'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' के अनुसार सर्वधर्म्मोपपन्न बनता हुआ ही यह 'निर्विशेष'-उपाधि को चरितार्थ कर रहा है । यह कृष्ण-पीत-रक्त-लघु-गुरु-ह्रस्व-दीर्घ-अणु-महान्-सबरूप बनता हुआ इन सब से अतीत है । कृष्ण उसे इस लिए नहीं कहा जासकता कि, यह पीत है । पीत है इस लिए कृष्ण नहीं । ह्रस्व है, इसलिए दीर्घ नहीं । दीर्घ है, इसलिए ह्रस्व नहीं । न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है । उदाहरणार्थ-घट शब्द को ही लीजिए ।

कम्बुग्रीवादिमत्त्व 'घट' पदार्थ के अवच्छेदक (भेदक-घट को पटादि धर्म्मों से पृथक् करने वाले) कम्बुग्रीवादि भावों में 'घट' शब्द की शक्ति है । घटत्व विशेष्य है, घट विशेषण है । पटादि में क्योंकि कम्बुग्रीवादिमद् भावों का अभाव है, अतएव तत्सम्बन्धी घटशब्द वहाँ सम्बद्ध नहीं हो सकता । इसी व्यावृत्ति के आधार पर 'घटोऽयं, नायं पटः'-'पटोऽयं नायं घटः' इत्यादि व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं । प्रत्येक शब्द की गति (व्याप्ति) व्यवस्थित ज्ञानपर्य्यन्त ही विश्रान्त है । पूर्वोक्त सर्वधर्म्मोपपन्न विशुद्ध व्यापक आत्मा को कोई भी धर्म्म एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकता । आप उसे जिस शब्द से कहना चाहें, कह सकते हैं । अतएव आप उसे किसी भी शब्द से व्यवहृत नहीं कर सकते । क्योंकि प्रत्येक शब्द व्यावृत्तिधर्म्मावच्छिन्न बनता हुआ उस अतद्-व्यावृत्त की सीमाओं में प्रवेश नहीं कर सकता । मान लेना पड़ता है कि, व्यावर्त्तक शब्दशास्त्र से इस अव्यावृत्त विशुद्ध आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । शास्त्र इसके सम्बन्ध में केवल तटस्थलक्षण का आश्रय लेता हुआ अन्ततः 'नेति नेति' कहकर विश्राम कर लेता है । सर्वत्र समवस्थित, अतएव वाङ्मनसपथातीत यह विशुद्ध विभु शास्त्रीय मर्य्यादाओं से एकान्ततः बहिर्भूत है । धर्म्माधर्म्म, पापपुण्य, सुखदुःख, उपचयापचय, आह्वसर्पण, इहलोकागमन, परलोकगमन, आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट इसी आत्मतत्त्व का स्वरूप परिचय कराते हुए अभियुक्तोंने कहा है—

१– अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद ॥

२– संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

३– यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

४– "नेति नेतीति होवाच" ।

५– "अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्‌मनसयो–
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः" ॥

इस सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त यह स्पष्ट और कर लेना चाहिए कि, महामायावच्छिन्न अव्यय को निर्विशेष मान कर उस के साथ उक्त श्रुति का समन्वय बतलाना आपेक्षिक भाव से ही सम्बन्ध रखता है। वस्तुत सर्वधर्म्मोपपन्न अमायी परात्पर है, जिसे सर्वबलविशिष्टरस माना गया है। एवं विशुद्ध तत्त्व ही निर्विशेष है। इन सब सूक्ष्म दृष्टियों का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में विशुद्धरसात्मक निर्विशेष, अशेषबलवद्रसमूर्चि परात्पर, महामायावच्छिन्न क्षराक्षरगर्भित अव्यय, तीनों को एक मानते हुए तीनों की समष्टि की अपेक्षा से 'विशुद्ध आत्मा' नामक प्रथम विवर्त्त का समन्वय हुआ है।

उक्त लक्षण, किंवा अलक्षण इसी विशुद्ध आत्मभावना के आधार पर आर्यप्रजा में कर्णाकर्णि यह व्यवहार प्रचलित है कि—"आत्मा सर्वव्यापक है, अखण्ड है, अज है। न उसका जन्म होता, न मृत्यु होती, न वह कहीं आता, न जाता"। आत्मतत्त्वानभिज्ञ मूढधी महानुभाव इसी व्यवहार को आगे कर आत्मान्तर से सम्बन्ध रखने वाले श्राद्ध-आशौच-आदि धार्मिक कार्यों से मुग्ध प्रजावर्ग को भ्रान्त पथ की अनुगामिनी बना रहे हैं। कौन कहता है—आत्मा व्यापक नहीं, कौन कहता है—सब में एक ही आत्मतत्त्व का साम्राज्य नहीं। कौन कहता है—इस व्यापक आत्मा के लिए श्राद्धादि कर्म्म विहित है। कौन कहता है जनन-मरणादि अशुचिभावों से यह व्यापक आत्मा आशौच धर्म से आक्रान्त हो जाता है। अवश्य ही जनन-मरण-धर्म्माक्रान्त आत्मतत्त्व उस व्यापक से पृथक् तत्त्व है, एवं वही आत्मविवर्त्त प्रस्तुत आत्मप्रकरण का 'अन्तरात्मा' नामक दूसरा आत्मविवर्त्त है, जिसको लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं।

अव्ययात्मनामक विशुद्ध आत्मतत्त्व की अक्षरप्रकृति से सम्बन्ध रखने वाला आत्मतत्त्व ही 'अन्तरात्मा' है, जिसके 'शरीर-आत्मा' भेद से दो विशेष पर्व माने गए हैं। जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' के अनुसार अव्यय-क्षरगर्भित अक्षरतत्त्व ही इस जीवात्मलक्षण अन्तरात्मा का प्रवर्त्तक है। जीवात्मलक्षण यह अन्तरात्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। यही द्वन्द्वभावों का भोक्ता है। हृदयस्थ इस भोक्ता के साथ सख्यभाव से प्रतिष्ठित पूर्वोक्त ईश्वरात्मा साक्षी है। वह निर्लेप है यह सलेप है। वह एक है, यह नाना है। जीवात्मलक्षण अन्तरात्मा भी यदि ईश्वरात्मवत् सब में समान होता, तो सुख दु:ख का पारस्परिक संक्रमण उपलब्ध होता। उस दशा में एक जीवात्मा के सुखी हो जाने से यच्चयावत् जीवात्मप्रपञ्च सुखी हो जाते, एवं एक के दु:खी हो जाने से सब दु:खी हो जाते। प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न स्वस्वकर्म्मानुसार परस्पर विशेष भावों से युक्त, अतएव 'सविशेष' नाम से प्रसिद्ध यही सोपाधिक-साञ्जन-सावरण-आत्मा अन्तरात्मा है, जो सदा शरीरसम्बन्ध से आक्रान्त रहता है। यह देह में रहता हुआ भी देहाभिमान से पृथक् है, शरीर में 'विभूतिसम्बन्ध से रहता हुआ भी अशरीरी है। यह देह में रहता हुआ देहाभिमानी है, देही है, शरीरी है। यह परिच्छिन्न जीवात्मा ही उपनिषदों में 'भूतात्मा'-'भोक्तात्मा'-'कर्म्मात्मा'-'भोक्तासुपर्ण' 'अन्तरात्मा' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। उक्त सर्वभूतान्तरात्मा, एवं यह अन्तरात्मा, दोनों उसी हृत्प्रदेश में (दहराकाश में) प्रतिष्ठित है। "उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्" में 'आत्मना'-सर्वभूतान्तरात्मनामक ईश्वरात्मा (विशुद्ध आत्मा) है, एवं 'आत्मानम्' अन्तरात्मनामक जीवात्मा है। यही समन्वय 'न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम्' वचन का है। ईश्वरात्मा का उत्थिताकांक्षा से सम्बन्ध है, यही ईश्वरेच्छा है। एवं जीवात्मा का उत्थाप्याकांक्षा से सम्बन्ध है, यही जीवेच्छा है। ईश्वरेच्छामूलक कर्म्म अबन्धन है, जीवेच्छा कर्म्म सबन्धन है। अर्जुन के सम्पूर्ण सन्देह, सम्पूर्ण जिज्ञासाएँ, सम्पूर्ण कातरभाव, जीवात्मा को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हुए हैं। भगवान् के सम्पूर्ण समाधान ईश्वरात्मा को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुए हैं।

बतलाया गया है कि, यह जीवात्मा तीन शरीरों से नित्य युक्त रहता है। यह शरीरत्रयी पाँच परिग्रहों से सम्पन्न हुई है। वे ही पाँचों परिग्रह स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र महानात्मा-एवं प्रज्ञानात्मा, पार्थिव शरीर, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका आत्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। पार्थिव शरीर इस अन्तरात्मा का स्थूलशरीर है, चान्द्रप्रज्ञानात्मा (मन), सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), दोनों की समष्टि इसका सूक्ष्मशरीर है। एवं चान्द्र महान् पारमेष्ठ्य यज्ञ-स्वायम्भुव अव्यक्त, तीनों की समष्टि कारणशरीर है। कारणशरीरात्मिका अव्यक्त-यज्ञमहान्-की समष्टि 'आत्मा' है, सूक्ष्मशरीरात्मिका विज्ञान-प्रज्ञान की समष्टि 'प्राणा:' है, इसी में इन्द्रियवर्ग का अन्तर्भाव है। एवं स्थूलशरीर 'पशव:' है। आत्मा-प्राण-पशु, इन कारण-सूक्ष्म-स्थूल-

परिग्रहों से युक्त वैश्वानर-तैजस प्राज्ञलक्षण भूतात्मा ही 'अन्तरात्मा' है। पशुपरिग्रहावच्छेदेन यही अन्तरात्मा प्राणात्मा है, एवं आत्मावच्छेदेन यही अन्तरात्मा आत्मा है। इस प्रकार तीन परिग्रहों के सम्बन्ध से इस एक ही अन्तरात्मा की तीन अवस्था हो जाती है।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। प्राणमूर्त्ति अव्ययात्मा का तो स्वासङ्गभाव की अपेक्षा से विशुद्ध आत्मकोटि में ही अन्तर्भाव हो जाता है। शेष अन्नमूर्त्ति यज्ञात्मा, वाङ्मूर्त्ति विज्ञानात्मा, पितृप्राणमूर्त्ति महानात्मा, अन्नमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा, एवं मर्त्याग्निमूर्त्ति पार्थिव स्थूलशरीर, ये पाँच विवर्त्त बच रहते हैं। इनमें पार्थिव स्थूलशरीर पृथक् संस्था है, यही शरीरात्मा है। शेष चारों की समष्टि, एवं तद्युक्त वैश्वानर तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति जीवात्मा 'अन्तरात्मा' है। उस ओर अन्तिम सीमा में रहने वाले पार्थिव भौतिक स्थूलशरीर को यदि पृथक् मान लिया जाता है, तो मध्यस्थ-यज्ञ-विज्ञान-महत्-प्रज्ञानावच्छिन्न जीवात्मा ही अन्तरात्मारूप से अवशिष्ट बच रहता है। अव्ययत्वानुगत विशुद्ध आत्मा 'ईश्वर' है, पञ्चकल अन्तरात्मा 'जीव' है, स्थूलशरीर इस जीवात्मा का जगत् है। यही सुप्रसिद्ध विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय का त्रितत्त्ववाद है, जिसका इस दृष्टि से अभिनन्दन किया जा सकता है। आगे के परिलेखों से इस आत्मविवर्त्तत्रयी का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

अव्यय — साक्षी — विशुद्धात्मा

*—निष्कल परात्पर —अर्द्धमात्रा (१)
१—पञ्चकलोऽव्यय —अकार (४)
२—पञ्चकलोऽक्षर —उकार (४)
३—पञ्चकल क्षर—मकार (४)

} क्षराक्षरगर्भितः परात्परागर्भितोऽव्यय.—"ईश्वरः"
(तस्य वाचकः प्रणव"—इत्याहुराचार्य्याः)

अक्षर — भोक्ता — अन्तरात्मा

१—पञ्चकलोऽक्षर
२—पञ्चकल क्षर
३—पञ्चकलोऽव्यय
*—निष्कल परात्पर

} अव्ययक्षरगर्भितः—अक्षरः—'जीव.'
(तस्योपनिषदहमित्याहुराचार्य्याः)।

क्षर — भोगायतनम् — शरीरात्मा

१—पञ्चकल क्षर
२—पञ्चकलोऽक्षर
३—पञ्चकलोऽव्यय
*—निष्कल परात्पर

} अव्ययाक्षरगर्भितः—क्षरः—"जगत्"
(तस्योपनिषदहरित्याहुराचार्य्याः)।

१— क्षराक्षरगर्भित.—अव्ययपुरुष.—वतप्रधान.— विशुद्ध आत्मा (ईश्वरः) ।

२—क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरपुरुषः— तनप्रधानः—अन्तरात्मा (जीवः) ।

३—अव्ययाक्षरगर्भितः-क्षरपुरुष —वतप्रधानः—शरीरात्मा (जगत्) ।

१—१ षोडशीपुरुषः—सर्वव्यापक.— हृद्देशे प्रतिष्ठितः—साक्षी —विशुद्धात्मा—"ईश्वरः" [१]

२—१—अव्यक्तात्मा स्वायम्भुव
३—२—यज्ञात्मा——पारमेष्ठ्यः
४—३—विज्ञानात्मा —सौरः
५—४—महानात्मा——चान्द्रः
६—५—प्रज्ञानात्मा——चान्द्रः
} भोगसाधनानि

७—१—प्राज्ञः———ऐन्द्रः
८—२—तैजसः———वायव्यः
९—३—वैश्वानरः—— आग्नेयः
} भोक्तात्मा

} अन्तरात्मा—"जीवः" [२]

१०—१—शरीरम्——पार्थिवम् } भोगायतनम् } शरीरात्मा "जगत्" [३]

"इति नु-अध्यात्मम् । स एष दशकलो विराट्"

अथवा—

१	१—षोडशीपुरुषः———अमृतात्मा—विशुद्ध आत्मा २—अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः-असङ्गः प्राणमयः	—विशुद्धात्मा

२	१—यज्ञात्मा आपोमयः—पारमेष्ठ्यः २—विज्ञानात्मा वाङ्मयः—सौरः ३—महानात्मा—सोममयः——चान्द्रः ४—प्रज्ञानात्मा—अन्नमयः——चान्द्रः ५—कर्मात्मा—अन्नादमयः——पार्थिवः	—अन्तरात्मा
३	१—शरीरात्मा मर्त्याग्निमयः—भौमः	—शरीरात्मा,

अथवा—

१	१—षोडशीपुरुषः]——शरीरेषु-अशरीरी]—विशुद्धात्मा	
	२—१—अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः ३—२—यज्ञात्मा पारमेष्ठ्यः ४—३—महानात्मा पारमेष्ठ्यः	कारणशरीरम् आत्मा }—अन्तःशरीरे }—अन्तरात्मा
७	५—१—विज्ञानात्मा सौरः ६ २—प्रज्ञानात्मा चान्द्रः	सूक्ष्मशरीरम् प्राणाः }—अन्तःशरीरे }—अन्तरात्मा
	७—१—प्राज्ञः——एकविंशः (२१) ८—२—तैजसः——पञ्चदशः (१५) ९—३—वैश्वानरः—त्रिवृतः (९)	शरीरी —शरीरेषु शरीरी }—अन्तरात्मा
३	१०—१—शरीरम्—भौमम्	स्थूलशरीरम् (बाह्यशरीरम्) पशवः }—शरीरात्मा

अथवा—

अमृतम्	१—सर्वव्यापकः षोडशी —शरीरेषु प्रतिष्ठितः —अशरीरी
त्रिधो माया मृत्युमयः	१—अव्यक्त-यज्ञ-महदवच्छिन्नः कर्म्मात्मा प्राज्ञः —आत्मा (मनोमयः)—कारणशरीरम्
	२—विज्ञान-प्रज्ञानावच्छिन्नः कर्म्मात्मा तैजसः—प्राणाः (प्राणमयाः)—सूक्ष्मशरीरम्
	३—शरीरावच्छिन्नः——— कर्म्मात्मा वैश्वानरः—पशवः (वाङमयाः)—स्थूलशरीरम्

अथवा—

१	१—कार्यकारणातीत —सर्वातीतः—सर्वमयः —साक्षी-असङ्गः]—विशुद्धात्मा	
२	१—कारणशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा-प्राज्ञः	}—अन्तरात्मा—ससङ्गः
	२—सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा-तैजसः	
३	३—स्थूलशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा-वैश्वानरः]—शरीरात्मा—ससङ्गः	

उक्त तीन आत्मविवर्तों में से प्रथम विशुद्ध आत्मा तो सर्वथा असङ्ग रहता हुआ निर्लेप है। शरीर में विभूतिसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाले शारीर, किंवा बाह्य दोषों का इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। साथ ही न गुणाधान ही सम्भव। गुण-दोष-सम्पर्क से अतीत यह यह विशुद्ध आत्मा 'आशौच' मर्य्यादा से एकान्ततः अतिक्रान्त है। शेष बचे हुए अन्तरात्मा, शरीरात्मा, नाम के दो विवर्त ही आशौच सम्बन्ध के पात्र बनते हैं। इन पर दोषों का संक्रमण भी स्वाभाविक है, एवं गुणाधान भी स्वाभाविक है। फलतः प्रस्तुत आशौचप्रकरण में इन दो आत्मविवर्तों को लक्ष्य में रख कर ही आशौचस्वरूप की मीमांसा अभीष्ट बनती है। यही 'आशौचपात्रतामीमांसा' का संक्षिप्त स्वरूप प्रदर्शन है।

'आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा' परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाले विशुद्धात्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा, इन तीनों आत्मविवर्त्तों में से असङ्गप्राणमूर्त्ति स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा से युक्त त्रिपुरुषपुरुषात्मक, अतएव 'षोडषी' नाम से प्रसिद्ध अव्ययप्रधान विशुद्ध आत्मा व्यापक है, अतएव व्याप्य (परिच्छिन्न) शुचि-अशुचि-धर्म्माधर्म्मों से असंस्पृष्ट है, नित्यपूत है, नित्यसम्फ़ुल है, एकान्ततः शास्त्रानधिकृत है। अतएव इसके सम्बन्ध में हमारा ('अन्तरात्मा' नामक जीवात्मा का) कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। उस निर्विशेष के साथ न तो सविशेष आत्मा का ही कोई ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध है, न सविशेष शरीरधर्म्म ही उस पर अपना कोई प्रभाव डाल सकते। इस प्रकार तीनों में से प्रथम विशुद्ध आत्मविवर्त्त तो सर्वथा अमीमांस्य बन जाता है। अब मीमांस्य हैं अन्तरात्मा, शरीरात्मा, नामक दो आत्मविवर्त्त।

इस सम्बन्ध में भी थोड़ा स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए। पूर्व परिच्छेद में स्पष्ट किया गया है कि, 'अन्तरात्मा' नामक कर्म्मात्मा अपने कारण, सूक्ष्म, स्थूल, इन तीन शरीरों से युक्त रहता हुआ तीन क्षेत्रों में विभक्त हो रहा है। अव्यक्तयज्ञगर्भित महानात्मा इसका कारण शरीर है, तदवच्छिन्न कर्म्मात्मा प्राज्ञप्रधान है। विज्ञानगर्भित प्रज्ञान (बुद्धिगर्भित मन) इसका सूक्ष्मशरीर है, तदवच्छिन्न कर्म्मात्मा तैजसप्रधान है। एवं प्राणाग्निगर्भित (चितेनिधेयाग्निगर्भित) भूताग्नि (चित्याग्नि) इसका स्थूलशरीर है, तदवच्छिन्न कर्म्मात्मा वैश्वानरप्रधान है। वैश्वानरप्रधान कर्म्मात्मा 'शरीरात्मा' है, तैजस-प्राज्ञप्रधान वही कर्म्मात्मा अन्तरात्मा है। इस प्रकार शरीरत्रयी के सम्बन्ध से एक ही कर्म्मात्मा के अन्तरात्मा, शरीरात्मा, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें किसी सीमापर्य्यन्त हम 'आशौचपात्र' कह सकते हैं।

कर्म्मात्मविवर्त्तसंग्रहः—

१–स्वायम्भुवाव्यक्त-पारमेष्ठ्ययज्ञात्मगर्भितश्चान्द्रो महानात्मा	कारणशरीरम्
२–सौरविज्ञानात्मगर्भितश्चान्द्र प्रज्ञानात्मा	सूक्ष्मशरीरम्
३–चितेनिधेयाग्निगर्भितः पार्थिवश्चित्याग्नि	स्थूलशरीरम्

१–कारणशरीरावच्छिन्न कर्म्मात्मा वैश्वानर–तैजसगर्भित –प्राज्ञ	}	अन्तरात्मा
२–सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न कर्म्मात्मा–प्राज्ञवैश्वानरगर्भित– तैजस		
३–स्थूलशरीरावच्छिन्न कर्म्मात्मा प्राज्ञतैजसगर्भित – वैश्वानर	}	शरीरात्मा

कारणशरीरावच्छिन्न प्राज्ञप्रधान कर्म्मात्मा में १–स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, २–पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, ३–चान्द्र महानात्मा, प्रज्ञाप्राणात्मक एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य सर्वज्ञ का प्रवर्ग्यभूत ४–प्राज्ञआत्मा, ये चार पर्व हैं। चारों में से चौथे प्राज्ञ आत्मा के गर्भ में गौणरूप से पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु का प्रवर्ग्यभूत तैजसात्मा, तथा त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव विराट् अग्नि का प्रवर्ग्यभूत वैश्वानरात्मा, दोनों अन्तर्भूत हैं। यदि इन दोनों आत्मकलाओं का भी सकलन कर लिया जाता है, तो प्राज्ञ नामक कर्म्मात्मा 'पट्कल' बन जाता है। स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा प्राणमूर्त्ति बनता हुआ असङ्ग बनता हुआ विशुद्ध आत्मा की भाँति शुचि–अशुचिभावों से असस्पृष्ट है। फलत प्राज्ञ कर्म्मात्मा का अव्यक्तांश आशौच-सम्बन्ध से बहिर्भूत बन जाता है। पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा अग्नीषोमात्मक है, इसी के आधार पर 'अहरहर्यज्ञ' नामक जीवनयज्ञ प्रतिष्ठित है। यमप्राण के समावेश से जिस दिन यह यज्ञसम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है, तत्काल जीवन समाप्त हो जाता है। चान्द्र महानात्मा सोमप्रधान है तैजस-वैश्वानरगर्भित प्राज्ञ आत्मा अन्नमय है। इस प्रकार स्नेहगुणप्रधान सोम से युक्त रहते हुए यज्ञ, महान्, प्राज्ञ, तीनों ससङ्ग बन रहे हैं। इसी ससङ्गभाव के अनुग्रह से ये तीनों शुचि–अशुचिभावों के भोक्ता बन रहे हैं। इनमें यज्ञात्मा, महानात्मा, इन दोनों का अशुचिभाव तो 'अघ' कहलाया है, जो कि 'अघ' नामक अशुचिभाव हमारे इस आशौचप्रकरण का मुख्य लक्ष्य है। तीसरे प्राज्ञ आत्मा का अशुचिभाव 'एनः' कहलाया है।

(१)–कारणशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा–प्राज्ञप्रधानः

१–१–स्वायम्भुव	अव्यक्तात्मा	प्राणमय	दोषासस्पृष्ट		कारणशरीरावच्छिन्न–कर्म्मात्मा 'प्राज्ञः'
२–२–पारमेष्ठ्य	यज्ञात्मा—	अग्नीषोमात्मक	अघ–दोषेण सस्पृष्टौ		
३–३–चान्द्र	महानात्मा—	सोमात्मक			
४ ४–दिव्य (२१)	प्राज्ञात्मा		अन्नमय	एनो–दोषेण सस्पृष्ट	
५–आन्तरीक्ष्य (१५)	तैजसात्मा				
६–पार्थिव (६)	वैश्वानरात्मा				

सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न तैजसप्रधान कर्म्मात्मा में १–सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), २–चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) आन्तरिक्ष्य ३–तैजसात्मा, ये तीन पर्व हैं। तीसरे तैजसात्मा के गर्भ में दिव्य प्राज्ञ, पार्थिव वैश्वानर, दोनों अन्तर्भूत हैं। इन दोनों के सकलन से यह तैजस नामक कर्म्मात्मा पञ्चकल बन जाता है। इन में सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) सर्वथा असङ्ग है। फलत अव्यक्तांशवत् यह विज्ञानात्मा भी शुचि–अशुचिभावों से असस्पृष्ट है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा 'अन्नमयं हि सोम्य मनः'

सिद्धान्त के अनुसार सोमात्मक अन्नमय बनता हुआ ससङ्ग है। तद्युक्त प्राज्ञवैश्वानरगर्भित तैजस भी ससङ्ग है। इसी द्विकल (प्रज्ञानयुक्त तैजस), किंवा चतुष्कल (१-प्रज्ञानयुक्त २-वैश्वानर ३-प्राज्ञगर्भित ४-तैजस) कर्म्मात्मा के साथ 'भाव' नामक अशुचिभाव का सम्बन्ध माना गया है।

स्थूलशरीरावच्छिन्न वैश्वानरप्रधान कर्म्मात्मा में भौम चित्याग्नि (शरीर), पार्थिव चितेनिधेयाग्नि, ये दो पर्व हैं। 'पार्थिव चितेनिधेयाग्नि ही वैश्वानर है, जिस के गर्भ में प्राज्ञ तैजस, दोनों प्रतिष्ठित हैं। इसी दृष्टि से यह चतुष्कल बन रहा है। चतुष्कल इस वैश्वानर के साथ भूतानुगत अशुचिभाव का सम्बन्ध है, जो शरीराशुचि, द्रव्याशुचि, भेदसे दो भागों में विभक्त है।

२-सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा तैजसप्रधानः—

१	१-सौरः	विज्ञानात्मा (बुद्धि.)	दोषासंस्पृष्टः	
२	२ चान्द्रः	प्रज्ञानात्मा (मनः)	अन्नमयः	भावदोषानुगतौ
३	३-आन्तरीक्ष्यः	तैजसात्मा	तैजसात्मा भूतानुगतः	
	४-दिव्यः	प्राज्ञात्मा		
	५-पार्थिवः	वैश्वानरात्मा		

(३)-स्थूलशरीरावच्छिन्नः कर्म्मात्मा-वैश्वानरप्रधानः

१-प्राणाग्नि. पार्थिव.	वैश्वानरः	वैश्वानर	शरीरात्मा-भूतदोषानुगतः (शरीर-द्रव्यदोषानुगतः)
२-प्राणाग्निरान्तरीक्ष्यः	तैजसः		
३-प्राणाग्निर्दिव्यः	प्राज्ञः		
४-दिव्याग्निर्भौमः	शरीरम्	शरीरम्	

पञ्चविध अशुचिभाव—

उक्त विश्लेषण से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, विशुद्ध, आत्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा, इन तीन आत्मविवर्त्तों में से सामान्यतः अन्तरात्मा, शरीरात्मा, ये दो आत्मविवर्त्त शुचि-अशुचिभावों से युक्त हैं। इन में भी अन्तरात्मा के कारणशरीर से सम्बद्ध अव्यक्तांश, सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध विज्ञानांश, दोनों दोषासंस्पृष्ट हैं। यज्ञात्मा-महानात्मानुगत प्राज्ञभाग, प्रज्ञानानुगत तैजसभाग, शरीरानुगत वैश्वानरभाग, ये तीनों दोषों से संस्पृष्ट हैं। इन में यज्ञात्मगर्भित महान् के साथ

'अघ' का, प्राज्ञ के साथ 'एनः' का, प्रज्ञानानुगत तैजस के साथ 'भाव' का, एवं शरीरानुगत वैश्वानर के साथ शरीराशुचि, तथा द्रव्याशुचि का समन्वय है। इस प्रकार पाँच अशुचिभाव पाँच क्षेत्रों में विभक्त हो रहे हैं। अवश्य ही 'आशौच' तत्त्व समन्वय के लिए इन पाँचों आधाराधेयभावों का यथास्थान सव्यवस्थित समन्वय अपेक्षित है। पाँचों का वर्गीकरण ही आशौचस्वरूप-मीमांसा की मूल प्रतिष्ठा है। 'अघ' नामक अशुचिभाव प्रधानतः महानात्मा को ही लक्ष्य बनाता है। 'एन' नामक अशुचिभाव प्रधानत प्राज्ञ आत्मा को ही लक्ष्य बनाता है। 'भाव' नामक अशुचिभाव प्रधानत प्रज्ञान (मन) को ही अपना लक्ष्य बनाता है। एवं शरीर, तथा द्रव्यानुगत अशुचिभाव प्रधानत वैश्वानरात्मयुक्त शरीर को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर वैज्ञानिकोंनें अशुचिभावों को पाँच भागों में विभक्त माना है। एवं इन पाँचों के निराकरण के लिए पाँच प्रकार के शुद्धिसंस्कार मानें हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-कर्म्मयोगपरीक्षात्मक-द्वितीयखण्ड के 'ग' विभाग के 'संस्कार-विज्ञान' नामक प्रकरण में किया जाचुका है।

१	१-महानात्मा — अघदोषपात्रम्	—प्राज्ञ कर्म्मात्मा	—शारीरी-कर्म्मात्मा
	२-प्राज्ञ आत्मा —-एनोदोषपात्रम्		
२	३-प्रज्ञानात्मा-—भावदोषपात्रम्	—तैजसः कर्म्मात्मा	
३	४-वैश्वानरात्मा—शरीरदोषपात्रम्	—वैश्वानर- कर्म्मात्मा	
	५-शरीरम्——-द्रव्यदोषपात्रम्		

१—अघशुद्धिसंस्कारः——ततो महानात्मविशुद्धिः	"त एते पञ्चधर्म्मशुद्धिसंस्कारा भवन्तः"
२—एनःशुद्धिसंस्कारः—ततः प्राज्ञात्मविशुद्धिः	
३—भावशुद्धिसंस्कारः——ततः-तैजसात्मविशुद्धिः	
४—शरीरशुद्धिसंस्कारः—-ततः वैश्वानरात्मविशुद्धिः	
५—द्रव्यशुद्धिसंस्कारः— —ततः-शरीरविशुद्धिः	

शुचिभाव पुण्यातिशय का प्रवर्त्तक है, एवं अशुचिभाव पापातिशय का प्रवर्त्तक है। ज्ञान पूर्वक किए जाने वाले सत्कर्म्म शुभसंस्कार के जनक बनते हैं, एवं अज्ञानसहकृत असत्कर्म्म अशुभसंस्कारों के प्रवर्त्तक बनते हैं। इस प्रकार ज्ञान, अज्ञान-महयोगयों के भेद से कर्म्मतन्त्र दो भागों में विभक्त हो रहा है। जिन कर्म्मों से शुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं, वे पुण्यकर्म्म माने गए हैं, एवं जिन कर्म्मों से अशुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म्म माने गए हैं। शुभवासना पुण्यातिशय है, अशुभवासना पापातिशय है। पाप से (पापप्रवर्त्तक असत्कर्म्म से) पाप (पापसंस्कार) होता है, पुण्य से (पुण्यप्रवर्त्तक सत्कर्म्म से) पुण्य (पुण्यसंस्कार) होता है। यही पुण्य-पाप कर्म्मद्वयी आगे जाकर ६ भागों में विभक्त हो जाती है, जिसका इस गीता खण्ड के 'उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्म' नामक प्रकरण में विशद वैज्ञानिक निरूपण हुआ है। प्रकरण सङ्गति के लिए प्रकृत में नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

१	१—श्रेयस्—अभ्युदयमूलकशुभसंस्कारप्रवर्त्तकम्	(१) सत्कर्म्म	—उपादेयानि
	२—पाप——प्रत्यवायमूलकाशुभसंस्कारप्रवर्त्तकम्	(१) असत्कर्म्म	—हेयानि
२	१—प्रायश्चित्तम्—प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धकम्	(२) सुकर्म्म	—उपादेयानि
	२—अघम्——अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकम्	(२) विकर्म्म	—हेयानि
३	१—सुकृतम्—प्रत्यवायनिमित्तविधातकम्	(३) कर्म्म	—उपादेयानि
	२—दुष्कृतम्—अभ्युदयनिमित्तविधातकम्	(३ अकर्म्म	—हेयानि

प्रकारान्तरेण—

संख्यानम्		कर्म्मनामानि	कर्म्मवृत्तय	कर्म्मजातय	कर्म्मातिशया
१	१ १ १	श्रेयसम्	अभ्युदयमूलकशुभसस्कारजनकम्	शास्त्रविहित–'सत्कर्म्म'	उपादेय –पुण्यातिशय
	२ २ १	एन	प्रत्यवायमूलकाशुभसस्कारजनकम्	शास्त्रप्रतिषिद्ध – 'असत्कर्म्म'	हेय —पापातिशय
२	३ १ २	प्रायश्चित्तम्	प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्रविहित–'सुकर्म्म'	उपादेय –पुण्यातिशय
	४ २ २	अघम्	अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्रनिषिद्ध –'विकर्म्म'	हेय —पापातिशय
३	५ १ ३	सुकृतम्	प्रत्यवायनिमित्तविघातकम्	शास्त्रविहित– कर्म्म'	उपादेय –पुण्यातिशय
	६ २ ३	दुष्कृतम्	अभ्युदयनिमित्तविघातकम्	शास्त्रनिरुद्ध –'अकर्म्म'	हेय —पापातिशय

आयुर्वेद का त्रिधातुवाद—

आत्मा की वह स्वाभाविक स्थिति, जिसमें प्रतिष्ठित रहता हुआ आत्मा स्वस्वरूप से विकसित रहता है, 'शुचि' अवस्था है। एवं वह स्थिति, जिसमें आकर आत्मा स्वस्वरूप से मुकुलित हो जाता है 'अशुचि' अवस्था है। शुचिभावापन्न आत्मा पवित्र–पूत–शुद्ध–रहता हुआ जहाँ स्वस्वरूप से विकसित है, वहाँ इसमें अन्य दिव्य शुभसंस्कारग्रहण की भी योग्यता विद्यमान है। ठीक इसके विपरीत अशुचिभावापन्न अपवित्र–अशुद्ध–मलीमस–आत्मा जहाँ स्वस्वरूप से मुकुलित रहता है, वहाँ आगन्तुक दिव्यसंस्काराधान से भी वञ्चित रहता है, साथ ही दोषप्रवर्त्तक–दोषवर्द्धक–अशुभ संस्कारों का भी अनुगामी बना रहता है। अतएव आवश्यक है कि, आत्मा को सदा इन अशुचि भावों से बचाया जाय, जो दिव्य संस्कार के विरोधी हैं। यदि अगत्या अशुचिभाव का समावेश हो जाय, तो तब तक के लिए दिव्यकर्म्मों का परित्याग कर दिया जाय, जब तक कि प्राकृतिक अशुचिभाव हट न जाय। साथ ही प्रज्ञापराध से यदि अशुचिभाव आजाय, तो उसे उपायान्तर से हटाया जाय। साथ ही स्वाभाविक शुचिभावप्रवर्त्तक सत्कर्म्मों का सतत अनुगमन किया जाय, एवं आगन्तुक–अशुचिभावप्रवर्त्तक असत्कर्म्मों से अपने आपको बचाया जाय। अवश्य ही कर्म्म तन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ये उच्चावचभाव जटिलतम हैं। कौन कर्म्म कब–कैसे–कहाँ–क्या अतिशय उत्पन्न कर देता है ?, इन अतीन्द्रियभावों के निर्णय के लिए शास्त्रप्रामाण्य ही हमारे लिए अनन्य आश्रयभूमि है।

बतलाया गया है कि, आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाला अशुचिभाव अघ-एन-भाव शरीर-द्रव्य, भेद से पाँच श्रेणियों में विभक्त है। सक्षेप से इनका भी स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। सर्वप्रथम स्थूलशरीरानुगत-अशुचिभावों की ओर ही दृष्टि डालिए।

पितु प्रवर्ग्यभूत शुक्र, तथा मातु प्रवर्ग्यभूत शोणित, दोनों के समन्वय से भूतशरीर का निर्म्माण हुआ है। जिस शुक्राहुति से गर्भाधान होता है, वह शुक्र रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-इन ६ धातुओं का अन्तिम परिणाम है। भुक्त अन्न शारीर वैश्वानराग्नि में आहुत होता हुआ रस मल के क्रमिक विश्लेषण से सात धातुओं में परिणत होता हुआ शरीरसंस्था का अधिष्ठाता बनता है। इसी आधार पर पाञ्चभौतिक शरीर 'अन्नमयकोश' कहलाया है। आयुर्वेदज्ञ विद्वानोंनें ,सप्तधातुमूर्त्ति इस अन्नमयकोश की प्रतिष्ठा धातुत्रयी माना है। 'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः' पथ का अनुगामी वर्त्तमानयुग का वैज्ञानिक चिकित्सक समाज इस भारतीय त्रिधातुवाद को इस लिए अवैज्ञानिक कहने की धृष्टता कर रहा है कि, उसे अपनी स्थूल आँखों से इनका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा।

एक अङ्गुष्ठ के करोड़वें भाग में अपना आकार प्रतिष्ठित रखने वाले सूक्ष्मतम कीटाणु भी जब 'माइक्रस्कोप' यन्त्र से प्रत्यक्ष देख लिए जाते हैं, उस यन्त्र से भी जब धातुत्रयी अप्रत्यक्ष है, तो निश्चयेन यह केवल काल्पनिक वस्तु ही ठहरती है। इस प्रकार अपने वैज्ञानिक यन्त्रों से शरीर के परमाणु-परमाणु की खाक छान डालने वाले इन वैज्ञानिकों को जब आयुर्वेदसम्मता धातुत्रयी शरीर में उपलब्ध नहीं हुई, तो कैसे वैज्ञानिक जगत् इस भारतीय त्रिधातुवाद को प्रामाणिक मान सकता है। निश्चयेन जैसे पञ्चतत्त्ववाद इनका अवैज्ञानिक है, तद्वत् त्रिधातुवाद भी सर्वथा खपुष्प से ही समतुलित है। जबकि इनका मूल ही भ्रान्त है, तो भ्रान्तमूलाधार पर प्रतिष्ठित इनकी भ्रान्त चिकित्सा-प्रणाली क्यों कर मान्य हो सकती है। ये हैं उन 'डाक्टर' भारापन्न क्षणिक विज्ञानवादी नव्य चिकित्सों (डॉक्टरों) के प्रत्यक्ष-स्थूल दृष्टिमूलक अतिमानात्मक तत्त्वविरुद्ध अनर्गल उद्गार।

क्या सचमुच हमारा त्रिधातुवाद निरी कल्पना है ?, निर्भ्रान्त वेदप्रामाण्य पर प्रतिष्ठित आयुर्वेदसम्मत त्रिधातुवाद क्या सचमुच में शून्य कल्पना है ?, हाँ। किनकी दृष्टि में ?, उन वैज्ञानिकों की दृष्टि में, जिनकी दृष्टि भूतबाधा से भ्रान्त बन चुकी है। साथ ही उन भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी, जिन्होंनें उच्छिष्ट भोजन करते करते अपनी आत्मसंस्था को अशुचि बना लिया है, साथ ही जिन्होंने 'विज्ञान' पथ * को इसी उद्देश्य से अपने स्वार्थ का साधन बना रक्खा है। ना। किन की

* दुःख है कि, भारतवर्ष में ही वैद्यसमाज के एक मान्य व्यक्ति ने आयुर्वेदसिद्धान्त का मर्म्म न समझते हुए 'त्रिधातुवाद' के प्रति विषवमन किया है। आपके तत्त्वावधान में 'विज्ञान' नाम का एक पत्र भी निकलता है। आप हरिशरणानन्द' नाम से प्रसिद्ध हैं। सुना है-आयुर्वेदशास्त्र के महत्त्व को सुरक्षित ? रखने के लिए आपने 'त्रिधातुखण्डन' लिखने का भी अनुग्रह किया है। सचमुच आपके इस लोकोत्तर पावन ? कर्म्म से नासत्य-दस्र अतिशयरूप से आप पर अनुग्रहवर्षण करेंगे ?।

दृष्टि में ?, उन भारतीय ऋषियों की आर्षदृष्टि में, जिनकी दृष्टि इन्द्रियातीत विषयों का प्रत्यक्षवत् साक्षात् कर लेती है। साथ ही उन भारतीय प्रमाणभक्तों की दृष्टि में भी, जिनकी आध्यात्मिकसंस्था अघशून्य अन्नादान से अद्यावधि शुचिभाव में परिणत हो रही है। ऐसे ही भारतीयों के सम्मुख सत्यात्मक, अतएव पञ्चतत्त्ववत् इन्द्रियातीत आयुर्वेदसम्मत त्रिधातुवाद का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित वेदमन्त्र उपस्थित हो रहा है—

(१) "त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा, त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे 'त्रिधातु' शर्म्म वहतं शुभस्पती" (ऋक्सं० १।३४।६।)।

(२) "त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्॥ (ऋक्सं० १।३४।७।)।

भारतीय त्रिधातुवाद—

नासत्य, दस्र–नामक सौम्य दिव्यप्राणों के परीक्षक, अतएव नासत्य–दस्र नाम से ही प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध प्राणाचार्य भगवन्तौ अश्विनीकुमारोंने ही "त्रिधातु" के आधार पर चिकित्साशास्त्र की प्रतिष्ठा की है। "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" के अनुसार 'दिव्याग्नि' से उपलक्षित द्युलोक, 'पार्थिवाग्नि' से उपलक्षित पृथिवीलोक, एवं-'अद्भ्यः' से उपलक्षित अन्तरिक्षलोक, तीनों क्रमशः अनिल–अनल–सोमात्मक बनते हुए त्रिधातुयुक्त ओषधियों के प्रभव बन रहे हैं," यही मन्त्रतात्पर्य्य है। मन्त्रोपात्त 'त्रिधातु' का अर्थ करते हुए सर्वश्री सायणाचार्य्य ने कहा है—"त्रिधातु–वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमन–विषयम्"।

द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य्य, सर्वलोकाधिष्ठाता वायु एवं अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता चन्द्रमा, ये तीनों तत्त्व ही प्राकृतिक विश्व-मर्य्यादाओं के स्वरूपरक्षक माने गए हैं। यद्यपि–'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति ने विश्वरचना में सूर्य्य (अग्नि), चन्द्रमा (सोम), इन दो तत्त्वों को ही प्रधानता दी है, साथ ही 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृ० जा० उपनिषत्) रूप से उपनिषत् ने भी इसी प्रधानता का समर्थन किया है। तथापि श्रुत्यन्तर के अनुसार वायु को भी अवश्यमेव सृष्टिरचना में समाविष्ट मानना पड़ता है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" (ईशोपनिषत्)—"वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्" (शत० ब्राह्मण)– "वायुर्हीदं सर्वं करोति, यदिदं किञ्च" (ऐ० ब्रा० २ ३४।) इत्यादि श्रुतिवचन स्पष्ट ही वायु का भी सृष्टिनिर्माणत्त्व सिद्ध कर रहे हैं। वस्तुगत्या भी वायु का सहयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित मानना पड़ता है।

'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' (अथर्वसंहिता) इत्यादि अथर्व सिद्धान्त के अनुसार उच्छिष्ट नामक प्रवर्ग्य भाग से ही विश्व का निर्म्माण हुआ है। चन्द्रमा ब्रह्मौदनरूप से स्वस्वरूपरक्षा में उपभुक्त

है। इनका जो भाग प्रवृद्ध होकर वायुधरातल में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही प्रजोत्पादक बनता है। गतिधर्म्मा वायु ही स्वस्थानस्थित सूर्य्य-चन्द्रमा के आग्नेय-सौम्य-रसों को प्रवृद्ध बना कर विश्व का निर्म्माण करता है। यही कारण है कि, श्रुति ने—"एतद्वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं, यद्वायुः" (शै० ब्रा० १।१।२।) इत्यादिरूप से वायु को ही प्रत्यक्ष प्रजापति मान लिया है। फलत सूर्य्य, चन्द्रमा, के साथ साथ वायु का भी सृष्टिकर्तृत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। यही क्यों, सूर्य्य-चन्द्रमा जहाँ अपने प्रवर्ग्यभाग से विश्व के (रोदसीब्रह्माण्ड के) केवल उपादानकारण हैं, वहाँ वायु उपादान होने के साथ साथ प्रवर्ग्यभावसम्पादन से निमित्तकारण भी है। 'वृष्टेरन्नं, ततः प्रजाः' इत्यादि मानवीयप्रजोत्पत्तिसिद्धान्त भी वायुतत्त्व के आधार पर ही प्रतिष्ठित है 'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे'—'मरुतः सृष्टास्यन्ति'—'वायुरेव प्रवर्षति' इत्यादि के अनुसार एकमात्र वायु ही वृष्टिकर्म्म का प्रधान प्रवर्त्तक है। इन्हीं सब कारणों से मन्त्रसंहिता का द्विधातुवाद (सूर्य्यचन्द्रवाद) त्रिधातुवादरूप में परिणत हो रहा है। फिर जो आयुर्वेदशास्त्र पुरुषप्रजा (मानवप्रजा) की चिकित्सा का विधान करता है, उसके लिए तो त्रिधातुवाद की मान्यता इसलिए आवश्यक हो जाती है कि, चिकित्सा का लक्षीभूत अक्षर समन्वपुरुष वायुगत चेतनाप्रधान है। मानवप्रजा के चैतन्य का आधार वायुतत्त्व (श्वास-प्रश्वास) ही माना गया है, जैसा कि अन्यत्र भूतसर्गविज्ञानादि में विस्तार से प्रतिपादित है।

सौर तत्त्व अग्निप्रधान है, चान्द्र तत्त्व सोमप्रधान, किंवा जलप्रधान है, वायु तत्त्व उभयप्रधान है। अग्नि उष्णतत्त्व है, सोम शीततत्त्व है वायु अनुष्णाशीततत्त्व है। इन तीनों तत्त्वों के समन्वय तारतम्य से ही यच्चयावत पदार्थों का निर्म्माण हुआ है। उदाहरण के लिए पार्थिवसंस्था का ही अन्वेषण कीजिए। भूसंस्था में अग्नि (सूर्य्य), जल (चन्द्र,) वायु, तीनों तत्त्वों का समन्वय हो रहा है। जलीय परमाणुओंने पार्थिव मृत्परमाणुओं को स्वस्नेहधर्म्म से एकसूत्र में आबद्ध कर रक्खा है। आग्नेय परमाणु घनता के प्रवर्त्तक बन रहे हैं। वायु के वेष्टन ने जो कि वेष्टन वैज्ञानिक भाषा में "एमूषवराह' नाम से प्रसिद्ध है, भूपिण्ड की इस आग्नेय, जलीय स्थिति को सुरक्षित बना रक्खा है। वायुगर्भ में ही दोनों विरुद्ध तत्त्वों के समन्वय से भूपिण्ड पिण्डरूप में परिणत हो रहा है। इस प्रकार तीनों के समसमन्वयलक्षण साम्य से ही पार्थिवसंस्था स्वस्वरूप से सुरक्षित है। अग्नि तत्त्व की वृद्धि सर्वत्र ज्वालामुखी के दृश्य उपस्थित कर सकती है, जलीय परमाणुओं की वृद्धि पृथिवी को वज्रसम कठिन बनाकर इसे ऊसर बना सकती है, एवं वायुतत्त्व की वृद्धि इसे खण्ड खण्डरूप में परिणत कर सकती है।

समभावापन्न इन्हीं पार्थिव तीनों धातुओं से ओषधि-वनस्पतियों का निर्म्माण होता है। भुक्त ओषधियाँ ही शुक्ररूप में परिणत होतीं हुई पुरुष का उपादानकारण बनतीं हैं। इस प्रकार पर स्पष्टया पुरुषशरीर में प्रविष्ट प्राणात्मक (तत्त्वात्मक) सौर आग्निधातु ही 'पित्त' नाम से प्रसिद्ध

हुआ है। प्राणात्मक चान्द्र सोमधातु ही 'श्लेष्मा' (कफ) कहलाया है, एवं प्राणात्मक वायु ही 'वात' नाम से व्यवहृत हुआ है। तीनों धातु प्राणात्मक हैं। अतएव यन्त्रसहस्त्र' की सहायता से भी आप भूतदृष्टि से इनका साक्षात्कार नहीं कर सकते। भिषग्वर भूत की चिकित्सा नहीं करता, अपितु भूत के आधार पर (स्थूल औषधियों को माध्यम बना कर) तद्गत प्राणों से धातुप्राणों की चिकित्सा करता है। अतएव उसे शारीराचार्य्य न कह कर 'प्राणाचार्य्य' कहा जाता है। ये ही प्राणात्मक तीनों धातु स्थूलशरीर के प्रतिष्ठापक 'त्रिस्थाणु' हैं, साथ ही 'त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' न्याय से तीनों अन्योऽन्याश्रित हैं। धातुत्रयी की साम्यावस्था नैरोग्य है, विषमावस्था रोगोपक्रम है। वेदसिद्ध इसी त्रिधातुवाद का स्पष्टीकरण करते हुए आयुर्वेदज्ञोंने कहा है—

१—"अत्र जिज्ञास्यं-किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः ?, आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ?। अत्रोच्यते-न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते। आग्नेयत्वात् पित्ते—दहनपचनादिषु अभिप्रवर्त्तमाने अग्निवदुपचारः क्रियते-अन्तरग्निरिति। क्षीणे हि अग्निगुणे तत् समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्। आगमाच्च पश्यामः-'न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति" (सु० सू० २१।)।

२—"विसर्गादानविक्षेपैः सोम-सूर्य्या-निला यथा।
धारयन्ति जगद्, देहं कफ-पित्ता-निलास्तथा ॥ (सु० सू० २१।)।

३—"नर्त्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्य्यते ॥" (सु० शा० ३।)।

४—"तत्र (शरीरे) वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्यः" (सु० सू० ४२।)।

५—"मरीचिरुवाच-अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा-पक्तिमपक्तिं, दर्शनमदर्शनं, मात्रामात्रत्वमूष्मणः, प्रकृतिविकृतिवर्णं, शौर्य्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं, प्रमादं, इत्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति"।

६—"तच्छ्रुत्वा मारीचमथ काप्य उवाच-सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा दार्ढ्यं, शैथिल्यं, उपचयं, कार्श्यं, उत्साहं, आलस्यं, वृषता, क्लीबता, ज्ञानं, अज्ञानं, मोहं, एवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति"।

७—"तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच-सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुः-अन्यत्रैकान्तिकवचनात्। सर्व एव खलु वात-पित्त-श्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुष-

मव्यापन्नेन्द्रियं बल-वर्ण-सुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति। सम्यगेवाचरिता धर्म्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महतोपपादयन्ति-पुरुषमिह, चामुष्मिंश्च लोके। विकृतास्त्वेनं महता विपर्य्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोक-मशुभेनोपघातकाले, इति" (चरकसंहिता-सू० १२ अ० । ११,१२,१३।)।

धातुत्रयी के सम-विषमभाव—

धातुत्रयी के साम्य-वैषम्य से क्या लाभ-हानि है ?, धातुत्रयी के प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय कौन कौन है ?, किन ऋतुओं में किस धातु का उपचयापचय होता है ?, इत्यादि प्रश्न अप्रा-स्त हैं। जिज्ञासुओं की यह जिज्ञासाएँ 'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्' नामक स्वतन्त्र निबन्ध से गतार्थ हैं। प्रकृत में हमें इस सम्बन्ध में यही बतलाना है कि, स्थूलभूत प्रपञ्चों के आधारभूत वात-पित्त-श्लेष्म-नामक तीन धातु प्राणवायु-प्राणाग्नि-प्राणसोमरूप से शरीर के धारक बन रहे हैं। प्राणात्मकत्वेन तीनों हीं धातु शक्तिरूप हैं, अतएव चर्म्मचक्षुओं से, किंवा रूप-रस-गन्ध स्पर्श-शब्द, इन पाँचों तन्मात्राओं से अतीत हैं। केवल चर्म्मचक्षुओं को ही प्रधानता देने वाले को तो भूतवायु की सत्ता भी स्वीकार नहीं करनी चाहिए। जो चिकित्सक (डॉक्टर) चर्म्म चक्षुर्मर्य्यादातिक्रान्त होने से ही धातुत्रयी की सत्ता में सन्देह करते हैं, अवश्य वे भी शरीर में 'फोर्स' (ताकत, बल, शक्ति) नामक तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। वाह्य कर्म्म ही प्राणसत्तात्मक इस आभ्यन्तर बलसत्ता का अनुमापक है। क्या कोई वैज्ञानिक यन्त्रसहस्रों से भी इस स्वसम्मत फोर्स का आँखों से प्रत्यक्ष कर सकता है ?। उदर में पीड़ा है, देखिए-अणुवीक्षण यन्त्र से, बतलाइए ! दर्द का रँग कैसा है ?। उधर आत्मा, परमात्मा, प्राण, बुद्धि, अव्यक्त, आदि शतशः इन्द्रियातीत तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करने वाले भारतीय के लिए तो कभी भी ये इन्द्रियातीत तत्त्व सन्दिग्ध नहीं हैं। क्या मुखविवर की शोभा इस में है कि, हम हरे को देख हाथ की बतलाने में भी लज्जा का अनुभव न करें ?। अस्तु 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः' न्याय से आज वे भारतीय तत्त्ववाद का अवश्य ही मनमाना उपहास कर सकते हैं। परन्तु अवश्य ही एक समय आवेगा, जब आर्षप्रज्ञा उनसे अपने इस अपमान का उत्तर माँगेगी। एवं निश्चयेन उस समय उन्हें अपनी भ्रान्ति पर पश्चात्ताप प्रकट करना पड़ेगा, जिसके परिशोध के लिए भारतीयोंने पहिले से ही प्राय-श्चित्त की व्यवस्था कर रक्खी है।

पञ्चकोश परिचय—

प्रासङ्गिक धातुचर्चा को समाप्त करते हुए स्थूलशरीरानुगत प्रक्रान्त अशुचिभाव की ओर पुनः पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विषयोपक्रम करते हुए बतलाया गया है कि, पाञ्च भौतिक स्थूलशरीर अन्नमयकोश है। इस अन्नमयकोश की प्रतिष्ठा प्राणमयकोश मानी गया है। "रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र" इन सात धातुओं की समष्टि अन्न मयकोश है, एवं प्राणात्मिका धातुत्रयी प्राणमयकोश है। दूसरे शब्दों में सप्तधातु शरीर के स्थूल

धातु हैं, एवं त्रिधातु सूक्ष्मधातु है। इन सूक्ष्म धातुओं की (प्राणमयकोश की) प्रतिष्ठा मनोमय कोश है, जिसे अपनी परिभाषा में हम 'अन्तरात्मा' (कर्म्मात्मा) कह सकते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि, विज्ञानमयकोश अव्यक्त-यज्ञ-महद्गर्भित बनता हुआ वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति अन्तरात्मा का कारणशरीर है, विज्ञान-प्रज्ञानमनमनोमयकोशगर्भित प्राणमयकोश (धातुत्रयी) इसी अन्तरात्मा का सूक्ष्मशरीर है, एवं पार्थिवमर्त्याग्निचितिलक्षण अन्नमयकोश (सप्तधातु) अन्तरात्मा का स्थूलशरीर है। इस प्रकार 'विज्ञान-मन-प्राण-अन्न' इन चार कोशों में अन्तरात्मा की शरीरत्रयी भुक्त है। सर्वाधार-निराकार-गगनाकार-सर्वान्तरतम आनन्दकोश निर्विशेषलक्षण विशुद्ध आत्मा है। इस प्रकार पञ्चकोशदृष्टि से भी प्रतिज्ञात आत्मविवर्त्तों का समन्वय किया जा सकता है।

१	१-आनन्दमयकोश.	"रसो वै सः"	विशुद्ध आत्मा	
२	२-विज्ञानमयकोशः	अव्यक्त-यज्ञ-महदवच्छिन्न.	अन्तरात्मनः कारणशरीरम्	अन्तरात्मा
	३-मनोमयकोशः	विज्ञानप्रज्ञानावच्छिन्न.	अन्तरात्मनः सूक्ष्मशरीरम्	
	४-प्राणमयकोशः	सौम्यप्राणत्रयावच्छिन्न.		
३	५-अन्नमयकोश	पार्थिवभूतावच्छिन्न	अन्तरात्मनः स्थूलशरीरम्	शरीरात्मा

चिकित्साशास्त्रत्रयी के तीन चिकित्सा प्रकार—

उक्त कोशमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आनन्दरसैकघन विशुद्ध आत्मा को छोड़ कर शेष चारों कोश परस्पर सम्बद्ध हैं। चारों कोशों में उक्त क्रम से समन्वित शरीरत्रयी का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक कारणशरीरावच्छिन्न अन्तरात्मा शरीर में प्रतिष्ठित है, तभी तक सूक्ष्मशरीरलक्षण मनोमय, तथा प्राणमयकोश स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। एवं जब तक सूक्ष्मशरीर प्रतिष्ठित है, तभी तक स्थूलशरीर की स्वरूपरक्षा है। ठीक इसी भाँति स्थूलशरीर का स्वास्थ्य सूक्ष्मशरीर के स्वास्थ्य का कारण है, एवं सूक्ष्मशरीरोपलक्षित मनोराज्य की शान्ति कारणशरीरोपलक्षित अन्तरात्मशान्ति की मूल प्रतिष्ठा है। तीनों में परस्पर उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है, यही इनका त्रिदण्डलक्षण त्रिधातुत्व है। एकमात्र इसी आधार पर स्थूलशरीर को अपनी

चिकित्सा का प्रधान लक्ष्य बनाने वाले आयुर्वेदशास्त्र ने अन्तरात्मगत 'चेतना' को शरीर का धातु मान लिया है। चेतनायुक्त अक्षरसमय शरीर ही आयुर्वेद का 'चिकित्सापुरुष' है। निम्नलिखित वचन स्पष्ट ही यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, हमारा लक्ष्य यद्यपि स्थूलशरीर है, तथापि क्योंकि यह इतर दोनों शरीरों से अविनाभूत है। अत तद्युक्त शरीर ही चिकित्स्य है। स्थूल शरीर कि चिकित्सा करते हुए प्रत्येक दशा में दोनों संस्थाओं की प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य बनाना अनिवार्य्य है—

१—"यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः 'पुरुषः' इति। स एव कर्म्मपुरुषः (कर्म्मात्मा) चिकित्साधिकृतः" (सु॰ शा॰ १)।

२—"षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते। तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव—षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते" (चरक॰ शा॰ ५।)।

३—"खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः" (चरक॰ शा॰ १।)।

कारणशरीरोपलक्षित अव्यक्त-ब्रह्म-महन्मूर्त्ति अन्तरात्मा, सूक्ष्मशरीरोपलक्षित विज्ञान-प्रज्ञान धातुत्रयीलक्षण अन्तरात्मा, इन दोनों को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाला, दोनों से नित्य युक्त स्थूलशरीर की चिकित्सा 'आयुर्वेदशास्त्र' करता है, यही पहिली 'कायचिकित्सा' है। वात-पित्त-श्लेष्मा नाम की धातुत्रयी ही इस चिकित्साकर्म्म की मूल प्रतिष्ठा है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

१—विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसञ्ज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥ (चरक सू॰ ६।)।

२—याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म्म तद् भिषजां मतम्॥ (चरक सू॰ १६।)।

सूक्ष्मशरीर दूसरी लक्ष्यभूमि है, इसे ही 'सत्त्व' भी कहा गया है। सत्त्व, रज, तम, नामक तीन धातु इस शरीर की मूलप्रतिष्ठा माने गए हैं। सत्त्वलक्षण सूक्ष्मशरीर को भगवान् व्यास ने सप्तदश राशि से युक्त माना है। ५ ज्ञानेन्द्रियवर्ग, ५ कर्म्मेन्द्रियवर्ग, ५ प्राण, मन (प्रज्ञान), बुद्धि (विज्ञान), इन १७ कलाओं से युक्त प्राज्ञ-वैश्वानरगर्भित तैजस आत्मा ही 'सत्त्वात्मा' है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥

—महाभारत

इनके अतिरिक्त रूप-रसादि भूताशय (भूतमात्रा), पूर्वप्रज्ञा, काम, कर्म्म (सांस्कारिक कर्म्म), अन्तःकरण, अहङ्कार, आदि मध्यस्थ कलाएँ सत्त्व से भी युक्त हैं, एवं कारणशरीरलक्षण आत्मा से भी युक्त है। अतएव इनका देहलीदीपकन्याय से दोनों से सम्बन्ध मान लिया जाता है। प्रधानता सप्तदशराशि की ही है। सप्तदशरात्मात्मक सत्त्वात्मा की प्रतिष्ठा सत्त्व-रज-स्तमोलक्षणा धातुत्रयी है। इस संस्था की स्वस्थता इस धातुत्रयी के साम्य पर ही अवलम्बित है। सत्त्वभाग रजोगुण तथा तमोगुण से नित्य आक्रान्त है। सत्त्व ज्ञानप्रधान है, रज क्रियाप्रधान है, तम अर्थप्रधान है। वातादिवत ये भी तीनों अन्योऽन्याविनाभूत हैं। गुणात्मक इन तीनों धातुओं की स्वस्थता कामादि षड्दोषसमष्टि पर अवलम्बित है।

सत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित रजोगुण से 'काम, क्रोध, लोभ,' ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं, जैसा कि — 'काम एषः क्रोध एषो रजोगुणसमुद्भवः' से प्रमाणित है। रजोगुण को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाले तमोगुण से 'मोह, मद, मात्सर्य' ये तीन उपधातु उत्पन्न होते हैं। रजोगुण से उत्पन्न काम, तमोगुण से उत्पन्न मोह, दोनों समानसत्ता हैं। इसी प्रकार रजोमूर्त्ति क्रोध, तथा तमोमूर्त्ति मद, दोनों समानबन्धु हैं। एवमेव रजोमूर्त्ति लोभ, तथा तमोमूर्त्ति मात्सर्य, दोनों समतुलित हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि रजोगुण के अपत्यस्थानीय काम-क्रोध-लोभ ही तमोगुण के सहयोग से क्रमशः मोह-मद-मात्सर्य के पिता बनते हैं। सत्त्वगुण अधिष्ठान है, तमोगुण योनि है, रजोगुण रेतोधा है, काम क्रोध लोभ रेत हैं, मोह, मद, मात्सर्य सन्तति है। जिस प्रकार सप्त स्थूल धातुओं की प्रतिष्ठा वातादि धातुत्रयी है, एवमेव कामादि षड्रिपुवर्ग की प्रतिष्ठा सत्त्वादि धातुत्रयी है। साथ ही सत्त्वादि धातुत्रयी की प्रतिष्ठा षड्धातुवर्ग भी है। इस प्रकार परस्पर सहयोग सुरक्षित है। कामक्रोधादि की नित्य समता ही सत्त्वशरीर के पालन-पोषण-रक्षण-भावों का मूलप्रतिष्ठा है। कारणशरीरोपलक्षित अव्यक्त-यज्ञ-महन्मूर्त्ति अन्तरात्मा (आत्मा), एवं स्थूलशरीरोपलक्षित त्रिधातुगर्भित सप्तधातुमूर्त्ति शरीरात्मा (शरीर), इन दोनों को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाले, दोनों से नित्ययुक्त सूक्ष्मशरीर की चिकित्सा धर्म्मशास्त्र करता है, यही दूसरी 'सत्त्वचिकित्सा' है। षड्रिपुसाम्य ही इस चिकित्सा धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है।

कारणशरीर तीसरी लक्ष्य भूमि है। इसे ही 'आत्मा' भी कहा गया है। 'विद्या, काम, कर्म्म' ये-तीन धातु इस की मूलप्रतिष्ठा माने गए हैं। विद्याधातु अव्यक्त से, कर्म्मधातु यज्ञ से, तथा कामधातु महान से समतुलित है। अव्यक्त-यज्ञ-महद्गर्भित, वैश्वानर-तैजसयुक्त, विद्याकाम-कर्म्ममय प्राज्ञ ही कारणशरीर है। यही तीसरा 'आत्मा' दण्ड है। मध्यस्थ कामधातु का साम्य ही इस संस्था की शान्ति का अन्यतम उपाय है। स्थूल-सूक्ष्म-संस्थाओं को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाले, दोनों से नित्य युक्त इस कारणशरीर की चिकित्सा दर्शनशास्त्र करता है, यही तीसरी 'आत्मचिकित्सा' है। कामसाम्य ही इस चिकित्सा की मूलप्रतिष्ठा है।

इस प्रकार शरीरत्रयभेद से चिकित्सापुरुष 'आत्मा-सत्त्व-शरीरत्र' न्याय से तीन संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। तीनों इतर दोनों से नित्ययुक्त हैं। अतएव आयुर्वेद, धर्म्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तीनों चिकित्साशास्त्रों को स्व स्व चिकित्साकर्म्म में प्रधान लक्षीभूत शरीर, सत्त्व, आत्मा-के साथ साथ इतर दोनों का भी ध्यान रखना पड़ता है। यही कारण है कि, स्थूलशरीर-चिकित्सक आयुर्वेदशास्त्रने परम्परया रागादि आत्मदोषों को ही रोगप्रवृत्ति का मूल कारण माना है। इसी आधार पर रागादि आत्मदोष वायदोष मान लिए गए हैं। इस प्रकार अन्तिम भूमिका पर पहुँच कर तीनों शास्त्रों का लक्ष्य एक हो जाता है। उदाहरण के लिए आयुशास्त्र के निम्न लिखित वचन ही पर्य्याप्त होंगे—

१—रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान—योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

२—आयुः कामयमानेन धर्म्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

३—एतत् सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजः—स्पृहाः ॥ (चरकसंहिता)।

आयुर्वेद—धर्म्म—दर्शन, तीनों शास्त्रों की अभिन्नता—

स्थूलशरीरचिकित्सक आयुर्वेदशास्त्र में स्थान स्थान में उपदिष्ट धर्म्मादेश तथा चरकादि में उपवर्णित कौतथापुरपाध्यायादि यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, आयुर्वेद धर्म्मानुगता सूक्ष्मशरीर-संस्था को, तथा दर्शनानुगता कारणशरीरसंस्था को भी लक्ष्य बना रहा है। एवमेव सूक्ष्मशरीर चिकित्सक धर्म्मशास्त्र एक ओर यदि मानस शुद्धिसंस्कारों का विधान करता है, तो दूसरी ओर इसे शरीरसंस्कार पर भी लक्ष्य रखना पड़ता है। देश काल—पात्र—द्रव्य—का विचार कर शरीरदशा को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रायश्चित्तादि चिकित्सा विहित है। साथ ही निवृत्ति-कर्म्मद्वारा इसे कारणशरीर के उपकार का भी पूर्ण ध्यान रहता है। एवमेव कारणशरीरचिकित्सक दर्शनशास्त्र जहाँ बुद्धियोगचिकित्सा को प्रधान स्थान देता है, वहाँ इसे शरीरयात्रानुबन्धी लौकिक कर्म्मों का, तथा सूक्ष्मशरीरोपकारक वैदिक कर्म्मों का भी समर्थन करना पड़ता है। बात यथार्थ है। जिन की कारण—सूक्ष्म संस्थाएँ निर्द्वन्द्व हैं, वे ही प्रज्ञापराध से बचते हुए हितमिताशी बनते हुए शरीर को स्वस्थ रख सकते हैं। जिनका मन पवित्र है, वे ही शरीर को सुदृढ़ रख सकते हैं। एवं जिन का शरीर स्वस्थ है, उन्हीं की दोनों संस्थाएँ सुरक्षित रह सकती हैं। आत्मावयवरूप मन के क्लान्त हो जाने से शरीराकृति विकृत हो जाती है, मन की स्वस्थता

में शरीराकृति प्रसादगुण से युक्त रहती है। एवमेव शरीराघात मानससंस्था को क्लान्त कर देता है। स्वस्थ शरीर मनःशान्ति का कारण बनता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा-सत्त्व-शरीर, तीनों का परस्पर उपकार्य्य-उपकारकसम्बन्ध है, तथापि इस सम्बन्ध में-यह स्मरण रखना चाहिए कि, तीनों में पूर्वपूर्व संस्थाओं का विशेष महत्त्व है। स्थूलशरीर गौण है, सूक्ष्मशरीर प्रधान है, कारणशरीर सर्वप्रधान है। जो कर्म्म-द्रव्य-भोग्यादि स्थूलशरीर के उपकारक, किन्तु सत्त्व, आत्मा के अपकारक हैं, वे त्याज्य हैं। जो भोग्यादि सूक्ष्मशरीर के उपकारक, किन्तु आत्मा के अपकारक हैं, वे त्याज्य हैं। इस दृष्टि से आत्मक्षेत्र ही प्रधान लक्ष्य बन रहा है। भारतीय शास्त्र इसी लक्ष्य को प्रधान बना कर प्रवृत्त हुए हैं।

१—अव्यक्त–यज्ञ–गर्भितः—प्राज्ञप्रधानः कर्म्मात्मा————आत्मा (कारणशरीरम्)।
२—महद्–विज्ञान-प्रज्ञान गर्भितः—तैजसप्रधानः कर्म्मात्मा——सत्त्वम् (सूक्ष्मशरीरम्)।
३—त्रिधातु–सप्तधातुगर्भितः—वैश्वानरप्रधानः कर्म्मात्मा——शरीरम् (स्थूलशरीरम्)।

(१) १ विद्या (१) २—काम: (१) ३—कर्म्म	—आत्मा-दर्शनशास्त्रलक्ष्य	*"आत्मा-सत्त्वं-शरीरञ्च-त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्"
(२) १—सत्त्वम् (२) २—रजः (२) ३—तमः	—सत्त्वम्-धर्म्मशास्त्रलक्ष्यम्	
(३) १—वातः (३) २—पित्तम् (३) ३—श्लेष्मा	—शरीरम्-आयुर्वेदशास्त्रलक्ष्यम्	

*—इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड 'ग' विभाग के—'कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

स्थूलशरीर के अशुचिभाव—

स्थूलशरीर से सम्बन्ध रखने वाले अशुचिभाव की मीमांसा के उपक्रम में शरीरत्रयी का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब तत्सम्बन्धी (स्थूलशरीरसम्बन्धी) अशुचिभाव की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जड़चेतनात्मक यच्चयावत् पदार्थों में एक स्वाभाविक विस्रंसन-प्रक्रिया होती रहती है। यही विस्रंसि एक प्रकार से आदान की अधिष्ठात्री बनती हुई तत्तद्वस्तुस्वरूपरक्षा का कारण बनती है। विस्रंसन ही वर्त्तमान भाषा में 'विसर्ग' कह गया है। तत्त्वभाषा यही 'गति' है। विस्रंसन, विसर्ग, गति, तीनों अंश समानार्थक हैं। एवमेव सन्धान, आधान, आगति, तीनों शब्द समानार्थक हैं। जिसे हम आदान कहते हैं, वह भी वस्तुतः क्रियारूप गतिभाव ही है। अतएव गतिपरिचायक विसर्गशब्द की सीमा में ही आगतिपरिचायक आदानशब्द प्रविष्ट है। इन उभय द्वन्द्वों को इसी दृष्टि से हम 'विसर्ग' कह सकते हैं, एवं ऐसे उभयधर्म्मावच्छिन्न इस विसर्ग को 'कर्म्म' कहा जा सकता है, जैसाकि—'विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः' (गीता) इत्यादि से प्रमाणित है।

जिस प्राकृतिक विश्व के गर्भ में विसारसमष्टिलक्षण जड़चेतन पदार्थ प्रतिष्ठित हैं, वह विश्व भी विसर्गात्मक है, एवं तद्गर्भीभूत पदार्थ भी विसर्गात्मक हैं। विसर्गात्मक (कर्म्मात्मक) पदार्थों का प्रकृतिभूत विश्व गुणत्रय से आक्रान्त रहता हुआ गुण-दोष दोनों विभूतियों से आक्रान्त है। गुणविभूति सत्त्वप्रधाना है, यही दैवीसम्पत् है, आत्मसम्बन्धविमोक ही इसका मुख्यधर्म्म है। दोषविभूति तमःप्रधाना है, यही आसुरीसम्पत् है, आत्मबन्धनप्रवृत्ति ही इसका मुख्य धर्म्म है। मध्यस्थ रजोगुण क्रियाप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान निष्क्रिय सत्त्वगुण, तथा अर्थप्रधान निष्क्रिय तमोगुण, दोनों का समन्वय कराता हुआ विश्वप्रभव बन रहा है। रज के अनुग्रह से ही दोनों विभूतियों का एकत्र समन्वय होता है, एवं यही समन्वय वस्तुस्वरूपोत्पत्ति का प्रधान हेतु है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्राकृतिक विश्व, एवं विश्वगर्भ में व्यष्टिरूप से प्रतिष्ठित पदार्थ, दोनों कर्म्मप्रधान बनते हुए गुण-दोष विभूतियों से नित्य आक्रान्त हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्म से आरम्भ कर स्तम्बपर्यन्त सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है। जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
> सत्त्वं-प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता० १८।४०)।

यद्यपि कर्म्मप्रधान विश्वप्रपञ्च में सत्त्वानुगता गुणविभूति, तमोऽनुगता दोषविभूति, दोनों ही हैं। फलतः विस्रंसनलक्षण विसर्गधर्म्म के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ से गुण दोष दोनों ही विभूतियों का विस्रंसन प्रकृतिसिद्ध है। तथापि तमोगुणप्रधान भौतिक विश्व में सत्त्वगुणापेक्षया तमोगुणानुगत दोषविभूतियों के विस्रंसन का ही प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है। यही

कारण है कि, गुणानिभूति के आधान के लिए संग्रह के लिए जहाँ प्रयत्न प्रयास अपेक्षित है वहाँ दोषनिभूति स्वभावत वस्तुगत गुणों को आवृत करती रहती है। प्रतिदिन मकान को झाड़ना-बुहारना पड़ता है। क्योंकि दोषससर्ग स्वाभाविक है। प्राकृतिक विस्रस्त दोषाक्रमण पहिला, तथा मुख्य आक्रमण है, एव स्वगत विस्रस्त दोषाक्रमण दूसरा गौण आक्रमण है।

द्रव्यदोष, एवं शरीरदोषमीमांसा—

उपयोग में आने वाले पात्र-द्रव्यादि को ही लीजिए। धातुपात्र स्वगत दोषरूप किट्ट (मैल) से भी युक्त होते रहते हैं, एव प्राकृतिक दोष भी इन्हें अशुचिभाव से युक्त करते रहते हैं। लौहादि कितने एक धातु तो ऐसे हैं, जिन्हें दोष से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। ये सदा अशु चभावापन्न रहते हैं। अतएव दैवीसम्पदनुगत द्विजाति वर्ग के लिए ऐसे पात्र-द्रव्यादि सर्वथा अव्यवहार्य्य माने गए हैं। इसी प्रकार द्रव्यों में लशुन-गृञ्जनादि, वस्त्रों में नीलवस्त्रादि, आदि अव्यवहार्य्य हैं। जिन पात्र-द्रव्य-वस्त्र-आदि परिग्रहों के दोष हटाए जा सकते हैं, वे ही व्यवहार्य्य हैं। दोषतारतम्य से इन परिग्रहों का विशोधन विभक्त है। प्राकृतिक, तथा स्वात्मगत दोषों से युक्त द्रव्यादि परिग्रहों को उपयोग में लेने से तद्गत दोष का शरीराग्नि पर प्रभाव होता है, शरीर दोषाविष्ट बन जाता है, गुणाधान अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि, शरीर-चितयधातुओं को दोषससर्ग से बचाने के लिए व्यवहार्य्य द्रव्य पात्रादि की शास्त्रोक्त शुद्धि कर के ही इन्हें उपयोग में लाया जाय। यही पहिली द्रव्यशुद्धि, किंवा द्रव्यशुद्धिसंस्कार है।

धातुत्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित सप्तधातुमूर्त्ति स्थूलशरीर भी उक्त विस्रसत धर्म्म से नित्य आक्रान्त है। स्थूलशरीर मलों का कोश (खजाना) है। वे मल अन्तर्याम, बहिर्याम सम्बन्ध से दो भागों में विभक्त माने गए हैं। मल-मूत्र-कफ-लाला-स्वेद-आदि शरीरमल जब तक शरीर पवमान आत्माग्नि की सीमा में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं, तब तक ये आत्मा के प्रवौदन बनते हुए आत्मस्वरूपरक्षा के कारण बने रहते हैं। आत्मगत शुचिभाव इन्हें शुचिभाव में परिणत रखता है। इन आभ्यन्तर मलों का उच्छेद ही आत्मोच्छेद का कारण है। ये ही मल-मूत्रादि शारीरमल जब आत्माग्निभुक्ति से बहिर्भूत होकर प्रवर्ग्य सम्बन्ध में परिणत हो जाते हैं, तो आत्मसीमा से विनिर्गत ये मल शुचिभाव से च्युत बन कर अशुचिभाव में परिणत हो जाते हैं। अन्तर्याम-सम्बन्धेन मलमाण्ड में प्रतिष्ठित जो मल आत्मप्रतिष्ठा का कारण बना रहता है, वही बहिर्यामभाव में आकर आत्मग्लानि का कारण बन जाता है। आत्मा (वैश्वानराग्नि) शीघ्र से शीघ्र इसे शरीर से पृथक् कर डालना चाहता है। यही अवस्था मूत्र-कफ-किट्ट (गाड)-लाला-स्वेद-आदि इतर मलों की हो जाती है। इन प्रवर्ग्यभूत मलों के विशोधन से ही शरीरशुद्धि होती है। अशुचिभावापन्न मलमूत्रादि त्याग में हस्तादि के स्पर्शमात्र से अशुचिभाव का संक्रमण हो जाता है। अतएव धर्म्मशास्त्र ने बड़े

आटोप के साथ इन शुद्धियों का विधान किया है। यदि इन शारीरमलों को शीघ्र नहीं हटा दिया जाता, तो शारीर प्राणाग्नि निर्बल बन जाता है। फलतः शारीर प्राणाग्नि (वैश्वानराग्नि) की स्वस्थता के लिए द्रव्यशुद्धिवत् शास्त्रोक्त शरीरशुद्धि भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। यही दूसरा शरीरशुद्धि-संस्कार है। हम जानते हैं—शरीर में हड्डियों का समावेश है। परन्तु ये कभी अशुचिभावप्रवर्त्तिका नहीं बननीं। शरीराग्नि के उत्क्रान्त होते ही वे ही हड्डियाँ आत्मविभूति से वञ्चित होते ही अशुचि-भाव में परिणत हो जाती हैं। इनका स्पर्श प्रत्येक दशा में दोषावह है। यही अवस्था केश-लोम-नखादि के सम्बन्ध में घटित है। इस प्रकार शरीरमल वहिर्य्याम-भाव में परिणत होते हुए अवश्य-मेव अशुचिभाव के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। इनका शोधन सतत अपेक्षित है। द्रव्यशुद्धिसंस्कार, तथा शरीरशुद्धिसंस्कार, दोनों का शरीर से सम्बन्ध है। शरीरगत प्राणाग्नि की रक्षा के लिए शरीरशुद्धि (शारीर-भूतों कि शुद्धि) अपेक्षित है, एवं शरीरगत भूताग्निरक्षा के लिए द्रव्यशुद्धि (उपयोग में आने वाले शय्या-आसन पात्र-द्रव्य-आदि की शुद्धि) अपेक्षित है। इस प्रकार इन दोनों शुद्धियों का त्रिधातुगर्भित-प्राज्ञ तैजसयुक्त-पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरावच्छिन्न वैश्वानरात्मसञ्ज्ञक भूतात्मा की शुद्धि से ही सम्बध है। यही-मूलशुद्धि है। इसी आधार पर-'आचारः परमो धर्म्मः'-'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' इत्यादि सूक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। पाञ्चभौतिक शरीर द्रव्यदोष का पात्र है, वैश्वानरात्मा शरीरदोष का पात्र है, यही निष्कर्ष है। द्रव्यदोष से शरीरसंस्था रोगाक्रान्त-हो जाती है। क्योंकि भौतिक शरीर प्रत्यक्ष दृष्ट है। अतएव द्रव्यदोष से उत्पन्न रोगादि भी प्रत्यक्ष में अनुभूत है। प्राणमूर्त्ति वैश्वानरात्मा शरीरदोष से निर्बल हो जाता है। क्योंकि यह वैश्वानराग्नि प्राणात्मक है, अतएव इस का दोष सर्वसाधारण के लिए अप्रत्यक्ष है। उद्धृत ५ अशुचिभावों में से केवल शारीर दोष ही प्रत्यक्ष का विषय बनता है, शेष चारों अप्रत्यक्ष, किन्तु उत्तरोत्तर महाभयावह माने गए हैं।

भावदोषमीमांसा एवं चतुर्विध योग—

तीसरा क्रमप्राप्त 'भावदोष' है। इसे ही 'चारित्र्यदोष' भी कहा जासकता है। इस का प्रधानतः वैश्वानर-प्राज्ञगर्भित तैजस आत्मा से युक्त प्रज्ञानात्मा (मन) से सम्बन्ध है। शरीराशुचि से कालान्तर में प्रज्ञानमन मलिन वासनाओं से युक्त हो जाता है। जिस प्रकार मलिन दर्पण-वेष्टन से वेष्टित स्वच्छ भी दीपशीखा से मलिन ही रश्मियाँ निकलतीं हैं, एवमेव-मलिन वासनापटल से वेष्टित स्वस्वरूप से स्वच्छ भी प्रज्ञानज्ञानधारा मलिन हो जाती है। इस मलिन वासना से मानस भाव अतिशयरूप से दुष्ट हो जाते हैं। अधर्म्म में धर्म्मबुद्धि, पाप में पुण्यबुद्धि, असत् में सद्भावना, सत् में असद्भावना, धर्म्म में अधर्म्मभावना, इत्यादि प्रकृतिविरुद्ध भावनाएँ ही इस भावदोष का मुख्य फल है। प्रज्ञापराध से अशन-पान-

शिक्षा-सङ्ग आदि में विपर्य्यय करने से ही भावदोष उत्पन्न होता है । प्रधानतः अन्नदोष, शिक्षादोष, ये दोष ही प्रधान हैं। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, ये चारों पतन के कारण हैं, एवं समत्वयोग विकास का कारण है । उदाहरण के लिए अन्न को ही लिजिए। अपेक्षित हित-मित भोजन से भी स्वल्पमात्रा में भोजन किया, यही हीनयोग है । अपेक्षाकृत अधिक भोजन कर लिया, यही अतियोग है। मित भोजन तो किया, परन्तु हित भोजन-न किया, यही मिथ्यायोग है। एवं कल्पित आधुनिक उपवासा के कुचक्र में पड़कर कुछ न खाया, यही अयोग है । हित-मित-नियत मात्रायुक्त भोजन करना समत्वयोग है । यही भावशुद्धि की, मूलप्रतिष्ठा है, शेष चारों भाव-अशुचि के प्रवर्त्तक हैं। इसी-प्रकार विपरीत शिक्षा, दोषियों का सङ्ग ईश्वरोपासनाविरक्ति, नास्तिकता, शास्त्रनिन्दा, अधर्म्मपथानुगमन, आदि अन्यान्य कारण भी भावदोष के उपोद्बलक बनते हैं । इस-दोष से मनस्विता-गुण का उच्छेद हो जाता है । राग-द्वेष-मोह-मद-मात्सर्य्य-क्रोध-लोभादि सत्त्वधातु विकृत हो जाते हैं। धर्म्मभावना का आत्यन्तिक-रूप से उच्छेद हो जाता है । अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) उदित हो जाता है । कुतर्क पुष्पित पल्लवित हो जाता है। अतएव इस भावदोष को महर्षियों ने पाँचों में प्रबल दोष माना है । इतर दोषों का मार्ज्जन जहाँ सरलता से सम्भव है, वहाँ भावदोष दुःसाध्य माना गया है । "आप सबकुछ ठीक कहते हैं, परन्तु हम नहीं मानते" यही इस भावदोष का भीषण परिणाम है, जो कि वर्त्तमान शिक्षाक्षेत्र की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ स्वधर्म्मपथ का अन्यतम शत्रु बन रहा है- 'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्' । जिस प्रकार पीलिया-रोगाक्रान्त के लिए सारा जगत् पीत है, एवमेव भावदुष्ट की दृष्टि में सर्वत्र दोष का ही साम्राज्य है । गुणसाम्राज्य है-केवल दोष पक्ष में । अभ्युदयप्रवर्त्तक यथायावत् शास्त्रीय कर्म्म इस भावदुष्ट की दृष्टि में प्रत्यवायजनक हैं, एवं प्रत्यवायप्रवर्त्तक अशास्त्रीय कर्म्म अभ्युदय के जनक हैं । अतत् में तद्भावना, तत में अतद्भावना को समाविष्ट करने वाले इसी भावदोष के अनुग्रह से आज भारतीय आर्षधर्म्म अपने ही शिक्षित सु ? पूतों के अनुग्रह से सङ्कट में पड़ रहा है।

एनोदोषमीमांसा—

चौथा क्रमप्राप्त 'एनो' दोष है । इसका प्रधानतः वैश्वानर-तैजस गर्भित प्राज्ञआत्मा (कर्म्मात्मा) से सम्बन्ध है। कर्म्मात्मा का प्राज्ञभाग स्नेहगुणप्रधान है । इसी स्नेहगुण के कारण स्पर्श द्वारा स्पर्श किए जाने वाले पदार्थ में प्रतिष्ठित अशुचि भाव का शरीर-सम्बन्धेन प्राज्ञ में सम्बन्ध हो जाता है। न केवल स्पर्श से ही, अपितु सहभाषण, सहगमन, समानशय्यासनानुगमन, आदि इतर व्यापार भी इस एनोदोष के प्रवर्त्तक बन जाते हैं । प्रज्ञापराध ही इस का भी प्रवर्त्तक बनता है। जो मनुष्य (अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ),

जो पशु (श्वान-गर्दभ-मार्जार आदि), जो पक्षी (काकादि), जो द्रव्य (भूमिष्ठ मल-मूत्र-नख-केश-अस्थि-चर्म्मादि) दिति-पृथिवी से सम्बद्ध आसुर तमोमय आत्मज्योति के अवरोधक अग्निप्राण से सदा युक्त है, उनके स्पर्श से, एवं जो मनुष्य (आचारविहीन मनुष्य), जो पशु-पक्षी-द्रव्यादि प्राकृतिक समयविशेषाक्रमण से मलिन है, उनके स्पर्श से एनोदोष का सक्रमण होता है। इस दोष से आत्मा प्रत्यवाय का अनुगामी बनता हुआ स्व विकास से आवृत हो जाता है। अतएव एनस्वी को 'पापी' कहा जाता है। प्रायश्चित्त ही इस की निवृत्ति का मुख्य उपाय है।

'एनस्' शब्द का निर्वचन करते हुए 'अ-इन्-अस्' इस विभागत्रयी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' न्याय के अनुसार 'इन' शब्दाभिप्राय से प्रयुक्त 'इ' से इन का ग्रहण अभीष्ट है। स्वामी ही 'इन' है। त्रैलोक्य का अधिपति सूर्य्य इसी अभिप्राय से 'इन' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अ' कार का अर्थ 'अभाव' ('नहीं') है। 'अस्' का अर्थ भाव है। जिस कर्म्म से सौरतत्त्वाशभूत आत्मा अपने प्रभव स्वामी (सूर्य) की सम्पत्ति से वञ्चित हो जाता है, सौरसम्पत्ति-अवरोधक वही कर्म्मविशेष 'एनस' कहलाया है। यह कर्म्म, जो आत्मविकास को इन सम्पत्ति से वञ्चित कर दे, वही 'एनस्' कर्म्म है। उदाहरण के लिए * रजस्वला स्त्री को लीजिए। ऋतुमती स्त्री के रज में अशुचिभावप्रवर्त्तक धामच्छद सूर्य्यविरोधी अग्निप्राण का पूर्ण निवास रहता है। अतएव ऋतुमती स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है, जैसाकि 'आशौचनिमित्तपरिच्छेद' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इस आत्रेयी स्त्री के स्पर्श से आत्मज्योति अभिभूत हो जाती है। साथ ही भूतानुगता अशुद्धि का भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यही दोष 'एनोदोष' है, तद्युक्त द्विजाति ही 'एनस्वी' कहलाया है।

स्पृश्यास्पृश्यविवेकमीमांसा—

यही अवस्था अस्पृश्य-शूद्रादि की है। दितिगत तमोमय सूर्य्यविरोधी आसुरप्राण इन के बीच में जन्मना अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। अतएव इन के स्पर्श से भी 'देवसमीकरण' द्वारा द्विजाति एनस्वी बन जाते है। समीकरण प्राणों का स्वाभाविक धर्म्म है। अतिशयरूप से तप्त पानी में शीत पानी के समावेश से तप्त पानी अनुष्णाशीत बन जाता है। शीत का शैत्य धर्म्म उच्छिन्न हो जाता है, तप्त का तप्त धर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। दोनों स्वधर्म्म से च्युत

---

* मानवाली में जो अशुचिभाव है, वही रजस्वला स्त्री में प्रतिष्ठित है। अतएव ऋतुमती माताएँ-अपने बच्चों को स्पर्श दोष से बचाने के लिए कहा करती है कि,-'देख! मुझे न छूना मुझे कागला छूगया है' ('कागलो भींट गयो छ, मन मत भींट जे'-प्रान्तयसूक्ति)।

होते हुए अपना अपना प्रातिस्विक तप्त-शीत धर्म्म खो बैठते हैं। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। द्विजाति के वीर्य्य में जन्मना क्रमशः अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव-प्राणों का अन्तर्य्याम सम्बध से प्रवेश है। तीनों आग्नेय तप्त प्राण हैं। असृश्य शूद्र में-आशुद्रवलक्षण तमोमय वारुण-आसुरप्राण अन्तर्य्याम सम्बध से जन्मत प्रविष्ट है, जिसे बाह्य-शरीरशुद्धिमात्र से कथमपि नहीं हटाया जासकता। यह शौद्रप्राण शीतप्राण है, आप्यप्राण है। यदि दोनों का स्पर्श हो जाता है, तो समीकरणप्रिय उभयप्राण एक दूसरे में आत्मसमर्पण करते हुए अपना अपना स्वरूप खो बैठते हैं। द्विजाति का द्विजातित्त्व उच्छिन्न हो जाता है शूद्र का शूद्रत्त्व उच्छिन्न हो जाता है। साथ ही आगन्तुक परधर्म्मलक्षण-अतएव भयावह शूद्रधर्म्म का द्विजाति के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध न होकर बहिर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है। फलतः ऐसा सम्बन्ध एक ओर द्विजाति को जहाँ द्विजाति-कर्म्म से वञ्चित कर देता है, वहां इसे शूद्रकर्म्म के योग्य भी नहीं होने देता। दोनों ओर से पतन हो जाता है। एवमेव आगन्तुक द्विजातिधर्म्म का शूद्र के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध न होकर बहिर्य्याम सम्बन्ध होता है। परिणामतः वैसा सम्बन्ध एक ओर शूद्र को जहाँ शूद्रकर्म्म से वञ्चित कर देता है, वहाँ इसे द्विजातिकर्म्म के योग्य नहीं होने देता। यही वर्णसाङ्कर्य्य व्यक्तिपतन का कारण बनता हुआ अन्ततो गत्वा वर्णसङ्करसृष्टि का उपोद्वलक बन जाता है, जिसका हमारे राष्ट्र-हितैषी बौनयपन करते हुए ही राष्ट्र स्वातन्त्र्यरक्षा की विफल कामना कर रहे हैं। इसी समीकरण-भय से त्राण पाने के लिए कितनें एक (महयागादि) विशेष यज्ञकर्म्मों में तो शूद्र के साथ सम्भाषण भी निषिद्ध माना गया है। मानवधर्म्मशास्त्र पर धूलिप्रक्षेप करने वाले उन अभिनिविष्टों का सन्तोष निम्न लिखित श्रुतिवचन से भी हो सकेगा, अथवा नहीं ?, यह सन्दिग्ध है। क्यों ?, का समाधान किया जा चुका है—

> "तत्र सर्व-इवाभिप्रपद्येत। ब्राह्मणो वै, राजन्यो वा वैश्यो वा। ते हि यज्ञियाः। स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान्वा एष उपावर्त्तते, यो दीक्षते। स देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वै, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्, एतेषामेवैकं ब्रूयात्-इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व इति। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः" (शत० ३।१।२।६, १०)।

स्मरण रखिए जिस शूद्र के साथ श्रुति ने भाषण का भी निषेध किया है, वह असृश्य अवर्ण शूद्र नहीं है। अपितु पार्थिव पूषाप्राण से अनुगृहीत, अतएव अशान्त दिव्यभाव से युक्त, अतएव व्यवहार्य्य सच्छूद्र ही यहाँ अभिप्रेत है। कारण ऐसा मानने का यही है कि, श्रुति ने द्विजातिवर्ग (ब्रा० क्ष० वै०) के सम्बन्ध को उद्धृत करते हुए शूद्र का उल्लेख किया है। गोपनापितादि सच्छूद्र ही द्विजाति के लिए व्यवहार्य्य हैं। लौकिक-गार्हस्थ्य धर्म्मों में इनका ग्रहण दोषावह नहीं है।

परन्तु अहयागापरपर्य्यायक सोमभाग में दीक्षित यजमान के लिए यह स्पृश्य-व्यवहार्य्य सच्छूद्र भी न केवल अस्पृश्य ही बन जाता, अपितु इसके साथ यज्ञकर्त्ता भाषण भी नहीं कर सकता। यदि सामग्री सम्भार आदि के सम्बन्ध में इससे बात करने का प्रसङ्ग आजाय, तो श्रुति आदेश देती है कि, यजमान स्वय इससे भाषण न करे। अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों में से किसी एक के द्वारा अपना सन्देश इसे कहला दे। कारण, दीक्षित यजमान आज साक्षात् रूप से दिव्यप्राणरूप में परिणत हो रहा है। उधर प्राकृतिक देवत्रयी का केवल द्विजाति के साथ ही सम्बन्ध है। अत विशेष दिव्य कर्म्मों में व्यवहार्य्य-स्पृश्य शूद्र भी एकान्तत अव्यवहार्य्य है। इसी दिव्यप्राणवितानसम्भव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

"वह दीक्षित यजमान सब से व्यवहार न करे। अपितु जहाँ तक बन सके, वहाँ तक तो ब्राह्मण से ही व्यवहार रक्खे (ब्राह्मणेन वैव), अधिक से अधिक क्षत्रिय, अथवा वैश्य से व्यवहार रक्खे। क्योंकि ये ही तीनों वर्ण यज्ञिय हैं। वह यजमान सब से सम्भाषण न करे। वह देवमण्डली की ओर जाता है, जो यज्ञकर्म्म में दीक्षित होता है। दीक्षित यजमान स्वयं देवताओं का एक अङ्ग बन जाता है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं का सबके साथ (चारों वर्णों के साथ) सम्बन्ध नहीं है। अपितु (गा० त्रि० ज० छन्दों के द्वारा) ब्रा० क्ष० वै० वर्णों के साथ ही इनका सम्बन्ध है। क्योंकि (जन्मत) ये ही तीनों वर्ण यज्ञिय हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि दीक्षित यजमान के साथ व्यवहार्य्य सच्छूद्र से बात चीत करने का कोई प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, तो उसे चाहिए कि वह स्वय शूद्र से बात न कर ब्रा० क्ष० वै० इन तीनों में से किसी एक को मध्यस्थ बना कर इनके द्वारा ही—'उसे यह कह दीजिए, यह समझा दीजिए' अपना यह सन्देश पहुँचादे। यही दीक्षित यजमान की दीक्षारक्षा की चिकित्सा है"।

शरीरविशोधक १—द्रव्यशुद्धिसंस्कार, वैश्वानरात्मविशोधक २—शरीरशुद्धिसंस्कार, प्रज्ञान गर्भित तैजसात्मविशोधक ३—मानशुद्धिसंस्कार, एव प्राज्ञआत्मविशोधक-४—एन शुद्धिसंस्कार, इन चार धर्म्मशुद्धिसंस्कारों का प्रकृत में कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृत आशौच प्रकरण का सम्बन्ध है परमात्र महानात्मविशोधक ५ अघशुद्धिसंस्कार से। यद्यपि अशुचित्वेन इन पाँचों को ही 'आशौच' कहा जा सकता है। तथापि पाँचों के पार्थक्य के लिए पाँच पृथक् पृथक् शब्द नियत हैं। यौगिकार्थ मर्य्यादा से जहाँ पाँचों अपवित्रताएँ 'आशौच' नाम से व्यवहृत की जा सकतीं हैं, वहाँ रूढिमर्य्यादा स पाँचों के लिए क्रमस आशौच, पाप, अभिनिवेश, अपवित्रता, अशुद्धि, ये शब्द नियत हैं। एव पाँचों शुचिभावों के लिए क्रमश -शौच, पुण्य—धर्म्म पवित्रता, शुद्धि, ये शब्द नियत हैं। इन पाँचों का सिंहावलोकनन्यायेन तालिका द्वारा लक्ष्य में स्थापित कराते हुए ही पाँचवें अघशुद्धिसंस्कार की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

संख्यानम्	आशौचपात्राणि	जातयः	अशुचिभावाः	शुचिभावाः	संस्काराः
१	पितृप्राणमूर्त्तेरव्यक्तयज्ञगर्भितस्य महानात्मनो—मलं-	अघम्	आशौचम्	शौनम्	अघशुद्धिसंस्कारः (५)
२	सौम्यप्राणमूर्त्ते वैश्वानरतैजसगर्भितस्य प्राज्ञात्मनो—मलं-	एनः	पापम्	पुण्यम्	एनःशुद्धिसंस्कारः (४)
३	प्रज्ञानावच्छिन्नस्यवैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्य तैजसात्मनो—मलं-	भावः	अभिनिवेशः	धर्म्मः	भावशुद्धिसंस्कारः (३)
४	प्राणावच्छिन्नस्यतैजसप्राज्ञगर्भितस्य वैश्वानरात्मनो—मलं-	मलम्	अपावित्र्यम्	पावित्र्यम्	शरीरशुद्धिसंस्कारः (२)
५	धातुत्रयावच्छिन्नस्य वैश्वानरगर्भितस्य शरीरस्य—मलं-	मालिन्यम्	अशुद्धिः	शुद्धिः	द्रव्यशुद्धिसंस्कारः (१)

१ (१)—अघदोषेण-महदात्मनः-अभ्युदयनिमित्तस्यावरोधः——ततश्चात्मा-आशौचभावापन्न. ।
(२)—अघशुद्धिसंस्कारेण-महदात्मनः-प्रत्यवायनिमित्तनिवृत्ति—ततश्चात्मा शौचभावापन्न. ।

२ (१)—एनोदोषेण-प्राज्ञात्मन-प्रत्यवायमूलकाशुभसंस्कारप्रवृत्तिः—ततश्चात्मा पापभावापन्न ।
(२)—एन शुद्धिसंस्कारेण अभ्युदयमूलकशुभसंस्कारप्रवृत्तिः——ततश्चात्मा पुण्यभावापन्न ।

३ (१)—भावदोषेण-तैजसात्मन-अभ्युदयनिमित्तविघात——ततश्चात्माभिनिवेशभावापन्न ।
(२)—भावशुद्धिसंस्कारेण तैजसात्मन-प्रत्यवायनिमित्तविघात—ततश्चात्मा धर्म्मभावापन्न ।

४ (१)—मलदोषेण वैश्वानरात्मन-विश्वासावरोध ग्लानिश्च——ततश्चात्मा मलीमस ।
(२) शरीरशुद्धिसंस्कारेण वैश्वानरात्मन-विकास स्वस्थता च-ततश्चात्मा निर्म्मल ।

५ (१)—मालिन्यदोषेण शरीरस्य-धातुवैषम्य, रोगप्रवृत्तिश्च——ततश्चात्मा खिन्न ।
(२)—द्रव्यशुद्धिसंस्कारेण शरीरस्य-धातुसाम्य-नैरोग्यञ्च——ततश्चात्मा प्रसन्न ।

ये शुद्धि-संस्कार अपेक्षित इसलिए माने गए हैं कि, बिना इन शुद्धिसंस्कारों के न तो अन्तरात्मा में अतिशयाधानलक्षण गुणाधान ही सम्भव है, एवं न पूर्णताप्रवर्त्तक हीनाङ्गपूरक संस्कार ही सम्भव है। एकमात्र इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने इस संस्कारप्रक्रिया को दोषमार्जन, अतिशयाधान, हीनाङ्गपूर्त्ति, भेद से तीन भागों विभक्त किया है। जिस प्रकार तैलयुक्त मलीमस वस्त्र पर रङ्ग-रञ्जन लक्षण अतिशयाधानसंस्कार, एवं आभाप्रवर्त्तक 'कलफ' रूप हीनाङ्गपूर्त्तिसंस्कार तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वस्त्रगत तैलादि किट्ट दोषों को वस्त्र से पृथक् नहीं कर दिया जाता। एवमेव यज्ञादि दिव्यसंस्काराधान-योग्यता-सम्पत्ति के लिए प्रथम उक्त पाँच धर्म्मशुद्धिसंस्कार अपेक्षित हैं। इन शुद्धिसंस्कारों से जब अध्यात्मसंस्था निर्म्मल-निर्दुष्ट-गुणाधानयोग्या बन जाती है, तो अनन्तर यज्ञ-तपो-दानलक्षण विद्यासमुच्चित शास्त्रीय कर्म्म से उत्पन्न अतिशय अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से आत्म-

नेत्र में प्रतिष्ठित हो सकता है। यही गुणाधान, किंवा अतिशयाधान है। इससे आत्मा प्रसादगुण से युक्त हो जाता है। यही गुणाधानसंस्कार 'श्रौतसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा हीनाङ्गपूरक संस्कार 'स्वस्त्ययनसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। दोषोत्पादक परिग्रह का निरोध करता हुआ जो संस्कार आत्मा में प्रतिष्ठित दिव्यातिशय को सदा सुरक्षित बनाता हुआ उसे पूर्ण बनाए रखता है, आत्मा को यावज्जीवन स्वस्ति पूर्वक गमन कराता है, वही स्वस्त्ययनसंस्कार है, जिसका गीताभाष्यान्तर्गत 'हमारे स्वस्त्ययन कर्म्म' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है। इन त्रिविध संस्कारों में से दोषमार्जनसंस्कार २१ भागों में विभक्त हैं। गर्भाधानादि १६ स्मार्त्तसंस्कार (ब्राह्मसंस्कार), अघशुद्ध्यादि ५ धर्म्मशुद्धिसंस्कार, सम्भूय २१ संस्कार हो जाते हैं, जिनमें से प्रकृत में ५ संस्कारों का ही दिग्दर्शन कराया गया है। अतिशयाधायक श्रौतसंस्कार भी २१ हैं। स्वस्त्ययन संस्कार असंख्य हैं। इन सब संस्कारों में से प्रकृत में पञ्चधर्म्मशुद्धिसंस्कारान्तर्गत अघशुद्धिसंस्कार ही प्रकृतप्रकरणार्थ है।

अघागौचस्वरूपमीमांसा—

बतलाया गया है कि, अघशुद्धिसंस्कार का प्रधानतः पितृप्राणमूर्त्ति महानात्मा से सम्बन्ध है। सर्वप्रथम हमें 'अघ' नाम के तत्त्वार्थ की ही मीमांसा अपेक्षित है। विद्यासापेक्ष शास्त्र विहित यज्ञ-तप दान-कर्म्मत्रयी से, एवं इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-लक्षण सत्कर्म्मत्रयी से फलात्मक एक दिव्य अतिशय उत्पन्न होता है। इस अतिशय का अन्तरात्मगत महानात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है। इस दिव्य अतिशय (कर्म्मसंस्कार) को आत्मा के साथ न मिलने देने वाला अमेध्यलक्षण जो एक प्रतिबन्धक धर्म्म है, अन्तराय है, वही 'अघ' नाम से प्रसिद्ध है। पुण्यकर्म्म अभ्युदय के जनक (शुभसंस्कारों के जनक) बनते हुए 'श्रेयस्' नाम से प्रसिद्ध हैं। अनुकूल निमित्तों के समन्वय से इन कर्म्मों की प्रवृत्ति प्रक्रान्त रहती है, एवं प्रतिकूल निमित्तों की उपस्थिति से इनकी प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। वायुनिमित्त के सहयोग से सूर्य्यप्रकाश व्याप्त हो जाता है, मेघनिमित्त के सहयोग से प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। कारण के रहते पर भी प्रतिबन्धक के समावेश से कार्य्य का अवरुद्ध हो जाना ही अघ की महती कृपा है। 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' न्याय से 'अ' कार अभ्युदय का सूचक है, 'घ' कार हिंसा भाव का द्योतक है। 'अकार-अभ्युदयसंस्काराभिमतपूर्णकं-अभ्युदयजनककर्म्मनिमित्तं-हन्ति' ही अघ शब्द का निर्वचनार्थ है।

जनन-मरणादि तत्तद्विशेष स्थितियों में स्वतः उत्पन्न अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धक यही अशुचि-भाव 'अघ' कहलाया है। सौम्यमूर्त्ति महान् में प्रतिदिन वारुणसम्बन्ध से 'अघ' का उद्गम होता रहता है। इस दैनिक अघनिवृत्ति के लिए 'अघमर्षणसूक्त' विहित है। द्रव्य, शरीर भाव, मन, इन चार अशुचिभावों का महापराध से सम्बन्ध है। साथ ही इन से केवल व्यक्तित्व

का ही सम्बन्ध है। कारण स्पष्ट है। शरीर, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, चारों से सम्बद्ध द्रव्य-शरीर-भाव-एन-ये चारों वैयक्तिक हैं। शरीरादि चारों प्रत्येक के पृथक् पृथक् हैं। अत इन अशुचिभावों का भोक्ता केवल व्यक्ति ही बनता है। परन्तु अघात्मक अशुचिभाव ऐसा नहीं है। न तो हमारे प्रज्ञापराध से ही इस का कोई सम्बन्ध है, एव न केवल व्यक्ति से ही इसका सम्बन्ध है। जननादि निमित्तों से यह स्वत प्रादुर्भूत होता है। एव महानात्मानुगति के कारण इस का पुत्र-पौत्रादि सपिण्डों से सम्बन्ध रहता है। कर्म्मात्मलक्षण अन्तरात्मा के महद्-भाग से सम्बद्ध अघ वास्तव में सामामिक उपदंशादि रोगों की भाँति तद्वंशधरों में भी व्याप्त हो जाता है। महानात्मा ही अघ-दोष का प्रधान आयतन है। पितृप्राणमय महानात्मा में प्रतिष्ठित सहोलक्षण पितृपिण्डों का पुत्र-पौत्र-भ्राता-पिता-स्त्री-सगोत्रबन्धुबान्धव-सब के साथ उसी सुपरिचित श्रद्धासूत्र के द्वारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जैसा कि-'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी अविच्छिन्न सूत्र के सम्बन्ध से यदि किसी एक व्यक्ति के महानात्मा में अघदोष का उदय हो जाता है, तो उसके पुत्र पौत्रादि सब के महानात्मा में (पितृपिण्ड की समानता से, सापिण्ड्य सम्बन्ध से) अघ का सक्रमण हो जाता है। अघात्मक मल के सम्बन्ध में उस समान-कुल में उत्पन्न होने वाले सब व्यक्तियों की सशरीरा आत्मसंस्था 'अशुचि' भावापन्न हो जाती है। यही सामाजिक 'अघ' पदार्थ धर्म्मशास्त्र में भिन्न भिन्न स्थलों में—अशौच, आशौच, सूतक, अघ, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। 'अशुचेर्भावः, कर्म्म वा' निर्वचन से ही अघपदार्थ आशौच कहलाया है। जनन सम्बन्धानुगत आशौच ही 'सूतक' कहलाया है। इस का क्योंकि उत्तरोत्तर कुलवर्ग में सक्रमण होता है, अतएव भी इसे 'अघ' कहना अन्वर्थ बनता है।

पिण्डदान, उदकदान, वेदस्वाध्याय, आदि दैव कर्म्मों का विरोधी, नियतकाल में स्नानादि से निवृत्त होने वाला महानात्मगत दोष ही 'आशौच' है। एक महानात्मा से सम्बद्ध यह आशौच उसके सब समसम्बन्धियों में तत्काल सक्रान्त हो जाता है। एव नियत कालानन्तर यह अशुचिभाव स्वत हट जाता है। कैसा आशौच कितने काल में हटता है ?, इन सब प्रश्नों की व्यवस्था धर्म्मशास्त्र से गतार्थ है। आशौच नामक अघ दोष के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि, जो संसर्गी चतुर्थाश्रम में दीक्षित हैं, जिनकी आध्यात्मिकसंस्था राग-द्वेषादि से वियुक्त है, जिन्होंने पूर्वोक्त विशुद्ध आत्मा के साथ ऐक्य प्राप्त कर द्वैत का उच्छेद कर डाला है, ऐसे योगी कुटुम्बियों में कदापि आशौच का सक्रमण नहीं होता। जिस प्रकार अन्य सासारिक मल उनके विशुद्ध आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, तथैव यह अघ भी उनमें सक्रान्त होता हुआ भी उन पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। उनका प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि आगत अघ को तत्काल भस्मसात् कर देता है। परन्तु जो गृहमेधी हैं, सांसारिक-लौकिक कर्म्मों में जिनका आत्मा आसक्त है, वे अवश्य ही अघसक्रमण से अशुचिभाव को प्राप्त होते रहते हैं।

जनन-मरणादि निमित्तों से महानात्मा में प्रतिष्ठित यह अघ रूप दोषाशय कालभेद से तीन मार्गों में विभक्त माना गया है। जीवित दशा में यदि कोई सपिण्डबन्धु (वंशज) घोरतम क्रूर कर्म्म कर बैठता है, तो उसका महानात्मा भी अघदोष से युक्त हो जाता है। श्रद्धासूत्र के द्वारा तद्वंशजों पर भी अवश्य ही इसका प्रभाव पड़ता है। वंश कलङ्कित हो जाता है, अतएव ऐसा क्रूरकर्म्मा 'कुलकलङ्की' 'कुलशत्रु' कहलाया है। यह पहिला निम्नश्रेणि का अतिशय है। इसमें महानात्मा का सम्पर्क आंशिक रहता है, प्रज्ञासम्पर्क विशेष रहता है। अतः एनोदोषवत् इत्थभूत अघदोष का प्रधान लक्ष्य यही व्यक्ति रहता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति (ब्राह्मण) मद्यपान करता है। यदि कुटुम्बी उससे सम्पर्क रखते हैं, तो अवश्यमेव वे भी संसर्गदोष के पात्र बन जाते हैं। अतएव मद्यपी के सहवास-परित्याग का विधान हुआ है। क्योंकि इस अघ में प्रज्ञा का ही प्राधान्य है, अतः पिण्डवत् इसका नियमतः संक्रमण न होकर संसर्गमात्र से सम्बन्ध रहता है।

किसी व्यक्ति के मर जाने पर उसका चन्द्रलोकगामी महानात्मा अघदोष से युक्त हो जाता है। इस अशुचि का प्रभाव महानात्मा के प्राधान्य से नियमतः इसके कुटुम्बियों पर होता है। नियतावधि के समाप्त हो जाने पर यह स्वतः निवृत्त हो जाता है।

मृत पुरुष का वहन करने वाले इतर व्यक्तियों के साथ ही दोष का सम्पर्क होता है। यही 'और्ध्वदैहिक कर्म्मनिमित्तक अघ' कहलाया है। इसके निवृत्त होने की भिन्न भिन्न मर्यादा है। उदाहरणार्थ शववहन करने वाले को एक दिन का आशौच होता है। काष्ठ-अग्न्यादि प्रक्षेप करने वाले निकट जातिबन्धुओं को तीन दिन का आशौच रहता है। केवल शवयात्रा में सहयोग देने वाले सद्यःस्नान-देवदर्शन से शुद्ध हो जाते हैं। हाँ, यदि इनके घर में उसी दिन कोई माङ्गलिक विवाहादि कार्य्य हैं, तो उस दिन रजस्वलनरक्षादृष्टि से इनके लिए गृहप्रवेश निषिद्ध है। इन तीनों में मुख्य अघ मध्यस्थ अघ ही माना जायगा। वस्तुतस्तु सपिण्डों में संक्रमण करने वाला यह मध्यस्थ अघ ही वस्तुगत्या अघ है। एवं इसीके लिए 'अघ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

जन्म-मृत्यु, ये दो इस अघप्रवृत्ति के प्रधान कारण माने गए हैं। अतएव आशौच-जननाशौच, मरणाशौच, भेद से विभक्त हो जाता है। जन्माशौच अभिपन्न-सम्बन्ध से-'सूतकाशौच' (सूतक) कहलाया है, एवं मरणाशौच शवसम्बन्ध से 'शावाशौच' कहलाया है। सूतकाशौच सम्बन्ध से ही प्रसवस्थान 'सूतिकागृह' कहलाया है। इन दो प्रधान आशौचों के अतिरिक्त उत्तरक्रियाशौच, दोषाशौच, ये दो आशौच और हैं। सम्भूय आशौच के ४ विवर्त्त हो जाते हैं। दोषाशौच सर्वथा गौण है। उत्तर-क्रियाशौच गौण है, जनन-मरणनिमित्तक सूतक-शावाशौच प्रधान हैं।

(१)—उत्पन्न होने वाले अपत्य के उत्पन्न हो जाने पर तन्मातापिता आदि सम्बन्धियों में जो नियतकाल पर्य्यन्त अशुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वही जननिमित्तक प्रथम सूतकाशौच है। (२)—मरणासन्न

व्यक्ति के मर जाने पर तन्मातापिता आदि सम्बन्धियों में नियतकालात्मिका सक्रान्त अशुचि मरण-निमित्तक द्वितीय शवाशौच है। (३)–मृत व्यक्ति के शवशरीर के वहन दाहादि उत्तरकर्म्मों से उत्पन्न अशुचि तृतीय 'उत्तरक्रियाशौच' है। (४)–एवं मद्यपानादि क्रूर कर्म्म करने वाले व्यक्ति के सहयोग से उत्पन्न अशुचि चतुर्थ दोषाशौच है।

१—जनने मातृपितृसम्बन्धिवर्गेऽशुचिः—— तज्जन्माशौचम् } —प्रधाने
२—मरणे मातृपितृसम्बन्धिवर्गेऽशुचिः——तन्मरणाशौचम् }

३—मृतस्य दहनवहनादिसम्बन्धेनाशुचिः——तदुत्तरक्रियाशौचम् } —गौणम्

४—जीवितस्य क्रूरकर्म्मणः संसर्गेणाशुचिः—तद्दोषाशौचम् } —सर्वथा गौणम्

आशौचत्रयी–मीमांसा—

अधिष्ठान भेद से शव-आशौच (अघाशौच) के तीन श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ये तीनों आशौच क्रमशः स्पर्शाशौच, कर्म्माशौच, मङ्गलाशौच, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जिस आशौच में अन्य के स्पर्श का निषेध है, वही स्पर्शाशौच है। जिस में स्पर्श का तो निषेध नहीं, किन्तु वैदिक यज्ञादि कर्म्म निषिद्ध हैं, वह कर्म्माशौच है। जिस में स्पर्श, तथा यज्ञादि कर्म्मों का तो निषेध नहीं है, अपितु विवाह यज्ञोपवीत, कन्यादान, तीर्थयात्रा, आदि माङ्गलिक कार्य्य निषिद्ध हैं, वही मङ्गलाशौच है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, इन तीन आशौचविशेषों की उपपत्ति (मौलिक रहस्य) क्या ?।

बहिःशरीर, अन्तःशरीर, सत्त्व, ये तीन स्थान इस अघाशौच की प्रतिष्ठा बनते हैं। ये ही तीन अघाशौच के पृथक् पृथक् तीन अधिष्ठान हैं। पिता की मृत्यु से पुत्र इस अघाशौच से युक्त हो जाता है। प्रथमस्थान बहिःशरीर बनता है। भूतात्माधिष्ठित बहिःशरीर (स्थूलशरीर) में प्रतिष्ठित यही आशौच शरीराशौच कहलाया है, इसी को अङ्गाशौच कहा गया है। ब्राह्मणपुत्र में यह शरीराशौच १० दिन पर्य्यन्त व्याप्त रहता है। १० दिन पर्य्यन्त यह अन्त्यजवत् अस्पृश्य है। इस काल के मध्य में यदि इस के शरीर का अन्य शरीर से सम्बन्ध हो जायगा, तो स्पर्शद्वारा अन्य शरीर भी अन्त्यजस्पर्शवत् अशुचिभाव से युक्त हो जायगा। शरीराशौच के नियत काल में निवृत्त हो जाने पर भी इसके प्राणात्मक अन्तःशरीर में अघरूप आशौच कुछ समय पर्य्यन्त और प्रतिष्ठित रहता है। प्रेतकर्म्म-समाप्तिपर्य्यन्त इस का प्राणसंस्था अशुचिभाव में परिणत रहती

है। क्योंकि इस आशौच का प्राणसंस्था-से सम्बन्ध है, कर्म्मशरीरपर इस का कोई प्रभाव नहीं रह जाता। अतएव यह स्वल्प-बन जाता है। परन्तु स्वाध्याय, दान, प्रतिग्रहग्रहण, इतर देवकर्म्म, प्रेतपिण्डक्रिया को छोडकर शेष पिण्डपितृयज्ञादि पितृकर्म्म, इस आशौचकाल में निषिद्ध है। क्योंकि इन वैदिक कर्म्मों का प्राणसंस्था से सम्बन्ध है, एवं इस समय कर्माधारभूत प्राण अशुचि-भावापन्न है। इस कर्म्माशौचकाल में यदि यह वैदिक कर्म्मों का अनुगमन करेगा, तो इनसे (अघ प्रतिबन्धक के कारण) आत्मा में किसी प्रकार का अतिशयाधान न होगा।

प्रेतकर्म्म समाप्त्यनन्तर इसकी प्राणसंस्था भी अघदोष से विमुक्त हो जाती है। फलतः अनन्तर स्पर्शवत् इसे वैदिक कर्म्मों का भी अधिकार मिल जाता है। परन्तु अभी इसके सत्त्वाधिष्ठान में अघाशौच का अनुशय विद्यमान है। और तब तक यह विद्यमान रहता है, जब तक कि इसके प्रेत पिता का प्रेतमहानात्मा अपनी अमाङ्गलिक अशुभावस्था को छोडकर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं हो जाता। जब तक महानात्मा (प्रेतात्मा) चन्द्रलोक में नहीं पहुँच जाता, तब तक पार्थिवाकर्षण-जनित दुःख से यह सन्तप्त रहता है, यही इसकी अशुभावस्था है, अमङ्गलावस्था है। एक सम्वत्सर इसे वहां पहुँचने में लगता है। सम्वत्सरान्तमें यह चन्द्रलोकस्थ स्व पितरों से सापिण्ड्यभाव प्राप्त करता हुआ नान्दीमुख बन कर मङ्गलावस्था में परिणत होता है। अतएव मृतक के एक वर्षपर्य्यन्त गृहस्थ के लिए विवाहादि माङ्गलिक कार्य्य निषिद्ध हैं। यही तीसरा साम्वत्सरिक मङ्गलाशौच है।

यह तो हुई मरणाशौच की मीमांसा। अब संक्षेप से जन्माशौच की भी मीमांसा कर लीजिए। जिस स्त्री के सन्तति होती है उसे, उसकी सपत्नी को, तथा पति को नियतकालपर्य्यन्त स्पर्शाशौच, कर्म्माशौच, दोनों का अनुगामी बनना पडता है। इतर सपिण्ड बन्धुओं के साथ केवल कर्म्माशौच का ही सम्बन्ध होता है। यदि कोई तटस्थ व्यक्ति-स्पर्शाशौच युक्त स्त्री-पुरुष का स्पर्श कर लेता है, तो उसे स्पर्शाशौच होता है, कर्म्माशौच नहीं। सद्य स्नानसे यह कर्म्म में अधिकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार जन्मसम्बन्ध में केवल स्पर्श, कर्म्म, ये दो आशौच ही होते हैं। तीसरे मङ्गलाशौच का जन्माशौच में अभाव है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, पिता की मृत्यु पर पुत्र में स्पर्श, कर्म्म, मङ्गल, तीनों आशौचों का सम्बन्ध होता है। इतर सपिण्डों के साथ केवल स्पर्शाशौच, कर्म्माशौच, इन दो आशौचों का ही सम्बन्ध होता है। जो इस पुत्र से संसर्ग करता है, उसे केवल स्पर्शाशौच ही होता है। शववहन-दहनादि उत्तरक्रिया में योग देने वालों को स्पर्शाशौच के साथ साथ कर्म्माशौच का भी अनुगामी बनना पडता है।

स्पर्शास्पर्शमीमांसा—

क्रमप्राप्त स्पर्शास्पर्श-व्यवस्था का भी विचार कर लीजिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्पर्श-कर्म्म-मङ्गल, तीनों आशौचों का काल उत्तरोत्तर बलीयान् है। मङ्गलकर्म्मप्रतिषेध लक्षण माङ्गलिक आशौच पूरे १ वर्ष पर्य्यन्त रहता है। वैदिककर्म्मप्रतिषेधलक्षण कर्म्माशौच, तथा शरीरस्पर्शप्रतिषेधलक्षण स्पर्शाशौच, इन दोनों में प्रथम बहुकालानुगत है, द्वितीय अल्पकालानुगत है। किसी विशेष परिस्थिति उत्पन्न न होने की दशा में (सामान्य दशा में) जितने समय पर्य्यन्त

कर्म्मांशौच बतलाया गया है, उसके प्रथम तृतीयांश में स्पर्शाशौच माना जायगा। उदाहरण के लिए-यदि कर्म्माशौच १ मास का है, तो स्पर्शाशौच कर्म्माशौचात्मक मास के प्रथम तृतीयांश पर्य्यन्त (आरम्भ के १० दिन पर्य्यन्त) माना जायगा। यदि कर्म्माशौच १० दिन का है, तो स्पर्शाशौच ३ दिन का माना जायगा। यदि कर्म्माशौच ३ दिन का है, तो स्पर्शाशौच १ दिन का माना जायगा। यदि कर्म्माशौच ३ दिन से भी कम का है, तो स्पर्शाशौच स्नान से पहिले पहिले माना जायगा।

१—माङ्गलिकाशौचकालः—वर्षात्मकः
२—कर्म्माशौचकालः—मासात्मकः
३—स्पर्शाशौचकालः—दशाहात्मकः
}—पुत्रे

अन्यत्र मपिण्डादिषु माङ्गलिकाशौचाभावः। तारतम्येन च निम्ना व्यवस्था—

१	१—मासात्मकः—कर्म्माशौचकालः १०—दशाहात्मकः—स्पर्शाशौचकालः
२	१०—दशाहात्मकः—कर्म्माशौचकालः ३—त्र्यहात्मकः—स्पर्शाशौचकालः
३	३—त्र्यहात्मकः—कर्म्माशौचकालः १—अहात्मकः—स्पर्शाशौचकालः
४	*-त्र्यहोभिः पूर्वं—कर्म्माशौचकालो यदि, *-तदा स्नानात् प्राक् स्पर्शाशौचकालः

जिस प्रकार कर्म्माशौच का प्रथम तृतीयांश स्पर्शाशौच के लिए नियत है, एवमेव स्पर्शाशौच का प्रथम तृतीयांश अस्थिसञ्चय-काल माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चारों का पूर्ण स्पर्शाशौच-काल क्रमशः '१०-१२-१५-३०' दिनों का माना गया है। इनका प्रथम तृतीयांश क्रमशः चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, दशम-अह', पड़ता है। एवं पूर्ण-स्पर्शाशौचपक्ष में ये ही दिन क्रमशः चारो वर्णों के अस्थिसञ्चय-काल हैं। यदि स्पर्शाशौच तीन दिन का है, तो उस दशा में चारों वर्णों के अस्थिसञ्चय के लिए द्वितीय दिन गृहीत मान लिया गया है। यही मरणाशौचसम्बन्धिनी स्पर्शास्पर्शव्यवस्था का दिग्दर्शन है।

जननिमित्तक सूतकाशौचसम्बन्धी स्पर्शास्पर्श के सम्बन्ध में भी विशेषता ज्ञातव्य है। पुत्र, अथवा तो कन्या, दोनों की उत्पत्ति से प्रसवकर्त्री सूतिका के साथ दशरात्रिपर्य्यन्त अस्पृश्य-स्वलक्षण शरीराशौच (स्पर्शाशौच) का सम्बन्ध है। पिता स्नानमात्र से स्पर्शाशौच से विमुक्त है। माता पिता से अतिरिक्त सपिण्डों के साथ अपत्योत्पत्ति से स्पर्शाशौच का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि पति (सूतिकापति) सूतिका का स्पर्श कर लेता है, तो तद्गत अस्पृश्यता-प्रयोजक अघ का स्पर्श द्वारा इस में भी सङ्क्रमण हो जाता है। एवं उस दशा में इसे भी १० रात्रिपर्य्यन्त अस्पृश्य रहना पड़ता है। यदि सपिण्डों में से कोई सूतिका का स्पर्श कर लेते हैं, तो स्नानमात्र से इन का स्पर्शजनित अशुचिभाव निवृत्त हो जाता है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्यमीमांसा—

मरणाशौच, तथा जन्माशौच में कौन कौन कर्म्म ग्राह्य, तथा कौन कौन त्याज्य हैं ?, इस प्रश्न की मीमांसा भी प्रसङ्गिक है। शास्त्ररहस्यवेत्ता विद्वानों का इस सम्बन्ध में आदेश है कि, उभयविध आशौच काल में भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ये पाँच महायज्ञ, नित्यविहित सन्ध्योपासनकर्म्म, तथा यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह, ये ६ ओं नित्यकर्म्म छोड़ देने चाहिएँ। ये १२ हों कर्म्म प्रत्येक गृहस्थी के लिए नित्यकर्म्म माने गए हैं। एवं अवान्तराय के सम्बन्ध से आशौचकाल में १२ हों कर्म्म वर्ज्य हैं। दाक्षिणात्य एवं गौड़सम्प्रदायभेद से इन वर्ज्य सन्ध्योपासनादि कर्म्मों के सम्बन्ध में कुछ एक विशेष धर्म्मों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए सन्ध्योपासन-कर्म्म को ही लीजिए।

१-आचमन, २-प्राणायाम, ३-आचमन, ४-मार्ज्जन ५-आचमन, ६-सूर्य्यार्घ्यदान, ७-सूर्य्योपस्थान, ८-गायत्रीजप, इन आठ अवान्तर कर्म्मों से सन्ध्यावन्दन-कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अवान्तर ८ कर्म्म करणार्थ हैं, तत्समष्टिलक्षण सन्ध्यावन्दन पुरुषार्थकर्म्म है। कितने एक धर्म्माचार्य्यों का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, आशौच प्राप्त होने पर आचमन, तथा सूर्य्योपस्थान नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम नहीं करना, यह एक पक्ष है। बिना मन्त्रप्रयोग के प्राणायाम करना, यह पक्षान्तर है। मार्ज्जन, तथा गायत्री जप नहीं करना, यह एक पक्ष है। मानसमन्त्रद्वारा गायत्री जप करना, पक्षान्तर है।

मन्त्रोच्चारणपूर्वक सूर्यार्घ्यदान करना ही चाहिए, यह एक पक्ष है। दाक्षिणात्य कहते हैं, केवल समन्त्रक सूर्यार्घ्यदान करना चाहिए। गौड कहते हैं, सूर्यार्घ्यदान भी नहीं करना चाहिए। अपितु प्रदक्षिणापूर्वक सूर्य का ध्यान करते हुए नमस्कारमात्र करना चाहिए। दर्भ-जल से विवर्जित ऐसी मानसी सन्ध्या आशौचकाल में भी अवश्य ही करनी चाहिए। यही सन्ध्यावन्दनकर्म्म में विशेष संशोधन है।

पञ्चमहायज्ञान्तर्गत ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य्य है वेदाध्ययन, तथा वेदाध्यापन। आशौचकाल में यह ब्रह्मयज्ञ सर्वथा वर्जित ही माना गया है। पिण्डदान श्राद्धकर्म्म है, उदकदान तर्पणकर्म्म है। श्राद्ध-तर्पण कर्म्म ही दूसरा पितृयज्ञ नामक महायज्ञ है। इनमें आभ्युदयिक श्राद्ध तो जननाशौचकाल में भी ग्राह्य है। दूसरे मरणाशौचसम्बन्ध में कुछ विशेषताएं और हैं। मरने के दिन से आरम्भ कर १० वें दिन पर्य्यन्त 'दशगात्रश्राद्ध' होता है एवं आद्यश्राद्ध से आरम्भ कर सपिण्डीकरणपर्य्यन्त १६ श्राद्ध होते हैं। दशगात्रश्राद्ध, तथा षोडशश्राद्ध मरणाशौचकाल में ही विहित हैं। अतः ये दोनों मरणाशौचकाल में अनिवार्य्य हैं। षोडश श्राद्धान्तर्गत सपिण्डीकरण के अनन्तर ही श्राद्धकर्त्ता का पुत्र आशौच सम्बन्ध से विमुक्त होता है। फलतः दोनों की आशौचकाल में अनिवार्य्यता सिद्ध हो जाती है। मातापिता के निधन पर पुत्र के साथ दशाहव्याप्य, द्वादशाहव्याप्य, सम्वत्सरव्याप्य (१०-१२ दिन, १ वर्ष) भेद से तीन प्रकार से आशौच का सम्बन्ध होता है। दशाहव्याप्य आशौच १० वीं रात्रि के समाप्त हो जाने पर, दशगात्रश्राद्धकर्म्म समाप्त हो जाने से निवृत्त हो जाता है। द्वादशाहव्याप्य आशौच १२ वीं रात्रि के समाप्त हो जाने पर षोडशश्राद्ध के अन्तिम कर्म्म स्थानीय सपिण्डीकरणकर्म्म से निवृत्त हो जाता है। एवं तीसरा सम्वत्सरव्याप्य आशौच पूरे चान्द्रसम्वत्सर के अवसान पर उस समय निवृत्त होता है, जब कि प्रेतात्मा चन्द्रलोक में जाकर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है।

सपिण्डबन्धुओं के साथ साथ त्र्यहव्याप्य, दशाहव्याप्य, इन दो आशौचों का ही सम्बन्ध होता है। इन में त्र्यहव्याप्य आशौच तीसरी रात्रि के अवसान पर अस्थिसञ्चय-कर्म्मानन्तर निवृत्त हो जाता है, एवं दूसरा दशाहव्याप्य आशौच १० वीं रात्रि के अवसान पर दशगात्रश्राद्धानन्तर निवृत्त होता है। इस विवेचन से प्रकृत में यही बतलाया है कि, द्वादशगात्रश्राद्ध, तथा षोडशश्राद्ध, दोनों आशौच-निवर्त्तक श्राद्ध हैं। अतएव ये आशौच काल में अवश्यमेव ग्राह्य हैं। 'अमावास्या' नामक पर्व में होने वाला 'पिण्डपितृयज्ञ' नामक पितृयज्ञ अवश्यमेव आशौच काल में विवर्ज्य है। वर्ज्य पितृकर्म्म से पिण्डपितृयज्ञ ही अभिप्रेत है। यही पितृयज्ञ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है।

स्वयं यज्ञ करना, यजमान के यज्ञ में ऋत्विग्रूपेण वृत होना 'देवयज्ञ' नामक महायज्ञ है। आशौचकाल में ऋत्विग्रूपेण वृत होना तो एकान्ततः वर्ज्य है। दूसरे शब्दों में याजनकर्म्म सर्वथा वर्ज्य है। दूसरे होमात्मक स्वकर्तृक यजनकर्म्म में कुछ एक विशेष नियमों का अनुगमन करना पडता

है। यदि पूरे दिन पर्य्यन्त आहुति सम्बन्ध के बिना भी आहवनीयाग्नि कुण्ड में सुरक्षित है, अग्निविच्छेद नहीं हुआ है, तो उस दशा में आशौचकाल में अग्निहोम नहीं करना चाहिए। आशौचानन्तर उसी अविच्छिन्न अग्नि से होमकर्म्म यथावत् प्रक्रान्त हो जायगा, पुनराधान की आवश्यकता न पड़ेगी। यह पक्ष बह्‌वृचों से सम्बन्ध रखता है। इनका अग्नि वैध समिद्धाग्नि है। अतएव यह १० दिन पर्य्यन्त अविच्छिन्न रह जाता है। तैत्तिरीयादि का अग्नि समिन्धनाभाव से अधिक से अधिक ४ दिन पर्य्यन्त आहुतिसम्बन्ध के बिना अविच्छिन्न रह सकता है। चौथे दिन तो यह लौकिक अग्नि की कक्षा में आजाता है। क्योंकि अग्नि का अविच्छेद अपेक्षित है, वह बिना आहुति सम्बन्ध के सम्भव नहीं है अतएव इस पक्ष में आशौच रहने पर भी शुष्कान्न से, किंवा फलादि से अन्य ब्राह्मण के द्वारा होम कराते रहना आवश्यक है।

इसी प्रकार स्मार्त्तहोम में भी आशौच प्राप्त होने पर स्वयं न करते हुए ब्राह्मण के द्वारा अकृतान्न कृताकृतान्न, दोनों में से किसी एक द्रव्य से स्मार्त्त होम कराते रहना आवश्यक है। प्रत्येक दशा में आशौच काल में कृतान्न का सम्बन्ध सर्वथा वर्ज्य ही माना गया है। ओदन (भात), सक्तु (सत्तू), लाज (खील), मोदक, आदि 'कृतान्न' हैं। तण्डुल, माष, मुद्ग, आदि 'कृताकृतान्न' हैं। एवं व्रीहि, गोधूमादि 'अकृतान्न' हैं। वैध स्नान (तीर्थादि स्नान, तथा नित्यविहित समन्त्रक शुद्धिस्नान), पञ्चदेवतापूजनात्मक नित्यविहित उपासना, आदि स्मार्त्त कर्म्म आशौचकाल में वर्ज्य हैं। आगमशास्त्रोक्त (तन्त्रमार्गानुगत) अनुष्ठान सकाम निष्काम, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। ये भी देवयजनकर्म्म में ही अन्तर्भूत हैं। यदि आगमोक्त अनुष्ठान काम्य है, विशेषकामना सिद्धि के लिए इसका आरम्भ हुआ है, और उसी मध्य में यदि आशौच उपस्थित हो जाता है, तो बाह्यक्रियाकलाप छोड़ देना चाहिए। केवल मानसी प्रक्रिया के द्वारा ध्यानयोग से अमन्त्रक अपने सकल्प को सुरक्षित रखना चाहिए। यदि यही अनुष्ठान निष्काम है तो आशौच में भी यह यथावत् प्रक्रान्त रहेगा। न सकाम का नियम है, न निष्काम का, उस दशा में आशौचावसर पर इसे सर्वथा छोड़ ही देना पड़ेगा। आशौच-निवृत्त्यनन्तर पुनः यह कर्म्म प्रक्रान्त होगा। ये ही श्रौत-स्मार्त्त लक्षण इस देवयज्ञ-कर्म्म की कुछ एक विशेषताएँ हैं।

दान देना, तथा प्रतिग्रहग्रहण करना, दोनों की समष्टि भूतयज्ञ है। अन्य के लिए श्रद्धापूर्वक दिया जाने वाला द्रव्य धर्म्मपरिभाषा में 'बलि' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस बलि का प्रदान दान है, ग्रहण प्रतिग्रह है, समष्टि भूतयज्ञ है। पुत्रोत्पन्न हो जाने पर नालच्छेद से पहिले पहिले सुवर्ण, भूमि, पशु धान्य, गुड तिल, घृत, वस्त्र, तुरग, रथ, छत्र, मत्स्य शय्यासनादि उपकरण, इनका दान अवश्यमेव हो सकता है। साथ ही इनका ग्रहण भी किया जा सकता है। नालच्छेदानन्तर ही दाता में आशौचदोष का उदय होता है। अतः इससे पहिले दाता

प्रतिग्रहीता, दोनों की भूतयज्ञमर्य्यादा सुरक्षित रहती है। नालच्छेदानन्तर आशौच का सङ्क्रमण हो जाता है उस दशा में आशौच से युक्त गृहस्थी के लिए इस भूतयज्ञ का निषेध है। हाँ, इस आशौचदशा में भी लवण, मधु, पुष्प, फल, शाक (अग्नि सम्बन्ध विरहित, काष्ठ, लोष्ट, तृण, पर्ण, दधि, घृत, तैल, मृगचर्म्म, ओषधि, व्रीह, गोधूमादि शुष्कान्न, इत्यादि परिगणित पदार्थ अशौची की अनुमति से अन्य व्यक्ति अपने व्यवहार में ला सकता है। अन्य परिपक्व अन्नादि लक्षण दान-प्रतिग्रह रूप भूतयज्ञ सर्वथा वर्ज्य है। ये ही भूतयज्ञ के विशेष अनुबन्ध हैं।

अनियत काल में आश्रयाकांक्षी आगत मनुष्यों का भोजन-स्थानादि से सत्कार करना ही मनुष्ययज्ञ है। जनन-मरणलक्षण दोनों ही आशौचों में आगत अतिथियों को आशौच से युक्त कुल का आतिथ्य स्वीकार करना वर्ज्य है। क्योंकि भोजनादि के सम्पर्क से अतिथि भी आशौचदोष से युक्त हो जाता है। यदि अतिशय स्नेह के कारण कोई आगत मित्रादि इस आशौच से ममत्व रखता है, तो उस दशा में वह ऐसे अन्न का भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु इस आशौचसंसर्ग में आकर नियतकाल पर्य्यन्त इसे भी अवश्य ही इस अशुचिसम्बन्ध से युक्त रहना पड़ता है। अतएव यह भी तत्समय पर्य्यन्त के लिए आशौचविरहित शुचिभावापन्न गृहस्थियों के लिए अव्यवहार्य बन जाता है। यही मनुष्ययज्ञानुगत विशेष वक्तव्य है। इन श्रौत पाँच महायज्ञों से ही यजन-याजनादि इतर स्मार्त्त कर्म्म भी गतार्थ है।

बतलाया गया है कि, बहिःशरीर, अन्तःशरीर, सत्त्व, इन तीन अधिष्ठानों के सम्बन्ध से आशौच कर्म्म स्पर्शाशौच, कर्म्माशौच मङ्गलाशौच, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस आशौचत्रयी के सम्बन्ध में कुछ एक विशेषताएँ ज्ञातव्य हैं। श्राद्धकर्त्ता पुत्र को १० दिन का स्पर्शाशौच होता है, सपिण्डवंशजों को ३ ही दिन का स्पर्शाशौच होता है। आशौचावस्थापन्न श्राद्धकर्त्ता पुत्र को बड़े पवित्रभाव से रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य्य, इन्द्रियनिग्रह, अधःशयन, पराङ्गस्पर्शवर्जन, अशुचिभावापन्न जड़ तथा चेतनों के स्पर्श का वर्जन, तैलाभ्यङ्गादि परिवर्जन, आदि नियमविशेषों का इसे पालन करना चाहिए। अशुचिभावापन्न (अघदोषापन्न) व्यक्ति के कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यभावों की यही संक्षिप्त मीमांसा है।

आशौचनिमित्तमीमांसा

जन्म, मृत्यु, क्रिया, दोष, भेद से अघाशौच के चार निमित्त बतलाए गए हैं। अब इस सम्बन्ध में विचार यह करना है कि, ये चारों भाव अघाशौच के निमित्त कैसे, तथा क्यों बनते हैं?, एवं कैसे इनके समावेश से परम्परया अन्तरात्मा अशुचिभावापन्न हो जाता है? । चारों में से क्रमप्राप्त पहिले जन्मनिमित्तक सूतकाशौच की ही मीमांसा कीजिए। जन्माशौच की मूलप्रतिष्ठा योनिस्थानीय स्त्री का वह 'रज' माना गया है, जो पुरुष के शुक्र से मिथुनीभाव में परिणत होकर गर्भस्थिति का

का कारण बनता है। योनिस्थानीय यह 'रज' किसी विशेष प्राण के सम्बन्ध से अशुचिभाव में परिणत हो जाता है। इसी मलिन रज के सम्बन्ध से रजःस्वला स्त्री 'मलिना' कहलाई है।

सृष्टि के आरम्भक तत्त्व असङ्ग, ससङ्ग, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। प्राणमात्रा असङ्ग तत्त्व है, भूतमात्रा ससङ्ग तत्त्व है। ससङ्ग भूतमात्रा-गर्भित असङ्ग प्राणमात्रा से असङ्ग प्राणसृष्टि होती है, जिसे 'गुणसृष्टि' भी कहा जाता है। एवं असङ्ग प्राणमात्रा-गर्भित ससङ्ग भूतमात्रा से ससङ्ग भूतसृष्टि होती है, जिसे कि विकारसृष्टि भी कहा जाता है। गुणात्मिका प्राणसृष्टि अक्षरसृष्टि है, एवं इसमें प्राण का प्राधान्य है। असङ्ग प्राणमात्रा को प्रधान आरम्भक बनाने वाली अक्षरसृष्टि अमूर्त्तसृष्टि है। एवं ससङ्ग भूतमात्रा को प्रधान आरम्भक बनाने वाली क्षरसृष्टि मूर्त्तसृष्टि है। अमूर्त्तसृष्टि अमृतप्रधाना है, मूर्त्तसृष्टि मृत्युप्रधाना है।

दोनों में असङ्ग प्राणतत्त्व अपने असङ्ग धर्म्म से जहाँ अधामच्छद है, वहाँ यह प्राणतत्त्व भूतमात्रा से बहिर्भूत रहने से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दातीत बनता हुआ इन्द्रियातीत भी है। अपनी अवस्थिति के लिए भूतवत् स्थान न रोकने वाले इस अमूर्त्त प्राणतत्त्व का जिस भौतिक पदार्थ में पूर्ण विकास रहता है, वह भौतिक पदार्थ भी प्राणपूर्णता से अधामच्छद बन जाता है। एवं यह श्रेय पाँचों भूतों में केवल तेज को, तथा तत्प्रवर्ग्यभूत चक्षुरिन्द्रिय को ही प्राप्त है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' इत्यादि प्रश्नोपनिषत् के अनुसार सौर प्रकाश (तेजो नामक भूत) में प्राण का पूर्ण विकास है। अग्नि, दीपक, विद्युत, चन्द्रमा, आदि में उपलब्ध तेज (प्रकाश) सौर इन्द्रप्राण का ही प्रवर्ग्यांश है, जैसा कि "रूपं रूपं मघवा बोभवीति"—"इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदच्चरत्"—"इत्था चन्द्रमसो गृहे"—"विद्युद्वा आदित्यः" इत्यादि श्रुतिवचनों से प्रमाणित है। 'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' इत्यादि ऋग्वर्णन के अनुसार दाह्य सोमतत्त्व ही दाहक सावित्राग्निमय सौर 'मघवा' नामक इन्द्र से युक्त हो कर प्रकाशस्वरूप में परिणत होता है। कहना यही है कि, प्राणपूर्णता से ही यह प्रकाश अधामच्छद, तथा असङ्ग बन रहा है। एक प्रासाद में १० दीपक रख दीजिए, दसों का प्रकाश निर्विरोध असङ्गरूप से एक ही प्रासाद में अन्तर्भुक्त हो जायगा। यदि पार्थिव भूतादिवत् प्रकाश भी धामच्छद होता, तो एक दीपप्रकाशमण्डल में अन्य दीपप्रकाशमण्डल का प्रवेश असम्भव था। प्राणपरिपूर्ण, अतएव अधामच्छद, तथा असङ्ग बने हुए इसी सौर तेजोभाग से चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण हुआ है। अतएव यह भी अधामच्छद, तथा असङ्ग है। पुरोऽवस्थित पदार्थों के सभी प्रतिबिम्ब सूक्ष्मतारामवर्त्ती चक्षुपटल पर निर्विरोध समाविष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वर्त्तमान वैज्ञानिकों का पदार्थमात्र को धामच्छद बतलाना क्या प्रौढिवाद नहीं माना जायगा ?।

अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, असङ्गप्राणात्मिका भूतगर्भिता प्राणसृष्टि अमूर्त्ता है। इस अमूर्त्तलक्षणा प्राणसृष्टि का मुख्य उद्गमस्थान प्राणमय-स्वयम्भू-विवर्त्त माना गया है। स्वयम्भू के

अनन्तर आपोमय परमेष्ठी विवर्त्त प्रतिष्ठित है। यहीं से ससङ्ग भूतमात्रात्मिका मूर्त्तलक्षणा मैथुनीसृष्टि (विकारसृष्टि, भूतसृष्टि) का उपक्रम होता है। पारमेष्ठ्य स्नेहगुणप्रधान भृगु, तेजोगुणप्रधान अङ्गिरा, उभयात्मक अत्रि, इन तीन तत्त्वों का समष्टि ही 'आप' है। इनमें घन-तरल-विरलभेद से भृगु की भी आपः, वायुः, सोमः, ये तीन अवस्था हैं। एवं अङ्गिरा की भी अग्निः, यमः, आदित्यः, भेद से तीन अवस्था हैं। परन्तु तीसरे अत्रि की एक ही अवस्था है। अतएव 'न त्रिः' निर्वचन से इस तृतीय पार मेष्ठ्यप्राण को 'अत्रि' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी अत्रिप्राणसमन्वय से पारमेष्ठ्य सोम पिण्डरूप में परिणत होकर भामच्छद बनता हुआ सुप्रसिद्ध चन्द्रमा-रूप में परिणत होता है। अत्रिप्राणसम्बन्ध से ही पुराणशास्त्र ने चन्द्रमा को अत्रिपुत्र माना है (देखिए ब्रह्माण्डपुराण ३० अ०)।

स्नेहगुणक पारमेष्ठ्य सोम के प्राधान्य से अत्रिप्राण प्राणात्मक रहता हुआ भी आगे जाकर भामच्छद बन जाता है। सर्वथा विभक्त भौतिक परमाणुओं को एकत्र समन्वित रखना इसी अत्रिप्राण का कर्म्म माना जा सकता है। मूर्त्तसृष्टि का अधिष्ठान सोमावच्छिन्न यही अत्रिप्राण है। भार्गव सोम, तथा आङ्गिरस अग्नि, दोनों के चितिलक्षण अन्तर्य्याम सम्बन्ध का संयोजक बन कर इन्हें मूर्त्तरूप दे डालना इसी अत्रिप्राण का कर्म्म है। तत्तत्-विशेष पदार्थों में यह अत्रिप्राणमात्रा तारतम्य से प्रतिष्ठित रहती है। पाषाणादि घनतम द्रव्यों में अत्रिप्राण अधिक मात्रा में विशिष्ट है। मृण्मयपात्र से सौर रश्मियाँ अवारपारीण सम्बन्ध करने में असमर्थ हैं। यदि मिट्टी में से अत्रिप्राण का अधिकांश भाग निकाल लिया जाता है, तो यही मिट्टी 'काच' बन जाती है। सौररश्मियाँ अवारपारीण बन जाती हैं। वायु में अत्रि मात्रा और भी स्वल्प है। परमाणुओं को घनता प्रदान करना यद्यपि अत्रिप्राण का कर्म्म बतलाया गया है, तथापि वस्तुगत्या यह घनता 'अश्मासोम' का ही धर्म्म माना जायगा। अत्रिप्राण को केवल अश्मासोम का सहायक माना जायगा। अत्रिप्राण का अपना प्रातिस्विक धर्म्म तो एकमात्र पारदर्शकता प्रतिबन्धकत्व ही माना गया है। तम प्रधान मलभाग को वस्तुओं में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित कर उन वस्तुओं की पारदर्शकता का अभिभव कर डालना ही अत्रिप्राण का मुख्य कर्म्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, यद्यपि एक मिट्टी का पात्र काचपात्र की अपेक्षा स्वल्परूप से संघटित है, एवं काचपात्र के परमाणु मृण्मयपात्र की अपेक्षा कहीं अधिक संश्लिष्ट हैं। तथापि सौर रश्मियाँ मृण्मयपात्र के को छेद कर बाहिर नहीं निकल सकती, किन्तु काचपात्र से बाहिर निकल जाती हैं। एक तिल, जो किकाच की अपेक्षा सर्वथा स्वल्पावयव है, सौररश्मि का अवरोधक बन जाता है। आगतरश्मि के आगे एक तिल रख दीजिए, रश्मि तिल से टकराकर वापस प्रतिफलित हो जायगा। उधर तिल से अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्टावयव काच रश्मि का प्रतिफलन करने में असमर्थ हो जायगा। हाँ यदि इसी काच के पृष्ठभाग में अनुकूलभूतसहयोग से अत्रिप्राण का सहयोग करा दिया जायगा, तो वही काच दर्पणरूप में परिणत होता हुआ अवश्यमेव रश्मि का अवरोधक बन जायगा। इसी आधार पर पारदर्शकताप्रतिबन्धकत्व ही अत्रि का मुख्य धर्म्म माना जायगा। पार्थिव भूमा (भूच्छाया), तथा चान्द्रभूमा, दोनों में अत्रिप्राण का

साम्राज्य है। पार्थिव छायामय अत्रि से चन्द्रग्रहण होता है, एवं चान्द्रच्छायामय अत्रि से सूर्य्यग्रहण होता है। फलत ग्रहणकाल में चान्द्र-सौर तेज भी इस मलीमस-ज्योतिर्विरोधी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से उसी प्रकार अथाशुचिभाव में परिणत हो जाता है, जैसे कि जननादि निमित्तों से महानात्मा अशुचि भाव में परिणत हो जाता है। ग्रहणकाल में पार्थिव प्रजा आशौचसम्बन्ध से क्यों युक्त हो जाती है ?, ग्रहणकाल में हम अस्पृश्य क्यों बन जाते हैं ?, भोजनादि कर्म्म ग्रहण में क्यों निषिद्ध हैं ?, इत्यादि प्रश्नों की मौलिक उपपत्ति यही अत्रिप्राणजनित अशुचिभाव है, जिसके सम्पर्क से सूर्य चन्द्रमण्डलयुक्ता पार्थिव प्रजा अपने आपको नहीं बचा सकती। अत्रिप्राण के इन गुप्त रहस्यों का जिस वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, साक्षात्कार करके लोक में प्रवृत्त किया, वही वैज्ञानिक, एवं तद्वंशधर भी तत्समय की प्रणाली के अनुसार 'अत्रि' नाम से ही प्रसिद्ध हुए, जैसाकि-'अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्येऽशक्नुवन्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

उक्त अत्रिप्राणमीमांसा का निष्कर्ष यही हुआ कि-पारदर्शकताप्रतिबन्धक, ज्योतिर्विरोधी, अत्रि प्राण ही अग्नि-सोमसमन्वय में मैथुनीसृष्टि का प्रधान अधिष्ठाता बनता है। अत्रिप्राण के सहयोग के बिना केवल अग्निसोम का समन्वय भूतसृष्टिकर्म्म में सर्वथा असमर्थ है। कल्पचिकित्सा में नवीन शरीर का उदय होता है, अतएव इसे कायाकल्प कहा जाता है। इसकी सिद्धि के लिए पहिले पूर्वशरीर को सडाना-गलाना पडता है, अनन्तर नवीन अङ्कुरोदय होता है। यह सडान-गलान उसी अत्रिसम्पत्ति प्राप्ति का द्वार है। बिना उसके सहयोग के कल्पचिकित्सा भी असम्भव है। किसी भी भूतसृष्टि को उदाहरण बना लीजिए। सर्वत्र आपको मलीमस अत्रिप्राण के सम्बन्ध का साक्षात्कार होगा। इस स्वाभाविक सृष्टिनियमानुसार पुरुषसृष्टि में भी अवश्यमेव अत्रिप्राण का सहयोग स्वीकार करना पडता है।

स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित रज (रक्त-खून) अग्नि है, पुरुष के अण्डकोश में प्रतिष्ठित स्खलित शुक्र सोम है। दोनों का मिथुनभाव रज प्रतिष्ठित अत्रिप्राण के सहयोग से ही गर्भाधान में समर्थ होता है। स्त्री के रज की शुद्ध, मलिन, भेद से दो अवस्था मानी गई हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वानुगत भागों का प्रतिक्षण विस्रंसन किया करता है। यही विस्रस्तभाग प्रवर्ग्य है, यही मलभाग है, यही सञ्चयभाव में आकर कालान्तर में अशुचिभाव का कारण बन जाता है। इसी प्रवर्ग्य-मलीमसभाव के आधार पर शरीरादि मलों की शुद्धि विहित है, जैसा कि पूर्वप्रतिपादित पञ्चधर्म्मशुद्धिसंस्कार-व्याख्या में विस्तार से बतलाया जा चुका है। शुद्ध रज से भी इस स्वाभाविक विस्रंसन मर्य्यादा के प्रभाव से प्रवर्ग्यभूत मलभाग (दग्ध रज) विस्रस्त होता रहता है। यह सञ्चित होते होते प्रतिमास में नियत तिथियों में प्रभूतमात्रा में परिणत होता हुआ बाहिर निकल पडता है। यही रज की मलिनावस्था, किंवा मलिनरज है। निर्गमन से आरम्भ कर निर्गमन समाप्ति पर्य्यन्त इसी मलिन रज के सम्बन्ध से स्त्री

रज स्वला कहलाई है। इसी मलिनरज में पारदर्शकताप्रतिबन्धक मूर्त्तसृष्टिप्रवर्त्तक अत्रिप्राण विकसित रहता है। अतएव रजःस्वला स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है। रज प्रतिष्ठित यह अत्रिप्राण एक ओर जहाँ मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक है, वहाँ दूसरी ओर यही अपने पारदर्शकताप्रतिबन्धक धर्म्म से सूर्य्यगत अमूर्त्त प्राणतत्त्व से अनुगृहीत प्राणात्मक अन्तरात्मा का विरोधी है। दूसरे शब्दों में सौरप्राणात्मक शुक्रगत ब्रह्म-क्षत्र-विड्भावप्रवर्त्तक दिव्यवीर्य्य का विरोधी है। इसे इस रजोगत मलीमस अत्रि-सम्बन्ध से, तद्गत अशुचिसम्बन्ध-संक्रमण से बचाने के लिए ही आत्रेयी स्त्री के स्पर्श का दृढ़तम निषेध हुआ है। अवश्य ही रजःस्वला स्त्री के स्पर्श से स्पर्शकर्त्ता एनोदोष का पात्र बनता हुआ 'एनस्वी' (पापी) बन जाता है। स्मृति ने तो इस सम्बन्ध में अनेक आदेश दिए ही हैं, साथ ही साक्षात् श्रुति ने भी इस स्पर्शदोष से द्विजाति को एन भी बतलाया है। देखिए!

"तद्वैतद् वाः–रेतश्चम्मेन् वा, यस्मिन्वा बभ्रुः, तद्धस्म पृच्छन्ति–अत्रेवत्या ३ इति। ततोऽत्रिः सम्बभूव। तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्वी। एतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः"

—शत० १।४।४।१३।

अत्रि का रज के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इस रज को आग्नेय माना गया है। इधर–'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० १०।४।३।६।) के अनुसार अग्नितत्त्व-वाङ्मय बनता हुआ छन्दछन्द है। अत्रिप्राण तद्रूप बन कर ही रज में प्रतिष्ठित होता है, अतएव प्राणात्मक इस अत्रितत्त्व को 'वाङ्मय' भी मान लिया गया है, जैसा कि –'वागेवात्रिः' (शत० १४।४।१।२।) इत्यादि निगम से प्रमाणित है। जिस प्रकार मांस में *पिशाचप्राण रहता है, एवमेव रक्त में राक्षसप्राण का प्राधान्य रहता है। पाठकों को यह जान कर कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, रक्तगत यही राक्षस-प्राण अपनी स्वाभाविक अवरोध-शक्ति से स्त्री के शोणित में आहुत पुरुषरेत के आधान का कारण बनता है। आगत वस्तु को अपने अधिकार में कर लेना ही इस राक्षसप्राण का मुख्य धर्म्म है। जिस स्त्री के शोणित का राक्षसप्राण शिथिल होता है, वह आहुत रेत की रक्षा में असमर्थ है। एकमात्र इसी आधार पर राक्षसप्राण को रेतोधा मान लिया गया है। राक्षसप्राण का असृक् से सम्बन्ध है, निम्न लिखित वचन इसी स्थिति का समर्थन कर रहे हैं—

---

*इसी मांसगत पिशाचप्राण के ह्रास से शुष्करोग (सूखा) का प्रादुर्भाव होता है, जो कि रोग उपदंशादिवत् सांक्रामिक रोग माना गया है। अतएव माताएँ अपने बच्चों को 'सूखा' रोग वाले बच्चों के संसर्ग से बचाती रहती हैं।

१—"असृग्भाजनानि वै रक्षांसि" (कौ० ब्रा० १०।४।)।

२—"रक्षसां ह्येष भागः, यदसृक्" (शत० ३।८।२।१४।)।

३—"रक्षांसि योषितमनुसचन्ते । तदुत रक्षांस्येव रेत आदधति"

—शत० ३।८।२।१४।

मूर्त्तसृष्टिप्रवर्त्तक अग्निप्राण राक्षसप्राणयुक्त इसी रज (रक्त) में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इसकी राक्षसप्राण से तुलना की जा सकती है। यही गर्भाधान इसका भी व्यापार है। राक्षसप्राणावच्छिन्न, मलीमस, मलिनरजःप्रतिष्ठित, अतएव सर्वथा अशुचिभावात्मक अत्रितत्त्व के इसी स्वरूपधर्म्म का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—अत्रिणो वै रक्षांसि" (ष० ब्रा० ३।७।)।

२—"पाप्मानोऽत्रिणः" (ष० ब्रा० ३।१।)।

३—"रक्षांसि वै पाप्मा—अत्रिणः" (तै० ब्रा० ७।२।)।

एक प्रासाङ्गिक रहस्य का विश्लेषण और। उक्त कथन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है, कि, स्त्री का रज ऋतुकाल में पाप्मा-अत्रिप्राण के विकास से आत्यन्तिकरूप-से मलिन हो जाता है। प्रतिमास स्त्री इस पाप्मा से युक्त रहती है। ऋतुस्नानानन्तर यद्यपि ऋतुकाल को छोड़ कर यह शेष दिनों में पवित्र रहती है, तथापि अनुशयरूप से यह पाप्मा सदा ही (यावज्जीवन) इस के रज में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव वेदस्वाध्यायादि दिव्यप्राणप्रधान कर्म्मों में शूद्रवत् इसे भी अनधिकृत ही माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन ४ वर्णों में से शूद्र तो जन्मना इस पाप्मा से युक्त है ही, साथ ही जगतीछन्दोयुक्त सायंकालीन वैश्वदेव-तेज से सम्भूत वैश्य भी सर्वथा पूत नहीं है। सायंकालगत तमोमय आसुर पाप्मा के अनुशय से यह भी पापसम्भूत ही माना गया है। इसी आधार पर भगवान् ने-'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः' (श्रीमद्भगवद्गीता) रूप से स्त्री-वैश्य-शूद्र-तीनों को पापयोनि माना है। इसी अनुशय के सम्बन्ध से शूद्रवर्णाधिष्ठाता पूषा को इस विड्वीर्य्य का भी अधिष्ठाता मान लिया गया है, जैसा कि,—"पूषा विशां विट्पतिः" (तै० ब्रा० ७।५७।४।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। क्योंकि वैश्य में विश्वेदेव का प्राधान्य है, अतएव यह पापयोनि बनता हुआ भी वेदाधिकारसिद्ध योग्यता का पात्र मान लिया गया है। विशुद्ध प्राणविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली ये व्यवस्थाएँ अवश्य ही तत्त्वपूर्ण, अतएव सर्वथा मान्य हैं, जिनका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

१—"स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशतिमसृजत। तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत। न काचन देवता शूद्रो मनुष्यः। तस्माच्छूद्र उत बहुपशुः, अयज्ञियो, विदेवो हि। न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत। तस्मात् पादावनेज्यन्नातिवर्द्धते। पत्तो हि सृष्टः" (तां० ब्रा० ६।१।११।)।

२–"असतो वा एष सम्भूतः, यच्छूद्रः" (तै० ब्रा० ३।२।३।६।)।

३–"असुर्य्यः शूद्रः" (तै० ब्रा० १।२।६।७)।

४–"अनृतं–स्त्री, शूद्रः, श्वा:, कृष्णः शकुनिः। तानि न प्रेक्षेत" (शत० १४।१।१।३१)।

इसी सम्बन्ध में प्रसङ्गत हमे उस प्रश्न की भी मीमांसा कर लेनी चाहिए, जिसने अनेक प्रकार के सन्देहों को प्रकट कर रक्खा है। स्त्रीरज में ऋतुकाल में (स्नानानन्तर) गर्भाधान होता है। शुक्र–शोणित के मिथुनभाव में प्रविष्ट औपपातिक जीवात्मा को मातृगत रज, तथा पितृ शुक्र, दोनों के विशेष धर्म्मों का पात्र बनना पड़ता है। यदि पिता के शुक्र में उपदंश के कीटाणु विद्यमान हैं, तो तदपत्य को भी सङ्क्रमणप्रवाह से इसका कुफल भोगना पड़ता है। एवमेव माता के मलिनरज अनुशय से भी यह अपत्य वञ्चित नहीं रह सकता। दुग्ध प्रवर्ग्य–मलीमस–अशुचिभावापन्न–साङ्क्रामिक इस दूषित मातृरज के आग्नेय अनुशय का गर्भस्थ डिम्भ के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है। दशमासानन्तर जब यह गर्भ भूमिष्ठ होता है, तो इस में स्वतन्त्ररूप से चितिप्रवर्त्तक अग्नियज्ञ आरम्भ होता है। ज्यों ज्यों शारीराग्निचिति प्रवृद्ध होती जाती है, त्यों त्यों आयतन बढ़ता जाता है। अन्ततोगत्वा महानात्मरूप बीज की नियत आयतन–सीमा पर जाते अग्निचयन कर्म्म अवरुद्ध हो जाता है, आयतनवृद्धि उपरत हो जाती है। इस विशुद्ध शारीराग्नि की वृद्धि से गर्भस्थितिकाल में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित वह साङ्क्रामिक मलिन मातृरज क्षुब्ध हो पड़ता है। परिणामस्वरूप शारीराग्नि के प्रत्याघात से वह शीतातीत क्षुब्ध मातृरज सर्वाङ्गशरीर से फूट निकलता है। क्योंकि यह मातृरज है, अतएव भारतीय परिभाषा में यह रोग सर्वसाधारण में 'माता' नाम से प्रसिद्ध है। आशौचवत् यह भी साङ्क्रामिक है। अतएव–माता के रोगी को स्वस्थ बालकों से दूर रक्खा जाता है। यही मातृरोगसम्बन्धिनी–पहिली भूतदृष्टि है।

प्राणतत्त्व के अन्वेषक ऋषि इस सार्वजनीन भूतदृष्टि पर ही विश्राम नहीं कर लेते। अपितु वे इस मातृरज में मातृशक्ति के भी दर्शन करते हैं। किस मातृशक्ति के ?, शीतला शक्ति के। दुग्धरज मूर्च्छित है, अतएव यह आग्नेय धर्म्म से वञ्जित है, अतएव इसे शैत्यधर्म्मयुक्त मानना न्याय सङ्गत है। शैत्य सोमधर्म्म है, सोमगत प्राण ही शक्तितत्त्व है, अग्निगत प्राण ही रुद्रतत्त्व है। इस तत्त्वदृष्टि के आधार पर इसे शीतलामाता का प्रकोप माना गया है। रज प्रतिष्ठित यही मलीमस भाग रासभ (गर्दभ) में प्रतिष्ठित है। इसी अशुचि–भावसम्बन्ध से गर्दभ को पशुओं में शूद्र माना गया है, जैसा कि 'शूद्रं पशु रासभ.' (शत० ६।४।४।१२) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। नैदानिक महर्षियोंने इसी समान धर्म्म के आधार पर रासभ (तद्गत प्राण) को शीतलामाता का वाहन माना है। गर्दभपशु अग्नि का वच्छिष्ट है, प्रवर्ग्यात्मक अनुष्ण पशु है, जैसा कि–"यदर सदिव, स रासभोऽभवत्" (शत० ६।१।२।११) से स्पष्ट है। प्रबल निदाघ भी इस पशु को इसी

प्रवर्ग्य-अनुष्ण-रस के अनुग्रह से सह्य है। वसन्तऋतु अग्नि का उपक्रम है। यहीं से अग्निबल प्रवृद्ध होने लगता है, तथा सोमबल क्षीण होने लगता है। यही शीतलाप्रकोप का प्रधान काल माना गया है। यातयाम (वासी) गतरस भोजन, शीतलापूजन, आदि आध्यात्मिक-आधिभौतिक चिकित्साओं का यही मौलिक रहस्य है, जिसका 'हिन्दू-त्यौहारों का वैज्ञानिक रहस्य' नामक निबन्ध में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

मलिनी (रजःस्वला) स्त्री के शरीर से चार दिवस पर्य्यन्त इसके गर्भकमल में दग्ध-अशुचि-भावापन्न-अत्रिप्राणात्मक पुराणरज प्रतिष्ठित रहता है। प्रवर्ग्य-सम्बन्धेन आत्मगत पावक धर्म्म से वञ्चित रहने से, अत्रिप्राणसम्बन्ध से, गर्भस्वरूपसम्पादक मलीमस कीटाणुओं (भ्रूणों) के सम्बन्ध से यह पुराणरज सर्वथा दुष्ट रहता है। इस पुराणरज में प्रतिष्ठित भ्रूणकीट म्रियमाण हैं, अतएव इनके सम्बन्ध से यह शोणित सर्वथा अशुचिभावापन्न है। इसके, तथा एतद्युक्त स्त्री के संसर्ग से सौरप्राणानुगत आयु सूत्र निर्बल हो जाता है, दिव्यभावानुगत प्रज्ञा मन्द हो जाती है, स्वाभाविक द्विजातिवीर्य्य अभिभूत हो जाता है, अतएव इस स्पर्शदोष को एक महादोष माना गया है। इस आशौच को हम दोषाशौच कहेंगे, जिसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तादि का विधान हुआ है। इस दोषाशौच का निमित्त स्त्रीरज ही बनता है।

दूसरे दोषाशौच का शारीर मलों से सम्बन्ध माना गया है। 'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' न्याय से उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् जड़-चेतन पदार्थ दिव्यभावानुगत गुणों, तथा आसुरभावानुगत दोषों से, दोनों से युक्त रहते हैं। सुतरां शारीर-धातुओं का भी दोनों से युक्त रहना अनिवार्य्य बन जाता है। आत्मसीमा में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित, अतएव आत्मगत शुचिधर्म्म से युक्त, अतएव शुद्ध रस, असृक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि धातु प्रसादगुणक बनते हुए गुण-कोटि में प्रविष्ट हैं। परन्तु इन्हीं विशुद्ध-प्रसादगुणात्मक-आत्मधातुओं का यह भाग सर्वथा मलिन है, जो प्रवर्ग्यसम्बन्ध से आत्मसीमा से पृथक् होकर बहिर्य्याम बन जाता है। यही त्यक्त धातु मलिन धातु हैं। कफ-लाला-स्वेदादि इसी कोटि के द्रव्य हैं। स्त्री का ऋतुकालगत रज भी इसी प्रवर्ग्यभाव से अशुचि है। चेतना-सत्त्व-शरीर, तीनों की समष्टिलक्षण अध्यात्मसंस्था के लिए ये सभी मल अशुचिभाव के कारण बनते हैं। अवश्य ही आत्मा से परित्यक्त मलभाग कथमपि आत्मा के लिए हितकर नहीं माने जा सकते। जिस प्रकार मूत्रपुरीषादि की विनिर्गमदशा में शरीर अशुचिभावापन्न रहता है, एवमेव ये मल भी विनिर्गमदशा में अवश्यमेव शरीराशुचि के प्रवर्त्तक बने रहते हैं। इस मलावस्थापन्न शरीर के स्पर्श से स्पर्शकर्त्ता में अवश्य ही इस मलाशौच का संक्रमण हो जाता है। किस मलाशुचि के स्पर्शद्वारा स्पर्शकर्त्ता में कैसा-कहाँ-कितना-कबतक-क्या प्रभाव होता है ?, इनकी विशुद्धि के क्या उपाय हैं ?, इत्यादि प्रश्न निबन्धग्रन्थों में विस्तार से समाहित हैं।

मूत्र-पुरीप-कफ-आदि के समर्ग से यदि तद्गत कीटाणुओं का शरीर में सक्रान्त हो जाना वर्त्तमान विज्ञान के लिए इष्टापत्ति है, यदि एक डाक्टर साधारण से फोडे का ऑपरेशन कर ससर्ग दोष से बचने के लिए अपना अमूल्य समय साबुन से हाथ धोने में खर्च करना आवश्यक समझता है, तो अवश्य ही इन वैज्ञानिकों को यह मान लेने में सम्भवत कोई आपत्ति न होगी कि, स्त्री के दुष्टरज से युक्त उसका शरीर, एव अन्याय धातुमलों से युक्त शरीर भी अवश्य ही अस्पृश्य है। अवश्य मेव जन्मगत आसुर प्राणगत अशुचिभाव से युक्त असच्छूद्रवर्ग का शरीर अस्पृश्य है। इसी सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और कर लीजिए कि-कितनें एक कीटाणुओं का ससर्गदोष हाथ धोने मात्र में नष्ट हो जाता है, कितनें एक ससर्गदोष टिन्चर-आदि सुतीक्ष्ण द्रव्यों के सम्बन्ध से नष्ट हो जाते हैं। एव उपदश, राजयक्ष्मा, आदि कितने एक कीटाणुओं का ससर्गदोष चिरकालिक, किंवा याव ज्जीवन के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। यही परिस्थिति यहाँ समझिए। कितनें एक मलों की अशुचि सद्य स्नानादि से निवृत्त हो जाती है, कितनें एक अशुचिभाव कुछ दिनों पर्य्यन्त नियमत रहते हैं, एव अवधि समाप्त हो जाने पर वे स्वत निवृत्त हो जाते हैं। जनन-मरणाशौच इसी लिए कालसाध्य दोष माने गए हैं। एव कितने एक अशुचिभाव ऐसे हैं, जिनका यावज्जीवन सम्बन्ध बना रहता है। जिन अशुचिभावों का वीर्य्य के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध रहता है, वे जीवन पर्य्यन्त अशुचि हैं। शूद्रादि की अस्पृश्यता इसी अन्तर्य्याम सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित है। मलससर्गानुबन्धी इसी तारतम्य के आधार पर मलिन कर्म्मों के मलिनीकरण, संकरीकरण, जातिभ्रंशकर, महापातक, पातक, उपपातक आदि अनेक अवान्तर विवर्त्त मानें गए हैं। रजस्वला स्त्री का स्पर्श, शूद्रादि का स्पर्श, इत्यादि अशुचिभावों को ही हम 'दोषाशौच' कहेंगे, जिसका प्रधानत. 'एनोदोष' में अन्तर्भाव है। साथ ही इस दोषाशौच को सर्वथा गौण माना जायगा, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

(१) अब उस जन्माशौच की मीमासा कीजिए, जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही आशौचस्वरूप प्रदर्शन के साथ साथ मलिना स्त्री के मलिन रज की अब तक मीमासा की गई है। शुक्रशोणित के समन्वय से सम्पन्न, तद्गत विशेषत अशुचिभावापन्न रजोदुष्ट से अशुचिभावापन्न गर्भ को कलल-डिम्भ-गर्भादि अनेक अवस्था मानीं गई है। द्रवभावापन्न गर्भ कलल है, आशिकरूप से घनावस्थापन्न गर्भ डिम्भ है। डिम्भावस्थापर्य्यन्त शुक्रशोणित के मिथुनात्मक इस गर्भ में चेतनालक्षण औपपातिक आत्मा का समावेश नहीं होता। जब गर्भ कुक्षिगत होता है, तभी इसमें जीव का सयोग होता है, एव तभी इसकी वस्तुत गर्भसज्ञा होती है। कलल, किंवा डिम्भ यदि प्रत्याघातादि किसी कारण विशेष से शनै शनै विस्रस्त होने लगता है, तो इस स्थिति को डिम्भपात कहा जाता है। इस डिम्भादि स्रावपात से स्त्री अतिशयरूप से अशुचिभावापन्ना बन जाती है। साथ ही इस स्त्री का यह अशुचिभाव उसी सम्बन्धसूत्रद्वारा पति-आदि में व्याप्त हो जाता है। यही गौणात्मक प्रथम जन्माशौच है। कलल-डिम्भादि का स्राव-पात न हुआ। गर्भपुष्टि प्रक्रान्त रही। कुक्षिगतावस्था में औपपातिक आत्मप्रवेश से

है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, व्यक्तिविशेष में उत्पन्न यह अघाशौच मनुष्यता नुगत व्यक्तिभाव से सम्बन्ध रखता है ?, अथवा इसके सङ्क्रमण के कोई नियत द्वार हैं। दूसरे शब्दों में इस आशौच का सङ्क्रमण यथेच्छ-अमर्य्यादारूप से मनुष्यमात्र से होता है ?, अथवा तो इसके सङ्क्रमण के लिए विशेष मनुष्य ही (विशेष निमित्तों से, विशेष सम्बन्ध से) पात्र बनते हैं ?) । इन प्रश्नों की मीमांसा ही सम्बन्ध-सूत्रमीमांसा है।

वैज्ञानिकोंनें इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय प्रकट किया है कि, व्यक्तिविशेष से अन्य व्यक्तियों में सङ्क्रान्त होने वाले इस आशौच के लिए व्यक्तिविशेष, तथा जिनमें आशौच सङ्क्रमण होने वाला है, उन व्यक्तियों में परस्पर कोई सम्बन्धसूत्र प्रतिष्ठित रहता है। जिन व्यक्तियों का इस विशेष व्यक्ति के साथ सम्बन्ध-सूत्र सुरक्षित है, वे सूत्रसम्बन्धा ही इस आशौच के पात्र बनते हैं। सूत्रात्मक वह सम्बन्ध "योनि. विद्या, यज्ञ, संसर्ग," इन चार द्वारों की अपेक्षा रखता है। योनिकृत सम्बन्ध, विद्याकृत सम्बन्ध, यज्ञकृत सम्बन्ध, संसर्गकृत सम्बन्ध ये चार सम्बन्ध ही इस आशौच सङ्क्रमण के प्रधान द्वार बनते हैं। जिन व्यक्तियों का परस्पर जन्मानुगत योनिगत (सापिण्ड्य) सम्बन्ध है, जिन व्यक्तियों का परस्पर अध्ययनाध्यापनलक्षण विद्यासम्बन्ध है, जिन व्यक्तियों का परस्पर यजनयाजनात्मक यज्ञसम्बन्ध है, एवं जिन व्यक्तियों का जननाशौचयुक्त व्यक्तियों के साथ, तथा मरणाशौचयुक्त व्यक्तियों के साथ संसर्ग सम्बन्ध है वे ही इस सम्बन्धसूत्र के द्वारा आशौच के पात्र बनते हैं। एवं इन योनि-विद्यादि चारों द्वारों से सम्बन्ध रखने वाले मर्य्यादित सम्बन्ध सूत्रों की मीमांसा ही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। चारों में से क्रमप्राप्त योनिकृत प्रथम सम्बन्धसूत्र की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। प्रस्तुत परिच्छेद में सम्बन्धसूत्र के स्पष्टीकरण के लिए जिन सापिण्ड्यभावों का, जिन वंशवितानों का दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, अवश्य ही सुरुचिपूर्ण पाठकों के लिए यद्यपि वह एक नीरस विषय होगा। तथापि विषयसमन्वय की दृष्टि से प्रस्तुत होने वाले इस नीरस विषय के सम्बन्ध में यह कहना पड़ेगा कि, विवाहादि-सम्बन्धों के सम्बन्ध में इस सम्बन्धसूत्र के अपरिज्ञान से आज जो अनर्थ हो रहे हैं जिस सूत्रविज्ञान की विलुप्ति से जिस प्रकार आर्षप्रजा विवाहादि सम्बन्धों को केवल सामाजिक अनुबन्ध मानने की भूल करती हुई, वर्णसंस्कारभावप्रवर्त्तक 'अन्तर्जातीय विवाह' जैसी घातक, मूलोच्छेदक प्रथाओं का अनुगमन करती हुई अपना सर्वस्व नष्ट कर रही है, उन भ्रान्त पथिकों की भ्रान्ति के निराकरण के लिए अवश्य ही प्रस्तुत विषय उपादेय होगा। एकमात्र इसी लक्ष्य से विशुद्ध श्रेयोभावात्मक (हितकर) प्रेयोभावविरहित (रुचिविरहित) इस नीरस भी विषय का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया है।

(१)–योनिकृतसम्बन्धसूत्राणि—

सुप्रसिद्ध गोत्र-सम्बन्ध ही योनिमूलक सम्बन्ध सूत्र की मूल प्रतिष्ठा माना गया है। दूसरे शब्दों में गोत्रसम्बन्ध ही योनिसम्बन्ध है। किसी भी एक पुरुष को मूल मान कर उस से सन्ततिपरा

अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाले मरणाशौच (शावाशौच) का, दोनों का प्रधानत महानात्मा से सम्बन्ध है। इसी महत्पिण्ड के कारण श्रद्धासूत्र-द्वारा ये दोनों अघाशौच जातक, मृतक के सपिण्डधरातों में सक्रान्त हो जाता है। तीसरे क्रियाशौच के दो विवर्त्त हैं। जो सपिण्डबन्धु शववहन-दहनादि में सहयोग देते हुए क्रियाशौच से युक्त होते हैं, उनमे तो यह क्रियाशौच उसी समश्रद्धासूत्र-द्वारा महानात्मा में ही प्रतिष्ठित रहता है। एव ऐसे श्रद्धासूत्रानुगत (सपिण्डों के) क्रियाशौच का मरणाशौच में ही अन्तर्भाव है। इनके अतिरिक्त जो समीपवर्त्ती जातिबन्धु शववहन-दहनादि में प्रवृत्त होते हैं, उनमें क्रियाशौच का सम्बन्ध होता अवश्य है। परन्तु यह सम्बन्ध महानात्मा के साथ न हो कर प्राज्ञात्मा के साथ ही होता है। एतदोषजन् यह क्रियाशौचत्रोप प्रज्ञानुगत हो बनता है। फलत महानात्मा, एव तदनुगत श्रद्धासूत्र के अभाव से प्राज्ञानुगत इस क्रियाशौच का केवल व्यक्तितन्त्र पर ही अवसान हो जाता है।

जननाशौचयुक्त, मरणाशौचयुक्त, तथा क्रियाशौचयुक्त व्यक्तियों की शरीरसस्था भी अशुचिभावापन्न होती है। अतएव जो इन से ससर्ग करता है, उसका सत्त्वभाग भी इस स्पर्श के द्वारा इन्हें अघाशौच में परिणत कर देता है। स्पर्श के अतिरिक्त अघाशौचभावापन्न व्यक्तियों के साथ भोजनादि लक्षण इतर ससर्ग से भी ससर्गी अशुचिभावापन्न हो जाते है। यही चौथा अघलक्षण 'दोषाशौच' है। शववहन-दहन लक्षण क्रियाकलाप में सहयोग न देने वाले, किन्तु शवयात्रा मे सहयोग देने वाले भी इसी चतुर्थ दोषाशौच से युक्त होते हैं। यह आशौच स्नान-देवदर्शनादि से विमुक्त हो जाता है। इसप्रकार चार निमित्तों के भेद से यह अघाशौच चार अवस्थाओं मे विभक्त हो जाता है।

१—बीरज सम्बन्धेन जन्माशौचप्रवृत्तिर्महदात्मनि———सपिण्डेषु-जननाशौच-वशानुगतम्।
२—शवशरीराशुचिसम्बन्धेन मरणाशौचप्रवृत्तिर्महदात्मनि—सपिण्डेषु-मरणाशौच-वशानुगतम्।
३—वहनदहनादिकर्म्मभिरशुचिसम्बन्ध प्राज्ञे आत्मनि—समसम्बन्धिषु-क्रियाशौच-वैयक्तिकम्।
४ शवयात्रादिससर्गैरशुचिसम्बन्ध-प्राज्ञे-आत्मनि———ज्ञातिबन्धुषु-दोषाशौच-वैयक्तिकम्।

सम्बन्धसूत्रमीमांसा

प्रकृत परिच्छेद में विशेषरूप से यह विचार करना है कि, जनन, मरण, क्रिया, दोष, इन चार निमित्तों से उत्पन्न होने वाले आशौच का उद्भव होता है। इन चारो निमित्तों से उत्पन्न किसी भी व्यक्तिविशेष में, जो कि चारों निमित्तों मे से किसी एक निमित्त की सीमा में युक्त हो रहा है, अघाशौच उत्पन्न होता है। उस विशेष व्यक्ति मे वह अघाशौच कालयाप्य-मर्य्यादा से प्रतिष्ठित होता हुआ अन्य व्यक्तियों में भी सक्रान्त हो जाता है। उदाहरण के लिए पिता की मृत्यु पर पुत्र मे आशौच उत्पन्न हो जाता है। पुत्र ही इस आशौच का विशेष पात्र है। पुत्र के द्वारा इस आशौच का पौत्र-भ्राता भ्रातृव्यादि अन्य सपिण्ड-व्यक्तियों में यह सक्रान्त हो जाता है। एवमेव पुत्रोत्पत्ति पर स्त्री के रज मे तथा पुरुष (पति) के शुक्र में आशौच उत्पन्न हो जाता है। तद्द्वारा अन्य सपिण्डों मे सक्रान्त हो जाता

शवगत अशुचि ही इस मरणाशौच का निमित्त है। अतएव 'शावाशौच' इसे कहना अन्वर्थ बनता है। शरीर से निकलते हुए आत्मा को आत्मसत्तावञ्चित, अतएव सर्वथा अशुचि शरीर के अशुचिसम्पर्क से आंशिकरूप से बचाने के लिए ही मुमूर्षु को परमशुचिभावापन्न गाङ्गेय पानका, तुलसीदलभक्षण का आदेश हुआ है।

(३) तीसरे क्रियानिमित्तक आशौच की मूलप्रतिष्ठा भी यही शवशरीर बनता है। शवशरीर के वहन, दाह, आदि से तद्गत अशुचि का संसर्गियों के साथ भी सम्बन्ध होना अनिवार्य्य है। इस उत्तरक्रियाशौच का सम्बन्ध प्रधानतः प्रज्ञाभाग के साथ ही माना गया है। अतएव शवयात्रा में सहयोग देने वाले जो जातिबन्धु शव–दहनादि कर्म्मों में सहयोग देते हैं, केवल वे व्यक्तिरूप से ही इस 'क्रियाशौच' से युक्त होते हैं। यही तीसरे क्रियाशौच की सङ्क्षिप्त मीमांसा है।

(४) अब क्रमप्राप्त 'अघदोष' से सम्बन्ध रखने वाले चौथे दोषाशौच की मीमांसा कीजिए। पूर्व परिच्छेदारम्भ में स्त्रीरज के सम्बन्ध में जिन दोषाशौचों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनका एनोदोष से सम्बन्ध है। प्रकृत अघदोषानुगत अघाशौच से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल अशुचि–भाव–साम्य से प्रसङ्गतः उनकी मीमांसा कर दी गई है। विषयग्रन्थिविमोकदृष्टि से इस दोषाशौच के 'एन.-अघम्' इन दोनों निमित्तों को लक्ष्य में रखते हुए ही अघदोषाशौच का समन्वय करना चाहिए। दोषों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, अघदोष का महानात्मा से सम्बन्ध है, एवं एनोदोष का प्राज्ञ कर्म्मात्मा से सम्बन्ध है। रजस्वला स्त्री का मलिन रज, शारीर-मलिन रज, असच्छूद्रशरीरों में प्रतिष्ठित मलीमस असुरप्राण, एवमेव अन्यान्य नैमित्तिक, तथा प्राकृतिक अशुचिभावापन्न जड़–चेतनपदार्थ (भूमिष्ठ–केश–नख–अस्थि–चर्म्मादि जड़पदार्थ, श्वान, काक, आदि चेतनपदार्थ), इन सब में प्रतिष्ठित अशुचिभाव 'एनोदोष' है। इस एनोदोष से ये एनस्वी बने रहते हैं। इनके साथ संसर्ग रखने वाले द्विजातिवर्ग का प्राज्ञ भाग भी एन दोष से युक्त हो जाता है, फलतः ये भी एनस्वी बन जाते हैं। इस एनोलक्षण अशुचि की निवृत्ति धर्म्मशास्त्र-*विहित तत्तद्विशेष प्रायश्चित्तादि से होती है। एवं एनोलक्षण, एनस्वी–भावप्रवर्त्तक–प्राज्ञात्मानुगत* ऐसा 'दोषाशौच' प्रकृत अघाशौच प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस दोष के निमित्त स्पर्श-समान–शय्यासनानुगमन, सहभोज आदि बनते हैं।

दूसरा अघदोष ही अघाशौच प्रकरण में ग्राह्य है। इस अघाशौच के 'जनन–मरण–क्रिया-दोष' ये चार निमित्त बतलाए गए हैं। जननाशौच की मूलप्रतिष्ठा मलिन रज है, मरणाशौच की मूलप्रतिष्ठा शवशरीर है, क्रियाशौच की मूलप्रतिष्ठा भी शवशरीर ही है। एवं दोषाशौच की मूल प्रतिष्ठा स्पर्श-समानशय्यासनानुगमन, सहभोजादि संसर्ग हैं। श्रद्धासूत्र के द्वारा मलिन रज को मूलप्रतिष्ठा बनाने वाले जननाशौच (सूतकाशौच) का, तथा इसी श्रद्धासूत्र–द्वारा शवशरीरस्थित अशुचिभाव को

इस की गर्भसंज्ञा हो गई। पूर्ण परिपुष्टि से पहिले ही किसी दोषविशेष से शनै शनै गर्भविस्रंसन होने लगा, यही स्थिति 'गर्भस्राव' है। एक ही समय में गर्भविच्युति हो गई, यही स्थिति 'गर्भपात' है। गर्भावस्थापन्न अपत्य पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पाँच भूतविकारात्मक भूतधातुओं से, तथा चेतना नामक ६ ठें धातु से युक्त होता हुआ षड्धातुलक्षण बना रहता है। गर्भस्राव, किंवा गर्भपात से इसकी चेतना उत्क्रान्त हो जाती है, चेतनोत्क्रान्ति से पाञ्चभौतिक शरीर अशुचिभावापन्न हो जाता है। इस अशुचि से स्त्री, एवं तत्सम्बन्धी उसी सम्बन्धसूत्र से अशुचिभावापन्न हो जाते हैं। यही गौणभावापन्न मध्यम जन्माशौच है।

न तो डिम्भादि का स्राव पात हुआ, नाहीं गर्भ का स्राव पात हुआ। गर्भ क्रमश पुष्ट होता गया। दशमास में पूर्णावयव बन कर 'एवयामरुत्' नामक वायुविशेष (गर्भवायु) के प्रत्याघात से वह नियत समय पर भूमिष्ठ हुआ। इसी स्थिति के लिए 'गर्भप्रसव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक गर्भ गर्भाशय में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक नाड़ी (नाल) द्वारा गर्भिणी से भुक्त अन्न रस से उसकी पुष्टि होती रहती है। प्रसवानन्तर नालच्छेद कर दिया जाता है। इस नालच्छेद से दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यही प्राणी का मुख्य जन्मकाल है। दूसरे शब्दों में नालच्छेद से जातक (उत्पन्न शिशु) का सूती (माता) के शरीराग्नि से पार्थक्य हो जाता है। इस अन्योन्यसम्बन्ध परित्याग से इस अशुचि का सूतिका में, जातक में, एवं सम्बन्धसूत्र द्वारा समसम्बन्धियों में सङ्क्रमण हो जाता है। यही मुख्य भावापन्न तीसरा मुख्य जन्माशौच है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा स्त्री का मलिन-रज ही बनता है।

(२) यही स्थिति मरणनिमित्तक दूसरे शावाशौच की समझिए। पाञ्चभौतिक शरीर से प्राप्त आयुर्भोगानन्तर पाञ्चभौतिक शरीर को जिस समय महान्युक्त कर्म्मात्मा छोड़ देता है, उस समय शारीर वैश्वानर अग्नि से इस उत्क्रान्त आत्मा का, आत्मा से शारीर अग्नि का विच्छेद हो जाता है। जीवन दशा में इसमें अन्नयज्ञ होता रहता है, इसी अन्नयज्ञ से उभयाग्निसम्बन्धलक्षण (आत्मशरीरसम्बन्ध लक्षण) शुचिभाव सुरक्षित रहता है। ब्रह्मणस्पति जैसे पवित्र सोम के सम्बन्ध से यह * तप्ततनू (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है, परमपूता ज्ञानधारा प्रवाहित रहती है। परन्तु आत्मोत्क्रान्ति के सहकाल में ही शरीर आत्मपावन धर्म्मों से वञ्चित होता हुआ शक्तिशून्य शवावस्था में परिणत हो जाता है। यह शवशरीर आत्यन्तिकरूप से वारुण बनता हुआ पूतिभावापन्न है, अशुचिभावापन्न है। इसके *सम्पर्क से निष्क्रान्त भूतात्मा भी अवश्यमेव अशुचिभावापन्न हो जाता है। उत्क्रान्त प्रेतात्मा के महान्भाग* से सम्बद्ध यच्चयावत् सपिण्ड वंशजों में भी उसी श्रद्धासूत्र द्वारा यह अशुचिभाव सङ्क्रान्त हो जाता है।

---

*-"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत" (ऋक्० (स ९।८३।१।) ।

की जो प्रवृत्ति होती है, वही गोत्रसम्बन्ध है । उस मूलपुरुषात्मक एक पुरुष के गोत्र में विभक्त समान शाखीय, तथा भिन्न शाखीय गोत्रसम्बन्धियों में जो पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, वही–योनिकृत सम्बन्ध कहलाया है। जिस पुरुष को मूल मान कर जिस गोत्रपरम्परा की गणना की जाती है, उस गोत्रपरम्परा में वही मूलपुरुष 'कुटस्थ' पुरुष कहलाया है। 'बीजी–'गोत्री'–'मूलपुरुष' 'कुटस्थ' इत्यादि शब्द गोत्रपरम्पराप्रवर्त्तक पुरुष के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं । गोत्रानुगत इस योनिभाव की प्रतिष्ठा शुक्रस्थित महानात्मा माना गया है । महानात्मा में प्रतिष्ठित 'सहांसि' नामक पितृभाग ही गोत्रानुगता सन्ततिपरम्परा के प्रवर्त्तक बनते हैं । ऋण–धनात्मक अपत्य, सनुभाव से सन्ततिपरम्परा में वितत पितृसूत्र ही गोत्रात्मक, एवं योनिकृत सम्बन्धसूत्र है । इस सम्बन्धसूत्र की व्याप्ति कहाँ तक, किस सन्तति पर्य्यन्त है ?, जहाँ तक सन्तति का वितान है, क्या वहाँ तक आशौच सम्बन्ध सक्रान्त होता है ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं । इन सब प्रश्नों का निम्न लिखित प्रश्न रूप से उत्थान कर समन्वय किया जासकता है।

"महदात्मानुगत सापिण्ड्यभाव अनुशय रूप से किस सन्तति पर्य्यन्त व्याप्त रहता है" ?, इस प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर यद्यपि 'सप्त–सन्तति परम्परा' को लक्ष्य बना कर दिया जाता है । अधिक से अधिक ७–सपिण्ड पितर, ७–सोदकपितर, ७–सगोत्रपितर, इस प्रकार २१ वीं परम्परा को अन्तिम सीमा माना जासकता है, जैसा कि 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' के सपिण्ड–सोदक–सगोत्र नामक पितृसप्तकों के निर्वचन में स्पष्ट कर दिया गया है । तथापि 'बीजाङ्कुरन्याय' से सम्बन्ध रखने वाले इस पितृप्राणपरम्परा के बीजविज्ञान का जब विश्लेषण किया जाता है, तो शत–सहस्र-लक्ष, ततोऽप्यधिक इस परम्परा की व्याप्ति माननी पड़ती है । पितृप्राणपरम्परा के इसी अनन्त-वितान से 'कर्म्माश्वत्थ' का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक स्वतन्त्र चतुर्थखण्ड में हुआ है।

स्वल्पकाय बीजी मूलपुरुष के शुक्रगत सौम्य महानात्मा में प्रतिष्ठित चतुरशीतिकल (८४) पितृसहोमूर्त्ति बीज अनन्त संख्या में, अनन्त वंशपरम्परा में कैसे विभक्त हो जाता है ?, स्वल्पमात्रा-वच्छिन्न बीज का विकास इस आनन्त्यभाव में कैसे परिणत हो जाता है ?, इत्यादि असमाधेय अतीन्द्रिय प्रश्नों का उस समय भलीभाँति समाधान होजाता है, जब कि हम एक सूक्ष्म वृक्षबीज की अनन्त भावापन्ना सन्ततिपरम्परा दृष्टि डालते हैं। अश्वत्थ (पिप्पल) वृक्ष का बीज स्वल्पकाय है । तत्रापि जिसे बीज–कहना चाहिए, वह तो एकान्ततः सुसूक्ष्म अतएव इन्द्रियातीत बनता हुआ अणुभावापन्न ही है। दृष्ट बीज उस सूक्ष्म बीज का शरीर है, सुसूक्ष्म अदृष्ट बीज आत्मा है। आत्मबीज की उत्पादन शक्ति को आन्तरीक्ष्य–बीजशक्तिविघातक-याम्य वायु के आघात से यही बाह्य दृष्ट बीज बचाता है। जब बीज को भूगर्भ में न्युप्त कर दिया जाता है, साथ ही जलसेक आरम्भ होता है, तो कालान्तर में बाह्य रक्षक हट जाता है, अन्तस्थ बीज अङ्कुरित हो जाता है ।

इस की गर्भसंज्ञा हो गई। पूर्ण परिपुष्टि से पहिले ही किसी दोषविशेष से शनैः शनैः गर्भविस्रंसन होने लगा, यही स्थिति **'गर्भस्राव'** है। एक ही समय में गर्भविच्युति हो गई, यही स्थिति **'गर्भपात'** है। गर्भावस्थापन्न अपत्य पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पाँच भूतविकारात्मक भूतधातुओं से, तथा चेतना नामक ६ ठे धातु से युक्त होता हुआ षड्धातुलक्षण बना रहता है। गर्भस्राव, किंवा गर्भपात से इसकी चेतना उत्क्रान्त हो जाती है, चेतनोत्क्रान्ति से पाञ्चभौतिक शरीर अशुचिभावापन्न हो जाता है। इस अशुचि से स्त्री, एवं तत्सम्बन्धी उसी सम्बन्धसूत्र से अशुचिभावापन्न हो जाते हैं। यही गौणभावापन्न मध्यम जन्माशौच है।

न तो डिम्भादि का स्राव-पात हुआ, नाहीं गर्भ का स्राव पात हुआ। गर्भ क्रमशः पुष्ट होता गया। दशमास में पूर्णावयव बन कर 'एवयामरुत्' नामक वायुविशेष (गर्भवायु) के प्रत्याघात से यह नियत समय पर भूमिष्ठ हुआ। इसी स्थिति के लिए **'गर्भप्रसव'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक गर्भ गर्भाशय में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक नाड़ी (नाल) द्वारा गर्भिणी से भुक्त अन्न रस से उसकी पुष्टि होती रहती है। प्रसवानन्तर नालच्छेद कर दिया जाता है। इस नालच्छेद से दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यही प्राणी का मुख्य जन्मकाल है। दूसरे शब्दों में नालच्छेद से जातक (उत्पन्न शिशु) का सूती (माता) के शरीराग्नि से पार्थक्य हो जाता है। इस अन्योन्यसम्बन्ध परित्याग से इस अशुचि का सूतिका में, जातक में, एवं सम्बन्धसूत्र द्वारा समसम्बन्धियों में संक्रमण हो जाता है। यही मुख्यभावापन्न तीसरा मुख्य **जन्माशौच** है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा स्त्री का मलिन-रज ही बनता है।

(२) यही स्थिति मरणनिमित्तक दूसरे शावशौच की समझिए। पाञ्चभौतिक शरीर से प्राप्त आयुर्भोगानन्तर पाञ्चभौतिक शरीर को जिस समय महानयुक्त कर्मात्मा छोड़ देता है, उस समय शारीर *वैश्वानर अग्नि से इस उत्क्रान्त आत्मा का, आत्मा से शारीर अग्नि का विच्छेद हो जाता है।* जीवन-दशा में इसमें अन्नयज्ञ होता रहता है, इसी अन्नयज्ञ से उभयाग्निसम्बन्धलक्षण (आत्मशरीरसम्बन्धलक्षण) *शुचिभाव सुरक्षित रहता है।* ब्रह्मणस्पति जैसे पवित्र सोम के सम्बन्ध से यह * तप्ततनू (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है, परमपूता ज्ञानधारा प्रवाहित रहती है। परन्तु आत्मोत्क्रान्ति के सहकाल में ही शरीर आत्मपावन धर्म्मों से वञ्चित होता हुआ शक्तिशून्य शवावस्था में परिणत हो जाता है। यह शवशरीर आत्यन्तिकरूप से वारुण बनता हुआ पूतिभावापन्न है, अशुचिभावापन्न है। इसके *सम्पर्क से निष्क्रान्त भूतात्मा भी अवश्यमेव अशुचिभावापन्न हो जाता है। उत्क्रान्त मेतात्मा के महान्भाग* से सम्बद्ध यच्चयावत् सपिण्ड वंशजों में भी उसी श्रद्धासूत्र द्वारा यह अशुचिभाव संक्रान्त हो जाता है।

---

*-"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत" (ऋक्० (स० ८१।८३।१))।

की जो प्रवृत्ति होती है, वही गोत्रसम्बन्ध है। उस मूलपुरुषात्मक एक पुरुष के गोत्र में विभक्त समान शाखीय, तथा भिन्न शाखीय गोत्रसम्बन्धियों में जो पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, वही– योनिकृत सम्बन्ध कहलाया है। जिस पुरुष को मूल मान कर जिस गोत्रपरम्परा की गणना की जाती है, उस गोत्रपरम्परा में वही मूलपुरुष 'कूटस्थ' पुरुष कहलाया है। 'बीजी–'गोत्री'–'मूलपुरुष' 'कूटस्थ' इत्यादि शब्द गोत्रपरम्पराप्रवर्त्तक पुरुष के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। गोत्रानुगत इस योनिभाव की प्रतिष्ठा शुक्रस्थित महानात्मा माना गया है। महानात्मा में प्रतिष्ठित 'सहासि' नामक पितृभाग ही गोत्रानुगता सन्ततिपरम्परा के प्रवर्त्तक बनते हैं। ऋण-धनात्मक अपत्य, ऋनुभाव से सन्ततिपरम्परा में वितत पितृसूत्र ही गोत्रात्मक, एवं योनिकृत सम्बन्धसूत्र है। इस सम्बन्धसूत्र की व्याप्ति कहाँ तक, किस सन्तति पर्य्यन्त है ?, जहाँ तक सन्तति का वितान है, क्या वहाँ तक आशौच सम्बन्ध सक्रान्त होता है ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन सब प्रश्नों का निम्न लिखित प्रश्न रूप से उत्थान कर समन्वय किया जासकता है।

"महदात्मानुगत सापिण्ड्यभाव अनुशय रूप से किस सन्तति पर्य्यन्त व्याप्त रहता है" ?, इस प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर यद्यपि 'सप्त–सन्तति परम्परा' को लक्ष्य बना कर दिया जाता है। अधिक से अधिक ७-सपिण्ड पितर, ७–सोदकपितर, ७–सगोत्रपितर, इस प्रकार २१ वीं परम्परा को अन्तिम सीमा माना जासकता है, जैसा कि 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' के सपिण्ड-सोदक-सगोत्र नामक पितृसप्तकों के निर्वचन में स्पष्ट कर दिया गया है। तथापि 'बीजाङ्कुरन्याय' से सम्बन्ध रखने वाले इस पितृप्राणपरम्परा के बीजवितान का जब विश्लेषण किया जाता है, तो शत–सहस्र–लक्ष, ततोऽप्यधिक इस परम्परा की व्याप्ति माननी पडती है। पितृप्राणपरम्परा के इसी अनन्त–वितान में 'कर्म्माश्वत्थ' का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक स्वतन्त्र चतुर्थखण्ड में हुआ है।

स्वल्पकाय बीजी मूलपुरुष के शुक्रगत सौम्य महानात्मा में प्रतिष्ठित चतुरशीतिकल (८४) पितृसहोमूर्त्ति बीज अनन्त सख्या में, अनन्त वंशपरम्परा में कैसे विभक्त हो जाता है ?, स्वल्पमात्रावच्छिन्न बीज का विकास इस आनन्त्यभाव में कैसे परिणत हो जाता है ?, इत्यादि असमाधेय अतीन्द्रिय प्रश्नों का उस समय भलीभाँति समाधान होजाता है, जब कि हम एक सूक्ष्म वृक्षबीज की अनन्त भावापन्ना सन्ततिपरम्परा दृष्टि डालते हैं। अश्वत्थ (पिप्पल) वृक्ष का बीज स्वल्पकाय है। तत्रापि जिसे बीज–कहना चाहिए, वह तो एकान्तत सुसूक्ष्म अतएव इन्द्रियातीत बनता हुआ अणुभावापन्न ही है। दृष्ट बीज उस सूक्ष्म बीज का शरीर है, सुसूक्ष्म अदृष्ट बीज आत्मा है। आत्मबीज की उत्पादन शक्ति को आन्तरीक्ष्य–बीजशक्तिविघातक–याम्य वायु के आघात से यही बाह्य दृष्ट बीज बचाता है। जब बीज को भूगर्भ में न्युप्त कर दिया जाता है, साथ ही जलसेक आरम्भ होता है, तो कालान्तर में बाह्य रक्षक हट जाता है, अन्तस्थ बीज अङ्कुरित हो जाता है।

मृत्, आप, सूर्य-चन्द्र-तेज, शिववायु, आदि कारणसामग्रियों के सहयोग से यही अङ्कुर कालान्तर में शाखा, प्रशाखा, पर्ण, फल, आदिरूप से विस्तार भाव में परिणत होता हुआ 'अश्वत्थवृक्ष' बन जाता है। पुरोऽवस्थित महाकायात्मक अश्वत्थवृक्ष उस सुसूक्ष्म अस्पष्ट बीज का ही विस्तार है। एक बीज के महाविस्तारात्मक एक अश्वत्थवृक्ष में असंख्य फल (गूलर) हैं। प्रत्येक फल में असंख्य बीज हैं। प्रत्येक बीज स्वतन्त्र रूप से एक एक अश्वत्थ वृक्ष का जन्मदाता है। असंख्य फल, प्रत्येक फल में असंख्य बीज, प्रत्येक बीज का अश्वत्थोत्पादकत्व, इस सब आनन्त्यभाव की मूल प्रतिष्ठा कौन ?, वही प्रारम्भिक-भूगर्भनिहित सुसूक्ष्म बीज। उसी मात्रा का विभाजन किस सुसूक्ष्म भाव से हुआ ?, सुसूक्ष्म मूलबीज की मात्रा का विस्तार कैसा आश्चर्यप्रद है ?, यही तो अणु, तथा महान् के आश्चर्यमय दर्शन हैं।

एक ओर आरम्भक उस सुसूक्ष्म अश्वत्थ बीज को रखिए, दूसरी ओर अनन्त विस्तारमात्र अश्वत्थवृक्ष को रखिए, और फिर दोनों का समतुलन कीजिए। इस समतुलन से आप को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, अणु महान् का प्रतिरूप है, तथा महान् अणु का प्रतिरूप है। जिस सुसूक्ष्म बीज को हम अणु समझते हैं, वही अपनी महिमा से महान् बन रहा है। जिस महाविस्तार को हम महान् कहते हैं, अन्तर्जगत् की दृष्टि से वही अणु है। 'अन्तरपारीण' दृष्टि से वही तत्त्व अणोरणीयान् भी है, महतोमहीयान् भी है। अणु में पिण्ड भुक्त है, पिण्ड में अणु भुक्त है। 'यदेवेह' ही 'तदमुत्र' का समर्थक है, 'यदमुत्र' ही 'तदन्विह' का उपोद्बलक है। 'अदः' भी पूर्ण है, 'इदं' भी पूर्ण है। 'पूर्णमदः' (बीज) से विनिःसृत 'इदं (विश्व)' भी पूर्ण ही है। यही आम सन्तानवृक्ष वैज्ञानिकों की परिभाषा में 'ब्रह्माश्वत्थ वृक्ष' कहलाया है।

ब्रह्माश्वत्थवृक्ष ही पितृप्राणपरम्परात्मक कर्म्माश्वत्थवृक्ष की मूल प्रतिष्ठा है। दोनों समतुलित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, ब्रह्माश्वत्थ आत्मा धर्म्मप्राधान्य से जहाँ शाश्वत है, वहाँ कर्म्माश्वत्थ विश्व कर्म्मप्राधान्य से अशाश्वत है। कर्म्माश्वत्थ की मूल प्रतिष्ठा मूलबीजात्मक सोम्यतत्त्व-इसी आनन्त्य प्रवृत्ति से 'महानात्मा' कहलाया है। जो तत्त्ववेत्ता ब्रह्माश्वत्थमूलभूत आत्मबीज से साक्षात्कार करता हुआ महानात्ममूलक इस कर्म्माश्वत्थबीज का स्वरूप यथावत् जान लेता है, वह विमुक्तात्मा 'महान्तं-विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार अघाशौचसम्बन्धमर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत हो जाता है।

महानात्मानुगत इस आनन्त्यभावापेक्षया बीजीपुरुष को लक्ष्य बना कर यद्यपि अनन्त सन्ततिपरम्परा पर्य्यन्त समानगोत्र व्यवहार किया जासकता है। तथापि प्रस्तुत अघाशौच-मर्य्यादा का अनुधावन वहाँ तक नहीं होता। मूलपुरुष से आरम्भ कर पूर्व की ७ वीं पीढ़ी पर्य्यन्त ही अघा

शौच की व्याप्ति स्वीकार करनी पड़ती है। कारण यही है कि सकामक सौम्य श्रद्धासूत्र २१ पर्य्यन्त ही यथाकथंचित् सुरक्षित रहता है। इससे आगे सोमसम्बन्ध सर्वथा उपशान्त हो जाता है, केवल असङ्ग प्राणसम्बन्ध शेष रह जाता है। 'यथाकथंचित्' शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले सौम्य श्रद्धासूत्र में भी उत्तरोत्तर ह्रास है। उत्तरोत्तर क्षीयमाणा सोममात्रा से सोममय श्रद्धासूत्र भी उत्तरोत्तर क्षीयमाण है। फलत: श्रद्धासूत्र के आधार पर सक्रमण करने वाला आशौच भी उत्तरोत्तर क्षीयमाण है। इसी तारतम्य से २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला अघाशौच-निमित्तक गोत्रभार सात संस्थाओं में विभक्त हो जाता है।

मुख्य, गौण, सर्वथागौण, आशौचाभास, रूप से इस आशौच को पहिले चार भागों में विभक्त कीजिए। १-बीजी मूलपुरुष, २-तत्पिता, ३-पितामह, ४-प्रपितामह, ५-वृद्धप्रपितामह, ६-अतिवृद्धप्रपितामह, ७-वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, इन सात पुरुषों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही सप्त-पुरुषानुगत सापिण्ड्य है। यहाँ तक श्रद्धासूत्र सबल रहता है। अतएव तदनुगत (सपिण्डपितरानुगत) आशौच मुख्य आशौच माना गया है। ८ वें परपुरुष से आरम्भ कर १४ वें परपुरुषपर्य्यन्त दूसरा सोदक पितृ-सप्तक है। यहाँ श्रद्धासूत्र निर्बल हो जाता है। अतएव सोदक पितरानुगत आशौच गौण माना गया है। १५ वें परपुरुष से आरम्भ कर २१ वें परपुरुषपर्य्यन्त तीसरा सगोत्रपितृसप्तक है। यहाँ श्रद्धासूत्र क्षीण-प्राय है। अतएव सगोत्रपितरानुगत आशौच सर्वथा गौण माना गया है। २२ वें से २४ पर्य्यन्त, इससे आगे यथेच्छ (नामस्मरण पर्य्यन्त) 'ज्ञाति' लक्षणा पितृपरम्परा है। यहाँ श्रद्धासूत्र की प्रतिच्छायामात्र है। अतएव तदनुगत आशौच आशौचाभास माना गया है। इस प्रकार श्रद्धातारतम्य से योनिधृत आशौच चार श्रेणियों में विभक्त हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१—	(१)	बीजी
२—	(२)	पिता
३—	(३)	पितामह
४—	(४)	प्रपितामह
५—	(५)	वृद्धप्रपितामह
६—	(६)	अतिवृद्धप्रपितामह
७—	(७)	वृद्धातिवृद्धप्रपितामह
८—	(१)	
९—	(२)	
१०—	(३)	
११—	४)	
१२—	(५)	
१३—	(६)	
१४—	(७)	
१५—	(१)	
१६—	(२)	
१७—	(३)	
१८—	(४)	
१९—	(५)	
२०—	(६)	
२१—	(७)	

सपिंडा, सोइरे, सगोत्र ७ पितर

पुरतःसाधनाच्या पितर (सपिंडाशौचम्)

सोदका – सगोत्र पितर ७

गाथासाधनाच्या पितर (सोदकाशौचम्)

सगोत्रा एव पितर ७

सर्वगोत्रमानच्या पितर (सगोत्राशौचम्)

२२, २३, २४ —गोत्राभासा, आशौचाभासा (स्मरणाशौचम्)

उक्त विभागचतुष्टयी ही आगे जाकर सात संस्थाओं में विभक्त मान ली जाती है। आरम्भ की त्रयी के दो दो विवर्त्त, चतुर्थ एकाकी, सम्भूय सात गोत्रसंस्था हो जातीं हैं। पौत्री, पिता, पितामह, इन तीन सपिण्डों में अतिशयरूप से श्रद्धासूत्र प्रबल है। अतएव इन तीनों का 'सन्निहितसपिण्ड' लक्षण सन्निकृष्टतम (नजदीक से नजदीक) रूप पहिला विभाग मान लिया जाता है। प्र० वृ० प्र० वृद्धाति०, इन चार सपिण्डों में सामान्य रूप से श्रद्धासूत्र प्रबल है। अतएव इन चारों का 'सपिण्ड' लक्षण सन्निकृष्टतर (बहुत समीप) रूप दूसरा विभाग मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रबलश्रद्धासूत्रानुगत सात पुरुषों के अतिशय, सामान्य भेद से ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। एवमेव सोदक सप्तक के भी इसी श्रद्धातारतम्य से ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। ८ से १० पर्य्यन्त सकुल्यलक्षण सन्निकृष्ट (समीप) रूप प्रथम विभाग है, ११ से १४ पर्य्यन्त सोदकलक्षण मध्यमरूप द्वितीय विभाग है। एवमेव सगोत्रसप्तक के भी ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। १५ से १७ पर्य्यन्त सन्निहितसगोत्रलक्षण विप्रकृष्ट (दूर) रूप प्रथम विभाग है, १८ से २१ पर्य्यन्त सगोत्रलक्षण विप्रकृष्टतर (बहुत दूर) रूप द्वितीय विभाग है। २२ से २४ पर्य्यन्त का विभाग विप्रकृष्टतम है। परिलेख से सातों संस्थाओं का स्पष्टीकरण हो रहा है।

सपिण्डशौचम्	१-१-त्रिपुरुष यावत्	सन्निहितसपिण्ड	स सन्निकृष्टतम	३	७-७
	२-२-सप्तपुरुष यावत्	सपिण्ड	स सन्निकृष्टतर	४	
सोदकाशौचम्	३-१-दशपुरुष यावत्	सकुल्य	स सन्निकृष्ट	३	७-१४
	४-२-चतुर्दशपुरुष यावत्	सोदक	स मध्यम	४	
सगोत्राशौचम्	५-१-सप्तदशपुरुष यावत्	सन्निहितसगोत्र	स विप्रकृष्ट	३	७-२१
	६-२-एकविंशपुरुष यावत्	सगोत्र	स विप्रकृष्टतर	४	
७	७-७-चतुर्विंशपुरुष यावत् तदूर्ध्वं च	ज्ञाति	स विप्रकृष्टतम	३	३-२४

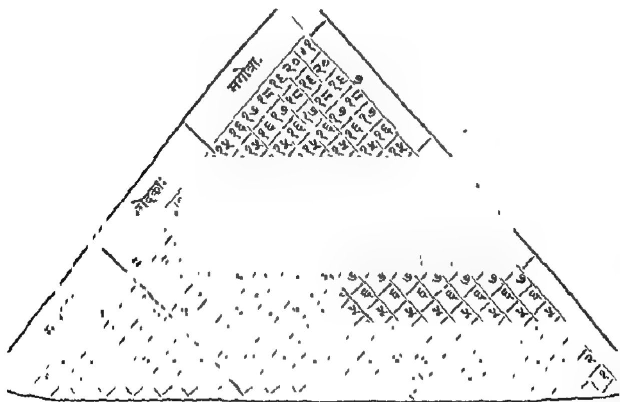
अपने पूर्व पुरुषों के जन्मनाम के स्मरण, तथा अस्मरण से भी आशौचसम्बन्ध में तारतम्य हो जाता है। 'नाम' वाङ्मय है। वाक्-सूत्र ही वस्तुतत्त्व का आत्मजगत् के साथ सम्बन्ध कराने में समर्थ है। इसी आधार पर वाक् को ग्रह माना गया है (देखिए शत० ४।४।३।१।)। इसी आधार

पर धर्म्मशास्त्र ने यह व्यवस्था की है कि, जहाँ तक जन्मनाम स्मरण है, वहाँ तक तो 'सोदक' व्यवहार होता है। एवं नाम स्मरणाभाव में सगोत्र व्यवहार होता है। जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

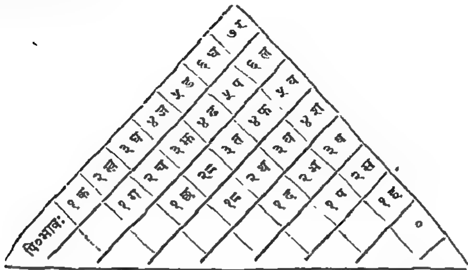
समानोदकभावस्तु निवर्त्तेताचतुर्दशात् ।
जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥

उक्त चार विभागों में से हमारे इस आशौच प्रकरण में सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, सगोत्रसप्तक, ये तीन विभाग ही ग्राह्य हैं। सपिण्ड-सनाभि, दोनों शब्द, सोदक-समानोदक शब्द, तथा सगोत्र-सगोत्रज शब्द समानार्थक हैं। इन तीनों सप्तकों का जिसके साथ जैसा सम्बन्ध है, वह निम्नलिखित गोत्र, साविण्ड्यमेरुपरिलेखों से स्पष्ट हो रहा है—

गोत्रमेरुपरिलेखः—



सपिण्डमेरुपरिलेखः—



गोत्रमेरु, तथा सपिण्डयमेरु की मूलप्रतिष्ठारूप इस योनिसम्बन्ध के मुख्य, आरोपित, सामान्य, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति जिस किसी भी गोत्र में उत्पन्न होकर यावज्जीवन उसी गोत्र में प्रतिष्ठित रहते हैं, ऐसे सगोत्रियों का जो पारस्परिक योनिकृत सम्बन्ध है, वह मुख्य माना गया है। सहोदर भ्राताओं का, भगिनियों का साक्षात्रूपेण योनिसम्बन्ध है, एवं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि का परस्पर परम्परया योनिसम्बन्ध है। यह उभयविध सम्बन्ध (तद्गोत्र में ही अवस्थित रहने पर मुख्य-योनिसम्बन्ध माना जायगा।

दूसरा आरोपित योनिसम्बन्ध है। इसके सगोत्रीकरण, विगोत्रीकरण, विगोत्रसापिण्ड्य, भेद से अवान्तर तीन विवर्त्त हैं। वसिष्ठगोत्री किसी पुरुष के सन्तान नहीं है। वह किसी भारद्वाज गोत्री के पुत्र का दत्तकसंस्कार रूप से ग्रहण करता है। इस संस्कार द्वारा दत्तक पुत्र स्वगोत्र (भारद्वाज) से च्युत होता हुआ परगोत्रानुवर्त्ती (वसिष्ठगोत्रानुवर्त्ती) बन जाता है। इस प्रकार परगोत्री का जो अपने गोत्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है, वह 'सगोत्रीकरण' लक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध माना गया है। परगोत्रात्मक परकुल से आगत पत्नियों की पितृगोत्र से विच्युति, तथा श्वशुरगोत्र से सम्बन्ध हो जाता है। यह विवाहसंस्कार का माहात्म्य है। एवं इसे भी सगोत्रीकरणलक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध का ही उदाहरण माना गया है।

इसी सम्बन्ध का विपरीत दिशा से विचार कीजिए। अपने गोत्र में उत्पन्न पुत्र को अन्य विगोत्री का दत्तक बना डाला, अपने गोत्र में उत्पन्न कन्या का अन्य विगोत्री के पुत्र के साथ विवाह कर डाला। दोनों इस स्वस्वत्त्वनिवृत्ति, परस्वत्त्वस्थापनलक्षण दानसम्बन्ध से दानदाता के गोत्र से च्युत होते हुए ग्रहीता के गोत्र से युक्त हो गए। इस दाता, तथा ग्रहीता का जो परस्पर सम्बन्ध होगा, वही

विगोत्रीकरणलक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध कहलाएगा। दत्तक पुत्रों का, परिणीता कन्याओं का गृहीताओं के साथ सगोत्रीकरण सम्बन्ध है, एवं दाता के साथ विगोत्रीकरण सम्बन्ध है, यही तात्पर्य्य है।

भिन्नगोत्रियों के साथ जो सापिण्ड्य सम्बन्ध है, वही तीसरा विगोत्रसापिण्ड्यलक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध है। अपने बन्धुबान्धव, माता के बन्धुबान्धव, पिता के बन्धुबान्धव, इत्यादि के साथ जो सापिण्ड्य (योनि) सम्बन्ध है, वह विगोत्र सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार दूसरे मध्यस्थ आरोपित योनिसम्बन्ध के अवान्तर तीन विवर्त्त हो जाते हैं।

तीसरा योनिसम्बन्ध सामान्य कोटि में अन्तर्भूत है। भ्राता के पुत्रों के साथ, भ्राता की पत्नियों के साथ, जामाता, श्वशुर, जामातृभ्राता, श्वशुरभ्राता, आदि के साथ इसी तीसरे सामान्य योनिसम्बन्ध का समन्वय है। प्रसङ्गवश उपात्त इस योनिसम्बन्ध में से मुख्य योनिसम्बन्ध ही आशौच मर्य्यादा में संग्राह्य है। सपिण्डतालक्षण सापिण्ड्य सम्बन्ध ही अघाशौच-संक्रमण का प्रधान निमित्त है।

योनिकृत सम्बन्धसूत्र के प्रसङ्ग में गोत्रमेरु, सापिण्ड्यमेरु, से सम्बन्ध रखने वाली सन्तानपरम्परा का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में यह सिद्ध किया गया कि, मुख्य, आरोपित, सामान्य, इन तीन योनिसम्बन्धों में से सापिण्ड्यभावानुगत मुख्य योनिसम्बन्ध ही आशौचसम्बन्ध में प्रधानरूप से ग्राह्य है। क्योंकि अघाशौचसंक्रमण में सपिण्डतालक्षण योनिसम्बन्ध ही ग्राह्य है, अतएव प्रसङ्गतः आवश्यक हो जाता है कि, संक्षेप से सापिण्ड्यभाव की भी मीमांसा कर दी जाय। यद्यपि पूर्व में 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में सापिण्ड्यभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाचुका है। तथापि अघाशौच-मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली सपिण्डता, साथ ही विवाह, तथा दायभाग से सम्बन्ध रखने वाला सापिण्ड्य उस प्रकरण से अगतार्थ है। अतएव यहाँ भी इसका एक विशेष दृष्टिकोण से समन्वय करना आवश्यक मान लिया गया है।

शुक्रगत महानात्मा में प्रतिष्ठित चतुरशीतिकल पितृपिण्डों के वितान से सात पुरुष परम्परा में व्याप्त रहने वाला 'सापिण्ड्य' तत्त्वतः एक ही प्रकार का है। विवाह, दाय, तथा आशौच, इस-सापिण्ड्य के स्वरूपनिर्म्माता, किंवा निमित्त नहीं हैं। पितृसहांसि का वितान ही इस का प्रधान निमित्त है। एवं इस एक निमित्त से यद्यपि सापिण्ड्य एक ही प्रकार का है। तथापि विवाह, दाय, आशौच, इन आगन्तुक भावों के सम्बन्ध से तत्त्वतः एकरूप रहने वाला भी सापिण्ड्य 'विवाहसापिण्ड्य, दायसापिण्ड्य, आशौचसापिण्ड्य' भेद से तीन प्रकार का मान लिया जाता है। सपिण्डों में से जिन सपिण्डों का विवाह सम्बन्ध में निषेध है, तदनुगत सापिण्ड्य ही विवाहसापिण्ड्य है। जिन सपिण्डों के लिए दायभाग नियत हुआ है, तदनुगत सापिण्ड्य ही दायसापिण्ड्य

है। एवं जिन सपिण्डों में परस्पर आशौच सम्बन्ध होता है, तदनुगत सापिण्ड्य ही आशौचसापिण्ड्य है। यदि विवाहप्रतिषेध, दायभागित्व, तथा अघाशौचभागित्व, सब सपिण्डों में समान ही होता, तब तो सापिण्ड्य के इन तीन विभागों की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु देखते हैं-तीनों में कुछ विशेषता है, निमित्तभेद है। इसी आधार पर एक भी सापिण्ड्य तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तीनों में से क्रमप्राप्त सर्वप्रथम विवाहसापिण्ड्य की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

(क)-विवाहसापिण्ड्यम्

सगोत्रसापिण्ड्य, विगोत्रसापिण्ड्य, साधारणसापिण्ड्य, भेद से यह सापिण्ड्य तीन श्रेणियों में विभक्त है। जिसे मूल मान कर इस विवाहसापिण्ड्य की मीमांसा की जायगी, वह परिभाषानुसार 'बीजी' कहलाएगा। पुत्रसन्तान, कन्यासन्तान, भेद से इस बीजी पिता से दो-सन्तान धाराएँ प्रवाहित होतीं हैं। इन दोनों में से पुत्रपक्ष में सात पुरुषों को लक्ष्य बना कर, तथा कन्यापक्ष में पाँच पुरुषों को लक्ष्य बना कर सापिण्ड्यसम्बन्ध प्रवाहित माना गया है।

जिस पुत्र का विवाह सम्बन्ध अपेक्षित है, वह सज्ञातः 'वर' कहलाया है। यही 'वर' पुत्र प्रथम-कूटस्थ पुरुष है। इस कूटस्थ पुरुष से आरम्भ कर सातवीं सस्थापर्य्यन्त क्रमशः १, २, ४, ८, ८, १६, इतने पितृद्वन्द्व प्रतिष्ठित माने गए हैं। इन पितृद्वन्द्वों तक विवाहसापिण्ड्य की व्याप्ति रहती है। अतएव इतने सपिण्ड विवाहसम्बन्ध में वर्ज्य माने गए हैं। यदि इनके अवान्तर द्वन्द्वों का संकलन किया जाता है, तो ६३ पितृद्वन्द्व हो जाते हैं। एवमेव मातृपक्ष में पञ्चमस्थान पर्य्यन्त इस सापिण्ड्य की व्याप्ति रहती है, जिस में १५ अपत्यद्वन्द्व प्रतिष्ठित है। निम्न लिखित तालिकाओं, तथा परिलेखों से इस विलुप्तप्राय विवाहसापिण्ड्य का यथाकथञ्चित् स्पष्टीकरण किया जासकता है।

		संख्या	द्वन्द्वसंख्या	संख्या
प्रथम थाने	वर केवल.	०	०	०
द्वितीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	वरस्य पितरौ	१	६३	६३
तृतीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	१–पितामही	२	६३	१२६
चतुर्थस्थाने द्वे द्वन्द्वे २	१–प्रपितामही	३	६३	१८९
	२–पितृपितामही	४	६३	२५२
पञ्चमस्थाने चत्वारि द्वन्द्वानि ४	१–वृद्धप्रपितामही	५	६३	३१५
	२–पितामहमातामही	६	६३	३७८
	३–पितृप्रमातामही	७	६३	४४१
	४–पितामहीमातामही	८	६२	५०४
षष्ठस्थानेऽष्टौ द्वन्द्वानि ८	१–अतिवृद्धप्रपितामही	९	६३	५६७
	२–प्रपितामहमातामही	१०	६३	६३०
	३–पितामहप्रमातामही	११	६२	६९३
	४–प्रपितामहीमातामही	१२	६३	७५६
	५–पितृवृद्धप्रमातामही	१३	६३	८१९
	६–पितृमातामहप्रमातामही	१४	६३	८८२
	७–पितामहीप्रमातामही	१५	६३	९४५
	८–पितामहीमातृमातामही	१६	६३	१००८
सप्तमस्थाने षोडश द्वन्द्वानि १६	१–परमातवृद्धप्रपितामही	१७	६३	१०७१
	२–वृद्धप्रपितामहमातामही	१८	६३	११३४
	३–प्रपितामहप्रमातामही	१९	६३	११९७
	४–वृद्धप्रपितामहीमातामही	२०	६३	१२६०
	५–प्रपितामहीप्रपितामही	२१	६३	१३२३
	६–प्रपितामहीपितृमातामही	२२	६३	१३८६
	७–प्रपितामहीप्रमातामही	२३	६३	१४४९
	८–प्रपितामहीमातृमातामही	२४	६३	१५१२
	९–पितामहीवृद्धप्रपितामही	२५	६३	१५७५
	१०–पितृप्रमातामहमातामही	६	६३	१६३८
	११–पितृमातामहप्रमातामही	२७	६३	१७०१
	१२–पितृमातामहमातृमातामही	२८	६३	१७६४
	१३–पितामहीवृद्धप्रमातामही	२९	६३	१८२७
	१४–पितामहीमातामहमातामही	३०	६३	१८९०
	१५–पितामहीमातामहीपितामही	३१	६३	१९५३
	१६–पितामहीमातामहीमातामही	३२	६३	२०१
तान्येतानि —	पितृपर्यायेण —	जनकद्वन्द्वानि द्वात्रिंशन्मितानि		

जनकद्वन्द्वाना–जन्यद्वन्द्वानि–त्रिषष्टि (६३) मितानि—

प्रथम स्थाने द्वन्द्वमेकम् कूटस्थम् १	मातापितरौ	ॐ
द्वितीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	कूटस्थस्य पुत्र, दुहिता च	१
तृतीयस्थाने द्वन्द्वे द्वे २	१–पौत्र पौत्री च	२
	२–दौहित्र दौहित्री च	३
चतुर्थस्थाने द्वन्द्वानि चत्वारि ४	१–प्रपौत्र प्रपौत्री च	४
	२–पौत्रीपुत्र पौत्रीपुत्री च	५
	३–दौहित्रपुत्र दौहित्रपुत्री च	६
	४–दौहित्रीपुत्र दौहित्रीपुत्री च	७
पञ्चमस्थाने द्वन्द्वान्यष्टौ ८	१–वृद्धप्रपौत्र वृद्धप्रपौत्री च	८
	२–प्रपौत्रीपुत्र प्रपौत्रीपुत्री च	९
	३–पौत्रीपौत्र पौत्रीपौत्री च	१०
	४–पौत्रीदौहित्र पौत्रीदौहित्री च	११
	५–दौहित्रपौत्र दौहित्रपौत्री च	१२
	६–दौहित्रदौहित्र दौहित्रदौहित्री च	१३
	७–दौहित्रीपौत्र दौहित्रपौत्री च	१४
	८–दौहित्रीदौहित्र दौहित्रीदौहित्री च	१५
षष्ठस्थाने द्वन्द्वानि षोडश १६	१–अतिवृद्धप्रपौत्र अतिवृद्धप्रपौत्री च	१६
	२–प्रपौत्रदौहित्र प्रपौत्रदौहित्री च	१७
	३–प्रपौत्रीपौत्र प्रपौत्रीपौत्री च	१८
	४–प्रपौत्रीदौहित्र प्रपौत्रीदौहित्री च	१९
	५–पौत्रीप्रपौत्र पौत्रीप्रपौत्री च	२०
	६–पौत्रीपुत्रदौहित्र पौत्रीपुत्रदौहित्री च	२१
	७–पौत्रीपुत्रीपौत्र पौत्रीपुत्रीपौत्री च	२२
	८ पौत्रीपुत्रीदौहित्र पौत्रीपुत्रीदौहित्री च	२३
	९ दौहित्रप्रपौत्र दौहित्रप्रपौत्री च	२४
	१०–दौहित्रपुत्रदौहित्र दौहित्रपुत्रदौहित्री च	२५
	११–दौहित्रपुत्रीपौत्र दौहित्रपुत्रीपौत्री च	२६
	१२–दौहित्रपुत्रदौहित्र दौहित्रपुत्रीदौहित्री च	२७
	१३–दौहित्रपुत्रपौत्र दौहित्रपुत्रपौत्री च	२८
	१४–दौहित्रीपुत्रदौहित्र दौहित्रीपुत्रदौहित्री च	२९
	१५–दौहित्रीपुत्रीपौत्र दौहित्रीपुत्रीपौत्रीच	३०
	१६–दौहित्रीपुत्रीदौहित्र दौहित्रीपुत्रीदौहित्री च	३१

उक्त जन्यद्वन्द्व में सातवाँ स्थान अभी शेष है । षष्ठस्थान के १६ द्वन्द्वों के ३२ व्यक्ति हो जाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति पुत्र-कन्या रूप से एक एक स्वतन्त्र द्वन्द्व का जनक है । इस प्रकार सातवें स्थान में ६ ठे स्थान के १६ द्वन्द्वों के ३२ व्यक्तियों से ३२ पुत्र-कन्याद्वन्द्व हो जाते हैं । यदि इन सातों स्थानों के द्वन्द्वों का सकलन किया जाता है, तो १, २, ४, ८, १६, ३२, इनके ६३ द्वन्द्व हो जाते हैं । इनके जन्यद्वन्द्वों की सख्या भी पूर्वप्रदर्शित जनकद्वन्द्वानुसार २०१६ पर विश्राम करती है । विवाहसापिण्ड्य के इस सुसूक्ष्म विशकलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, पितृपक्ष की २०१६ कन्याएँ विवाहसम्बन्ध में वर्ज्य हैं । इन से विवाहसापिण्ड्य के नाते विवाह-नहीं किया जासकता ।

अब क्रमप्राप्त पञ्चस्थानात्मक मातृपक्ष की मीमांसा कीजिए । निम्न लिखित रूप से मातृपक्षानुगत पञ्चस्थानों के सात विवर्त हो जाते हैं—

प्रतिस्थान द्वन्द्वसख्या	वरसम्बन्धिनः पञ्चमस्थाना.	जनकद्वन्द्वानां संख्या	प्रति जनक-द्वन्द्वंजन्य-द्वन्द्वानि	जन्यद्वन्द्वं-संख्यानां समष्टिसख्या
प्रथमस्थाने	वरः केवलः	꣸	꣸	꣸
द्वितीयस्थाने	वरस्य माता	꣸	꣸	꣸
तृतीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	मातामही	१	१५	१५
चतुर्थस्थाने द्वे द्वन्द्वे	प्रमातामही	२	१५	३०
२	मातृमातामही	३	१५	४५
पञ्चमस्थाने चत्वारि द्वन्द्वानि ४	वृद्धप्रमातामही	४	१५	६०
	मातामहमातामही	५	१५	७५
	मातृप्रमातामही	६	१५	९०
	मातामहीमातामही	७	१५	१०५

प्रथमे स्थाने	किञ्चिदेकमूलवृद्धं मातापितरौ कूटस्थम्
द्वितीयस्थाने	कूटस्थपुत्रो, दुहिता च
तृतीयस्थाने	पौत्रः पौत्री च दौहित्रो दौहित्री च
चतुर्थस्थाने	प्रपौत्रः प्रपौत्री च पौत्रीपुत्रः पौत्रीपुत्री च दौहित्रपुत्रः दौहित्रपुत्री च दौहित्रीपुत्रः दौहित्रीपुत्री च
पञ्चमस्थाने	वृद्धप्रपौत्रः वृद्धप्रपौत्री च प्रपौत्रीपुत्रः प्रपौत्रीपुत्री च पौत्रीपौत्रः पौत्रीपुत्री च पौत्रीदौहित्रः पौत्रीदौहित्री च दौहित्रपौत्रः दौहित्रपौत्री च दौहित्रदौहित्रः दौहित्रदौहित्री च दौहित्रीपौत्रः दौहित्रीपौत्री च दौहित्रीदौहित्रः दौहित्रीदौहित्री च

पितृकुलानुगता षोडशाधिकद्विसाहस्री (२०१६), एवं मातृकुलानुगता पञ्चोत्तरशत (१०५), सम्भूय-एकविंशत्यधिकैकविंशतिशतसंख्या (२१२१) का अनुपात हो जाता है। यही विवाहसापिण्ड्य का दाक्षिणात्यसम्मत सुसूक्ष्म विस्तार है। गौडसम्प्रदायानुगत विशुद्ध विवाहसापिण्ड्य इस से भिन्न है, जिसे विस्तारभय से छोड़ा जाता है। इस विवाहसापिण्ड्य से हमें प्रकृत में यह बतलाना है कि, प्राणविद्या के आचार्य परमर्षियोंने वंशविशुद्धि के लिए जो सुसूक्ष्म अन्वेषण किया है भले हो वर्त्तमान जगत की भौतिक दृष्टि में इस का कोई महत्त्व न हो,

भले ही वर्त्तमानयुग के बुद्धिमानों की दृष्टि में अन्तर्जातीय विवाह, सापिण्डविवाहादि अनाचार, किंवा दुराचार प्रत्यक्ष में कोई हानि उत्पन्न न करता हो, परन्तु विवाहसापिण्ड्य की मर्य्यादा का अतिक्रमण करने वाली हमारी आज की उच्छृङ्खलता वर्णसंकरता की जननी बनती हुई हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की अवनति का ही मूलकारण प्रमाणित हो रही है।

(ख)—दायसापिण्ड्यम्—

सात पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाले दायसापिण्ड्य के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। स्व, पिता, पितामह, प्रपितामह, ये चार पुरुष, एवं इन चारों के प्रत्येक के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इस प्रकार सम्भूयह १६ पुरुष दायसापिण्ड्य में गृहीत हैं। स्व, स्वपुत्र, स्वपौत्र, स्वप्रपौत्र, इन चारों की समष्टि स्ववर्ग है। पिता, तत्पुत्र, तत्पौत्र, तत्प्रपौत्र इन चारों की समष्टि पितृवर्ग है। पितामह, तत्पुत्र, तत्पौत्र, तत्प्रपौत्र, इन चारों की समष्टि पितामहवर्ग है। एवं प्रपितामह, तत्पुत्र, तत्पौत्र तत्प्रपौत्र, इन चारों की समष्टि प्रपितामहवर्ग है। इस वर्गभेद से षोडशपुरुषानुगत चतु-पौरुषमर्य्यादा पर दायसापिण्ड्य विश्रान्त है। वंशक्रममर्य्यादा की अपेक्षा से प्रपितामह से प्रथमपुरुषानुगम है। पितामह-तथा प्रपितामह पुत्रों से द्वितीयपुरुषानुगम है। पिता, पितामहपुत्र, तथा प्रपितामहपौत्रों से तृतीयपुरुषानुगम है। स्व, पितृपुत्र, पितामहपौत्र, प्रपितामहपौत्र, से चतुर्थपुरुषानुगम है। स्वपुत्र, पितामहप्रपौत्र से पञ्चमपुरुषानुगम है। स्वपौत्र, पितृपौत्रों से षष्ठपुरुषानुगम है। एवं स्वप्रपौत्रों से सप्तमपुरुषानुगम है। इस प्रकार पिता, पितामह, प्रपितामह तीन पर पुरुष, पुत्र,-पौत्र प्रपौत्र ये तीन अपरपुरुष, एवं इन पर-अपरपुरुषों के मध्य में प्रतिष्ठित कूटस्थ स्वपुरुष, इस दृष्टि से दायसापिण्ड्य साप्तपौरुष बन जाता है।

स्व, पितृ-पितामह-प्रपितामह, इन उक्त चार वर्गों में से दायभाग के सम्बन्ध में उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व का प्राधान्य है। प्रथमाधिकार स्ववर्गचतुष्टयी का है। स्ववर्गाभाव में पितृवर्ग, तदभाव में पितामहवर्ग, एवं तदभाव में प्रपितामहवर्ग का प्राधान्य है। कारण इस का यही है कि, प्रपितामहवर्गापेक्षया पितामहवर्ग, इस की अपेक्षा पितृवर्ग, एवं सर्वापेक्षया स्ववर्ग सापिण्ड्य से अधिकाधिक सन्निकृष्ट है। इन चारों वर्गों में भी प्रत्येक के चारों पर्वों में उत्तरोत्तर पर्वापेक्षया पूर्व-पूर्व पर्व का प्राधान्य है। प्रथम स्व, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। एवमेव पितामह वर्ग में प्रथम पितामह, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। एवमेव प्रपितामहवर्ग में प्रथम प्रपितामह, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। वर्ग, तथा पर्वसान्निध्यमूला इसी दायविभाग-व्यवस्था का समर्थन करते हुए धर्म्माचार्य्यों ने कहा है—

"यस्यामश्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधनं हरेत्"

त्र्यसापिण्ड्यपरिलेखः—

			प्रपितामहवर्गः
		पितामहवर्गः	प्रपितामहः
	पितृवर्गः	पितामह	पुत्रः
स्ववर्गः	पिता	पुत्रः	पौत्रः
स्व	पुत्रः	पौत्रः	प्रपौत्रः
पुत्रः	पौत्रः	प्रपौत्रः	(प्रपितामहवर्गः)
पौत्रः	प्रपौत्रः	(पितामहवर्गः)	
प्रपौत्रः	(पितृवर्गः)		
(स्ववर्गः)			

१—(३)—प्रपितामहकक्षा——१——————(१)—प्रथमपुरुषः

२—(२)—पितामहकक्षा——२——२————(२)—द्वितीयः पुरुषः

३—(१)—पितृकक्षा——३——३——३————(३)—तृतीय पुरुषः

४—(०)—कूटस्थकक्षा——४——४——४——४————(४)—चतुर्थः पुरुषः

५—(१)—पुत्रकक्षा——५——५——५————(५)—पञ्चमः पुरुषः

६—(२)—पौत्रकक्षा——६——६————(६)—षष्ठः पुरुष

७—(३)—प्रपौत्रकक्षा——७————(७)—सप्तमः पुरुषः

(ग)–आशौचसापिण्ड्यम्—

प्रसङ्गोपात्त विवाह, दायसापिण्ड्यों का दिग्दर्शन कराने के अनन्तर तीसरे उस आशौच सापिण्ड्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो हमारे इस आशौच प्रकरण का मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। वैज्ञानिकोंने इस सापिण्ड्य के "अन्वयसापिण्ड्य, पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्य, पितृनिवाप्यसापिण्ड्य, उत्तरसापिण्ड्य, भेद से चार विवर्त्त माने हैं। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त अन्वयसापिण्ड्यलक्षण आशौचसापिण्ड्य का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१)–महानात्मगत अष्टा-विंशति (२८)–कल पितृप्राणमूर्त्ति आत्मधन ही सन्तति का मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इस आत्मधन के ऋण-धन से ही सात पुरुषों का वितान हुआ है। एकशरीरावयवभूत सन्ततिप्रवर्त्तक, किंवा सन्ततिजनक इन २८ आत्मधनकलाओं का वितान क्रमशः पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, वृद्धप्रपौत्र, अतिवृद्धप्रपौत्र, वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र (परमातिवृद्धप्रपौत्र) इन ६ सन्तति परम्पराओं में होता है। ६ अपत्य, सातवाँ स्वयं जनक, इस प्रकार सात पुरुषपर्य्यन्त एकशरीरावयवभूत २८ मात्राओं का अनुवर्त्तन होता है। मात्राभाव से आगे इस अवयव वितान का अभाव है। अतएव यह अवयवसापिण्ड्य सप्तपुरुषपर्य्यन्त (कूटस्थबीजी से आरम्भ कर वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर्य्यन्त) ही माना गया है। 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते' से यही अवयवसापिण्ड्य अभिप्रेत है। इस अवयव सापिण्ड्य से सम्बन्ध रखने वाला, बीजी से ६ ठे अपत्यपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला यही आशौच 'अन्वयसापिण्ड्याशौच' कहलाया है। अष्टाविंशतिकल सह पिण्ड ही आत्मधन है, जो कि कूटस्थ बीजी (पिता) के महानात्मा में प्रतिष्ठित है। इन २८ शरीरावयवों का उक्त सात पुरुषों में क्रमशः ७ कला स्वयं बीजी में, ६ कला पुत्र में, ५ कला पौत्र में, ४ कला प्रपौत्र में, ३ कला वृद्धप्रपौत्र में, २ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त है। इस प्रकार सात स्थानों में विभक्त ये नियामकपिण्ड ही सातों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा है। कूटस्थ बीजी के २८ कल मूलपिण्ड को प्रतियोगी बनाने वाला, एवं पुत्रादि ६ अपत्यों को अनुयोगी बनाने वाला सापिण्ड्य ही अन्वयसापिण्ड्य है, तन्मूलक आशौच ही अन्वयसापिण्ड्याशौच है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

(१)–अवयवसापिण्ड्यपरिलेखः—

	२८	
७ बीजी (१)	७	
१–पुत्रः (२)	६	
२–पौत्रः (३)	५	
३–प्रपौत्रः (४)	४	
४–वृद्धप्रपौत्रः (५)	३	
५–अतिवृद्धप्रपौत्र (६)	२	
६–वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र (७)	१	
	२८	

अवयवसापिण्ड्याशौचसम्बन्धकानि सम्बन्धमूलानि

"अवयवसापिण्ड्यम्"
(एकपितृप्रतियोगिकं, षडपत्यानुयोगिकम्)

(२)–दूसरा क्रमप्राप्त 'पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्य' है । प्रत्येक कूटस्थ पुरुष के शुक्र में जहाँ स्वार्जित २८ मूलधन प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ इसी कूटस्थ के शुक्र में इससे पूर्व ६ पितृपुरुषों की ऋणमात्राएँ भी प्रतिष्ठित रहती हैं । पुत्रस्थानीय इस कूटस्थ में उन पितरों के पिण्ड ऋणरूप रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन ऋणात्मक पिण्डों को 'पुत्रनिवाप्यपिण्ड' कहना अन्वर्थ बनता है । १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपितामह की, ३ कला अतिवृद्धप्रपितामह की, ६ कला वृद्धप्रपितामह की, १० कला प्रपितामह की, १५ कला पितामह की, एवं २१ कला पिता की प्रतिष्ठित रहती हैं । सम्भूल ५६ कला हो जाती हैं । २८ कला स्वयं इसका मूलधन है । दोनों के सङ्कलन से (५६ ऋण के, तथा २८ धन के संकलन से) इसका महानात्मा चतुरशीतिकल (८४) हो जाता है । इस निवापसम्बन्ध से ही सातों का परस्पर सपिण्ड–(समानसपिण्ड) सम्बन्ध सुरक्षित रहता है । इसी पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्य के द्वारा बीजी का इन ६ ओं के साथ षट्पितृप्रतियोगिक, तथा एकअपत्यानुयोगिक पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्याशौच–सम्बन्ध संक्रान्त रहता है । पूर्वोक्त प्रथमाशौच में अवरअपत्यषट्क मूल था, इस द्वितीयाशौच में परपितृषट्क मूल है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

६-वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः (७)-१ — १
५-अतिवृद्धप्रपितामह (६)-२ — ३
४-वृद्धप्रपितामह (५)-३ — ६
३-प्रपितामहः (४)-४ — १०
२-पितामहः (३)-५ — १५
१-पिता (२)-६ — २१
गृहस्थ (पुत्र) (१)-७ — २८

पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्याशौचसम्बन्धसंकेताः

"पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्यम्"
(षट्पितृप्रतियोगिक-एकापत्यानुयोगिकम्)

(३)-तीसरा क्रमप्राप्त 'पितृनिवाप्यसापिण्ड्य' है। इस सापिण्ड्य का श्राद्धकर्मानुगत पिण्डदान से सम्बन्ध है। प्रत्येक अपत्य अपने पूर्व के ६ प्रेतपितरों को पिण्डदान से यथासमय तृप्त किया करता है, जैसाकि 'ऋणमोचनोपायोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सातवाँ अपत्य पिण्डद है। इससे पूर्व के पिता, पितामह, प्रपितामह, ये तीन 'पिण्डभागिन' हैं, एवं इनसे भी पर वृद्ध-अति-परम० ये तीन 'लेपभाज' हैं। अमावास्यादि तिथि विशेषों में, कन्यागतमहालयादि कालविशेषों में इस प्रेत-पितृषट्क के पिण्ड क्षीण होते रहते हैं। इनके आप्यायन के लिए तत्तत्तिथि-कालविशेषों में सातवाँ अपत्य पिण्डदान किया करता है। यही सातपौरुष पितृनिवाप्यसापिण्ड्य है। इसमें तीन का प्रधानरूप से (साक्षात् रूप से) आप्यायन है, एवं ३ का परम्परया (पिण्डगतलेप द्वारा) आप्यायन है। इसी लिए ३ के साथ घनिष्ठ आशौच सम्बन्ध है, एवं तीन के साथ सामान्य आशौच सम्बन्ध है। यही पितृनिवाप्यलक्षण सापिण्ड्याशौच है, जिस सपिण्डता का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्॥

(३)–पितृनिवाप्यसापिण्ड्यपरिलेखः—

(३) परमातिवृद्धप्रपितामहः (७)
(२) अतिवृद्धप्रपितामहः (६)
(१) वृद्धप्रपितामहः (५)
लेपभागः

(३) प्रपितामहः (४)
(२) पितामहः (३)
(१) पिता (२)
पिण्डभागिनः

(४) कूटस्थः (१) पिण्डदः

पितृनिवाप्यसापिण्ड्याशौचसूत्राणि

—"पितृनिवाप्यसापिण्ड्यम्"

(४)–चौथा क्रमप्राप्त 'उत्तरसापिण्ड्य' है। क्योंकि इसका मरणोत्तरक्रिया से सम्बन्ध है, अतएव इसे 'प्रेतसापिण्ड्य'–'प्रत्यर्पणसापिण्ड्य' इत्यादि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। 'पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्य' का दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, कूटस्थ पुरुष में ५६ कला ऋणरूप से, तथा २८ कला धनरूप से, सम्भूय ८४ कला प्रतिष्ठित हैं। इनमें से २८ धनकलाओं में से २१ कला तो अवयवसापिण्ड्यानुगत सन्ततिपरम्परा में भुक्त हो जाती हैं, इसके कोश में आत्मधेय (आत्मप्रतिष्ठा) रूप से अपने धन में से केवल ७ कला शेष रह जाती हैं। ऋणभागात्मिका ५६ कलाओं में से ३५ कला तो सन्तति परम्परा में भुक्त हो जाती हैं, एवं शेष २१ कला आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित रह जाती हैं। इस प्रकार ५६ में से २१ ऋणकला, २८ में से ७ धन कला, सम्भूय इसके कोश में २८ कलाएँ बच रहती हैं। इन २८ को लेकर ही यह चन्द्रलोक में प्रेतशरीर से गमन करता है। चन्द्रलोक में पहुँच कर यह २८ में से २१ ऋणकलाओं का तत्तत्पितरों में प्रत्यर्पण कर देता है। इसी स्वाभाविक पिण्ड-समन्वयप्रक्रिया का नाम 'उत्तरसापिण्ड्य' है। २१ ऋणकलाओं का क्रमशः पिता की ६ कला, पितामह की ५ कला, प्रपितामह की ४ कला, वृद्धप्रपितामह की ३ कला, अतिवृद्धप्र० की २ कला, परमाति० की १ कला, इस क्रम से विभाजन है। इन्हीं का इसी रूप से प्रत्यर्पण होता है। यही कर्म्म 'सपिण्डीकरण' नाम से प्रसिद्ध है, जैसाकि पूर्वप्रकरणों में विस्तार से सोपपत्तिक बतलाया जा चुका है। इस उत्तरसापिण्ड्य की अपेक्षा से यही आशौचपदार्थ 'उत्तरसापिण्ड्याशौच' कहलाया है। इस प्रकार दृष्टिकोण-भेद से आशौचतत्त्व का चार प्रकार से समन्वय किया जा सकता है।

(४)–उत्तरसापिण्ड्यपरिलेखः—

(१) परमातिवृद्धप्रपितामहे (७)——१—प्रत्यर्पणम्
(२) अतिवृद्धप्रपितामहे (६)————२ ,,
(३) वृद्धप्रपितामहे (५)—————३ ,,
(४) प्रपितामहे (४)—————४ ,,
(५) पितामहे (३) —————५ ,,
(६) पितरि (२) —————६ ,,
(७) स्वात्मनि (१) —————७ ,,

"उत्तरसापिण्डयाशौचप्रवर्तक सूत्रम्" —"उत्तरसापिण्ड्यम्"

(५)–पिण्डस्वरूपसिंहावलोकनम्—

पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध आशौचसापिण्ड्य की मौलिक उपपत्ति का यद्यपि 'प्रजातन्तुवितान विज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। तथापि परोक्षप्रसम्बन्ध से अतिशयरूपेण दुरूह इस पिण्ड स्वरूप का सिंहावलोकन्यायेन संक्षेप से इस 'आशौचविज्ञानोपनिषत्' में दिग्दर्शन करा दिया जाता है। एक ही पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला योनिसम्बन्ध ही 'सापिण्ड्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस पिण्ड की प्रतिष्ठा, किंवा आयतन महानात्मा है। शुक्र भाव से, तथा परम्परया आगत चान्द्ररस से निष्पन्न इस पितृप्राणप्रधान, अतएव पशुपिण्ड नामक पिण्ड का अन्नात्मक, अग्नीषोमात्मक, शुक्रशोणितात्मक, इत्यादि रूप से अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण अवश्य कर लेना चाहिए कि, शुक्रप्रधान पिण्ड 'बीजपिण्ड' कहलाया है, एवं शोणितप्रधान पिण्ड 'क्षेत्रपिण्ड' कहलाया है। बीजपिण्ड का पितृकुल से सम्बन्ध है, एवं क्षेत्रपिण्ड का मातृकुल से सम्बन्ध है। पितृकुलानुगत बीजपिण्ड का सप्तपुरुषमर्य्यादा से सम्बन्ध है, एवं मातृकुलानुगत क्षेत्रपिण्ड का पञ्चपुरुषमर्य्यादा से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व में जन्य-जनक द्वन्द्वों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है। इन दोनों पिण्डों में से प्रकृत में साप्तपौरुषसापिण्ड्य की मूलप्रतिष्ठारूप शुक्रचितापात्मक बीजपिण्ड की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शुक्रचितापात्मक बीजपिण्ड—

जिस शुक्र से, किंवा शुक्राहुति से प्रजोत्पत्ति होती है, उस शुक्र का क्या स्वरूप ?, इस प्रश्न का सामान्यतः यही उत्तर दिया जाता है कि, हम साग-भात जो अन्न खाते हैं, वही शरीराग्नि सम्बन्ध से रस-मल के क्रमिक विश्लेषण में आकर सातवें क्रम से शुक्ररूप में परिणत हो जाता है।

फलत अन्नरसमय अन्तिम धातु का ही शुक्रत्व सिद्ध हो जाता है। अन्न पार्थिव है। इस पार्थिव भूत में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पाँचों भूतों का समन्वय है। पञ्चभूतात्मक पार्थिव 'इरा' रस ही अन्न का उत्पादक है। अतएव अन्न भी अवश्य ही पञ्चभूतात्मक है। इस पञ्चभूतात्मक अन्न से उत्पन्न अन्नरसमय शुक्र भी अवश्य ही पञ्चभूतविकाररूप है। इन पाँचों भूतविकारों के अतिरिक्त इस अन्नरसमय शुक्र में 'चेतना' नामक एक ६ ठा धातु और प्रतिष्ठित रहता है। इसी चेतना के सम्बन्ध से इसे 'अन्नरसमयपुरुष' कहा जाता है। 'अन्नरस' पञ्चभूतविकार का संग्राहक है, एवं 'पुरुष' शब्द चेतना का संग्राहक है। इस प्रकार चेतनाधातुयुक्त पञ्चभूतविकारलक्षण अन्नमय रस ही शुक्र है, यही प्रारम्भिक प्रश्न का एक समाधान है। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। छान्दोग्य उपनिषत् में उपवर्णित सुप्रसिद्ध त्रिवृत्करणप्रक्रिया के अनुसार 'तेज-अप्-अन्न' की समष्टि ही शुक्र है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों में क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव अग्नितत्त्व अन्न की प्रतिष्ठा है, आन्तरिक्ष्य वायुतत्त्व अप्तत्त्व की प्रतिष्ठा है, एवं दिव्य आदित्यतत्त्व तेजस्तत्त्व की प्रतिष्ठा है। इन्हीं तीनों द्यावापृथिव्य रसों से अन्न की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। अन्न में तीनों का समावेश है। इन तीनों से युक्त अन्न से उत्पन्न अन्नरसमय शुक्र अवश्य ही इस दृष्टि से 'तेजोऽबन्नमय' है। यही त्रिवृत्करणप्रक्रिया 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० उ० ३।३।२) के अनुसार अन्ततो गत्वा पञ्चभूतानुगता पञ्चीकरणप्रक्रिया की समर्थिका बन जाती है, जैसा कि ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यादि में विस्तार से प्रतिपादित है। तेज-अप्-अन्न, तीनों में तेज आदित्यात्मक है। यही आदित्य तेज इन्द्र है। इस इन्द्र के साथ दिव्यलोकस्थ सोम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सोमाहुति के सम्बन्ध से ही यह आदित्य तेजोरूप में परिणत हो रहा है। अतएव इस तेज को हम अवश्य ही 'सोम' कह सकते हैं। तेजोलक्षण यही सोम शुक्र में सप्तकोशरूप से प्रतिष्ठित है। सप्तकोशात्मक तेजोमय इसी सोमपिण्ड का नाम बीजपिण्ड है, एवं यही बीजोपिण्ड मातापितृभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ प्रजातन्तुवितान का प्रवर्त्तक बनता है।

बीजपिण्ड के कोशानुगत ऋण-धनविभाग—

शुक्रस्थित बीजपिण्ड के पहिले कोश में २८ कला है, दूसरे कोश में २१ कला है, तीसरे कोश में १५ कला है, चौथे कोश में १० कला है, पाँचवें कोश में ६ कला है, ६ ठे कोश में ३ कला है, एवं सातवें कोश में १ कला है। यदि इन सातों कोशों की इन अवान्तर कलाओं का सङ्कलन किया जाता है, तो सप्तकोशात्मक बीजपिण्ड की ८४ कला हो जाती है। चतुरशीतिकल, बीजपिण्डात्मक, सप्तकोशमूर्त्ति यही शुक्रगत सोम 'निवाप्य' पिण्ड है। बीजपिण्ड के सम्बन्ध से 'बीजी' नाम से प्रसिद्ध स्वसन्तानपरम्परा के मूलप्रवर्त्तक होने से 'कूटस्थ मूलपुरुष' नाम से प्रसिद्ध पुरुष का उक्त चतुरशीतिकल सोमद्रव्य शरीरावयव बन रहा है। चतुरशीतिकल इस सोम-द्रव्य के (८४ कला के) तीन विभाग कर दीजिए। इस में दो विभाग तो कूटस्थ मूल-

पुरुष के पूर्वसिद्ध ६ पितृपरम्पराओं से सम्बन्ध रखते हैं, एवं एक विभाग स्वयं कूटस्थ मूलपुरुष का अपना प्रातिस्विक भाग है। '२८-२८-२८' इन तीन तृतीयांशों में से २८-२८ (५६) ये दो तृतीयांश स्वयं के शुक्र में परम्परया ६ पितरों से ऋणरूप से आगत हैं, एवं २८ कलात्मक एक तृतीयांश स्वयं इसी में चान्द्र नाडीद्वारा धनरूप से उत्पन्न है। यही चतुरशीतिकल सोमद्रव्य आगे जाकर नवीन कोशों का जन्म दाता बनता है।

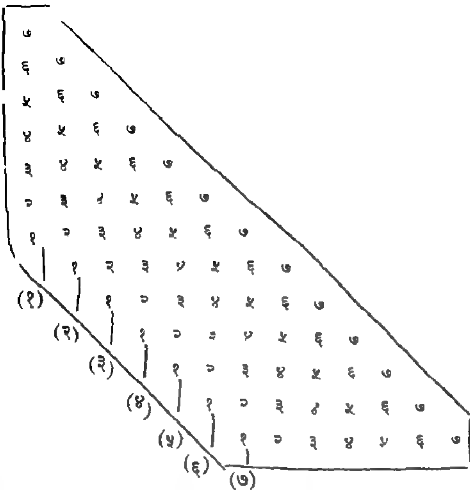
कूटस्थ पुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित सप्तकोशों में से अष्टाविंशति- (२८)-कल प्रथम कोश की २८ कलाओं के चार विभाग होते हैं। इन में सप्तकल (७) चतुर्थांश तो कूटस्थ के प्रथमकोश में आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, शेष सप्त-सप्तकल तीन सप्तक (२१) से एक नवीन कोश उत्पन्न होता है। एकविंशतिकल (२१) द्वितीयकोश में से तृतीयांश, तथा आधा (६ कला) तो कूटस्थ में शेष रह जाता है, शेष तृतीयांशात्मिका १५ कला तन्यरूप से नवीनकोश का उत्पादिका बनती है। पञ्चदशकल (१५) तृतीयकोश में से तृतीयांशात्मिका ५ कला शेष रह जाती है, १० कलाओं से नवीन कोश उत्पन्न होता है। दशकल (१०) चतुर्थ कोश में से सार्द्ध द्वितीयांशात्मिका ४ कला शेष रह जाती हैं, ६ कलाओं से नवीन कोश उत्पन्न होता है। षट्कल (६) पञ्चमकोश में से द्वितीयांशात्मिका ३ कला शेष रह जाती है, ३ कला से नवीन कोश उत्पन्न होता है। त्रिकल (३) छठे कोश में से सार्द्धकांशात्मिका २ कला शेष रह जाती है, १ कला से नवीन कोश उत्पन्न होता है। एककल (१) सातवे कोश से आगे कोई कोश उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि इस में वितानमात्रा का अभाव है। फलतः १ कल सप्त कोश की केवल कूटस्थ बीजी में ही अवस्थिति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार '२८-२१-१५-१०-६-३-१' इन सात कोशों में से '२८-२१-१५-१०-६-३' इन १-२-३-४-५-६ सात कोशों के क्रमशः ७-२१, ६-१५, ५-१०, ४-६, ३-३, २-१, ये दो दो विभाग हो जाते हैं। इन में कूटस्थ पुरुष में प्रतिष्ठा रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले '७-६-५-४-३-२-१' ये भाग तो आत्मधेय नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं नवीन कोशों के (६ कोशों के) उत्पादक '२१-१५-१०-६-३-१' ये भाग 'तन्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन नवीन ६ कोशों को लेकर ही प्राणी जन्म धारण करता है। अतएव इसे 'षाट्कौशिक' कहा जाता है। कूटस्थ पुरुष के चतुरशीतिकल बीजपिण्ड में से ५६ कल-षट्कोशोत्पादक यही तन्यभाग 'निवापपिण्ड' नाम से व्यवहृत होता हुआ पुत्रशरीर का उत्पादक बनता है। इस सुतोत्पत्ति का परिणाम यह होता है कि, ६ पितृपरम्परा से ऋणरूप से आगत ५६ कलाओं में से ३५ तो सुतरूप में चली जाती हैं, शेष २१ कला इस में आत्मधेयरूप से रह जाती हैं। एवं धनरूप में उत्पन्न २८ कलाओं में से २१ तो सुतरूप में चली जाती हैं, शेष ७ कला आत्मधेयरूप से रह जाती हैं। २१ ऋणकला, ७-धन कला, सम्भूय कूटस्थ बीजी में (पिता में) ८४ में से केवल २८ कला आत्मप्रतिष्ठारूप से शेष रह जाती हैं।

अपने पिता के सात कोशों में से ६ कोशों की ५६ मात्राएँ ऋणरूप से लेकर पृथिवी-पृष्ठ पर उत्पन्न पुत्र में षोडशकल चन्द्रमा के सम्बन्ध से पूरे १६ चान्द्र वर्षों में २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से श्रद्धासूत्र के द्वारा स्वतन्त्ररूप से २८ कलाएँ और उत्पन्न हो जाती हैं। यही इसका स्वार्जित नवीन कोश है। इस एककोश के सम्पन्न हो जाने पर १६ वर्षसमाप्ति पर यह भी पिता की भांति पूर्ण पुरुष बनता हुआ सुतोत्पादक योग्यतानुबन्धी ८४ कल बीजपिण्ड से युक्त हो जाता है। इसी पूर्णता के आधार पर 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' यह सूक्त प्रतिष्ठित है। उदाहरण रूप से उद्धृत इस एक पितापुत्रीयसम्वाद से ही सप्तपुरुषानुगत सापिण्ड्यभाव गतार्थ है। पितृप्राण-परम्परा के इस अनन्तचक्र को समझने के लिए सात पुरुषपर्यन्त ही विश्राम मान लिया गया है। क्योंकि २८ कल आत्मधन का बीजी से आरम्भ कर सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर ही मात्रावसान हो जाता है। निम्नलिखित तालिकाओं से इस साप्तपौरुष-सापिण्ड्य का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

चतुरशीतिकलबीजपिण्डवितानपरिलेखः—(८९)

	२८												
	२१	२८											
	१५	२१	२८										
	१०	१५	२१	२८									
	६	१०	१५	२१	२८								
	३	६	१०	१५	२१	२८							
	१	३	६	१०	१५	२१	२८						
(१)		१	३	६	१०	१५	२१	२८					
(२)			१	३	६	१०	१५	२१	२८				
(३)				१	३	६	१०	१५	२१	२८			
(४)					१	३	६	१०	१५	२१	२८		
(५)						१	३	६	१०	१५	२१	२८	
(६)							१	३	६	१०	१५	२१	२८
(७)													

अष्टाविंशतिकलबीजपिण्डवितानपरिलेखः—(५८)



प्रत्येक कूटस्थ शरीरी स्वार्जित २८ कलाओं से, पिता की २१ कलाओं से, पितामह की १५ कलाओं से, प्रपितामह की १० कलाओं से, प्रपितामह की ६ कलाओं से, वृद्धप्रपितामह की ३ कलाओं से, परमातिवृद्धप्रपितामह की १ कला से युक्त रहता हुआ सप्तकोशात्मक चतुरशीति कल (८४) महद वच्छिन्न शरीरसम्पत्ति से समन्वित है। प्रथमकोशावच्छिन्न स्वार्जित २८ कलाओं को छोडकर पिता महादि से प्राप्त षट्कोशावच्छिन्न २१, १५, १०, ६, ३, १, ये ५६ कलाएँ इसे ऋणी बनाती हैं। इन्हीं कलाओं की अपेक्षा यह उन ६ ओं का ऋणी रहता है। आगे जाकर ऋणी शरीरी द्वारा (कूटस्थ बीजी द्वारा) प्रथमकोशानुगता स्वार्जिता २८ कलाओं में से २१ कलाएँ, द्वितीयकोशानुगता ऋणात्मिका पितृभाग लक्षणा २१ कलाओं में से १५ कलाएँ, तृतीयकोशानुगता ऋणात्मिका पितामहभागलक्षणा १५ कलाओं में से १० कलाएँ, चतुर्थकोशानुगता ऋणात्मिका प्रपितामहभागलक्षणा १० कलाओं में से ६ कलाएँ,

पञ्चमकोषानुगता ऋणात्मिका वृद्धप्रपितामहभागलक्षणा ३ कलाओं में से १ कला, इस प्रकार धनात्मिका २८ में से २१, तथा ऋणात्मिका ५६ म से ३५ सम्भूय ५६ कलाएँ पुत्रशरीरनिर्म्माण में शुक्रद्वारा मातृशोणित में आहुत हो जाती है। स्वधन में से ७ पितृऋणों में से २१, सम्भूय २८ कलाएँ इसके कोश में शेष रह जाती है।

बीजी के द्वारा पुत्र में आगत ३५ ऋणकलाएँ, तथा २१ धनकलाएँ क्या सर्वात्मना पुत्र में ही प्रतिष्ठित रहती है ?, नहीं। अपितु आगे आगे इनका भी यथानियम वितान होता है। पहिले ऋणकलाओं का ही विचार कीजिए। पुत्रशरीर में भुक्त ३५ ऋणकलाओं में से १५ कलाएँ पौत्र में न्युप्त है, १० कलाएँ प्रपौत्र में न्युप्त है, ६ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में न्युप्त है, ३ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त है, एवं १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त है। इस प्रकार पुत्रद्वारा पौत्रादि ऊपर पाँच पुरुषों में न्युप्त ३५ कलाओं से इस पारम्परिक प्रदान से यह बीजी ५६ में से ३५ कलाओं से अनृणी बन जाता है, अब इस पर केवल २१ कलाओं का ऋणभार रहता है।

इसी प्रकार बीजी के आत्मधन का वितान भी केवल पुत्र पर ही समाप्त न होकर सातवें अवर पुरुषपर्य्यन्त व्याप्त रहता है। स्वार्जित २८ कलाओं में से ७ कलाएँ तो स्वयं बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती है। शेष २१ कलाओं का पुत्र में आधान बतलाया गया है। इन २१ कलाओं में से पुत्र में केवल ६ कलाएँ न्युप्त रहती है। शेष १५ कलाओं में से क्रमशः ५ कलाएँ पौत्र में, ४ कलाएँ प्रपौत्र में, ३ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में, २ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त होती है। षड्धा विभक्त '६-५-४-३-२-१' इन २१ कलाओं के वितान का फल यह होता है कि, परलोकगत प्रेतपितृपिण्डों की तृप्ति के लिए एक नवीन श्रद्धामय मार्ग बन जाता है। इसी पिण्डाप्यायन लक्षण श्राद्धकर्म्म से आनृण्यभाव-सम्पत्ति प्राप्त होती है। यही सन्तानपरम्परा आगे जाकर पिण्डसम्बन्धलक्षण सपिण्डीकरण से इस बीजी के बन्धन-विमोक का कारण बनती है।

प्रेतात्मा की परमा सम्पत्—

यह पुरुष षोडशी चन्द्रमा के द्वारा १६ सम्वत्सर में अष्टाविंशतिकल सोमकोश प्राप्त करता हुआ पूर्णपुरुष बनता है, यह कहा जा चुका है। इन २८ में से ७ कला आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित रखता हुआ यह पुरुष शेष २१ कलाओं को पूर्वोक्त क्रमानुसार पुत्रादि षडपत्यों में क्रमशः आहुत कर देता है। जब तक ये २१ कलाएँ इसे इन षडपत्यों से नहीं मिल जातीं, तबतक यह (चन्द्रलोकस्थ प्रेतपुरुष) केवल ७ कलाओं से युक्त रहता हुआ अपूर्ण बना रहता है, यही इसका धाम बन्धन है। पौत्र के द्वारा कृत सपिण्डीकरण से इसे पुत्रभुक्त स्व ६ कलाएँ मिल जाती है। प्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से पौत्र भुक्त ५ कलाएँ मिल जाती है। वृद्धप्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से प्रपौत्रभुक्त ४ कलाएँ मिल जाती है। परमातिवृद्धप्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से अतिवृद्धप्रपौत्रभुक्त २ कला मिल

जाती है। ८९ आठवें अपत्य के द्वारा (परमातिवृद्धप्रपौत्र के पुत्र द्वारा) हुए सपिण्डीकरण से सातवें परमातिवृद्धप्रपौत्र में युक्त १ कला का प्रत्यर्पण होजाता है। इस प्रकार आठवीं सन्तति के द्वारा होने वाले सपिण्डीकरण से वह प्रथम पुरुष अपनी ७८ कलाओं से युक्त बनता हुआ पूर्णावयव बन जाता है। यहाँ आकर इस का पार्थिव बन्धन टूट जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। जबतक पार्थिव आकर्षण सुरक्षित रहता है, तबतक प्रेत पुरुष चान्द्र-सीमा में बद्ध है। एवं जबतक प्रेतपुरुष के आत्मधन की १ भी कला अपत्यरूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित है, तबतक पार्थिवाकर्षण सुरक्षित है। अष्टमापत्यकृत सपिण्डीकरण से सप्तमापत्यगत शेष १ कला भी जब उस प्रथम प्रेत में भुक्त हो जाती है, तो पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होना स्वाभाविक बन जाता है। इस अवस्था में यह प्रेतपितर ७८ कल से पूर्ण पुरुष बनता हुआ पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होकर चान्द्र-सीमा से विमुक्त होता हुआ आदित्य लोक में चला जाता है। यही इस प्रेतात्मा की परमा सम्पत् है।

सुतासुतपिण्डमीमांसा—

३४ ऋण-कलाओं का आनृण्य प्रजोत्पत्ति पर निर्भर है, प्रेतपितृतृप्तिलक्षण आनृण्य श्राद्धकर्म पर निर्भर है, एवं २१ कला का आनृण्य सपिण्डीकरण पर निर्भर है, यह भी उक्त विवेचन से भलिभाँति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्रत्येक पुरुष बीजपिण्डापेक्षया चतुरशीतिकल (८४) है। इन ८४ कलाओं में से ५६ कला ऋण-भाग है ७८ कला धन भाग है। ५६ ऋणकलाओं में से ३५ ऋणकला पुत्रादि परम्परा में युक्त हैं, शेष २१ ऋणकला आत्मधेयरूप से यावज्जीवन इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं। २८ धनकलाओं में से २१ धनकला पुत्र दिपरम्परा में लुप्त है, शेष ७ धनकला आत्मधेयरूप से यावज्जीवन इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं। इस प्रकार ५६ में से २१ ऋणकला, २८ में से ७ धन कला, सम्भूय २८ आत्मधेयकला प्रतिशरीर में यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। यावदायुर्भोगानान्तर स्थूलशरीरपरित्याग कर सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर धारण कर जब यह चन्द्रलोक में (चान्द्रसम्वत्सरानन्तर) पहुँचता है, तो इस में प्रतिष्ठित २१ ऋणकलाओं का आगतक्रम से प्रत्यर्पण हो जाता है। परमातिवृद्धप्रपितामह में १ कला का, अतिवृद्धप्रपितामह में २ कला का, वृद्धप्रपितामह में ३ कला का, प्रपितामह में ४ कला का, पितामह में ५ कला का, पिता में ६ कला का प्रत्यर्पण हो जाता है। इस प्रत्यर्पण कर्मानन्तर इस प्रेतात्मा के कोश में केवल आत्मधन की ७ कला शेष रह जाती हैं। इस प्रकार ८४ में से ५६ कलोपेत पिण्ड सुत होने से 'निवापपिण्ड' है, एवं २८ कलोपेत पिण्ड असुत होने से 'आत्मधेयपिण्ड' है, यही प्रकरण निष्कर्ष है।

सप्तकोशचक्रपरिलेखः—

साप्तपौरुष सापिण्ड्यम्	मूलकला.	आत्मनिधेय कला	निवाप्यकला
(७) परमातिवृद्धप्रपितामहाल्लब्धा कला	—१—	१—	०
(६) अतिवृद्धप्रपितामहाल्लब्धा कला	—३—	२—	१
(५ वृद्धप्रपितामहाल्लब्धा कला	—६—	३—	३
४) प्रपितामहाल्लब्धा कला	—१०—	४—	६
(३) पितामहाल्लब्धा कला	—१५—	५—	१०
(२) पितुर्लब्धा कला	—२१—	६—	१५
(१) स्वतो लब्धा कला	—२८—	७—	२१
सप्तकोशा —कोशवितानानि	८४	२८	५६

सप्तचक्रपरिलेखः—

परमातिवृद्ध-प्रपितामहे	अतिवृद्ध-प्रपितामहे	वृद्धप्रपिता-महे	प्रपितामहे	पितामहे	पितरि	स्वस्मिन्	७
१	२	३	४	५	६	७	पितृषु निवाप
१	३	६	१०	१५	२१	२८	कूटस्थमूल-राशि
०	१	३	६	१०	१५	२१	अपत्येषु-निवाप
००००००	परमाति-वृद्धप्रपौत्रे	अतिवृद्ध-प्रपौत्रे	वृद्धप्रपौत्रे	प्रपौत्रे	पौत्रे	पुत्रे	६

राशिपण्डस्वरूपमीमांसा—

उक्त परिलेखद्वयी से यह स्पष्ट हो जाता है कि, चतुरशीतिकल (८४) शुक्रस्थ बीजपिण्ड **मूलराशि** है। इस मूलराशि के आगे जाकर अनिवाप्य, निवाप्य, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। स्वार्जित धनात्मक अष्टाविंशतिकल मूलराशि में से ७ कला, ऋणरूप से पितृपट्क से प्राप्त ऋणात्मक षट्पञ्चाशत्कल मूलराशि में से २१ कला, सम्भूय ऋणधनात्मिका २८ कला तो **'अनिवाप्यपिण्ड'** है। क्योंकि यह यावज्जीवन कूटस्थ में ही प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसे **'वृद्धिराशि'** कहना अन्वर्थ बनता है। इस वृद्धिराशि में यद्यपि २१ कला पितृभाग है, स्वभाग तो केवल ७ ही कला है। तथापि यावज्जीवन स्व (आत्म) सम्पत्ति बने रहने से २१ कल पितृभाग भी स्वभाग ही मान लिया जाता है। इस प्रकार वृद्धराशिभूत इस २८ कल मूलराशि को स्वभाग माना जासकता है।

षट्पितृपरम्परा से ऋणरूप से प्राप्त, अतएव ऋणात्मक षट्पञ्चाशत्कल मूलराशि में से ३५ कला, एवं स्वार्जित धनात्मक अष्टाविंशतिकल मूलराशि में से २१ कला, सम्भूय ऋणधनात्मिका ५६ कला, **'निवाप्यपिण्ड'** है। क्योंकि यह सन्ततिपरम्परा में परम्परया भुक्त है, अतएव इसे **'भुक्तराशि'** कहना अन्वर्थ बनता है। इस भुक्तराशि में यद्यपि २१ कला स्वभाग है, पितृभाग तो ३५ कला ही है। तथापि उत्तरोत्तर पितृप्राण के वितान में उपयुक्त होने से २१ कल स्वभाग भी पितृभाग ही मान लिया जाता है। इस प्रकार भुक्तराशिभूत इस ५६ कल मूलराशि को पितृभाग माना जासकता है। वंशविच्छेदपर्य्यन्त चतुरशीतिकल मूलराशि का अनिवाप्य, निवाप्य, रूप से एवमेव विभाजन होता रहता है।

राशिविभाजनचक्रपरिलेख: —

पितृलब्धराशि –मूलराशि	पितृनिवाप्यराशि, अनिवाप्य-राशि	सन्ततिराशि –पुत्रनिवाप्यराशि
पितृलब्धराशि (५६–ऋणम्)	पितृलब्ध (२१–ऋणम्)	पितृलब्धराशि (३५–ऋणम्)
स्वलब्धराशि (२८–धनम्)	स्वलब्धराशि (७–धनम्)	स्वलब्धराशि (२१–धनम्)
८४	२८	५६

(१)– ५६–कलाः–ऋणभागः पितृभागः / २८ कलाः–धनभागः–स्वभागः } ——८४ कलाः–मूलराशिः

(२)– २१–ऋणभागः–पितृभागः / ७–धनभागः–स्वभागः } ——२८ कलाः–वृद्धिराशिः (स्वभागः)

(३)– ३५–ऋणभागः पितृभागः / २१–धनभागः स्वभागः } ——५६ कलाः–भुक्तराशिः (पितृभागः)

सप्तकोशचक्रस्वरूपमीमांसा—

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है । नियमित २८–२१–१५–१०–६–३–१, इन कलाओं से युक्त १–२–३–४–५–६–७ इन सात कोशों का, दूसरे शब्दों में सप्तकोशभुक्त कलाओं का पुरुषपरम्परा में किस क्रम से वितान हो रहा है ?, इसी 'शेषप्रश्न' की मीमांसा कर प्रक्रान्त योनिद्वन्द्व-सम्बन्धसूत्र–विवेचन समाप्त किया जाता है । प्रतिशरीर में चतुरशीतिकलावच्छिन्न सप्तकोशात्मक बीजपिण्ड प्रतिष्ठित है, यह कहा जाचुका है । इन सात कोशों में से सर्वप्रथम २८ कल स्वधनात्मक प्रथम कोश की कलाओं के वितान पर ही दृष्टि डालिए—

(१)–प्रथमकोशः–अष्टाविंशतिकलः (२८)–स्वधनात्मकः—

२८ में से ७ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ६ कला पुत्र में भुक्त हैं, ५ कला पौत्र में भुक्त हैं, ४ कला प्रपौत्र में भुक्त हैं, ३ कला वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, २ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त है । इस प्रकार ७–६–५–४–३–२–१ क्रम से २८ स्वकलाएँ सात पुरुषपरम्पराओं में भुक्त हो रही हैं ।

(२)-द्वितीयः कोशः–एकविंशतिकलः (२१)–पितृधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थपुरुष में अपने पिता से ऋणरूप से २१ कलाएँ आई हैं । इन में से ६ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ५ कला तत्पुत्र में भुक्त हैं, ४ कला पौत्र में भुक्त हैं, ३ कला प्रपौत्र में भुक्त हैं, २ कला वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, १ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में विभक्त है । इस प्रकार ६–५–४–३–२–१, इस रूप से ६ पुरुषपरम्पराओं में २१ पितृकलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(३)—तृतीयः कोशः—पञ्चदशकलः (१५)—पितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने पितामह से ऋणरूप से १५ कलाएँ आई हैं । इन में से ५ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ४ कला तत्पुत्र में भुक्त हैं, ३ कला तत्पौत्र में भुक्त हैं, २ कला तत्प्रपौत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तत्वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार ५-४-३-२-१, इस रूप से ५ पुरुष परम्पराओं में १५ पितामह कलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(४)—चतुर्थः कोशः—दशकलः (१०)—प्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने प्रपितामह से ऋणरूप से १० कलाएँ आई हैं । इन में से ४ कला तो स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ३ कला तत्पुत्र में भुक्त हैं, २ कला तत्पौत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तत्प्रपौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार '४-३-२-१' इस रूप से ४ पुरुष परम्पराओं में १० प्रपितामह कलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(५)—पञ्चम कोशः—षट्कलः (६)—वृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने वृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से ६ कला आई हैं । इन में से ३ कला तो स्वयं कूटस्थ नामी मूलपुरुष में भुक्त हैं, २ कला तत्पुत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तत्पौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार '३-२-१' इस रूप से ३ पुरुष परम्पराओं में ६ वृद्धप्रपितामहकलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(६)—षष्ठः कोशः—त्रिकलः (३)—अतिवृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अतिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से ३ कला आई हैं । इन में से २ कला तो स्वयं कूटस्थ पुरुष में भुक्त हैं, एवं शेष १ कला कूटस्थ के पुत्र में भुक्त है । इस प्रकार '२-१' रूप से २ पुरुषपरम्परा पर्यन्त ३ अतिवृद्धप्रपितामहकलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(७)—सप्तमः कोशः—एककलः (१)—परमातिवृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने अतिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से केवल १ कला आई है । क्योंकि इस में वितानमात्रा का अभाव है, अतएव इस का आगे (कूटस्थ पुत्रादि में) वितान नहीं होता अपितु यह १ कला कूटस्थ में आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है ।

पिण्डसन्तानक्रमस्वरूपमीमांसा—

इस सप्तकोश-चक्र के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, कूटस्थ पुरुष में ७ स्वधन की, ६-५-४-३-२-१, ये २१ पितृधन की, सम्भूय २८ कला (सप्तकोशधन की) आत्मधेयरूप से यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं (१) । कूटस्थपुरुष के पुत्र में ६-५-४-३-२-१, इस क्रम से २१ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं । कूटस्थ पुरुष के पौत्र में ५-४-३-२-१-इस क्रम से १५ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं ।

कूटस्थपुरुष के प्रपौत्र में '४-३-२-१' इस क्रम से १० कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। कूटस्थपुरुष के वृद्धप्रपौत्र में ३-२-१ इस क्रम से ६ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। कूटस्थपुरुष के अतिवृद्धप्रपौत्र में २-१-इस क्रम से ३ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। एवं कूटस्थपुरुष के परमातिवृद्धप्रपौत्र में १ कला (सप्तकोशधन की यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। यहां आकर उर्ध्ववितानक्रम समाप्त हो जाता है। निम्न लिखित 'पिण्ड-सन्तानक्रमचक्र' परिलेख से उक्त विषय का भलिभाँति स्पष्टी-करण हो जाता है।

पिण्डसन्तानक्रमचक्रपरिलेखः—

अवरसापिण्ड्यम्——	कूटराशि	स्वात्मनि	पुत्रे	पौत्रे	प्रपौत्रे	वृद्धप्रपौत्रे	अतिवृद्ध प्रपौत्रे	परमाति वृद्धप्रपौत्रे	
परसापिण्ड्यम्——	८४	२८	२१	१५	१०	६	३	१	०
भ्रातृगतस्य	२८	७	६	५	४	३	२	१	०
पितुः	२१	६	५	४	३	२	१	०	०
पितामहस्य	१५	५	४	३	२	१	०	०	०
प्रपितामहस्य	१०	४	३	२	१	०	०	०	०
वृद्धप्रपितामहस्य	६	३	२	१	०	०	०	०	०
अतिवृद्धप्रपितामहस्य	३	२	१	०	०	०	०	०	०
परमातिवृद्धप्रपितामहस्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०
	०	०	०	०	०	०	०	०	०

पितृ-पितामहादि षट् पर पुरुषों से कूटस्थ पुरुष में ऋणरूप से आगत षट्पञ्चाशत्-कल (५६) वीर्यपिण्ड को, तथा स्वार्जित धनात्मक अष्टाविंशतिकल (२८) बीजपिण्ड को, सम्भूय चतुरशीतिकल (८४) वीर्यपिण्ड को यद्यपि पूर्व में मूलराशि (मूलधन) बतलाया गया है। तथापि धनमर्य्यादा की अपेक्षा से प्रधानतया चान्द्र षोडश सम्वत्सरों से नक्षत्रावच्छेदेन स्वत्र २८ कल स्वार्जित धनात्मक बीजपिण्ड को ही वस्तुगत्या 'मूलराशि' कहना अन्वर्थ बनता है। षट्पञ्चाशत् कल भाग तो वस्तुत मूलराशि न होकर मूलऋण ही कहलाया है। अष्टाविंशतिकल प्रथमशेषात्मक मूलधनात्मक इस मूलराशि के सन्तानोत्पत्तिकाल की अपेक्षा में 'सन्तानराशि, सन्तानशेषराशि' ये दो विभाग हो जाते हैं। जो भाग पुत्रादिशरीर में सन्तानित (वितत) हो जाता है, वे सन्तानित भाग तो 'सन्तानराशि' कहलाए हैं, एवं स्वभुक्त भाग 'सन्तानशेषराशि' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए इन दोनों विभागों का सापेक्ष्य मापिदृष्टि के साथ समन्वय कीजिए।

कूटस्थ पुरुष में प्रतिष्ठित २८ कल भाग मूलराशि है। पुत्रसन्तानोत्पत्ति (गर्भाधान) काल में इस मूलराशि में से २१ कला तो पुत्रशरीर के निर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ७ कला स्वय कूटस्थ में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं। स्वभुक्त सप्तकल भाग 'सन्तानशेषराशि' है, पुत्रगत एकविंशतिकल भाग सन्तानराशि है। (१)। कूटस्थ पुरुष के पुत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत २१ कल भाग मूलराशि है। पौत्रसन्तानोत्पत्तिकाल में इस मूलराशि में से १५ कला तो पौत्रशरीर निर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ६ कला स्वय कूटस्थपुरुष में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं। स्वभुक्त (कूटस्थ पुत्रभुक्त) षट्कल भाग 'सन्तानशेषराशि' है, एवं पौत्रगत पञ्चदशकलभाग सन्तानराशि है। यही दूसरा युग्म है। (२)। कूटस्थपुरुष के पौत्र में कूटस्थपुरुष से आगत १५ कलभाग मूलराशि है। प्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से १० कला तो प्रपौत्रनिर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ५ कला स्वय कूटस्थपुरुष के पौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं। स्वभुक्त (कूटस्थपौत्रभुक्त) पञ्चकलभाग 'सन्तानशेषराशि' है, एवं प्रपौत्रगत १० कल भाग सन्तानराशि है। यही तीसरा युग्म है। (३)। कूटस्थ पुरुष के प्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत १० कलभाग मूलराशि है। वृद्धप्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से ६ कला तो वृद्धप्रपौत्र के निर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ४ कला स्वय कूटस्थ पुरुष के प्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं। स्वभुक्त (कूटस्थ प्रपौत्रभुक्त) चतुष्कलभाग सन्तानशेषराशि है, एवं वृद्धप्रपौत्रगत ६ कल भाग सन्तानराशि है। यही चौथा युग्म है। (४)। कूटस्थपुरुष के वृद्धप्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत ६ कल भाग मूलराशि है। अतिवृद्धप्रपौत्र-सन्तानकाल में इस मूलराशि में से ३ कला तो अतिवृद्ध

प्रपौत्रनिर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित है, शेष ३ कला स्वय कूटस्थ पुरुष के वृद्धप्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त है। स्वभुक्त (कूटस्थ वृद्धप्रपौत्र भुक्त) त्रिकलभाग सन्तानशेषराशि है, एवं अतिवृद्धप्रपौत्रगत ३ कल भाग सन्तानराशि है, यही पाँचवाँ युग्म है। (५)। कूटस्थ पुरुष के अतिवृद्धप्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत ३ कलभाग मूलराशि है। परमातिवृद्धप्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से १ कलभाग तो परमातिवृद्धप्रपौत्रनिर्म्माण में तन्यरूप से सन्तानित है, शेष २ कला स्वय कूटस्थपुरुष के अतिवृद्धप्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त है। स्वभुक्त (कूटस्थ अतिवृद्धप्रपौत्रभुक्त) द्विकल भाग सन्तानशेषराशि है, एवं परमातिवृद्धप्रपौत्रगत १ कलभाग सन्तानराशि है। यही छठा युग्म है। (६)। कूटस्थ पुरुष के परमातिवृद्धप्रपौत्र में कूटस्थपुरुष से आगत १ कलभाग मूलराशि है। क्योंकि वितानमात्रा के अभाव से इस का उत्तर वितान असम्भव है, अतः इस का केवल 'सन्तानशेषराशि' लक्षण एक ही रूप शेष रह जाता है। इस युग्मत्रयी के साथ साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सन्तानोत्पत्ति से पहिले पहिले तो प्रत्येक पुरुष आगत ५६ कलाओं से, तथा स्वार्जित २८ कलाओं से चतुरशीतिकल सम्पत्ति से युक्त रहता है। एवं सन्तानोत्पत्त्यनन्तर ५६ को तन्यभाव में परिणत करता हुआ २८ आत्मधेयकलामात्र से युक्त रहता है। निम्न लिखित परिलेखों से इस चक्र का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

सन्तानराशिचक्रपरिलेख.—

७ पुरुष	६ पुरुष	५ पुरुष	४ पुरुष	३ पुरुष	२ पुरुष	१ पुरुष	सन्तानराशिचक्रम्
२८	२	१५	१०	६	३	१	०
(१)	२८	२१	१५	१०	६	३	१ ०
	(२)	२८	२१	१५	१०	६	३ १ ०
		(३)	२८	२१	१५	१०	६ ३ १ ०
			(४)	२८	२१	१५	१० ६ ३ १ ०
				(५)	२८	२१	१५ १० ६ ३ १ ०
					(६)	२८	२१ १५ १० ६ ३ १ ०
						(७)	

शवराशिचक्रपरिलेखः—

७ पुरुष	६ पुरुष	५ पुरुष	४ पुरुष	३ पुरुष	२ पुरुष	१ पुरुष
७	६	५	४	३	२	१ ०
(१)	७	६	५	४	३	२ १ ०
	(२)	७	६	५	४	३ २ १ ०
		(३)	७	६	५	४ ३ २ १ ०
			(४)	७	६	५ ४ ३ २ १
				(५)	७	६ ५ ४ ३ २ १ ०
					(६)	७ ६ ५ ४ ३ २ १ ०
						(७)

आशौचसंक्रमणद्वारमीमांसा—

पाठकों को स्मरण होगा कि, आशौचसम्बन्ध के संक्रमण द्वारों का उपक्रम करते हुए हमने योनि, विद्या, यज्ञ, संसर्ग, इन चार निमित्तों का दिग्दर्शन कराया था। इन चारों सम्बन्धसूत्रों से ही अघाशौच की व्याप्ति होती है। अघाशौच का प्रथम द्वार योनिसम्बन्ध है। इस की मीमांसा करते हुए प्रसङ्गत विवाह-दाय-आशौच-सापिण्ड्यों का दिग्दर्शन कराया गया। एवं इसी प्रसङ्ग से सापिण्ड्यभावानुगत पिण्डस्वरूप की सिंहावलोकनन्यायेन मीमांसा की गई। सर्वान्त में योनिकृत सम्बन्धसूत्रमीमांसा समाप्त करते हुए यही कहना शेष रह जाता है कि, जनन-मरण भावों से उत्पन्न अघाशौच का मुख्य आधार योनिकृत साप्तपौरुषसापिण्ड्य से ही प्रधान सम्बन्ध है। आरोपित, तथा सामान्य योनिसम्बन्ध अघाशौच के लिए गौणसूत्र हैं। मुख्य योनिसम्बन्ध समानपिण्डाश्रयों में व्याप्त समान श्रद्धासूत्रद्वारा ही अघाशौच-संक्रमण का द्वार बनता है।

२—विद्याकृतसम्बन्धसूत्राणि—

'वंशो द्विधा-विद्यया, जन्मना च' इस आर्षसिद्धान्त के अनुसार वंशवितान (प्रजातन्तुवितान) जन्ममूलक, विद्यामूलक, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। जिस प्रकार जन्म सम्बन्ध से जन्य-जनक परम्परा का श्रद्धासूत्र द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, एवमेव विद्या-सम्बन्ध में भी गुरु-शिष्य परम्परा का उसी श्रद्धासूत्र द्वारा पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इस विद्या सम्बन्ध के निगम-आगमविद्या भेद से आगे जाकर दो विवर्त हो जाते हैं। पार्थिवविद्यासंस्कार के लिए आगमदीक्षा विहित है, एवं सौरविद्यासंस्कार के लिए निगमदीक्षा विहित है। इन दोनों निगमागम-दीक्षाओं से दीक्षित शिष्यवर्ग का अन्तरात्मा दीक्षाप्रदाता गुरुवर्ग के अन्तरात्मा के साथ घनिष्ठ श्रद्धासूत्रद्वारा घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। यही विद्याकृत सम्बन्धसूत्र का

संक्षिप्त दिग्दर्शन है। योनिकृत सम्बन्धसूत्रवत् यह विद्याकृत सम्बन्धसूत्र भी अवश्यमेव अघाशौचसङ्क्रमण का द्वार बनता है। इसी विद्या सम्बन्ध से द्विजातिवर्ग द्विजन्मा कहलाया है, एवं इसी दृष्टि से इस विद्यांश को भी हम जन्मांश कह सकते हैं, जैसाकि अन्यत्र संस्कार विज्ञानादि में विस्तार से निरूपित है।

३–यज्ञकृतसम्बन्धसूत्राणि—

प्रत्येक सद्गृहस्थ के श्रौत-स्मार्त कर्म्मकलापों का स्वरूप सम्पादन करने के लिए एक एक कुलपुरोहित का समावेश आवश्यक माना गया है। इसे ही 'कुलगुरू' भी कहा गया है। इस कुलगुरु के साथ उस सद्गृहस्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। पारस्परिक श्रद्धासूत्रद्वारा यह कुलगुरु भी गृहस्थानुगत अघाशौच का पात्र बन जाता है। यही यज्ञकृत-सम्बन्ध सूत्र है। अवश्य ही गृहस्थ के शुभाशुभ भावों का कुलगुरु पर शुभाशुभ प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि, धर्म्माचार्य्योंने इस सम्बन्ध में ब्राह्मणवर्ग को सावधान किया है कि, वह बिना सोचे समझे यथेच्छ किसी का कुलपौरोहित्य स्वीकार न करे। इस सम्बन्धसूत्र के ही आधार पर क्षत्रिय समाज में केवल कुलगुरुओं के गोत्रभेद से ही विवाह सम्बन्ध भी हो जाता है। अयोध्या महाराज दशरथ, विदेहजनक, दोनों सगोत्र मर्य्यादा से विवाहसापिण्ड्य द्वारा समबन्धु थे। परन्तु दशरथ के कुलगुरू वसिष्ठ, तथा विदेहजनक के कुलगुरू रहूगण गोतम, इन दोनों भिन्न गोत्रियों के गोत्र से दोनों कुलों में विवाह सम्बन्ध हो जाता है। इस निदर्शन से बतलाना हमें यही है कि, यज्ञानुगत आर्त्विज्यसम्बन्ध भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह भी योनि, विद्यावत् अवश्यमेव अघाशौचसङ्क्रमण का द्वार बन जाता है।

४—संसर्गकृतसम्बन्धसूत्राणि—

१-रोदन, २-स्पर्शन ३-अलङ्करण, ४-अनुगमन, ५-वहन, ६-दहन, ७-उदकदान, ८-पिण्डदान, इस प्रकार प्रेतसंसर्ग आठ भागों में विभक्त माना गया है। इन आठों के में से किसी एक भी संसर्ग से युक्त हो जाने पर शवानुगत अघाशौच संसर्गी में सम्क्रान्त हो जाता है। संसर्गसूत्र के बलाबल तारतम्य से ही इस आशौच के बलाबल का तारतम्य है। एवं तदनुसार ही शुद्धिव्यवस्था में तारतम्य है। यही संसर्ग चौथा द्वार है। इस प्रकार चार द्वारों से जनन-मरणानुगत सूतक शावाशौचों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। यही सम्बन्धसूत्र की संक्षिप्त मीमांसा है।

सर्वान्त में—

आशौचविज्ञाननिबन्धन प्रायः सभी विषयों की मौलिक उपपत्ति के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया। इन उपपत्तियों के सम्बन्ध में हमारा यही स्पष्टीकरण है कि, अतीतानागतज्ञ-अधिगतयाथातथ्य-विदितवेदितव्य महामहर्षियों की सर्वविज्ञप्राज्ञमूला सुसूक्ष्मा दिव्यदृष्टि से दृष्ट मौलिक रहस्यों का यथावत् बोध प्राप्त कर लेना मादृश यथाभाव भावुक मानव की स्थूल-भौतिक दृष्टि के लिए असम्भव ही है। एकमात्र गुरुकृपा द्वारा प्राप्त पितृश्रद्धा के बल पर इस सम्बन्ध में जो कुछ भी निवेदन किया गया है, वह 'निरपवादः परिकर' न्याय से सग्राह्य ही मान लिया जायगा, ऐसी आत्मधारणा है। किसी भी उपपत्तिजिज्ञासा-तत्समाधानान्वेषणपरम्परा से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए आस्था-श्रद्धापूर्वक शास्त्रीय विधिविधानों के यथासमय-यथाशक्य अनुगमन में ही हमारे जैसे भावुकों की श्रेय-प्रेयोभाव-संसिद्धि है। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' ही हमारे लिए अन्यतम प्रतिष्ठाभूमि है, जिसे लक्ष्य बना कर ही अन्त में आशौचविज्ञानसम्बन्धी कतिपय आवश्यक परिलेखों का समन्वय करते हुए हमें अपनी आस्थाश्रद्धा को दृढमूल बना लेना है।

वर्णभेदानुगत–गर्भस्रावपातनिबन्धन–प्रसूत्याशौचदिनपरिमाणपरिलेखः—

मासे	१	२	३	४	५	६
ब्राह्मण्याः	२	३	३	४	५	६
क्षत्रियायाः	३	४	५	६	७	८
वैश्यायाः	४	५	६	७	८	९
शूद्रायाः	७	८	९	१०	११	१२

पुत्रकन्यानुगताशौचदिनपरिमाणपरिलेखः—

	स्पर्शाशौचदिनानि	कर्म्माशौचदिनानि	
प्रसूतीनां	———	पुत्रोत्पत्तौ	कन्योत्पत्तौ
गौडस्त्रीणाम्	१०	२०	३०
दाक्षिणात्यस्त्रीणाम्	१०	३०	४०
प्रत्यन्तस्त्रीणाम्	१३	३०	३०

संसर्गिसम्बन्धिनांदिनपरिमाणपरिलेखः—

प्रसूत्या	असंसर्गिणाम्			संसर्गिणाम्		
	मातृपितृ–	भ्रातृ–	सपिण्डानाम्	मातृपितृ–	भ्रातृ–	सपिण्डानाम्
स्रावे	॥	०	०	३।३।४	३।३।४।	३।३।४।
पाते	१	॥	०	५।६	५।६	५।६।
प्रसवे	३	१	॥	१०	१०	१०

प्रसूतिकापत्यनुगताशौचदिनपरिमाणपरिलेखः—

निमित्ते	स्पर्शाशौचम्	कर्म्माशौचम्
गर्भस्रावे	सचैलस्नानम्	०
गर्भपाते	सचैलस्नानम्-तथा	३
पुत्रप्रसवे	सचैलस्नान-तथा	१०
कन्याप्रसवे	सचैलस्नान-तथा	१०
क्षेत्रजादिप्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	३
परपूर्वायाः प्रसवे	सचैलस्नान-तथा	३
परंगतायाः प्रसवे	सचैलस्नान-तथा	३
नीचंगतायाः प्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	०

परिशिष्टपरिलेखः—

निमित्तमासाः		१–६–	७–२४	२५–७५	७६
मरणाशौचदिनानि वर्णभेदेन	ब्राह्मणानाम्	सद्यः	१	३	१०
	क्षत्रियाणाम्	सद्यः	२	६	१२
	वैश्यानाम्	सद्यः	३	६	१५
	शूद्राणाम्	सद्यः	५	१२	३०

शिशुमरणे—आशौचदिनानि

	मातुः	पित्रादीनाम्	सपिण्डानाम्
(१) जननात्-प्राक्	०	०	०
(२) नालोच्छेदात्-प्राक्	०	०	०
(३)-दशाहात्-प्राक्	०	०	०
(४)-द्वादशाहात्-प्राक्	१	१	सद्य
(५)-षण्मासात्-प्राक्-	१	१	सद्य
(६)-दन्तजननात्-प्राक्	३	३	सद्य

षण्मासात्-आचतुर्विंशमासमरणे-आशौचदिनानि

	खनने	दहने
ब्राह्मणानाम्	१	३
क्षत्रियाणाम्	२	६
वैश्यानाम्	३	९
शूद्राणाम्	४	१२

तृतीयवर्षे-आशौचदिनानि

	अकृतचूडकरणे		कृतचूडकरणे
	मातापित्रोः	सपिण्डानाम्	सर्वेषाम्
ब्राह्मणानाम्	३	१	३
क्षत्रियाणाम्	६	२	६
वैश्यानाम्	९	३	९
शूद्राणाम्	१२	४	१२

तृतीयवर्षादूर्ध्वं पञ्चसप्ततिमासात्प्राक् कृतचूडस्य-अकृतचूडस्य वा मरणे-आशौचदिनानि

ब्राह्मणानाम्	३
क्षत्रियाणाम्	६
वैश्यानाम्	९
शूद्राणाम्	१२

पञ्चसप्ततिमासादूर्ध्वमनुपनीतमरणे आशौचदिनानि

	कर्मप्रधानानाम्	कालप्रधानानाम्
ब्राह्मणानाम्	३	१०
क्षत्रियाणाम्	६	१२
वैश्यानाम्	९	१५
शूद्राणाम्	१२	३०

	सपिण्डानाम्	सकुल्यानाम्	सोदकानाम्	सगोत्रानाम्
ब्राह्मणानाम्	१०	३	१॥	सद्यः
क्षत्रियाणाम्	१२	३	१॥	सद्यः
वैश्यानाम्	१५	३	१॥	सद्यः
शूद्राणाम्	३०	३	१॥	सद्यः

	सच्छूद्राणाम्			असच्छूद्राणाम्
	अविवाहितानाम्	विवाहितानाम्	अविवाहितानाम्	विवाहितानाम्
(१) षण्मासान्तम्	०	०	०	सद्य
(२) द्विवर्षान्तम्	३	३	५	खनने, १० दहने
(३) त्रिवर्षान्तम्	३	३	१०	५ सपि०, १० मातापित्रा
(४) पञ्चवर्षान्तम्	३	३	१०	१०
(५) षड्वर्षान्तम्	१०	१०	१०	१०
(६) षोडशवर्षान्तम्	१०	१५	१०	१० या०, ३० या०
(७) यावज्जीवनम्	१५	१५	३०	३०

ओं शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

स्वस्तिर्भवतु

※ प्रकरणोपसंहार—

किस आशौच का सम्बन्ध कितने दिन पर्य्यन्त रहता है ?, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-सच्छूद्र असच्छूद्र, आदि वर्ण-अवर्णप्रजा में जनन-मरण-क्रिया-संसर्ग द्वारा उत्पन्न आशौच काल में क्या व्यवस्था है ?, इत्यादि सब प्रश्न धर्म्मशास्त्रद्वारा सर्वथा निर्णीत हैं। विस्तरभय से सम्भव होने के कारण प्रकृत श्राद्धविज्ञान-निबन्ध में हमने आशौच के सम्बन्ध में केवल उन्हीं विषयों का दिग्दर्शन कराया है, जिनका श्राद्धसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आशौच की उपपत्ति ही हमारे इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य रहा है। आशौचेतिकर्त्तव्यता निबन्धग्रन्थों से ज्ञातव्य है। अपनी श्रद्धालु आर्यप्रजा के अतिरिक्त उन भारतीय बन्धुओं की सेवा में प्रस्तुत प्रकरण उपस्थित करते हुए हम उन से साग्रह निवेदन करेंगे कि वे आवेश में पड़ कर एक हेलया आर्यधर्म्म-सिद्धान्तों का उपहास न करें। अपितु स्थिरबुद्धि से धर्म्मग्रन्थों की उपयोगिता-अनुपयोगिता की मीमांसा करने के अनन्तर ही किसी निर्णय पर पहुँचने का कष्ट करें। श्राद्धदेवता से यही प्रार्थना करते हुए कि, वे अनुग्रह कर इन भ्रान्त बन्धुओं में श्रद्धा का आधान कर इन्हें सन्मार्ग प्रदर्शन करावें, प्रकृत प्रकरण उपरत हो रहा है।

ओं शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

—×—

समाप्ता चेयमाशौचविज्ञानोपनिषत्

"शौचं करोत्यनया शुचिर्देवता"